

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवाय नमः

भगवान श्री उमास्वामी आचार्य विरचित

मोक्षशास्त्र अर्थात् तत्वार्थ सूत्र

(सटीक)

टीका सम्पादक —
रामजी माणेकचंद दोशी
(एडवोकेट)



हिन्दी अनुवादक —
श्री प० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ
ललितपुर (झांसी)



प्रकाशक—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति १०००
वीर सं० २४८० भाद्र० सुदी ५
(दशलक्षणीपर्व)

मूल्य
५—०—०

मुद्रक —
नेमीचन्द बाकलीवाल
मैनेजर—एम. के मिल्स प्रेस,
मदनगंज (किशनगढ)


પરમ પૂજ્ય સદ્ગુરુદેવ

समर्पण

अध्यात्ममूर्ति पूज्य श्री कानजी स्वामी को



जिन्होंने इस पामर पर अपार उपकार किया है, जो
स्वयं मोक्षमार्गमें विचर रहे हैं और अपनी दिव्य
श्रुतधारा द्वारा भरतभूमिके जीवोंको सतत
रूपसे मोक्षमार्ग दर्शा रहे हैं जिनकी पवित्र
वाणीमें मोक्षमार्गके मूलरूप कल्याण
मूर्ति सम्यग्दर्शनका माहात्म्य निरंतर
बरस रहा है, और जिनकी परम
कृपा द्वारा यह ग्रंथ तैयार हुआ
है ऐसे कल्याणमूर्ति सम्यग्
दर्शनका स्वरूप समझाने
वाले परमोपकारी गुरु
देवश्री को यह ग्रंथ
अत्यन्त भक्ति
भाव पूर्वक
समर्पण
करता
हूँ।

दासानुदास–'रामजी'

अनुवादक की ओर से



इस युग के परम आध्यात्मिक संत पुरुष श्री कानजी स्वामी से जैन समाज का बहुभाग परिचित हो चुका है। अल्प काल में ही उनके द्वारा जो सत साहित्य सेवा, आध्यात्मिकता का प्रचार और सद्भावों का प्रसार हुआ है, वह गत् सौ वर्षों में भी शायद किसी अन्य जैन सन्त पुरुष से हुआ हो!

मुझे श्री कानजी स्वामीके निकट बैठकर कईबार उनके प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वे 'आध्यात्मिक' और 'निश्चय व्यवहार' जैसे शुष्क विषयों मे भी ऐसी सरसता उत्पन्न कर देते हैं कि श्रोतागण घंटों क्या, महीनों तक निरंतर उनके त्रिकाल प्रवचन सुनते रहते हैं। साथ ही श्रोताओंकी जिज्ञासात्मक रुचि बराबर बनी रहती है।

उनके निकट बैठकर अनेक महानुभावों ने ज्ञान-लाभ लिया है, और समयसार, प्रवचनसार आदि कई ग्रंथों का गुजराती अनुवाद किया है, जिनका राष्ट्र भाषानुवाद करनेका सौभाग्य मुझे मिलता रहा है।

गुजराती पाठकों में यह टीकाशास्त्र अत्यधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। मैंने स्वयं भी पर्यूषण पर्व में 'ललितपुर' की जैन समाजके समक्ष इसी गुजराती भाष्यको २-३ बार हिन्दीमें पढ़कर विवेचन किया है, जो समाजको बहुतही रुचि कर प्रतीत हुआ है।

इसी भाष्य ग्रन्थका राष्ट्रभाषा हिंदीमे अनुवाद करनेका सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त हुआ है, जो आपके करकमलोंमें प्रस्तुत है। मेरा विश्वास है कि सामान्य हिन्दी पाठक भी इस 'तत्वार्थ-विवेचन' का पठन–मनन करके तत्वार्थका रहस्यज्ञ बन सकता है। हिन्दी जगतमें इस ग्रन्थका अधिकाधिक प्रचार होना चाहिये।

जैनेंद्रप्रेस, ललितपुर
२५–७–५४

—परमेष्ठीदास जैन

दो शब्द

आज इस चिर प्रतीक्षित ग्रंथराज श्री "मोक्षशास्त्र" पर आध्यात्मिक दृष्टिसे की गई विस्तृत भाष्य समान टीकाको प्रकाशित होते देखकर हृदय बहुत आनन्दित हो रहा है। हमारे यहाँ दिगम्बर समाजमें इस ग्रन्थराजकी बहुत ही उत्कृष्ट महिमा है, सर्वदा पर्यूषण पर्वमें सर्व स्थानोंमें दस दिवसमें इसी ग्रन्थराजके दस अध्यायका अर्थ सहित वाँचन करनेकी पद्धति निरंतर प्रचलित है तथा बहुत से स्त्री पुरुषोंको ऐसा नियम होता है कि नित्य प्रति इसका पूरा स्वाध्याय जरूर करना, इस प्रकार की पद्धति जो कि अभी रूढिमात्र ही रह गई है, अर्थ एवं भाव पर लक्ष्य किये बिना मात्र स्वाध्याय कल्याणकारी कदापि नहीं बन सकती, कदाचित् कषाय मन्द करे तो किंचित् पुण्य हो सकता है लेकिन मोक्षमार्गमें पुण्य का क्या मूल्य है, लेकिन यहा पर तो इतना हा समझना है कि समाजमें अभी भी इस ग्रन्थराजका कितना आदर है, इसकी और अनेक महान्२ दिग्गज आचार्य श्रीमद् उमास्वामी आचार्यके बाद हुये जिन्होंने इस ग्रन्थराज मोक्षशास्त्र पर अनेक विस्तृत टीकायें श्री सर्वार्थसिद्धि, श्रीराजवार्तिक, श्री श्लोकवार्तिक आदि और हिन्दी भाषामें भी अर्थ प्रकाशिका आदि अनेक विस्तृत टीकाएं रची गई, जितनी बड़ी २ टीकाएँ इस ग्रन्थराज पर मिलती हैं उतनी अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं मिलतीं, ऐसे ग्रन्थराज पर अध्यात्मरसरोचक हमारे श्री माननीय भाई श्री रामजीभाई माणेकचन्दजी दोशी एडवोकेट संपादक आत्म धर्म एवं प्रमुख श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण सहित से एक विस्तृत भाष्यरूप टीका गुजरातीमें तैयार की जिसमें अनेक २ ग्रन्थोंमें इस विषय पर क्या कहा गया है उन सबके अक्षरश उद्धरण साथमें देने से यह टीका बहुत ही सुन्दर एवं उपयोगी बनगई, यह टीका गुजरातीमें वीर संवत् २४७३ के फागुन सुदी १ को १००० प्रति प्रकाशित हुई लेकिन सर्व समाजको यह टीका इतनी अधिक पसंद आई कि सिर्फ ६ मासमें सर्व १००० प्रति पूर्ण होगई और मांग बराबर आती रहनेके कारण बीर सं० २४७५ मिती अषाढ़ सुदी २ को दूसरी आवृत्ति प्रति १००० की प्रकाशित करनी पड़ी ऐसे सुन्दर प्रकाशनको देखकर मेरी यह तीव्र

भावना हुई कि अगर यह विस्तृत संकलन हिन्दी भाषामें अनुवाद होकर प्रकाशित हो तो हिन्दी भाषी एवं भारत भर के मुमुक्षु भाइयों को इसका महान् लाभ मिले अतः मैंने अपनी भावना श्री माननीय रामजी भाई को व्यक्त की लेकिन कुछ समय तक इस पर विचार होता रहा कि हिन्दी भाषी समाज बड़े २ उपयोगी ग्रन्थोंको भी खरीदने में संकोच करती है अतः बड़े ग्रन्थोंके प्रकाशनमें मोटी रकम अटक जाने से दूसरे प्रकाशन रुक जाते हैं आदि २, यह बात सत्य भी है कारण हमारे यहाँ शास्त्रोंको सिर्फ मंदिर में ही रखने की पद्धति है जो कि ठीक नहीं है. जिस प्रकार हरएक व्यक्ति व्यक्तिगतरूपसे अलग २ अपने २ आभूषण रखना चाहता है चाहे वह उनको कभी २ ही पहनता हो उसीप्रकार हरएक व्यक्ति को जिसके मोक्षमार्ग प्राप्त करने की अभिलाषा है उसको तो मोक्षमार्ग प्राप्त कराने के साधनभूत सत्शास्त्र आभूषणसे भी ज्यादा व्यक्तिगतरूपसे अलग २ रखनेकी आवश्यक्ता अनुभव होनी चाहिये, यही कारण है कि जिससे बड़े २ उपयोगी ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य समाजमें कम होता जा रहा है, लेकिन जब अनेक स्थानोंसे इस मोक्षशास्त्रको हिन्दी भाषामें प्रकाशन कराने की मांग आने लगी तो अन्तमें इसको हिन्दी भाषामें अनुवाद कराकर प्रकाशन करानेका निर्णय हुवा फलतः यह ग्रन्थराज सभाष्य आपको आज मिल रहा है, आशा है सर्व मुमुक्षुगण इससे पूरा पूरा पूरा लाभ उठावेंगे।

इस टीकाके लिखनेवाले व संग्राहक श्री माननीय रामजीभाई ने इसको तैयार करने में अत्यन्त असाधारण परिश्रम किया है, तथा अपने गम्भीर शास्त्राभ्यासका इसमें दोहन किया है, जब इस टीकाके तैय्यार करनेका कार्य चलता था तब तो हमेशा प्रातःकाल ४ बजे से भी पहले उठकर लिखने को बैठ जाते थे। उनकी उम्र ७२ वर्ष के आसपास होने पर भी उनकी कार्य शक्ति बहुत ही आश्चर्यजनक है! उन्होंने सं० २००२ के मगसर सुदी १० से वकालत बंद करके निवृत्ति ले ली है, और तभी से वे करीब २ अपने सम्पूर्ण समय सोनगढ़ में ही रहते हैं, उनमें सूक्ष्म न्यायों को भी ग्रहण करने की शक्ति, विशालबुद्धि, उदारता और इस संस्था (श्री जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़) के प्रति अत्यन्त प्रेम आदिकी प्रशंसा पूज्य महाराज श्री के मुखसे भी अनेक बार मुमुक्षुओंने सुनी है।

जो भी मुमुक्षु इस ग्रन्थकी स्वाध्याय करेंगे उनपर इस प्रकार श्रीयुत् रामजीभाई के प्रखर पाण्डित्य एवं कठिन श्रमकी छाप पड़े बिना नहीं रह सकती अत श्री रामजी भाई का समाज पर बहुत उपकार है कि जिन्होंने इस ग्रन्थराज का विषय अनेक ग्रन्थोंमें कहाँ किस प्रकार आया है और उसका अभिप्राय क्या है यह सब सकलन करके एक ही जगह इकट्ठा करके हमको दे दिया है।

सबसे महान् उपकार तो हम सबके ऊपर परम पूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजी स्वामी का है कि जिनकी अमृतवाणीको रुचिपूर्वक श्रवण करने मात्रसे अपने आपको पहिचाननेका मार्ग मुमुक्षुको प्राप्त होता है, और जिनकी अध्यात्म-सरिताका अमृतमय जलपान करके श्री रामजीभाई एव श्री पंडित हिम्मतलाल जेठालाल शाह जिन्होंने समयसार प्रवचनसार नियमसारकी सुदर टीका बनाई ऐसे २ नर रत्न प्रगट हुये हैं। मेरे ऊपर तो परम पूज्य परम उपकारी श्री गुरुदेव कानजी स्वामीका महान् २ उपकार है कि जिनके द्वारा अनेक भवोंमें नहीं प्राप्त किया ऐसा मोक्षमार्गका उपाय साक्षात् प्राप्त हुवा है और भविष्यके लिये यही अन्तरिक भावना है कि पूर्ण पदकी प्राप्ति होने तक आपका उपदेश मेरे हृदय में निरन्तर जयवन्त रहो।

श्रावण शुक्ला २
वीर नि० सवत् २४८०

—नेमीचन्द पाटनी

इस ग्रन्थके ज्ञान प्रभावनाके लिये लागत कीमत से भी कम कीमत में वितरण करने के हेतु निम्नलिखित सज्जनों द्वारा २०००) रुपये प्राप्त हुये हैं:—

१००१) श्रीयुत् माननीय महाराजा जामसाहेब बहादुर (सौराष्ट्रके नामदार राजप्रमुख साहेब) तथा श्रीमती महारानी साहिबाकी तरफ से ता० २४-३-५४ को ज्ञान खाते में आये वे इस ग्रंथके लिये उपयोगमें लेने निश्चित किये गये।

५०१) श्री महालक्ष्मीबाई धर्मपत्नी स्व० मणिलाल जयसिंह भाई, रेशम कारखाना अहमदाबाद वालोंकी तरफसे इस ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद कराने हेतु प्राप्त हुये।

५०१) सेठ श्री कालीदासजी राघवजी जसाणी, राजकोट वालोंकी तरफसे।

जैन शास्त्रोंकी कथन पद्धति समझकर

सच्ची श्रद्धा करने की रीति

निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना चाहिए, और व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिए। श्री समयसार कलश १७३ में भी यही कहा है कि—'जिससे सभी हिंसादि तथा अहिंसादि में अध्यवसाय हैं वे सब छोड़ना—ऐसा श्री जिनदेवने कहा है, उससे मैं (आचार्यदेव) ऐसा मानता हूँ कि-जो पराश्रित व्यवहार है वह सारा छुड़वाया है, तो सत्पुरुष एक निश्चयको ही भली भांति निश्चयरूप से अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनरूप अपनी महिमामें स्थिति क्यों नहीं करते ?

भावार्थ—यहां व्यवहारका तो त्याग कराया है, इसलिये निश्चयको अंगीकार करके निजमहिमारूप प्रवर्तन युक्त है। और अष्टप्राभृतमें मोक्षप्राभृतकी ३१वीं गाथा में कहा है कि—"जो व्यवहारमें सोते हैं वे योगी अपने कार्यमें जगते हैं, तथा जो व्यवहार में जागते हैं वे अपने कार्य में सोते हैं," इसलिये व्यवहारनयका श्रद्धान छोड़कर निश्चयनयका श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्यको तथा उसके भावोंको तथा कारण कार्यादिकको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिए। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसीका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो क्या कारण है कि—जिन मार्गमें दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है ?

उत्तर—जिन मार्गमें किसी स्थान पर तो निश्चयनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसा ही है"—ऐसा जानना, तथा किसी स्थान पर व्यवहारनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है उसे "ऐसे नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है"—ऐसा जानना चाहिए, और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर "इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है" ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ निश्चयव्यवहारनयाभासावलंबी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण)

इस शास्त्रकी टीकामें लिये गये आधारभूत शास्त्र



१ सर्वार्थसिद्धि
२ राजवार्तिक
३ श्लोकवार्तिक
४ अर्थप्रकाशिका
५ सर्वार्थसिद्धि प्रश्नोत्तर
६ मोक्षशास्त्र (पन्नालाल साहित्याचार्य टीका)
७ तत्त्वार्थ सूत्र (इंग्लिश)
८ तत्त्वार्थसार
९ समयसार (संस्कृत टीका सहित)
१० प्रवचनसार (संस्कृत टीका सहित)
११ पंचास्तिकाय (संस्कृत टीका सहित)
१२ नियमसार (संस्कृत टीका सहित)
१३ परमात्मप्रकाश (संस्कृत टीका सहित)
१४ अष्टपाहुड़
१५ बारस अणुवेक्खा
१६ समयसार-प्रवचन भाग—१-२-३
१७ नियमसार प्रवचन भाग १
१८ समयसार नाटक
१९ पंचाध्यायी भाग १-२
२० धवलाटीका भाग १ से ७
२१ जयधवला भाग १
२२ तिलोय-पण्णत्ति
२३ त्रिलोकसार
२४ गोमट्टसार
२५ श्रीमद् राजचन्द्र
२६ मोक्षमाला
२७ आत्मसिद्धि शास्त्र
२८ आत्मसिद्धि प्रवचन
२९ बृहद्द्रव्यसंग्रह
३० द्रव्यसंग्रह
३१ पुरुषार्थ सिद्धि उपाय
३२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा
३३ मोक्षमार्ग प्रकाशक
३४ समयसार जयसेनाचार्य सं० टीका
३५ चर्चा समाधान (भूधरदासजी)
३६ पद्मनंदि पंचविंशतिका
३७ रत्नकरण्ड श्रावकाचार
३८ भगवती आराधना
३९ योगसार (योगीन्द्रदेव)
४० प्रमेयरत्नमाला
४१ न्यायदीपिका
४२ अध्यात्मकमलमार्तंड
४३ आलापपद्धति
४४ भावसंग्रह
४५ जैन सिद्धान्त प्रवेशिका
४६ आप्तमीमांसा
४७ चारित्रसार
४८ अनुभव प्रकाश
४९ सत्तास्वरूप
५० रहस्यपूर्ण चिट्ठी
५१ छहढाला
५२ जैन सिद्धान्त दर्पण वगैरह

मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

प्रस्तावना



(१) शास्त्रके कर्ता और उसकी टीकाएँ—

१ इस मोक्षशास्त्रके कर्त्ता भगवान श्री उमास्वामी आचार्य हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के ये मुख्य शिष्य थे। 'श्री उमास्वाति' के नाम से भी वे पहिचाने जाते हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् वे आचार्य पद पर विराजमान हुए थे। वे विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दीमें होगये हैं।

२ जैन समाजमें यह शास्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी एक विशेषता यह है कि जैन आगमोंमें संस्कृत भाषामें सर्वप्रथम इसी शास्त्रकी रचना हुई है, इस शास्त्र पर श्री पूज्यपाद स्वामी, अकलंकस्वामी और श्री विद्यानंदि स्वामी जैसे समर्थ आचार्यदेवोंने विस्तृत टीकाकी रचना की है। श्री सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक श्लोकवार्तिक, अर्थप्रकाशिका आदि ग्रन्थ इसी शास्त्रकी टीकाएँ हैं। बालक से लेकर महापण्डितों तक के लिये यह शास्त्र उपयोगी है। इस शास्त्र की रचना अत्यन्त आकर्षक है, अत्यल्प शब्दोंमें प्रत्येक सूत्रकी रचना है और वे सूत्र सरलतासे याद रखे जा सकते हैं। अनेक जैन उन सूत्रोंको मुखाग्र करते हैं। जैन पाठशालाओंकी पाठ्य पुस्तकोंमें यह एक मुख्य है। हिन्दीमें इस शास्त्रकी कई आवृत्तियां छप गई हैं।

(२) शास्त्रके नामकी सार्थकता—

३ इस शास्त्रमें आचार्य भगवानने प्रयोजनभूत तत्त्वोंका वर्णन बड़ी खूबीसे भर दिया है। पथभ्रात संसारी जीवोंको आचार्यदेवने मोक्षमार्ग दर्शाया है, प्रारम्भ में ही "सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है"—ऐसा बतलाकर निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका वर्णन किया है। इसप्रकार मोक्षमार्गका प्ररूपण होनेसे यह शास्त्र "मोक्षशास्त्र" नामसे पहिचाना

जाता है। और जीव - अजीवादि सात तत्त्वोंका वर्णन होनेसे "तत्त्वार्थ सूत्र" नामसे भी प्रसिद्ध है।

(३) शास्त्रके विषय

४. यह शास्त्र कुल १० अध्यायोंमें विभक्त है और उनमें कुल ३५७ सूत्र हैं। प्रथम अध्यायमें ३३ सूत्र हैं; उनमें पहले ही सूत्रमें निश्चय सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र तीनोंकी एकताको मोक्षमार्गरूपसे बतलाकर फिर निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञानका विवेचन किया है। दूसरे अध्यायमें ५३ सूत्र हैं; उनमें जीव-तत्त्वका वर्णन है। जीवके पांच असाधारण भाव, जीवका लक्षण तथा इन्द्रिय, योनि, जन्म, शरीरादिके साथके सम्बन्धका विवेचन किया है। तीसरे अध्यायमें ३९ तथा चौथे अध्यायमे ४२ सूत्र हैं। इन दोनों अध्यायोंमें संसारी जीवको रहने के स्थानरूप, अधो, मध्य और ऊर्ध्व इन तीन लोकों का वर्णन है और नरक, तिर्यंच, मनुष्य, तथा देव—इन चार गतियोंका विवेचन है। पांचवें अध्यायमें ४२ सूत्र हैं और उसमें अजीव तत्त्वका वर्णन है; इसलिये पुद्गलादि अजीव द्रव्योंका वर्णन किया है; तदुपरान्त द्रव्य, गुण, पर्यायके लक्षणका वर्णन बहुत संक्षेपमें विशिष्ट रीतिसे किया है—यह इस अध्यायकी मुख्य विशेषता है। छठवें अध्यायमें २७ तथा सातवें अध्यायमें ३९ सूत्र हैं, इन दोनों अध्यायोंमें आस्रवतत्त्व का वर्णन है। छठवें अध्यायमें प्रथम आस्रवके स्वरूपका वर्णन करके फिर आठों कर्मोंके आस्रवके कारण बतलाये हैं। सातवें अध्यायमें शुभास्रवका वर्णन है, उसमें बारह व्रतोंका वर्णन करके उसका आस्रवके कारणमें समावेश किया है। इस अध्यायमें श्रावकाचारके वर्णनका समावेश हो जाता है। आठवें अध्यायमें २६ सूत्र हैं और उनमें बंधतत्त्वका वर्णन है। बंधके कारणोंका तथा उसके भेदों का और स्थितिका वर्णन किया है। नववें अध्यायमें ४७ सूत्र हैं और उनमें संवर तथा निर्जरा इन दो तत्त्वोंका बहुत सुन्दर विवेचन है, तथा निर्ग्रंथ मुनियोंका स्वरूप भी बतलाया है। इसलिये इस अध्यायमें निश्चयसम्यक्चारित्रके वर्णनका समावेश हो जाता है। पहले अध्यायमें निश्चय सम्यग्दर्शन तथा निश्चय सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया था और इस नवमे अध्यायमें निश्चय सम्यक्चारित्रका (- संवर, निर्जराका) वर्णन किया। इस प्रकार सम्यग्दर्शन- ज्ञान - चारित्ररूप

मोक्षमार्गका वर्णन पूर्ण होने पर अन्तमें दसवें अध्यायमें नवसूत्रों द्वारा मोक्षतत्त्वका वर्णन करके श्री आचार्यदेवने यह शास्त्र पूरा किया है।

५ संक्षेपमें देखनेसे इस शास्त्रमें निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्‌चारित्ररूप मोक्षमार्ग, प्रमाण नय निक्षेप, जीव - अजीवादि सात तत्त्व, ऊर्ध्व मध्य अधो—यह तीन लोक, चार गतिया, छह द्रव्य और द्रव्य-गुण-पर्याय—इन सबका स्वरूप आजाता है। इस प्रकार आचार्य भगवानने इस शास्त्रमें तत्त्वज्ञानका भण्डार बड़ी खूबीसे भर दिया है।

६ 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' यह सूत्र निश्चय सम्यग्दर्शनके लिये है, ऐसा प० टोडरमल्लजी मो० मा० प्रकाशक अ० ६ में कहते हैं —

(१) जो तत्त्वार्थ श्रद्धान विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थोंका श्रद्धानपना सो सम्यग्दर्शनका लक्षण है सम्यग्दर्शन लक्ष्य है सोई तत्त्वार्थसूत्र विषैं कह्या है—

'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' ॥ १-२ ॥

बहुरि पुरुषार्थ सिद्धयुपायके विषैं भी ऐसैं ही कह्या है।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थाना सदैव कर्त्तव्यम्।

श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपतत् ॥२२॥

याका अर्थ—विपरीताभिनिवेश करि रहित जीव अजीव आदि तत्त्वार्थनिका श्रद्धान सदाकाल करना योग्य है। सो यहु श्रद्धान आत्माका स्वरूप है। दर्शन मोह उपाधि दूर भये प्रगट होय है, तातैं आत्माका स्वरूप है। चतुर्थादि गुणस्थान विषैं प्रगट हो है। पीछैं सिद्ध अवस्था विषैं भी सदाकाल याका सद्भाव रहै है, ऐसा जानना"।

(देहलीसे प्रकाशित, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ४७०-४७१)

इस सम्बन्धमें पृ० ४७५ से ४७७ में प० टोडरमलजी विशेष कहते हैं कि —बहुरि प्रश्न—जो छद्मस्थकै तौ अप्रतीति प्रतीति कहना सभवै है, तातैं तहाँ सप्त तत्त्वनिकी प्रतीति सम्यक्त्वका लक्षण कह्या सो हम मान्यों, परन्तु केवली सिद्ध

भगवान कै तौ सर्वका जानपना समानरूप है। तहाँ सप्ततत्त्वनिकी प्रतीति कहना संभवै नाहीं। अर तिनकै सम्यक्त्व गुण पाइए ही है। तातैं तहाँ तिस लक्षणका अव्याप्तिपना आया।

ताका समाधान—

जैसे छद्मस्थके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति पाइए है, तैसें केवली सिद्ध-भगवानके केवल ज्ञानके अनुसारि प्रतीति पाइए है। जो सप्ततत्त्वनिका स्वरूप पहलैं ठीक किया था, सो ही केवलज्ञानकरि जान्या। तहाँ प्रतीतिकौं परम अव-गाढ़पनौं भयो। याहीतैं परमावगाढ़ सम्यक्त्व कह्या। जो पूर्वैं श्रद्धान किया था, ताकौं झूठ जान्या होता, तौ तहां अप्रतीति होती। सो तौ जैसा सप्ततत्त्वनिका श्रद्धान छद्मस्थ के भया था, तैसा ही केवली, सिद्ध भगवानके पाइए है। तातैं ज्ञानादिककी हीनता अधिकता होतैं भी तिर्यंचादिक वा केवली सिद्ध भगवान के सम्यक्त्वगुण समान ही कह्या। बहुरि पूर्व अवस्थाविषैं यहु मानैं था संवर निर्जराकरि मोक्षका उपाय करना। पीछैं मुक्ति अवस्था भए ऐसैं मानने लगे, जो संवरनिर्जरा करि हमारैं मोक्ष भई। बहुरि पूर्वैं ज्ञानकी हीनता करि जीवादिकके थोड़े विशेष जानै था पीछैं केवलज्ञान भए तिनके सर्व विशेष जानैं परन्तु मूल-भूत जीवादिकके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थके पाइए है, तैसा ही केवली के पाइए है। बहुरि यद्यपि केवली, सिद्ध भगवान् अन्य पदार्थनिकौं भी प्रतीति लिए जानैं हैं तथापि ते पदार्थ प्रयोजनभूत नाहीं। तातैं सम्यक्त्वगुण विषैं सप्त तत्त्वनि ही का श्रद्धान ग्रहण किया है। केवली सिद्ध भगवान् रागा-दिरूप न परिणमैं हैं। संसार अवस्थाकौं न चाहैं हैं। सो इस श्रद्धानका बल जानना।

बहुरि प्रश्न—जो सम्यग्दर्शनको तौ मोक्षमार्ग कह्या था, मोक्षविषैं याका सद्भाव कैसैं कहिए है?

ताका उत्तर—कोई कारण ऐसा भी हो है, जो कार्य सिद्ध भए भी नष्ट न होय। जैसैं काहू वृक्षकै कोई एक शाखाकरि अनेक शाखायुक्त अवस्था भई,

तिसकौं होतैं वह एक शाखा नष्ट न हो है। तैसैं काहु आत्मा के सम्यक्त्वगुणकरि अनेक गुणयुक्त मुक्ति अवस्था भई, ताकौं होतैं सम्यक्त्वगुण नष्ट न हो है ऐसैं केवली सिद्ध भगवान् के भी तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण ही सम्यक्त्व पाइए है। तातैं तहां अव्याप्तिपनौं नाही है।"

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् यह लक्षण भाव निक्षेप से है।

(देखो मो० मा० प्रकाशक पा० ४७७)

बहुरि प्रश्न—मिथ्यादृष्टीकै भी तत्त्वश्रद्धान हो है, ऐसा शास्त्रविषैं निरूपण है। प्रवचनसारविषैं आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थ श्रद्धान अकार्यकारी कह्या है। तातैं सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कह्या है, तिस विषैं अतिव्याप्ति दूषण लागै है।

ताका समाधान—मिथ्यादृष्टीकै जो तत्त्वश्रद्धान कह्या है, सो नाम निक्षेपकरि कह्या है। जामैं तत्त्व श्रद्धान का गुण नहीं अर व्यवहार विषैं जाका नाम तत्त्व श्रद्धान-कहिए, सो मिथ्यादृष्टीकै हो है। अथवा आगम द्रव्यनिक्षेपकरि हो है। तत्त्वार्थ श्रद्धानके प्रतिपादक शास्त्रनिकौ अभ्यास है, तिनका स्वरूप निश्चय करनैं विषैं उपयोग नाहीं लगावै है, ऐसा जानना।

बहुरि यहां सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कह्या है सो भावनिक्षेपकरि कह्या है। सो गुण सहित सांचा तत्त्वार्थ श्रद्धान मिथ्यादृष्टी के कदाचित् न होय। बहुरि आत्मज्ञान शून्य तत्त्वार्थ श्रद्धान कह्या है। तहां भी सोई अर्थ जानना। सांचा जीव अजीवादिकका जाकै श्रद्धान होय, ताकै आत्मज्ञान कैसें न होय? होय ही होय। ऐसैं कोई मिथ्यादृष्टीकै सांचा तत्त्वार्थ श्रद्धान सर्वथा न पाइए है, तातैं तिस लक्षणविषैं अतिव्याप्ति दूषण न लागै है।

बहुरि जो यहु तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण कह्या, सो असंभवी भी नाहीं है। जातैं सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है यहु नाहीं। ताका लक्षण इसतैं विपरीतता लिए है ऐसैं अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभविपनाकरि रहित सर्व सम्यग्दृष्टीनिविषैं तौ

पाइये अर कोई मिथ्यादृष्टी विषैं न पाइए ऐसा सम्यग्दर्शनका सांचा लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है।"

(मोक्षमार्ग प्र० अ० ९ पृ० ४७५ से ४७७)

पंचाध्यायी भाग २ में कहा है कि:—

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम्।
शुद्धं नवपदान्येव तद्विकारादृते परम॥ १८६॥

अर्थः—इसलिये शुद्ध तत्त्व कुछ उन नवतत्त्वोंसे विलक्षण अर्थान्तर नहीं है किन्तु केवल नवतत्त्व सम्बन्धी विकारोंको छोड़कर नवतत्त्व ही शुद्ध है। भावार्थ—इसलिये सिद्ध होता है कि केवल विकारकी उपेक्षा करने से नवतत्त्व ही शुद्ध जीव है। नव तत्त्वोंसे कुछ सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है।

अतस्तत्त्वार्थ श्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम्।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि॥ १८७॥

अर्थ—इसलिये सूत्रमें तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है और वे तत्त्व भी जीवाजीवादि रूप से नव हैं, अतः क्रमानुसार उन नव पदार्थोंका कथन करना चाहिये।

७—इसलिये इस शास्त्रका सूत्रमें निश्चय सम्यक्दर्शन का ही लक्षण है, व्यवहार सम्यग्दर्शन का नहिं ऐसा निश्चय करना।

(४) शास्त्रके कथनका प्रकार

८. इस शास्त्रमें पर्यायार्थिक नयसे भी वस्तुस्वरूप का कथन किया गया है, इसलिये उसमें एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य के साथ संबंध भी बतलाया है; किन्तु वर्तमान जैन समाजमें 'नय' सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान की प्रायः शून्यता दिखाई देती है, इसलिये अधिकांश समाज इस शास्त्रके सच्चे मर्मसे अज्ञात है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता—ऐसा वस्तुस्वरूप है, इसलिये जहां जहां एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यके साथ सम्बन्ध बतलाया जाये वहां—वहां ऐसा समझना कि वह सम्बन्ध मात्र निमित्त-नैमित्तिकपनेका है. किन्तु पृथक् द्रव्योंका कर्ता-कर्म सम्बन्ध

किंचित् हो ही नहीं सकता। जहाँ पर्यायका और उसके निमित्तका ज्ञान कराना हो वहाँ कई बार निमित्तकी मुख्यतासे कथन किया जाता है, परन्तु वहीं पर ऐसा नहीं समझना कि—निमित्तकी मुख्यतासे भी कार्य होते हैं। इस शास्त्रमें भी अनेक स्थानों पर निमित्त की मुख्यतासे कथन किया गया है, और वैसे सूत्रोंकी टीका में उस कथनके भावोंको स्पष्ट किया गया है। उसके अभ्याससे जिज्ञासुओं को सत्य वस्तु स्वरूप समझनेमें सुगमता होगी।

नयका स्वरूप संक्षेपमें निम्न प्रकार है —

१—सम्यग्नय सम्यग् श्रुतज्ञानका अवयव है और इससे वह परमार्थसे ज्ञानका (उपयोगात्मक) अंश है, और उसका शब्दरूप कथनको मात्र उपचारसे नय कहा है।

इस विषयमें श्री धवल टीका में कहा है कि —

शंका—नय किसे कहते हैं?

समाधान—ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं।

शंका—'अभिप्राय' इसका क्या अर्थ है?

समाधान—प्रमाणसे गृहीत वस्तुके एक देशमें वस्तुका निश्चय ही अभिप्राय है।

युक्ति अर्थात् प्रमाणसे अर्थके ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायमेंसे किसी एकको अर्थरूपसे ग्रहण करनेका नाम नय है। प्रमाणसे जानी हुई वस्तुके द्रव्य अथवा पर्यायमें वस्तुके निश्चय करने को नय कहते हैं, यह इसका अभिप्राय है। (धवला टीका पुस्तक ९ पृ० १६२–१६३)

'प्रमाण और नयसे वस्तुका ज्ञान होता है' इस सूत्र द्वारा भी यह व्याख्यान विरुद्ध नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि प्रमाण और नयसे उत्पन्न वाक्य भी उपचारसे प्रमाण और नय है।"

(ध० टी० पु० ९ पृ० १६४)

[यहां श्री वीरसेनाचार्यने वाक्यको उपचारसे नय कहकर ज्ञानात्मक नयको परमार्थसे नय कहा है]

पंचाध्यायीमें भी नयके दो प्रकार माने हैं—

द्रव्य नयो भाव नयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा।

पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुण॥ ५०५॥

अर्थ—वह नय भी द्रव्यनय और भावनय इस प्रकारके भेदसे दो प्रकार का है जैसे कि वास्तवमें पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है तथा जीवका गुण जो चैतन्य यह है वह भावनय कहलाता है। अर्थात् नय ज्ञानात्मक और वचनात्मकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें से वचनात्मक नय द्रव्यनय तथा ज्ञानात्मक नय भावनय कहलाता है।"

स्वामी कार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षामें नयके तीन प्रकार कहे हैं।

अब वस्तुके धर्मको, उसके वाचक शब्दको और उसके ज्ञानको नय कहते हैं:—

सो चिय इक्को धम्मो, वाचय सद्दो वि तस्स धम्मस्स।

तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णयविसेसा य॥ २६५॥

अर्थः—जो वस्तुका एक धर्म, उस धर्म का वाचक शब्द, और उस धर्म को जाननेवाला ज्ञान ये तीनों ही नयके विशेष हैं।

भावार्थः—वस्तुका ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु इनको जैसे प्रमाणस्वरूप कहते हैं वैसे ही नय भी कहते हैं।

(पाटनी ग्रन्थमालासे प्रकाशित कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ० १७०)

"सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ" श्रुतज्ञानके विकल्प (-भेद) को नय कहा है (का० अनुप्रेक्षा गा० २६३)

(५) इस शास्त्रकी इस टीकाके आधारभूत शास्त्र

१०—इस टीकाका संग्रह मुख्यतया श्री सर्वार्थ सिद्धि, श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक श्री श्लोकवार्तिक, श्री अर्थ प्रकाशिका, श्री समयसार, श्री प्रवचनसार श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री धवला शास्त्र, तथा श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक इत्यादि अनेक सत् शास्त्रोंके आधार पर किया गया है जिसकी सूची भी इस ग्रन्थमें शुरूमें दी गई है।

(६) अध्यात्म योगी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीकी कृपा का फल

११—मोक्षमार्गका सत्य पुरुषार्थ दर्शानेवाले, परम सत्य जैनधर्मके मर्मके पारगामी और अद्वितीय उपदेशक, आत्मज्ञ, सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीसे मैंने इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि पढ लेनेकी प्रार्थना की और उन्होंने उसे स्वीकारनेकी कृपा की। फलस्वरूप उनकी सूचनानुसार सुधार करके मुद्रणके लिये भेजा गया। इस प्रकार यह ग्रन्थ उनकी कृपाका फल है—ऐसा कहनेकी आज्ञा लेता हूँ। इस कृपाके लिये उनका जितना उपकार व्यक्त करें उतना कम ही है।

(७) मुमुक्षु पाठकों से

१२—मुमुक्षुओंको इस ग्रन्थका सूक्ष्म दृष्टिसे और मध्यस्थरूपसे अध्ययन करना चाहिए। सत् शास्त्रका धर्म बुद्धि द्वारा अभ्यास करना सम्यग्दर्शनका कारण है। तदुपरांत, शास्त्राभ्यासमें निम्न बातें मुख्यतया ध्यानमें रखना चाहिए—

१— निश्चय सम्यग्दर्शन से ही धर्मका प्रारम्भ होता है।

२—निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीवको सच्चे व्रत, सामायिक प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि क्रियाएं नहीं होतीं, क्योंकि वे क्रियाएँ पाँचवें गुणस्थानमें शुभभावरूपसे होती हैं।

३—शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको होता है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि उससे धर्म होगा, अथवा वह शुभभावरूप व्यवहार करते करते भविष्यमें धर्म होगा, किन्तु ज्ञानियोंको वो हेय बुद्धिसे होनेसे उससे (शुभ भावसे धर्म होगा ऐसा वे कभी नहीं मानते।

४—पूर्ण वीतरागदशा प्रगट न हो वहां तक पद अनुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहते किन्तु उस भावको धर्म नहीं मानना चाहिए और न ऐसा मानना चाहिये कि उससे क्रमशः धर्म होगा, क्योंकि वह विकार होने से अनन्त वीतराग देवोंने उसे बन्धनका ही कारण कहा है।

५—प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायसे स्वतन्त्र है, एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ कर नहीं सकती, परिणमित नहीं कर सकती, प्रेरणा नहीं दे सकती, प्रभाव-असर-मदद या उपकार नहीं कर सकती, लाभ हानि नहीं कर सकती, मार-जिला नहीं सकती, सुख दुःख नहीं दे सकती—ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायकी स्वतन्त्रता अनन्त ज्ञानियोंने पुकार पुकार कर कही है।

६—जिनमतमें तो ऐसी परिपाटी है कि पहले निश्चय सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत; और निश्चय सम्यक्त्व तो विपरीत अभिप्राय रहित जीवादि तत्त्वार्थ श्रद्धान है, इसलिये ऐसा यथार्थ श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिए।

७—प्रथम गुणस्थानमें जिज्ञासु जीवोंको ज्ञानी पुरुषोंके धर्मोपदेशका श्रवण, उनका निरन्तर समागम, सत्‌शास्त्रका अभ्यास, पठन-मनन, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दानादि शुभभाव होते हैं, किन्तु पहले गुणस्थानमें सच्चे व्रत-तपादि नहीं होते।

(८) अन्तमें

मोक्षशास्त्रके गुजराती टीका परसे हिन्दी अनुवाद करनेका कार्य कठिन परिश्रम साध्य; उसको पूरा करनेवाले श्री पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवादके पात्र हैं।

इस अनुवादके अक्षरशः मिलान करके जाँचनेके कार्यमें तथा शास्त्रानुसार स्पष्टता करनेके कार्यमें अपना समय देनेवाले श्री ब्रह्मचारी चंदूभाई, श्री ब्र० अमृतलालभाई, श्री ब्र० गुलाबचन्दभाई को धन्यवाद है।

हिन्दी समाजको इस गुजराती-मोक्षशास्त्र टीकाका लाभ प्राप्त हो इसलिये उसका हिन्दी अनुवाद करानेके लिये श्री नेमीचन्दजी पाटनीने पुनः पुनः प्रेरणा की थी, और अपनी मिल्स के प्रि० प्रेसमें यह शास्त्र सुंदर रीतिसे छपानेकी व्यवस्था करने के लिये श्री नेमीचन्दजी पाटनी (प्रधान-मंत्री श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मदनगंज-किशनगढ़) को धन्यवाद है।

इस ग्रन्थका प्रूफ रीडिंग, शुद्धिपत्र, विस्तृत विषय सूची, शब्दसूची आदि तैयार करने का कार्य सावधानी से श्री० नेमीचन्दजी बाकलीवाल (-मदनगंज) ने तथा ब्र० गुलाबचन्दजी ने किया है, अतः उन्हें भी धन्यवाद है।

वीर नि० संवत् २४८०
भाद्र० सुद ५
(श्री दशलक्षणी पर्व)

रामजी माणेकचन्द दोशी,
—प्रमुख—
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़

श्री मोक्षशास्त्र टीका की विषय सूची ।



सूत्र नं०	विषय	पत्र सं०

सूत्र न०	विषय	पत्र सं०

प्रथम अध्यायका परिशिष्ट—३ १६५

प्रथम अ० का परिशिष्ट—४

सूत्र नं० | विषय | पत्र सं०

अध्याय दूसरा

सूत्र नं० | विषय | पत्र सं०

अध्याय तीसरा

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

उपसंहार

अध्याय छट्ठा

अध्याय सातवाँ

अध्याय आठवां

अध्याय नवमां

दशवां अध्याय



मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

卐 दंसणमूलो धम्मो 卐

❀ धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है ❀

—भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

—भगवान श्री उमास्वामी आचार्य देव

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

—श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य देव

श्री सर्वज्ञ वीतरागाय नमः।



श्रीमदाचार्य उमास्वामि विरचित

मोक्षशास्त्र

गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद

मंगलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अर्थः- मोक्षमार्ग के प्रवर्तक, कर्मरूपी पर्वतों के भेदक अर्थात् नष्ट करनेवाले, तथा विश्व के (समस्त) तत्त्वों के जाननेवाले (आप्त) को उनके गुणों की प्राप्ति के हेतु मैं प्रणाम करता हूँ-वन्दना करता हूँ।

संक्षिप्त अवलोकन

(१) इस शास्त्र को प्रारम्भ करने से पूर्व संक्षेप में यह बताना आवश्यक है कि इस शास्त्र का विषय क्या है?

(२) आचार्य देवने इस शास्त्रका नाम 'मोक्षशास्त्र' अथवा 'तत्त्वार्थसूत्र' रखा है। जगतके जीव अनन्त प्रकारके दुःख भोग रहे हैं, और उन दुःखों से सदा के लिए मुक्त होने अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिये रात दिन उपाय कर रहे हैं, किन्तु उनके वे उपाय मिथ्या होने से, जीवों का दुःख दूर नहीं होता, एक या दूसरे रूप में दुःख बना ही रहता है।

जीव दुःखों की परंपरा से क्योंकर मुक्त हों इसका उपाय और उसका वीतरागी विज्ञान इस शास्त्रमें बताया गया है, इसीलिये इसका नाम 'मोक्षशास्त्र' रखा गया है।

मूलभूत भूल के विना दुःख नहीं होता, और उस भूल के दूर होने पर सुख हुये विना नहीं रह सकता,–यह अबाधित सिद्धान्त है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझे विना वह भूल दूर नहीं होती; इसलिए इस शास्त्र में वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझाया गया है, इसीलिए इसका नाम 'तत्त्वार्थसूत्र' भी रखा गया है।

(३) यदि जीव को वस्तु के यथार्थ स्वरूप संबंधी मिथ्या मान्यता (Wrong Belief) न हो तो ज्ञान में भूल न हो। जहाँ मान्यता सच्ची होती है वहाँ ज्ञान सच्चा ही होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान पूर्वक ही यथार्थ प्रवृत्ति होती है। इसलिए आचार्य देवने इस शास्त्र का प्रारंभ करते हुए प्रथम अध्याय के पहले ही सूत्र में यह सिद्धान्त बताया है कि सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान पूर्वक होनेवाली सच्ची प्रवृत्ति द्वारा ही जीव दुःख से मुक्त हो सकते हैं।

(४) 'स्वयं कौन है' इस संबंध मे जगत के जीवों की भारी भूल चली आ रही है। बहुत से जीव शरीर को अपना स्वरूप मानते हैं, इसलिए वे शरीर की रक्षा करने के लिए निरंतर अनेक प्रकार के प्रयत्न करते रहते हैं। जब कि जीव शरीर को अपना मानता है तब जिसे वह समझता है कि यह शारीरिक सुविधा चेतन या जड़ पदार्थों की ओर से मिलती है उनकी ओर उसे राग होता ही है; और जिसे वह समझता है कि असुविधा चेतन या जड़ पदार्थों की ओर से मिलती है उनकी ओर उसे द्वेष भी होता ही है। और इस प्रकार की धारणा से जीव को आकुलता बनी ही रहती है।

(५) जीव की इस महान् भूल को शास्त्र में 'मिथ्या दर्शन' कहा गया है। जहाँ मिथ्या मान्यता होती है वहाँ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होता है, इसलिए मिथ्यादर्शनरूपी भूल को महापाप भी कहा जाता है।

मिथ्यादर्शन भारी भूल है और वह सर्व दुःखों की महान् बलवती जड़ है,— जीवों को ऐसा लक्ष न होने से वह लक्ष कराने के लिए और वह भूल दूर करके जीव अविनाशी सुख की ओर पैर रखें इस हेतु से आचार्य देवने इस शास्त्र में सबसे पहला शब्द 'सम्यग्दर्शन' प्रयुक्त किया है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही उसी समय ज्ञान सच्चा हो जाता है, इसलिए दूसरा शब्द 'सम्यग्ज्ञान' प्रयुक्त किया गया है, और सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्-चारित्र होता है इसलिए 'सम्यक्चारित्र' शब्द को तीसरे रखा है। इस प्रकार तीन शब्दों का प्रयोग करने से कहीं लोग यह न मान बैठें कि— 'सच्चा सुख प्राप्त करने के तीन मार्ग हैं' इसलिए प्रथम सूत्र में ही यह बता दिया है कि 'तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।'

(६) यदि जीव को सच्चा सुख चाहिये तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिये। जगत में कौन कौन से पदार्थ हैं, उनका क्या स्वरूप है, उनका कार्यक्षेत्र क्या है, जीव क्या है, वह क्यों दुःखी होता है,— इसकी यथार्थ समझ हो तब ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसलिये आचार्य देवने दश अध्यायों में सात तत्त्वों के द्वारा वस्तु स्वरूप बतलाया है।

(७) इस-मोक्षशास्त्र के दश अध्यायों में निम्नलिखित विषय लिये गये हैं —

१ अध्याय में-मोक्ष का उपाय और जीवके ज्ञान की अवस्थाओं का वर्णन है।

२ अध्याय में-जीव के भाव, लक्षण और शरीर के साथ जीवका संबंध वर्णन किया गया है।

३-४ अध्याय में-विकारी जीवों के रहने के क्षेत्रों का वर्णन है। इस प्रकार प्रथम चार अध्यायों में पहले जीव तत्त्व का वर्णन किया गया है।

५ अध्याय में-दूसरे अजीव तत्त्वका वर्णन है।

६-७ अध्याय में-जीव के नवीन विकारभाव (आस्रव) तथा उनका निमित्त पाकर जीवको सूक्ष्म जड़कर्म के साथ होने

वाला संबंध बताया है। इसप्रकार तीसरे आस्रव-तत्त्व का वर्णन किया है।

८ अध्याय में-यह बताया गया है कि जीवका जड़ कर्मों के साथ किस प्रकार बंध होता है और वह जड़कर्म कितने समय तक जीव के साथ रहते हैं। इस प्रकार इस अध्याय में चौथे बंध तत्त्व का वर्णन किया गया है।

९ अध्याय में-यह बताया गया है कि—जीवके अनादिकाल से न होनेवाले धर्म का प्रारंभ संवर से होता है, जीव की यह अवस्था होने पर उसे सच्चे सुखका प्रारंभ होता है, और क्रमशः शुद्धि के बढ़ने पर विकार दूर होता है, उससे निर्जरा अर्थात् जड़कर्म के साथके बंधका अंशतः अभाव होता है। इसप्रकार नववें अध्यायमें पाँचवाँ और छट्ठा अर्थात् संवर और निर्जरा तत्त्व बताया गया है।

१० अध्याय में-जीवकी शुद्धिकी पूर्णता, सर्व दुःखोंसे अविनाशी मुक्ति और सम्पूर्ण पवित्रता-मोक्ष तत्त्व है, इसलिए आचार्य देवने सातवाँ मोक्ष तत्त्व दशवें अध्यायमें बतलाया है।

(८) मंगलाचरणमें भगवानको 'कर्मरूपी पर्वतोंको भेदनेवाला' कहा है। कर्म दो प्रकार के हैं:- १-भावकर्म, २-द्रव्यकर्म। जब जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भावकर्मरूपी पर्वतोंको दूर करता है तब द्रव्यकर्म स्वयं ही अपने से हट जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं; ऐसा जीवकी शुद्धता और कर्मक्षय का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है;-यहाँ यही बताया गया है। जीव जड़कर्म को परमार्थतः नष्ट कर सकता है,-यह कहनेका आशय नहीं है।

(९) मंगलाचरणमें नमस्कार करते हुये देवागमन, समोशरण, चामर और दिव्यशरीरादि पुण्यविभूतियों का उल्लेख नहीं किया गया है

जो तीर्थंकर भगवान के पास होती हैं, क्योंकि पुण्य आत्मा की शुद्धता नहीं है।

(१०) मंगलाचरणमें गुणोंसे पहचान करके भगवानको नमस्कार किया है। अर्थात् भगवान विश्वके (समस्त तत्त्वोंके) ज्ञाता हैं, मोक्ष मार्ग के नेता हैं, और उनने सर्व विकारों (दोषों) का नाश किया है,—इसप्रकार भगवानके गुणोंका स्वरूप बतलाकर गुणोंकी पहचान करके उनकी स्तुति की है। निश्चय से अपनी आत्मा की स्तुति की है।

प्रथम अध्याय

निश्चय मोक्षमार्गकी व्याख्या

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थ—[सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, तीनों मिलकर [मोक्षमार्गः] मोक्षका मार्ग है, अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

टीका

(१) सम्यक्—यह शब्द प्रशंसावाचक है, जो कि यथार्थता को सूचित करता है। विपरीत आदि दोषोंका अभाव 'सम्यक्' है।

दर्शन—का अर्थ है श्रद्धा, 'ऐसा ही है—अन्यथा नहीं' ऐसा प्रतीतिभाव।

सम्यग्ज्ञान—संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरहित अपने आत्मा का तथा परका यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

संशय—"विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः"; अर्थात् 'ऐसा है कि ऐसा है' इस प्रकार परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञानको संशय कहते हैं, जैसे आत्मा अपने कार्यको कर सकता होगा या जड़के कार्यको? शुभ रागरूप व्यवहारसे धर्म होगा या वीतरागता रूप निश्चयसे?

विपर्यय—"विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः"; अर्थात् वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'ऐसा ही है' इसप्रकारका एकरूपज्ञान विपर्यय है; जैसे शरीर को आत्मा जानना।

अनध्यवसाय—"किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः"; अर्थात् 'कुछ है' ऐसा निर्धाररहित विचार अनध्यवसाय है; जैसे मैं कोई कुछ हूँ,-ऐसा जानना।

[विशेषः —जीव और आत्मा दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।]

सम्यक्चारित्र—(यहाँ 'सम्यक्' पद अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्तिके लिये प्रयुक्त किया है।) सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मामें स्थिरता का होना सम्यक्चारित्र है।

यह तीनों क्रमशः आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणोंकी शुद्ध पर्यायें हैं।

मोक्षमार्ग—यह शब्द एकवचन है, जो यह सूचित करता है कि मोक्षके तीन मार्ग नहीं, किन्तु इन तीनों का एकत्व मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग का अर्थ है अपने आत्माकी शुद्धिका मार्ग, पंथ, उपाय। उसे अमृतमार्ग, स्वरूपमार्ग अथवा कल्याणमार्ग भी कहते हैं।

(२) इस सूत्रमें अस्तिसे कथन है, जो यह सूचित करता है कि इससे विरुद्ध भाव, जैसे कि राग, पुण्य इत्यादिसे धर्म होता है या वे धर्ममें सहायक होते हैं, इसप्रकारकी मान्यता, ज्ञान और आचरण मोक्षमार्ग नहीं है।

(३) इस सूत्रमें "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि" कहा है वह निश्चय रत्नत्रय है व्यवहार रत्नत्रय नहीं है; उसका कारण यह है कि व्यवहार रत्नत्रय राग होने से बंधरूप है।

(४) इस सूत्र में 'मोक्षमार्ग' शब्द निश्चय मोक्षमार्ग बताने के लिए कहा है। ऐसा समझना।

इस सूत्र में 'सम्यग्दर्शन' कहा है वह निश्चयसम्यग्दर्शन है ऐसी बात तीसरे सूत्र से सिद्ध होती है, उसीमें निसर्गज और अधिगमज ऐसा

भेद कहा है वह निश्चय सम्यग्दर्शनका ही भेद है। और इस सूत्र की सरकल टीका श्री तत्वार्थराज्वार्त्तिकमें जिस कारिका तथा व्याख्या द्वारा वर्णन किया है उस आधार से इस सूत्र तथा दूसरा सूत्र कथित सम्यग्दर्शन है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा सिद्ध होता है।

तथा इस सूत्र में "ज्ञान" कहा है वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। अ० १-सूत्र ६ में उसी के पांच भेद कहे हैं उसी में मन पर्यय और केवलज्ञान भी आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा है।

बाद में इस सूत्र में 'चारित्राणि' शब्द निश्चय सम्यक्चारित्र दिखाने के लिये कहा है। श्री तत्वार्थ रा० वा० में इस सूत्र कथित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र माना है। क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र (-व्यवहार रत्नत्रय) आस्रव और बंधरूप है, इससे यह सूत्र का अर्थ करने में यह तीनों आत्माकी शुद्ध पर्याय एकत्वरूप परिणमित हुई है। इस प्रकार शास्त्रकार दिखाते हैं ऐसा स्पष्ट होता है।

पहले सूत्रका सिद्धान्त

(५) अज्ञानदशामें जीव दुःख भोग रहे हैं, इसका कारण यह है कि उन्हें अपने स्वरूपके संबंधमें भ्रम है, जिसे (जिस भ्रम को) 'मिथ्यादर्शन' कहा जाता है। 'दर्शन' का एक अर्थ मान्यता भी है, इसलिए मिथ्यादर्शनका अर्थ मिथ्या मान्यता है। जहाँ अपने स्वरूपकी मिथ्या मान्यता होती है वहाँ जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान मिथ्या ही होता है, उस मिथ्या या खोटे ज्ञान को 'मिथ्याज्ञान' कहा जाता है। जहाँ स्वरूपकी मिथ्या मान्यता और मिथ्याज्ञान होता है वहाँ चारित्र भी मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे चारित्र को 'मिथ्याचारित्र' कहा जाता है। अनादिकालसे जीवों के 'मिथ्या दर्शन ज्ञान चारित्र' अपने अपराध से चले आरहे हैं, इसलिए जीव अनादि काल से दुःख भोग रहे हैं।

क्योंकि अपनी यह दशा जीव स्वयं करता है इसलिए वह स्वयं उसे दूर कर सकता है; और उसे दूर करने का उपाय 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र'

ही है, दूसरा नहीं;-यही यहाँ कहा है। इससे सिद्ध होता है कि जीव सतत जो अन्य उपाय किया करता है वह सब मिथ्या हैं। जीव धर्म करना चाहता है, किन्तु उसे सच्चे उपाय का पता न होने से वह खोटे उपाय किये विना नहीं रहता; अतः जीवों को यह महान् भूल दूर करने के लिये पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। उसके विना कभी किसीके धर्म का प्रारंभ हो ही नहीं सकता।

निश्चय सम्यग्दर्शनका लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ—[तत्त्वार्थश्रद्धानं] तत्त्व (वस्तु) के स्वरूपसहित अर्थ-जीवादि पदार्थों की श्रद्धा करना सो [सम्यग्दर्शनम्] सम्यग्दर्शन है।

टीका

(१) तत्त्वों की सच्ची (-निश्चय) श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है। 'अर्थ' का अर्थ है द्रव्य-गुण-पर्याय; और 'तत्त्व' का अर्थ है उसका भाव-स्वरूप। स्वरूप (भाव) सहित प्रयोजनभूत पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

(२) इस सूत्र में सम्यग्दर्शन को पहचाननेका लक्षण दिया है। सम्यग्दर्शन लक्ष्य और तत्त्वार्थश्रद्धा उसका लक्षण है।

(३) किसी जीव को यह प्रतीति तो हो कि—'यह ज्ञातृत्व है. यह श्वेत वर्ण है' इत्यादि, किन्तु ऐसा श्रद्धान न हो कि—दर्शन-ज्ञान आत्माका स्वभाव है और मैं आत्मा हूँ तथा पुद्गल मुझसे भिन्न (पृथक्) पदार्थ हैं; तो उपरोक्त मात्र 'भाव' का श्रद्धान किंचित्मात्र कार्यकारी नहीं है। यह श्रद्धान तो किया कि 'मैं आत्मा हूँ' किन्तु आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान नहीं किया, तो 'भाव' के श्रद्धानके विना आत्माका श्रद्धान यथार्थ नहीं होता; इसलिए 'तत्त्व' और उसके 'अर्थ' का श्रद्धान होना ही कार्यकारी है।

(४) दूसरा अर्थ—जीवादिको जैसे 'तत्त्व' कहा जाता है वैसे ही 'अर्थ' भी कहा जाता है। जो तत्त्व है वही अर्थ है, और उसका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जैसा अवस्थित है उसका उसी प्रकार होना सो तत्त्व है, और 'अर्यते' कहने पर निश्चय किया जाय सो अर्थ है। इसलिए तत्त्वस्वरूपका निश्चय तत्त्वार्थ है, और तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

(५) विपरीत अभिनिवेश (उल्टे अभिप्राय) से रहित जीवादिका तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है। सम्यग्दर्शनमें विपरीत मान्यता नहीं होती, यह बतलानेके लिए 'दर्शन' से पूर्व 'सम्यक्' पद दिया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, यह सात तत्त्व हैं,—ऐसा चौथे सूत्र में कहेंगे।

(६) "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" यह लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शनका है, और यह तिर्यंच आदि से लेकर केवली तथा सिद्ध भगवानके समानरूपमें व्याप्त है। और यह लक्षण अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-और असम्भव दोष रहित है। (देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ६ तथा इस शास्त्र का अ० १ परिशिष्ट ४)

(७) 'तत्त्व' शब्द का मर्म—

'तत्त्व' शब्दका अर्थ तत्-पन या उसरूपता है। प्रत्येक वस्तुके-तत्त्वके स्वरूपसे तत्पन है और पररूपसे अतत्पन है। जीव वस्तु है, इस लिए उसके अपने स्वरूपसे तत्पन है और परके स्वरूपसे अतत्पन है। जीव चैतन्यस्वरूप होनेसे ज्ञाता है और अन्य सब वस्तुयें ज्ञेय हैं, इसलिए जीव दूसरे सभी पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है। जीव अपनेसे तत् है, इसलिए उसे अपना ज्ञान स्वतः होता है; और जीव परसे अतत् है, इसलिए उसे परसे ज्ञान नहीं हो सकता। 'घड़ेका ज्ञान घड़ेके आधारसे होता है' ऐसा कई लोग मानते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। ज्ञान जीवका स्वरूप है इसलिए वह ज्ञान अपनेसे तत् है और परसे अतत् है। जीवके प्रतिसमय अपनी योग्यताके अनुसार ज्ञानकी अवस्था होती है; पर ज्ञेयसंबंधी अपना ज्ञान

होते समय परज्ञेय उपस्थित होता है, किन्तु जो यह मानना है कि उस पर-वस्तुसे जीवको ज्ञान होता है तो मानो कि वह जीवको 'तत्त्व' नहीं मानता। यदि घड़े से घड़ा संबंधी ज्ञान होता हो तो नासमझ (अबोध) जीवको भी घड़ेकी उपस्थिति होने पर घड़ेका ज्ञान होजाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए यह सुनिश्चित है कि ज्ञान स्वतः होता है। यदि जीवको परसे ज्ञान होने लगे तो जीव और पर एकतत्त्व हो जायें, किन्तु ऐसा नहीं होता।

(८) सम्यग्दर्शनकी महिमा—

यदि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग मिथ्यादर्शनयुक्त हैं, तो गुण होने के स्थान पर संसारमें दीर्घकाल तक परिभ्रमणकारी दोषोंको उत्पन्न करते हैं। जैसे विषयुक्त औषधिसे लाभ नहीं होता उसीप्रकार मिथ्यात्वसहित अहिंसादिसे जीवका संसार-रोग नहीं मिटता। जहाँ मिथ्यात्व होता है वहाँ निश्चयतः अहिंसादि कदापि नहीं होते। "आत्मभ्रांति सम रोग नहिं"—इस पदको विशेष ध्यानमें रखना चाहिये। जीवके साथ अनादिकालसे मिथ्यात्व-दशा चली आरही है इसलिये उसके सम्यग्दर्शन नहीं है; इसलिये आचार्यदेव पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेके लिये बारंबार उपदेश करते हैं।

सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान, चारित्र और तपमें सम्यक्ता नहीं आती; सम्यग्दर्शन ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आधार है। जैसे आंखोंसे मुखकी सुन्दरता—शोभा होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शनसे ज्ञानादिकमें सम्यक्त्व-सुन्दरता-शोभा आती है।

इसी संबंधमें रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है कि—

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—तीनों काल और तीनों लोकमें जीवोंका सम्यग्दर्शनके समान दूसरा कोई कल्याण और मिथ्यात्वके समान अकल्याण नहीं है।

भावार्थ—अनंतकाल व्यतीत हो चुका, एक समय-वर्तमान चल रहा है और भविष्यमें अनंतकाल आयगा,—इन तीनोंकालमें और अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक,—इन तीनों लोकोंमें जीवका सर्वोत्कृष्ट उपकारी सम्यक्त्वके समान दूसरा कोई न तो है, न हुआ है, और न होगा। त्रिलोक-स्थित इन्द्र, अहमिन्द्र, भुवनेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र या तीर्थंकर इत्यादि चेतन और मणि, मंत्र, औषधि-इत्यादि जड द्रव्य,—ये कोई भी सम्यक्त्वके समान उपकारी नहीं हैं। और इस जीवका सबसे अधिक बुरा-अहित करनेवाला मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई जड या चेतन द्रव्य तीन-काल और तीनलोकमें न तो है, न हुआ है और न होगा। इसलिये मिथ्यात्वको छोड़नेके लिये परमपुरुषार्थ करो। समस्त संसारके दुःखोंका नाश करनेवाला और आत्मकल्याणको प्रगट करनेवाला एकमात्र सम्यक्त्व ही है, इसलिये उसके प्रगट करनेका ही पुरुषार्थ करो।

और फिर, सम्यक्त्व ही प्रथम कर्तव्य है,—इस संबंधमें अष्ट पाहुडमें इस प्रकार कहा है—

श्रावकको पहले क्या करना चाहिये, सो कहते हैं—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं।
तं जाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए॥

(मोक्षपाहुड़ गाथा ८६)

अर्थ—पहले श्रावकको सुनिर्मल, मेरुके समान निष्कंप—अचल (चल, मल और अगाढ़ दूषणसे रहित अत्यन्त निश्चल) सम्यक्त्वको ग्रहण करके दुःखोंके क्षयके लिये उसे (सम्यक्त्वके विषयभूत एकरूप आत्माको) ध्यानमें ध्याना चाहिये।

भावार्थ—पहले तो श्रावकको निरतिचार निश्चल सम्यक्त्वको ग्रहण करके उसका ध्यान करना चाहिये कि जिस सम्यक्त्वकी भावनासे गृहस्थको गृहकार्य संबंधी आकुलता, क्षोभ, दुःख मिट जाय; कार्यके बिगड़ने-सुधरनेमें

वस्तुस्वरूपका विचार आये तब दुःख मिट जाय। सम्यग्दृष्टिके ऐसा विचार होता है कि—सर्वज्ञने जैसा वस्तुस्वरूप जाना है वैसा निरंतर परिणमित होता है, और वैसा ही होता है; उसमें इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दुःखी होना व्यर्थ है। ऐसे विचार से दुःख मिटता है,- यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। इसलिए सम्यक्त्वका ध्यान करनेको कहा है।

अब, सम्यक्त्वके ध्यानकी महिमा कहते हैं:—

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥

(-मोक्षपाहुड गाथा ८७)

अर्थ—जो सम्यक्त्वको ध्याता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है; और सम्यक्त्वरूप परिणत जीव आठों दुष्ट कर्मोंका क्षय करता है।

भावार्थ—सम्यक्त्वका ध्यान ऐसा है कि, यदि पहले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी, उसके स्वरूपको जानकर उसका ध्यान करे तो वह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है। और सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर जीवके परिणाम ऐसे हो जाते हैं कि संसारके कारणभूत आठों दुष्टकर्मोंका क्षय हो जाता है। सम्यक्त्वके होते ही कर्मोंकी गुण श्रेणी निर्जरा होती जाती है। और अनुक्रमसे मुनि होने पर; चारित्र और शुक्लध्यानके सहकारी होने पर सर्व कर्मोंका नाश होता है।

अब, इस बातको संक्षेपमें कहते हैं:—

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ॥

(-मोक्षपाहुड, गाथा ८८)

अर्थ—श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—बहुत कहनेसे क्या साध्य है? जो नरप्रधान भूतकालमें सिद्ध हुये और भविष्यमें सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्वका ही माहात्म्य जानो।

भावार्थ—सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा है कि भूतकालमें जो श्रेष्ठ पुरुष आठकर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त हुये हैं तथा भविष्यमें होंगे, वे इसी सम्यक्त्वसे हुये हैं और होंगे। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि विशेष क्या कहा जाय? संक्षेपमें समझना चाहिये कि मुक्तिका प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है। ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि गृहस्थों के क्या धर्म होता है? यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि जो सर्वधर्मके अंगको सफल करता है।

अब यह कहते हैं कि जो निरंतर सम्यक्त्व का पालन करते हैं वे धन्य हैं—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥
(—मोक्षपाहुड़, गाथा ८६)

अर्थ—जिस पुरुष के मुक्ति को प्राप्त करानेवाला सम्यक्त्व है, और उस सम्यक्त्वको स्वप्न में भी मलिन नहीं किया—अतिचार नहीं लगाया वह पुरुष धन्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है, वही पंडित है, वही मनुष्य है।

भावार्थ—लोक में जो कुछ दानादि करता है उसे धन्य कहा जाता है, तथा जो विवाह, यज्ञादि करता है उसे कृतार्थ कहा जाता है, जो युद्ध से पीछे नहीं हटता उसे शूरवीर कहते हैं, और जो बहुत से शास्त्र पढ़ लेता है उसे पंडित कहते हैं; किन्तु यह सब कथनमात्र है। वास्तवमें तो-जो मोक्षके कारणभूत सम्यक्त्व को मलिन नहीं करता,—उसे निरतिचार पालता है वही धन्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है, वही पंडित है, वही मनुष्य है; उसके बिना (सम्यक्त्वके बिना) मनुष्य पशुसमान है। सम्यक्त्व की ऐसी महिमा कही गई है।

(६) सम्यग्दर्शन का बल—

केवली और सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते, और संसारावस्था को नहीं चाहते; यह सम्यग्दर्शन का ही बल समझना चाहिये।

(१०) सम्यग्दर्शन के भेद—

ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यंचादि (पशु आदि) के और केवली तथा सिद्ध भगवान के सम्यग्दर्शन को समान कहा है; उनके आत्म-प्रतीति एक ही प्रकार की होती है। किन्तु स्वपर्यायकी योग्यताकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके तीन भेद हो जाते हैं- (१) औपशमिक सम्यग्दर्शन, (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, (३) क्षायिक सम्यग्दर्शन।

औपशमिक सम्यग्दर्शन—उस दशामें मिथ्यात्वकर्मके तथा अनंतानुबंधी कषाय के जड़रजकण स्वयं उपशमरूप होते हैं; जैसे मैले पानीमें से मैल नीचे बैठ जाता है; अथवा जैसे अग्नि राखसे ढक जाती है। आत्माके पुरुषार्थ से जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब औपशमिक सम्यग्दर्शन ही होता है।❋

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन—इस दशामें मिथ्यात्व और मिश्रमिथ्यात्व कर्मके रजकण आत्मप्रदेशों से पृथक् होने पर उसका फल नहीं होता, और सम्यक्मोहनीयकर्मके रजकण उदयरूप होते हैं, तथा अनन्तानुबन्धी कषायकर्मके रजकण विसंयोजनरूप होते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—इस दशामें मिथ्यात्वप्रकृतिके (तीनों उपविभागके) रजकण आत्मप्रदेशसे सर्वथा हट जाते हैं, इसलिए मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी की सातों प्रकृतियोंका क्षय हुआ कहलाता है।

(११) सम्यग्दर्शनके अन्यप्रकारसे भेद—

सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके आत्माकी—तत्त्वकी प्रतीति एकसी होती है,

---

❋ अनादि मिथ्यादृष्टिके औपशमिक सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी की चार,—ऐसी पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं। और सादि मिथ्यादृष्टिके औपशमिक सम्यग्दर्शन होनेपर जिसके मिथ्यात्वकी तीन प्रकृतियाँ सत्तारूप होती हैं उसके मिथ्यात्वकी तीन और अनन्तानुबंधीकी चार, ऐसे सात प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं; और जिसे सादि मिथ्यादृष्टिके एक मिथ्यात्व प्रकृति ही सत्तामें होती है उसके मिथ्यात्व की एक और अनन्तानुबन्धी की चार,—ऐसी पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं।

तथापि चारित्रदशाकी अपेक्षासे उनके दो भेद हो जाते हैं—(१) वीतराग सम्यग्दर्शन, (२) सराग सम्यग्दर्शन।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मामें स्थिर होता है तब उसके निर्विकल्प दशा होती है, तब रागके साथ बुद्धिपूर्वक सम्बन्ध नहीं होता। जीव की इस दशाको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। और जब सम्यग्दृष्टि जीव अपनेमें स्थिर नहीं रह सकता तब रागमें उसका अनित्य—सबंध होता है, इसलिए उस दशा को 'सराग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। ध्यान रहे कि सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा कभी नहीं मानता कि शुभ रागसे धर्म होता है या धर्ममें सहायता होती है।

(१२) सराग सम्यग्दृष्टिके प्रशमादि भाव—

सम्यग्दृष्टिके राग के साथ सबंध होता है तब चार प्रकारके शुभ भाव होते हैं (१) प्रशम, (२) संवेग, (३) अनुकंपा, (४) आस्तिक्य।

प्रशम—क्रोध,-मान,-माया,-लोभ संबंधी रागद्वेषादि की मंदता।

संवेग—संसार अर्थात् विकारी भाव का भय।

अनुकम्पा—स्वयं और पर—सर्व प्राणियों पर दयाका प्रादुर्भाव।

आस्तिक्य—जीवादि तत्त्वों का जैसा अस्तित्व है वैसा ही आगम और युक्तिसे मानना।

सराग सम्यग्दृष्टि को इन चार प्रकार का राग होता है, इसलिए इन चार भावों को उपचार से सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा जाता है। जीवके सम्यग्दर्शन न हो तो वे शुभ भाव प्रशमाभास, संवेगाभास, अनुकम्पाभास, और आस्तिक्याभास हैं,—ऐसा समझना चाहिये। प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके यथार्थ (निश्चय) लक्षण नहीं हैं, उसका यथार्थ लक्षण अपने शुद्धात्मा की प्रतीति है।

(१३) सम्यग्दर्शन का विषय-लक्ष्य—

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको कैसा मानता है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको परमार्थतः त्रिकाल शुद्ध, ध्रुव, अखण्ड चैतन्यस्वरूप मानता है।

प्रश्न—उस समय जीव की विकारी अवस्था तो होती है, सो उसका क्या?

उत्तर—विकारी अवस्था सम्यग्ज्ञानका विषय है इसलिए उसे सम्यग्दृष्टि जानता तो है, किन्तु सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य अवस्था (पर्याय-भेद) पर नहीं होता; क्योंकि अवस्थाके लक्ष्यसे जीवके राग होता है और ध्रुवस्वरूप के लक्ष से शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

(१४) दूसरे सूत्रका सिद्धांत—

संसार-समुद्रसे रत्नत्रयरूपी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी) जहाज को पार करने के लिए सम्यग्दर्शन चतुर नाविक है। जो जीव सम्यग्दर्शनको प्रगट करता है वह अनन्त सुख को पाता है। जिस जीवके सम्यग्दर्शन नहीं है वह यदि पुण्य करे तो भी अनन्त दुःख भोगता है; इसलिए जीवोंको वास्तविक सुख प्राप्त करनेके लिए तत्त्वका स्वरूप यथार्थ समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। तत्त्वका स्वरूप समझे विना किसी जीवको सम्यग्दर्शन नहीं होता। जो जीव तत्त्वके स्वरूपको यथार्थतया समझता है उसे सम्यग्दर्शन होता ही है—इसे यह सूत्र प्रतिपादित करता है ॥ २ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनके (उत्पत्तिकी अपेक्षासे) भेद—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थ—[तत्] वह सम्यग्दर्शन [निसर्गात्] स्वभावसे [वा] अथवा [अधिगमात्] दूसरेके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है।

टीका

(१) उत्पत्ति की अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं,—(१) निसर्गज, (२) अधिगमज।

निसर्गज—जो दूसरेके उपदेशादिके विना स्वयमेव (पूर्व संस्कारसे) उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज—जो सम्यग्दर्शन परके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(२) जिस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उस जीवने उस समय अथवा पूर्व भवमें सम्यग्ज्ञानी आत्मासे उपदेश सुना होता है। [उसे देशना लब्धि कहते हैं] उसके बिना किसीको सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि वह उपदेश सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करता है। जीव सम्यग्दर्शनको स्वतः अपनेमें प्रगट करता है, ज्ञानीका उपदेश तो निमित्त मात्र है। अज्ञानीका उपदेश सुनकर कोई सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं कर सकता यह नियम है। और, यदि सद्गुरु का उपदेश सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता हो तो, जो जो जीव उस उपदेशको सुनें उन सब को सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। सद्गुरुके उपदेशसे सम्यग्दर्शन हुआ है,—यह कथन व्यवहारमात्र है,—निमित्तका ज्ञान करानेके लिए कथन है।

(३) अधिगमका स्वरूप इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें दिया गया है। वहाँ बताया है कि—'प्रमाण और नयके द्वारा अधिगम होता है।' प्रमाण और नयका स्वरूप उस सूत्रकी टीकामें दिया है, वहाँसे ज्ञात करना चाहिये।

(४) तीसरे सूत्रका सिद्धान्त—

जीवको अपनी भूलके कारण अनादिकालसे अपने स्वरूपके सबधमें भ्रम बना हुआ है; इसलिये उस भ्रमको स्वयं दूर करने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जीव जब अपने सच्चे स्वरूपको समझनेकी जिज्ञासा करता है तब उसे आत्मज्ञानीपुरुषके उपदेशका योग मिलता है। उस उपदेशको सुन कर जीव अपने स्वरूपका यथार्थ निर्णय करे तो उसे सम्यग्दर्शन होता है। किसी जीवको आत्मज्ञानीपुरुषका उपदेश सुननेपर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, और किसीको उसी भवमें दीर्घकालमें अथवा दूसरे भवमें उत्पन्न होता है। जिसे तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे 'अधिगमज सम्यग्दर्शन' हुआ कहलाता है, और जिसे पूर्वके संस्कारसे उत्पन्न होता है उसे 'निसर्गज' सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है।

जैसे वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करना हो तो वैद्यकके ज्ञानी गुरुकी शिक्षासे वह प्राप्त किया जा सकता है, वैद्यकके अज्ञानीपुरुषसे नहीं, उसीप्रकार आत्मज्ञानी गुरुके उपदेश द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है; आत्मज्ञानहीन (अज्ञानी) गुरुके उपदेशसे वह प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए सच्चे सुखके इच्छुक जीवोंको उपदेशकका चुनाव करनेमें सावधानी रखना आवश्यक है। जो उपदेशकका चुनाव करनेमें भूल करते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं कर सकते,—यह निश्चित समझना चाहिये ॥ ३ ॥

तत्त्वोंके नाम

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—[जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः] १-जीव, २-अजीव, ३-आस्रव, ४-बंध, ५-संवर, ६-निर्जरा और ७-मोक्ष,-यह सात [तत्त्वम्] तत्त्व हैं।

टीका

१—जीव—जीव अर्थात् आत्मा। वह सदा ज्ञाता स्वरूप, परसे भिन्न और त्रिकालस्थायी है। जब वह पर-निमित्तके शुभ अवलंबनमें युक्त होता है तब उसके शुभभाव (पुण्य) होता है, और जब अशुभावलंबनमें युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है; और जब स्वावलंबी होता है तब शुद्धभाव (धर्म) होता है।

२—अजीव—जिसमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है; ऐसे द्रव्य पाँच हैं। उनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह चार अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सहित) है।

अजीव वस्तुएँ आत्मासे भिन्न हैं, तथा अनन्त आत्मा भी एक दूसरे से पृथक्-स्वतंत्र हैं। पर-लक्षके विना जीवमें विकार नहीं होता; परोन्मुख होनेसे जीवके पुण्य-पापके शुभाशुभ विकारी भाव होते हैं।

३–आस्रव–विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी अवस्था जीवमें होती है वह भावास्रव और नवीन कर्म रजकणोंका आना (आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहना) सो द्रव्यास्रव है।

पुण्य पाप दोनों आस्रव और बंध के उपभेद हैं।

पुण्य–दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादिके जो शुभ भाव जीवके होते हैं वह अरूपी विकारी भाव है, वह भाव पुण्य है, और उसके निमित्तसे जड़ परमाणुओंका समूह स्वयं (अपने ही कारणसे स्वतः) एक क्षेत्रावगाह संबंधसे जीवके साथ बँधता है, वह द्रव्य पुण्य है।

पाप–हिंसा, असत्य, चोरी, अव्रत इत्यादि जो अशुभभाव हैं सो भाव पाप है, और उसके निमित्तसे जड़की शक्तिसे जो परमाणुओंका समूह स्वयं बँधता है सो वह द्रव्य पाप है।

परमार्थतः वास्तवमें यह पुण्य पाप आत्माका स्वरूप नहीं है, वह आत्माकी क्षणिक अवस्थामें परके संबंधसे होनेवाला विकार है।

४–बंध–आत्माका अज्ञान, राग द्वेष, पुण्य पापके भावमें रुक जाना सो भाव बंध है। और उसके निमित्तसे पुद्गलका स्वयं कर्मरूप बँधना सो द्रव्य बंध है।

५–संवर–पुण्य पापके विकारीभावको (आस्रवको) आत्माके शुद्ध भाव द्वारा रोकना सो भाव संवर है, और तदनुसार नये कर्मोंका आगमन रुक जाय सो द्रव्य-संवर है।

६–निर्जरा–अखन्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभावके लक्षके बलसे स्वरूप-स्थिरताकी वृद्धि द्वारा आंशिकरूपमें शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्थाका आंशिक नाश करना सो भाव निर्जरा है, और उसका निमित्त पाकर जड़कर्मका अंशतः खिर जाना सो द्रव्य निर्जरा है।

७–मोक्ष–अशुद्ध अवस्थाका सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर आत्माकी पूर्ण निर्मल पवित्र दशाका प्रगट होना सो भाव मोक्ष है, और निमित्त-कारण द्रव्यकर्मका सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्य मोक्ष है।

(२) सात तत्त्वों में से प्रथम दो तत्त्व-' जीव ' और ' अजीव ' द्रव्य हैं, तथा शेष पांच तत्त्व उनकी (जीव और अजीव की) संयोगी तथा वियोगी पर्यायें (विशेष अवस्थायें) हैं। आस्रव और बंध संयोगी हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव-अजीव की वियोगी पर्याय हैं। जीव और अजीव तत्त्व सामान्य हैं तथा शेष पांच तत्त्व पर्याय होनेसे विशेष कहलाते हैं।

(३) जिसकी दशाको अशुद्धमें से शुद्ध करना है उसका नाम तो प्रथम अवश्य दिखाना ही चाहिये, इसलिये 'जीव' तत्त्व प्रथम कहा गया है; पश्चात् जिस ओरके लक्षसे अशुद्धता अर्थात् विकार होता है उसका नाम देना आवश्यक है, इसलिये ' अजीव ' तत्त्व कहा गया है। अशुद्ध दशाके कारण-कार्यका ज्ञान करनेके लिये ' आस्रव ' और ' बंध ' तत्त्व कहे गये हैं। तत्पश्चात् मुक्तिका कारण कहना चाहिये; और मुक्तिका कारण वही हो सकता है जो बंध और बंधके कारणसे उल्टे रूपमें हो; इसलिये आस्रवके निरोध होनेको 'संवर' तत्त्व कहा है। अशुद्धता विकारके एक देश दूर होजाने के कार्यको ' निर्जरा ' तत्त्व कहा है। जीवके अत्यन्त शुद्ध होजानेकी दशाको ' मोक्ष ' तत्त्व कहा है। इन तत्त्वोंको समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, इसीलिये वे कहे गये हैं। उन्हें समझनेसे जीव मोक्षोपायमें युक्त हो सकता है। मात्र जीव-अजीवको जाननेवाला ज्ञान मोक्षमार्गके लिये कार्यकारी नहीं होता। इसलिये जो सच्चे सुखके मार्गमें प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें इन तत्त्वोंको यथार्थतया जानना चाहिये।

(४) सात तत्त्वोंके होने पर भी इस सूत्रके अन्तमें ' तत्त्वम् ' ऐसा एकवचनसूचक शब्द प्रयोग किया गया है, जो यह सूचित करता है कि इन सात तत्त्वोंका ज्ञान करके, भेद परसे लक्ष हटाकर, जीवके त्रिकालज्ञायक भावका आश्रय करनेसे जीव शुद्धता प्रगट कर सकता है।

(५) चौथे सूत्रका सिद्धान्त—

इस सूत्रमें सात तत्त्व कहे गये हैं; उनमें से पुण्य और पापका समावेश आस्रव और बंध तत्त्वोंमें होजाता है। जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो

और दुःखका नाश हो उस कार्यका नाम प्रयोजन है। जीव और अजीवके विशेष (भेद) बहुतसे हैं। उनमेंसे जो विशेषोंके साथ जीव अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व परका श्रद्धान हो और उससे सुख उत्पन्न हो, और जिसका अयथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व परका श्रद्धान न हो, रागादिकको दूर करनेका श्रद्धान न हो और उससे दुःख उत्पन्न हो, इन विशेषोंसे युक्त जीव अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत समझने चाहिये। आस्रव और बंध दुःखके कारण हैं, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष सुखके कारण हैं, इसलिये जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना आवश्यक है। इन सात तत्त्वोंकी श्रद्धाके बिना शुद्धभाव प्रगट नहीं हो सकता। 'सम्यग्दर्शन' जीवके श्रद्धागुणकी शुद्ध अवस्था है, इसलिये उस शुद्ध भावको प्रगट करनेके लिये सात तत्त्वोंका श्रद्धान ज्ञान अनिवार्य है। जो जीव इन सात तत्त्वोंकी श्रद्धा करता है वही अपने जीव अर्थात् शुद्धात्माको जानकर उस ओर अपना पुरुषार्थ लगाकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है। इन सात (पुण्य पाप सहित नौ) तत्त्वोंके अतिरिक्त अन्य कोई 'तत्त्व' नहीं है,—ऐसा समझना चाहिये॥ ४॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि शब्दोंके अर्थ समझनेकी रीति—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—[नामस्थापनाद्रव्यभावतः—] नाम, स्थापना, द्रव्य, और भावसे [तत्न्यासः] उन सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादिका लोकव्यवहार होता है।

टीका

(१) वक्ताके मुखसे निकले हुये शब्दके, अपेक्षाको लेकर भिन्न २ अर्थ होते हैं, उन अर्थोंमें व्यभिचार (दोष) न आये और सच्चा अर्थ कैसे हो यह बतानेके लिए यह सूत्र कहा है।

(२) इन अर्थोंके सामान्य प्रकार चार किये गये हैं। पदार्थोंके भेदको न्यास अथवा निक्षेप कहा जाता है। [प्रमाण और नयके अनुसार प्रच

लित हुए लोकव्यवहारको निक्षेप कहते हैं।] ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है; तथापि उसे जानने पर ज्ञेय-पदार्थके जो भेद (अंश, पहलू) किए जाते हैं उसे निक्षेप कहते हैं। और उस अंशको जाननेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। निक्षेप नयका विषय है, और नय निक्षेपका विषयी (विषय करनेवाला) है।

(३) निक्षेपके भेदोंकी व्याख्या—

नाम निक्षेप—गुण, जाति या क्रियाकी, अपेक्षा किये विना किसीका यथेच्छ नाम रख लेना सो नाम निक्षेप है। जैसे किसीका नाम 'जिनदत्त' रखा; किन्तु वह जिनदेवके द्वारा दिया हुआ नहीं है, तथापि लोकव्यवहार (पहचानने) के लिये उसका 'जिनदत्त' नाम रखा गया है। एकमात्र वस्तु की पहिचान के लिये उसकी जो संज्ञा रख ली जाती है उसे नाम निक्षेप कहते हैं।

स्थापना निक्षेप—किसी अनुपस्थित (अविद्यमान) वस्तुका किसी दूसरी उपस्थित वस्तुमें संबंध या मनोभावना को जोड़कर आरोप कर देना कि 'यह वही है' सो ऐसी भावनाको स्थापना कहा जाता है। जहाँ ऐसा आरोप होता है वहाँ जीवोंके ऐसी मनोभावना होने लगती है कि 'यह वही है।'

स्थापना दो प्रकारकी होती है—तदाकार और अतदाकार। जिस पदार्थका जैसा आकार हो वैसा आकार उसकी स्थापनामें करना सो 'तदाकार स्थापना' है। और चाहे जैसा आकार कर लेना सो 'अतदाकार स्थापना' है। सदृशताको स्थापना निक्षेपका कारण नहीं मान लेना चाहिये, उसका कारण तो केवल मनोभावना ही है। जनसमुदायकी यह मानसिक भावना जहाँ होती है वहाँ स्थापना निक्षेप समझना चाहिये। वीतराग-प्रतिमाको देखकर वहुतसे जीवोंके भगवान और उनकी वीतरागताकी मनोभावना होती है, इसलिये वह स्थापना निक्षेप है। ※

※ नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेपमें यह अन्तर है कि—नाम निक्षेपमें पूज्य-अपूज्यका व्यवहार नहीं होता, और स्थापना निक्षेपमें यह व्यवहार होता है।

द्रव्य निक्षेप—भूत और भविष्यत् पर्यायकी मुख्यताको लेकर उसे वर्तमानमें कहना-जानना सो द्रव्य निक्षेप है। जैसे श्रेणिक राजा भविष्यमें तीर्थंकर होंगे, उन्हें वर्तमानमें तीर्थंकर कहना-जानना, और भूतकालमें होगये भगवान महावीरादितीर्थंकरोंको वर्तमान तीर्थंकर मानकर स्तुति करना, सो द्रव्य निक्षेप है।

भाव निक्षेप—केवल वर्तमान पर्यायकी मुख्यतासे जो पदार्थ वर्तमान जिस दशामें है उसे उसरूप कहना जानना सो भाव निक्षेप है। जैसे सीमंधर भगवान वर्तमान तीर्थंकरके रूपमें महाविदेहमें विराजमान हैं उन्हें तीर्थंकर कहना जानना, और भगवान महावीर वर्तमानमें सिद्ध हैं, उन्हें सिद्ध कहना-जानना सो भाव निक्षेप है।

(४) जहाँ 'सम्यग्दर्शनादि' या 'जीवाजीवादि' शब्दोंका प्रयोग किया गया हो वहाँ कौनसा निक्षेप लागू होता है, सो निश्चय करके जीवको सच्चा अर्थ समझ लेना चाहिये। सूत्र १ में 'सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि' तथा मोक्षमार्ग यह शब्द तथा सूत्र २, में सम्यग्दर्शन यह शब्द भावनिक्षेपसे कहा है ऐसा समझना चाहिये।

(५) स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेपमें भेद—

" In Sthapana the connotation is merely attributed It is never there It cannot be there In dravya it will be there or has been there The common factor between the two is that it is not there now, and to that extent connotation is fictitious in both " (English Tatvarth Sutram, page-11)

अर्थ—स्थापनानिक्षेपमें-बताना मात्र आरोपित है, उसमें वह (मूल वस्तु) कदापि नहीं है, वह वहाँ कदापि नहीं हो सकती। और द्रव्यनिक्षेपमें वह (मूल वस्तु) भविष्यमें प्रगट होगी अथवा भूतकालमें थी। दोनोंके बीच सामान्यता इतनी है कि—वर्तमानकालमें वह दोनोंमें विद्यमान नहीं है, और उतने अंशमें दोनोंमें आरोप है। [—तत्त्वार्थसूत्र अंग्रेजी टीका, पृष्ठ ११]

(६) पांचवें सूत्रका सिद्धान्त—

भगवानके नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप शुभभावके निमित्त हैं, इसलिये व्यवहार हैं। द्रव्यनिक्षेप निश्चयपूर्वक व्यवहार होनेसे अपनी शुद्ध पर्याय थोड़े समयके पश्चात् प्रगट होगी यह सूचित करता है। भावनिक्षेप निश्चयपूर्वक अपनी शुद्ध पर्याय होनेसे धर्म है, ऐसा समझना चाहिये। निश्चय और व्यवहारनयका स्पष्टीकरण, इसके बादके सूत्र की टीकामें किया गया है ॥ ५ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि जाननेका उपाय—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वोंका [अधिगमः] ज्ञान [प्रमाणनयैः] प्रमाण और नयोंसे होता है।

टीका

(१) प्रमाण—सच्चे ज्ञानको—निर्दोषज्ञानको अर्थात् सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। अनन्तगुणों या धर्मका समुदायरूप अपना तथा परवस्तुका स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण वस्तुके सर्वदेशको (सर्व पहलुओं को) ग्रहण करता है,—जानता है।

नय—प्रमाण द्वारा निश्चित हुई वस्तुके एकदेशको जो ज्ञान ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। जो प्रमाण द्वारा निश्चित हुये अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक एक अंगका ज्ञान मुख्यतासे कराता है सो नय है। वस्तुओंमें अनंत धर्म हैं, इसलिये उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं, और इसलिये अवयवके ज्ञानरूप नय भी अनन्त तक हो सकते हैं। श्रुतप्रमाणके विकल्प, भेद या अंशको नय कहते हैं। श्रुतज्ञानमें ही नयरूप अंश होता है। जो नय है वह प्रमाणसापेक्षरूप होता है। (मति, अवधि या मनःपर्ययज्ञानमें नयके भेद नहीं होते।)

(2) " Right belief is not identical with blind faith. It's authority is neither external nor autocratic. It is reasoned

knowledge It is a sort of a sight of a thing You cannot doubt it's testimony So long as there is doubt, there is no right belief But doubt must not be suppressed, it must be destroyed Things have not to be taken on trust They must be tested and tried by every one himself This sutra lays down the mode in which it can be done It refers the inquirer to the first laws of thought and to the universal principles of all reasoning, that is to logic under the names of Praman and Naya (English Tatvarth Sutram, page 15)

अर्थ—सम्यग्दर्शन अन्धश्रद्धाके साथ एकरूप नहीं है, उसका अधिकार आत्माके बाहर या स्वच्छंदी नहीं है, वह युक्तिपुरस्सर ज्ञानसहित होता है, उसका प्रकार वस्तुके दर्शन (देखने) समान है आप उसके साक्षीपनाकी शंका नहीं कर सकते जहाँ तक (स्वस्वरूपकी) शंका है वहाँ तक सच्ची मान्यता नहीं है। उस शंकाको दबाना नहीं चाहिये, किन्तु उसका नाश करना चाहिये। [किसीके] भरोसेपर वस्तुका ग्रहण नहीं किया जाता। प्रत्येकको स्वयं स्वतः उसकी परीक्षा करके उसके लिये यत्न करना चाहिये। यह कैसे हो सकता है, सो यह सूत्र बतलाता है। विचारकताके प्राथमिक नियम तथा समस्त युक्तिमान् विश्वके सिद्धान्तोंको प्रमाण और नयका नाम देकर उसका आश्रय लेनेके लिये सत्यशोधकको यह सूत्र सूचित करता है। [अंग्रेजी तत्त्वार्थसूत्र पृष्ठ १५]

(२) युक्ति—

प्रमाण और नयको युक्ति कहते हैं। सत्शास्त्रका ज्ञान आगमज्ञान है। आगममें वर्णित तत्त्वोंकी यथार्थता युक्ति द्वारा निश्चित किये बिना तत्त्वोंके भावोंका यथार्थ भास नहीं होता। इसलिये यहाँ युक्ति द्वारा निर्णय करनेको कहा है।

(४) अनेकान्त-एकान्त—

जैन शास्त्रोंमें अनेकान्त और एकान्त शब्दोंका खूब प्रयोग किया गया है, इसलिये उनका संक्षिप्त स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

अनेकान्त= [अनेक + अंत] अनेक धर्म।

एकान्त= [एक + अंत] एक धर्म।

अनेकान्त और एकान्त दोनोंके दो-दो भेद हैं। अनेकान्तके दो भेद-सम्यक्-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त तथा एकान्तके दो भेद-सम्यक् एकान्त और मिथ्या-एकान्त हैं। इनमें से सम्यक्-अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या-अनेकान्त प्रमाणाभास; तथा सम्यक्-एकान्त नय है और मिथ्या-एकांत नयाभास है।

(५) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्त का स्वरूप—

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगमप्रमाणसे अविरुद्ध एक वस्तुमें जो अनेक धर्म हैं उन्हें निरूपण करनेमें जो तत्पर है सो सम्यक् अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु निजरूपसे है और पररूपसे नहीं। आत्मा स्वस्वरूपसे है,-पर स्वरूपसे नहीं; पर उसके स्वरूपसे है और आत्माके स्वरूपसे नहीं;- इसप्रकार जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। और जो तत अतत् स्वभावकी मिथ्याकल्पना की जाती है सो मिथ्या अनेकान्त है। जीव अपना कुछ कर सकता है और दूसरे जीवोंका भी कर सकता है,-इसमें जीवका निजसे और परसे-दोनोंसे तत्पन हुआ, इसलिये वह मिथ्या-अनेकान्त है।

(६) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्तके दृष्टान्त—

१-आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे नहीं, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे भी है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

२-आत्मा अपना कुछ कर सकता है और शरीरादि पर वस्तुओंका कुछ नहीं कर सकता,-ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा अपना कर सकता है और शरीरादि परका भी कर सकता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

३-आत्माके शुद्ध भावसे धर्म होता है और शुभ भावसे नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माके शुद्ध भावसे धर्म होता है और शुभ भावसे भी होता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

४-निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे भी होता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

५-निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके बाद स्वावलम्बनके बलसे जितना अंश व्यवहारका (-पराश्रयका) अभाव होता है उतना अंश निश्चय-(शुद्ध पर्याय) प्रगट होता है, ऐसा समझना सो सम्यक् अनेकान्त है। व्यवहारके करते २ निश्चय प्रगट हो जाता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

६-आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है, और शारीरिक क्रियासे हानि लाभ नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है और शारीरिक क्रियासे भी लाभ होता है, ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

७- एक (प्रत्येक) वस्तुमें सदास्वतंत्र वस्तुत्वको सिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरोधी शक्तियों [सत्-असत्, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक इत्यादि] को प्रकाशित करे सो सम्यक् अनेकान्त है।

एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी शक्तिको प्रकाशित करके, एक वस्तु दो वस्तुओंका कार्य करती है,—ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है; अथवा सम्यक् अनेकान्तसे वस्तुका जो स्वरूप निश्चित है उससे विपरीत वस्तु स्वरूपकी केवल कल्पना करके, जो उसमें न हो ऐसे स्वभावोंकी कल्पना करना सो मिथ्या अनेकान्त है।

८–जीव अपने भाव कर सकता है और पर वस्तुका कुछ नहीं कर सकता–ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है।
जीव सूक्ष्म पुद्गलोंका कुछ नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल पुद्गलों का कर सकता है,— ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

(७) सम्यक् और मिथ्या एकान्तका स्वरूप—

निजस्वरूपसे अस्तिरूपता और पर–रूपसे नास्तिरूपता–आदि वस्तुका जो स्वरूप है उसकी अपेक्षा रखकर प्रमाणके द्वारा ज्ञात पदार्थके एक देशको (एक पहलूको) विषय करनेवाला नय सम्यक् एकान्त है; और किसी वस्तुके एक धर्मका निश्चय करके उस वस्तुमें रहनेवाले अन्य धर्मों का निषेध करना सो मिथ्या एकान्त है।

(८) सम्यक् और मिथ्या एकान्तके दृष्टान्त—

१—'सिद्ध भगवन्त एकान्त सुखी हैं' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि 'सिद्धजीवोंको बिलकुल दुःख नहीं है' यह बात गर्भितरूप से उसमें आजाती है। और सर्व जीव एकान्त सुखी हैं—ऐसा जानना सो मिथ्या एकान्त है, क्योंकि उसमें, अज्ञानी जीव वर्तमानमें दुखी हैं, उसका निषेध होता है।

२—'एकान्त बोधबीजरूप जीवका स्वभाव है' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि छद्मस्थ जीवकी वर्तमान ज्ञानावस्था पूर्ण विकास रूप नहीं है यह उसमें गर्भितरूपसे आजाता है।

३ —'सम्यग्ज्ञान धर्म है' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि 'सम्यग्ज्ञान पूर्वक वैराग्य होता है'—यह गर्भित रूपसे उसमें आजाता है। सम्यग्ज्ञान रहित 'त्याग मात्र धर्म है'—ऐसा जानना सो मिथ्या एकान्त है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान रहित होनेसे मिथ्या त्याग है।

(९) प्रमाणके प्रकार—

परोक्ष—उपात्त[1] और अनुपात्त[2] पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष (प्रमाणज्ञान) है।

प्रत्यक्ष—जो केवल आत्मासे ही प्रतिनिश्चिततया प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है।

प्रमाण सच्चा ज्ञान है। उसके पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें से मति और श्रुत मुख्यतया परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्यय विकल (आंशिक-एक देश) प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

(१०) नयके प्रकार—

नय दो प्रकारके हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें से जो द्रव्य पर्यायस्वरूप वस्तुमें द्रव्यका मुख्यतया अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिकनय है, और जो पर्यायका मुख्यतया अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय क्या है ? गुणार्थिक नय क्यों नहीं ?

शास्त्रोंमें अनेक स्थलों पर द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय का उल्लेख मिलता है, किन्तु कहीं भी 'गुणार्थिक नय' का प्रयोग नहीं किया गया है; इसका क्या कारण है ? सो कहते हैं —

तर्क-१—द्रव्यार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय गुण, और पर्यायार्थिक नयके कहनसे उसका विषय पर्याय, तथा दोनों एकत्रित होकर जो प्रमाण का विषय-द्रव्य है सो सामान्य विशेषात्मक द्रव्य है; इसप्रकार मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नहीं किया है;—यदि कोई ऐसा कहे तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अकेले गुण द्रव्यार्थिक नयका विषय नहीं है।

नोटः—१ उपात्त=प्राप्त, (इन्द्रिय मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं। २ अनुपात्त=अप्राप्त; (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं)

तर्क-२—द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्य और पर्यायार्थिक नयका विषय पर्याय है; तथा पर्याय गुणका अंश होनेसे पर्यायमें गुण आगये, यह मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नहीं किया है; यदि इसप्रकार कोई कहे तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि पर्यायमें सम्पूर्ण गुणका समावेश नहीं हो जाता।

गुणार्थिक नयका प्रयोग न करनेका वास्तविक कारण—

शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिकऔर पर्यायार्थिक—दो नयोंका ही प्रयोग किया गया है। उन दोनों नयोंका वास्तविक स्वरूप यह है—

पर्यायार्थिक नयका विषय जीवकी अपेक्षित—बंध-मोक्षकी पर्याय है, और उस (बंध-मोक्षकी अपेक्षा) से रहित त्रैकालिक शक्तिरूप गुण तथा त्रैकालिक शक्तिरूप निरपेक्ष पर्याय सहित त्रैकालिक जीवद्रव्य सामान्य वही द्रव्यार्थिक नयका विषय है,—इस अर्थमें शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका प्रयोग किया गया है, इसलिये गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नहीं रहती। जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्योंके त्रैकालिक ध्रुव स्वरूपमें भी उसके गुणोंका समावेश हो जाता है, इसलिये पृथक् गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक नयका प्रयोग होता है, इसमें गंभीर रहस्य है। द्रव्यार्थिक नयका विषय त्रैकालिक द्रव्य है, और पर्यायार्थिक नय के विषय क्षणिक पर्याय हैं। द्रव्यार्थिक नयके विषयमें पृथक् गुण नहीं है क्योंकि गुण को पृथक् करके लक्षमें लेने पर विकल्प उठता है, और गुण भेद तथा विकल्प पर्यायार्थिक नयका विषय है। ❀

(११) द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयके दूसरे नाम—

द्रव्यार्थिक नयको—निश्चय, शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलम्बी, स्वाश्रित, स्वतंत्र, स्वाभाविक, त्रैकालिक, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी नय कहा जाता है।

❀ नयका विशेष स्वरूप जानना हो तो प्रवचनसारके अन्तमें दिये गये ४७ नयोंका अभ्यास करना चाहिये।

पर्यायार्थिक नयको—व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी, पराश्रित, परतंत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वंसी, भेद और परलक्षी नय कहा जाता है।

(१२) सम्यग्दृष्टिके दूसरे नाम—

सम्यग्दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, शुद्धदृष्टि, धर्मदृष्टि, निश्चयदृष्टि, परमार्थदृष्टि और अन्तरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

(१३) मिथ्यादृष्टिके दूसरे नाम—

मिथ्यादृष्टिको पर्यायबुद्धि, संयोगीबुद्धि, पर्यायमूढ़, व्यवहारदृष्टि, व्यवहारमूढ़, संसारदृष्टि, परावलम्बी बुद्धि, पराश्रितदृष्टि, और बहिरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

(१४) ज्ञान दोनों नयोंका करना चाहिये, किन्तु उसमें परमार्थतः आदरणीय निश्चय नय है,—ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

व्यवहारनय स्वद्रव्य, परद्रव्य अथवा उसके भावोंको या कारण-कार्यादिको किसीका किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व होता है, अतः उसका त्याग करना चाहिये।

निश्चयनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको अथवा उसके भावोंको या कारण कार्यादिको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये। इन दोनों नयोंको समकक्षी (—समान कोटिका) मानना सो मिथ्यात्व है।

(१५) व्यवहार और निश्चयका फल—

वीतराग कथित व्यवहार, अशुभसे बचाकर जीवको शुभभावमें ले जाता है; इसका दृष्टान्त द्रव्यलिंगी मुनि है। वे भगवानके द्वारा कथित व्रतादिका निरतिचार पालन करते हैं, इसलिये शुभभावके कारण नवयें ग्रैवेयक जाते हैं, किन्तु उनका संसार बना रहता है। और भगवानके द्वारा

कथित निश्चय, शुभ और अशुभ दोनोंसे बचाकर जीवको शुद्धभावमें-मोक्षमें लेजाता है, उसका दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि है, जो कि नियमतः मोक्ष प्राप्त करता है।

(१६) शास्त्रोंमें दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

जैन शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति—जैन शास्त्रोंमें वस्तुका स्वरूप समझानेके दो प्रकार हैं;—निश्चयनय और व्यवहारनय।

(१) निश्चयनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थ रूपमें जैसी हो उसीप्रकार कहना; इसलिये निश्चयनयकी मुख्यतासे जहाँ कथन हो वहाँ उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' यों जानना चाहिये; और—

(२) व्यवहार नय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपसे वैसी न हो किन्तु परवस्तुके साथका संबंध बतलानेके लिये कथन हो; जैसे-'घी का घड़ा।' यद्यपि घड़ा घी का नहीं किंतु मिट्टीका है, तथापि घी और घड़ा दोनों एक साथ हैं, यह बतानेके लिये उसे 'घीका घड़ा' कहा जाता है। इसप्रकार जहाँ व्यवहार से कथन हो वहाँ यह समझना चाहिये कि 'वास्तवमें तो ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि बतलानेके लिये उपचारसे वैसा कथन है।'

दोनों नयोंके कथनको सत्यार्थ जानना अर्थात् 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' ऐसा मानना सो भ्रम है। इसलिये निश्चयकथनको सत्यार्थ जानना चाहिये, व्यवहार कथनको नहीं; प्रत्युत यह समझना चाहिये कि वह निमित्तादिको बतानेवाला कथन है, ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार दोनों नयोंके कथनका अर्थ करना सो दोनों नयोंका ग्रहण है। दोनोंको समकक्ष अथवा आदरणीय मानना सो भ्रम है। सत्यार्थको ही आदरणीय मानना चाहिये।

[नय=श्रुतज्ञानका एक पहलू; निमित्त=विद्यमान अनुकूल परवस्तु]

(मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २७२-२७३ के आधार से)

(१७) निश्चयाभासीका स्वरूप—

जो जीव आत्माके त्रैकालिक स्वरूपको स्वीकार करे, किन्तु यह

स्वीकार न करे कि वर्तमान पर्यायमें निजके विकार है वह निश्चयाभासी है। उसे शुष्कज्ञानी भी कहते हैं।

(१८) व्यवहाराभासीका स्वरूप—

प्रथम व्यवहार चाहिये, व्यवहार करते २ निश्चय (धर्म) होता है ऐसा मानकर शुभराग करता है परन्तु अपना त्रिकालिक ध्रुव (ज्ञायकमात्र) स्वभावको नहीं मानता और न अन्तर्मुख होता है ऐसे जीवको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा सप्त तत्त्वोंकी व्यवहार श्रद्धा है तो भी अनादिकी निमित्त तथा व्यवहार -(भेद पराश्रय) की रुचि नहीं छोड़ता और सप्त तत्त्वकी निश्चय श्रद्धा नहीं करता इसलिये वह व्यवहाराभासी है, उसे क्रिया जड़ भी कहते हैं। जो यह मानता है कि शारीरिक क्रियासे धर्म होता है वह व्यवहाराभाससे भी अति दूर है।

(१९) नयके दो प्रकार—

नय दो प्रकारके हैं—'रागसहित' और 'रागरहित'। आगमका प्रथम अभ्यास करनेपर नयोंका जो ज्ञान होता है वह 'रागसहित' नय है। वहाँ यदि जीव यह माने कि उस रागके होने पर भी रागसे धर्म नहीं होता तो वह नयका ज्ञान सच्चा है। किन्तु यदि वह माने कि रागसे धर्म होता है, तो वह ज्ञान नयाभास है। दोनों नयोंका यथार्थ ज्ञान करनेके बाद जीव अपने पर्याय परका लक्ष छोड़कर अपने त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यस्वभावकी ओर लक्ष करे तब सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव प्रगट होते हैं, इसलिये वह नय रागरहित नय है, उसे 'शुद्ध नयका आश्रय अथवा शुद्धनयका अवलंबन' भी कहा जाता है, उस दशाको 'नयातिक्रान्त' भी कहते हैं। उसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, और उसीको 'आत्मानुभव' भी कहते हैं।

(२०) प्रमाणसप्तभंगी—नयसप्तभंगी—

सप्तभंगीके दो प्रकार हैं। सप्तभंगका स्वरूप चौथे अध्यायके उपसंहारमें दिया गया है, वहाँसे समझ लेना चाहिये। दो प्रकारकी सप्तभंगीमें से जिस सप्तभंगीसे एक गुण या पर्यायके द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य जाना जाय वह

'प्रमाण–सप्तभंगी' है, और जिस सप्तभंगीसे कथित गुण अथवा पर्यायके द्वारा उस गुण अथवा पर्यायका ज्ञान हो वह 'नय–सप्तभंगी' है। इस सप्तभंगीका ज्ञान होने पर प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता-ऐसा निश्चय होनेसे, अनादिकालीन विपरीत मान्यता टल जाती है।

(२१) वीतरागी–विज्ञानका निरूपण—

जैन शास्त्रोंमें अनेकांत रूप यथार्थ जीवादि तत्त्वोंका निरूपण है तथा सच्चा (-निश्चय) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बताया है, इसलिये यदि जीव उसकी पहिचान करले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमें वीतरागभावकी पुष्टिका ही प्रयोजन है, रागभाव (पुण्य-पापभाव) की पुष्टिका प्रयोजन नहीं है, इसलिये जो ऐसा मानते हैं कि रागसे–पुण्यसे धर्म होता है वे जैन शास्त्रोंके मर्मको नहीं जानते।

(२२) मिथ्यादृष्टि के नय—

जो मनुष्य शरीरको अपना मानता है और ऐसा मानता है कि मैं मनुष्य हूँ, जो शरीर है वह मैं हूँ अथवा शरीर मेरा है अर्थात् जीव शरीरका कोई कार्य कर सकता है ऐसा मानने वाला जीव, आत्मा और अनंत रजकणों को एक रूप माननेके कारण (अर्थात् अनंतके मिलापको एक माननेके कारण) मिथ्यादृष्टि है और उसका ज्ञान भी यथार्थमें कुनय है। ऐसी मान्यता पूर्वक प्रवर्तना कि मैं मनुष्य हूँ यह उसका (मिथ्यादृष्टिका) व्यवहार है इसलिये यह व्यवहार–कुनय है, वास्तवमें तो उस व्यवहारको निश्चय मानता है। जैसे 'जो शरीर है सो मैं हूँ' इस दृष्टान्तमें शरीर पर है, वह जीवके साथ मात्र एक क्षेत्रावगाही है तथापि उसको अपना रूप माना इसलिये उसने व्यवहारको निश्चय समझा। वह ऐसा भी मानता है कि "जो मैं हूँ सो शरीर है" इसलिये उसने निश्चयको व्यवहार माना है। जो ऐसा मानता है कि पर द्रव्योंका मैं कर सकता हूँ और पर अपने को लाभ नुकसान कर सकता है वह मिथ्यादृष्टि है-एकांती है।

(२३) सम्यग्दृष्टिके नय—

समस्त सम्यक् विद्याके मूलरूप अपने भगवान आत्माके स्वभावको प्राप्त होना, आत्म स्वभावकी भावनामें जुटना और आत्म स्वभावमें स्थिरता बढ़ाना सो सम्यक् अनेकान्तदृष्टि है। सम्यक्दृष्टि जीव अपने पररूप-ध्रुव स्वभावरूप आत्माका आश्रय करता है यह उसका (सम्यग्दृष्टिका) निश्चय सुनय है और अचलित चैतन्य विलासरूप जो आत्म व्यवहार (शुद्धपर्याय) प्रगट होता है सो उसका व्यवहार सुनय है।

(२४) नीतिका स्वरूप—

प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा से है और परवस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे वह वस्तु नहीं है, इसी लिये प्रत्येक वस्तु अपना ही कार्य कर सकती है ऐसा जानना सो यथार्थ नीति है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया अनेकांत स्वरूप तथा प्रमाण और निश्चय व्यवहाररूप नय ही यथार्थ नीति है। जो सत्पुरुष अनेकांत के साथ सुसगत (समीचीन) दृष्टिके द्वारा अनेकांतमय वस्तुस्थितिको देखते हैं वे स्याद्वादकी शुद्धिको प्राप्त कर-जानकर जिननीतिको अर्थात् जिनेश्वरदेवके मार्गको-न्यायको उल्लंघन न करते हुये ज्ञानस्वरूप होते हैं।

नोट—(१) अनेकांतको समझानेकी रीतको स्याद्वाद कहा है। (२) सम्यक् अनेकांतको प्रमाण कहा जाता है, यह संक्षिप्त कथन है। वास्तवमें जो सम्यक अनेकांतका ज्ञान है सो प्रमाण है, उसीप्रकार सम्यक एकांतको नय कहते हैं वास्तवमें जो सम्यक एकांतका ज्ञान है सो नय है।

(२५) निश्चय और व्यवहारका दूसरा अर्थ—

अपना द्रव्य और अपनी शुद्ध या अशुद्ध पर्याय बतानेके लिये भी निश्चय प्रयुक्त होता है, जैसे सर्व जीव द्रव्य अपेक्षासे सिद्ध परमात्मा समान हैं आत्माकी सिद्ध पर्यायको निश्चय पर्याय कहते हैं और आत्मामें होनेवाले विकारीभावको निश्चय बंध कहा जाता है।

स्व द्रव्य या पर्यायको जब निश्चय कहा जाता है तब आत्माके साथ पर द्रव्यका जो संबंध होता है उसे आत्माका कहते हैं, यही व्यवहार है-उपचार कथन है। जैसे जड़कर्मको आत्माका कहना व्यवहार है; जड़ कर्म परद्रव्यकी अवस्था है, आत्माकी अवस्था नहीं है। तथापि उन जड़कर्मको आत्माका कहते हैं, यह कथन निमित्त नैमित्तिक संबंध बतानेके लिये है अतः व्यवहार नय है—उपचार कथन है।

इस अध्यायके ३३ वें सूत्रमें दिये गये सात नय, आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्यमें लागू होते हैं इसलिये उन्हें आगम शास्त्रमें निश्चय नयके विभागके रूपमें माना जाता है। इन सात नयोंमें से पहले तीन द्रव्यार्थिक नयके विभाग हैं और बादके चार पर्यायार्थिक नयके विभाग हैं, किन्तु वे सात नय भेद हैं इसलिये, और उनके लक्ष्यसे राग होता है और वे राग दूर करने योग्य हैं इसलिये अध्यात्म शास्त्रोंमें उन सबको व्यवहार नयके उप विभागके रूपमें माना जाता है।

आत्माका स्वरूप समझनेके लिये नय विभाग—

शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे आत्मा त्रिकाल शुद्ध चैतन्य स्वरूप है—यहाँ (त्रिकाल शुद्ध कहनेमें) वर्तमान विकारी पर्याय गौण की गई है। यह विकारी पर्याय क्षणिक अवस्था होने से पर्यायार्थिक नयका विषय है और जब वह विकारी दशा आत्मामें होती है ऐसा बतलाना हो तब वह विकारी पर्याय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय होता है और जब ऐसा बतलाना हो कि यह पर्याय पर द्रव्यके संयोग से होती है तब वह विकारी पर्याय व्यवहार नयका विषय होती है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि जहाँ आत्माकी अपूर्ण पर्याय भी व्यवहारका विषय है वहाँ व्यवहारका अर्थ भेद होता है।

निश्चयनय और द्रव्यार्थिकनय तथा व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय भिन्न भिन्न अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं—

ऐसा ज्ञान करना कि रत्नत्रय जीवसे अभिन्न है सो द्रव्यार्थिकनयका

स्वरूप है इसीप्रकार रत्नत्रय जीवसे भिन्न है ऐसा ज्ञान करना सो पर्यायार्थिक नयका स्वरूप है। रत्नत्रयमें अभेद पूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चय नयसे मोक्षमार्ग है तथा भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहार नयसे मोक्षमार्ग है।

— निश्चय-रत्नत्रयके समर्थन करनेका यह मतलब है कि जो भेद प्रवृत्ति है सो व्यवहार रत्नत्रय है और जो अभेद प्रवृत्ति है सो निश्चय रत्नत्रय है।

(२६) छट्ठे सूत्रका सिद्धान्त—

हे जीव! पहले यह निश्चय कर कि तुझे धर्म करना है या नहीं। यदि धर्म करना हो तो 'परके आश्रयसे मेरा धर्म नहीं है। ऐसी श्रद्धाके द्वारा पराश्रित अभिप्रायको दूर कर। परसे जो जो अपनेमें होना माना है उस मान्यताको यथार्थ प्रतीतिके द्वारा जला दे।

यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जिसप्रकार सात (पुण्य पाप सहित नव) तत्त्वोंको जानकर उनमेंसे जीवका ही आश्रय करना भूतार्थ है उसीप्रकार अधिगमके उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेपोंको जानकर उनमेंसे एक जीवका ही आश्रय करना भूतार्थ है और यही सम्यग्दर्शन है ॥ ६ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि जाननेके अमुख्य (अप्रधान) उपाय—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

अर्थः—[निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति विधानतः] निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक तत्त्वोंका अधिगम होता है।

टीका

१—निर्देश—वस्तु स्वरूपके कथनको निर्देश कहते हैं।

२—स्वामित्व—वस्तुके अधिकारीपनेको स्वामित्व कहते हैं।

३—साधन—वस्तु की उत्पत्तिके कारणको साधन कहते हैं।

४—अधिकरण—वस्तुके आधारको अधिकरण कहते हैं।

५—स्थिति—वस्तुके कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं।

६—विधान—वस्तुके भेदोंको विधान कहते हैं।

उपरोक्त ६ प्रकारसे सम्यग्दर्शनका वर्णन निम्नप्रकार किया जाता है—

१—निर्देश—जीवादि सात तत्त्वोंकी यथार्थ श्रद्धापूर्वक निज शुद्धात्माका प्रतिभास-विश्वास-प्रतीतिको निर्देश कहते हैं।

२—स्वामित्व—चारों गतिके संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य जीव स्वामी होते हैं।

३—साधन—साधनके दो भेद हैं अंतरंग और बाह्य। अंतरंग साधन (अंतरंग कारण) तो स्व शुद्धात्माके त्रिकाली ज्ञायकभाव (पारिणामिक भाव) का आश्रय है और बाह्य कारण भिन्न २ प्रकारके होते हैं। तिर्यंच और मनुष्यगतिमें (१) जातिस्मरण (२) धर्म श्रवण और (३) जिनबिम्ब दर्शन ये निमित्त होते हैं; देवगतिमें बारहवें स्वर्गसे पहले (१) जातिस्मरण, (२) धर्म श्रवण (३) जिन कल्याणकदर्शन और (४) देवऋद्धिदर्शन कारण होता है। और बारहवें स्वर्गसे १६ वें स्वर्ग पर्यंत (१) जातिस्मरण (२) धर्म श्रवण और (३) जिन कल्याणक दर्शन कारण है। नवग्रैवेयक में (१) जाति स्मरण और (२) धर्म श्रवण होता है। नरकगतिमें तीसरे नरकतक जातिस्मरण, धर्म श्रवण और दुःखानुभव निमित्त होता है एवं चौथे से सातवें नरक तक जातिस्मरण और दुःखानुभव निमित्त होता है।

नोटः—उपरोक्त धर्म श्रवण सम्यग्ज्ञानियोंसे प्राप्त होना चाहिये।

शंका—सभी नारकी जीव विभंगज्ञानके द्वारा एक, दो या तीन आदि भव जानते हैं, उससे सभी को जातिस्मरण होता है इसलिये क्या सभी नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे?

समाधान—सामान्यतया भवस्मरण द्वारा सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु पूर्वभवमें धर्म बुद्धिसे किये हुये अनुष्ठान विपरीत (विफल) थे ऐसी प्रतीति प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होती है इसी बातको ध्यानमें रखकर भवस्मरणको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण कहा है। नारकी जीवों

के पूर्व भवका स्मरण होने पर भी बहुतोंके उपरोक्त उपयोगका अभाव होता है। ऊपर कहे गये प्रकारका जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है।

शंका—नरकमें ऋषियों (साधुओं) का गमन नहीं होता फिर वहाँ नारकी जीवोंके धर्म श्रवण किस तरह समव हो सकता है?

समाधान—अपने पूर्व भवके सबंधियों के धर्म उत्पन्न करानेमें प्रवृत्त और सभी बाधाओंसे रहित सम्यग्दृष्टि देवोंका वहाँ (तीसरे नरक पर्यंत) गमन होता है।

शंका—यदि वेदनाका अनुभव सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण है तो सभी नारकियोंको सम्यक्त्व होजाना चाहिये क्योंकि सभी नारकियोंके वेदना का अनुभव है।

समाधान—वेदना सामान्य सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नहीं है किंतु जिन जीवोंके ऐसा उपयोग होता है कि मिथ्यात्वके कारण इस वेदनाकी उत्पत्ति हुई है, उन जीवोंके वेदना-सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है, दूसरे जीवोंके वेदना-सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता।

[श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४२२ – ४२३]

शंका—जिन बिंब दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण कैसे होता है?

समाधान—जिनबिंब दर्शनसे (जो जीव अपने सत्कारको शुद्ध आत्मोन्मुख करे उनके) निधत्त और निकाचितरूप मिथ्यात्वादि कर्म समूहका भी क्षय देखा जाता है और इसी कारण जिन बिंबदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्तिका कारण होता है।

(श्री धवला, पुस्तक ६ पृष्ठ ४२७ – ४२८)

प्रश्न—शास्त्रमें जिनबिंब दर्शनसे (जिन प्रतिमाके दर्शनसे) सम्यग्दर्शन होना बताया है। अत दर्शन करने वाले सभीको यह फल होना चाहिये किंतु सभीको यह फल क्यों नहीं होता?

उत्तर—जिसने सर्वज्ञकी सत्ताका निर्णय किया है उसके जिन प्रतिमाके दर्शनसे सम्यग्दर्शन रूप फल होता है दूसरेको नहीं। उन सभीको नियमसे अपने आत्मकल्याणरूप कार्यकी सिद्धि नहीं होती, जो जीव अपने सत्य पुरुषार्थसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसीको जिनविम्बदर्शन निमित्त कहा जाता है। जिन्होंने सर्वज्ञका तो निश्चय किया नहीं किंतु मात्र कुल-पद्धतिसे, संप्रदायके आश्रयसे या मिथ्या धर्म-बुद्धिसे दर्शन पूजनादि रूप प्रवृत्ति करते हैं। और कितनेक जो मतपक्षके हठग्राहीपनेसे अन्यदेवको नहीं मानते, मात्र जिनदेवादिकके सेवक वने हुये हैं उनके भी नियमसे अपने आत्म-कल्याणरूप कार्यकी' सिद्धि नहीं होती।

प्रश्न—यदि सर्वज्ञकी सत्ताका निश्चय हमसे नहीं हुवा तो क्या हुआ? ये देव तो सच्चे देव हैं, उनकी पूजनादि करना व्यर्थ थोड़े ही होती है?

उत्तर—यदि किंचित् मंद कषाय रूप परिणति होगी तो पुण्य बंध होगा परन्तु जिनमतमें तो देव दर्शनसे सम्यग्दर्शनरूप फल होना बतलाया है सो तो नियमसे सर्वज्ञकी सत्ताके जाननेसे ही होगा दूसरी तरहसे नहीं। इसलिये जिन्हें सच्चा जैनी होना है उन्हें तो सत्‌देव, सद्‌गुरु और सत् शास्त्रके आश्रयसे सर्वज्ञकी सत्ताका तत्त्व निर्णय करना योग्य है; किंतु जो तत्त्व निर्णय तो नहीं करते और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम संतोष आदि सभी कार्य करते हैं उनके ये सभी कार्य झूंठे हैं। इसलिये सत् आगमका सेवन, युक्तिका अवलंबन, परंपरा सद्‌गुरुओंका उपदेश और स्वानुभवके द्वारा तत्त्व निर्णय करना योग्य है।

प्रश्न—यह कहा है कि मिथ्यादृष्टि देव चार कारणोंसे प्रथम औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त होते हैं उनमें एक 'जिनमहिमा' कारण बतलाया है किंतु जिनबिंबदर्शन नहीं बतलाया, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिनबिंब दर्शनका जिनमहिमा दर्शनमें समावेश होजाता है क्योंकि जिनबिंबके विना जिनमहिमाकी सिद्धि नहीं होती।

प्रश्न—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षा कल्याणकरूप जिनमहिमा जिनबिंबके बिना की जाती है इसलिये क्या जिन महिमादर्शनमें जिनबिंब दर्शनका अविनाभावित्व नहीं आया ?

उत्तर—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षाकल्याणरूप जिन महिमामें भी भावी जिनबिंबका दर्शन होता है। दूसरी बात यह है कि इस महिमामें उत्पन्न होने वाले प्रथम सम्यक्त्व जिनबिंब दर्शन नैमित्तिक नहीं है, किंतु जिनगुण श्रवण नैमित्तिक है। अर्थात् प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें जिनगुण श्रवण निमित्त है।

प्रश्न—जातिस्मरणका देवऋद्धि दर्शनमें समावेश क्यों नहीं होता ?

उत्तर—अपनी अणिमादिक ऋद्धियोंको देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि जिन भगवानके द्वारा प्ररूपित धर्मानुष्ठानसे ये ऋद्धियाँ उत्पन्न हुई हैं तब प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जातिस्मरण निमित्त होता है, किंतु जिस समय सौधर्मादिक देवोंकी महाऋद्धियोंको देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि सम्यग्दर्शन सहित संयमके फलसे—शुभभावसे यह उत्पन्न हुई है और मैं सम्यक्त्व रहित द्रव्य संयमके फलसे वाहनादिक नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ, उस समय प्रथम सम्यक्त्वका ग्रहण देवर्द्धिदर्शन-निमित्तक होता है। इसतरह जातिस्मरण और देवर्द्धिदर्शन इन दोनों कारणोंमें अंतर है।

नोट—नारकियोंमें जातिस्मरण और वेदनारूप कारणोंमें भी यही नियम लगा लेना चाहिये।

प्रश्न—आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंके मिथ्या दृष्टि देवोंके प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें देवर्द्धिदर्शन कारण क्यों नहीं बतलाया ?

उत्तर—इन चार स्वर्गोंमें महा ऋद्धिवाले ऊपरके देवोंका आगमन नहीं होता इसीलिये वहाँ प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण महाऋद्धिदर्शन कारण नहीं बतलाया, इन्हीं स्वर्गोंमें स्थित देवोंकी महाऋद्धिका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता, क्योंकि बारबार इन ऋद्धियोंके देखनेसे विस्मय नहीं होता। पुनश्च इन स्वर्गोंमें शुक्ललेश्याके सद्भावके कारण महाऋद्धिके दर्शनसे कोई संक्लेशभाव उत्पन्न नहीं होता।

नवग्रैवेयकोंमें ऊपरके देवोंका आगमन नहीं होता इसीलिये वहाँ महाऋद्धिदर्शन कारण नहीं है। तथा ये विमानवासी देव अष्टान्हिक पर्व महोत्सव देखनेके लिये नंदीश्वरादि द्वीपोंमें नहीं जाते इसलिये वहाँ जिनमहिमा दर्शन भी कारण नहीं है। वे अवधिज्ञानके बलसे जिनमहिमाको देखते हैं तो भी इन देवोंके रागकी न्यूनता अर्थात् मंद राग होनेसे जिनमहिमा दर्शनसे उनको विस्मय उत्पन्न नहीं होता।

(श्री धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ४३२ से ४३६)

(४) अधिकरण—सम्यग्दर्शनका अंतरंग आधार आत्मा है और बाह्य आधार त्रसनाली है (लोकाकाशके मध्यमें चौदह राजू लंबे और एक राजू चौड़े स्थानको त्रसनाली कहते हैं)।

(५) स्थिति—तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनकी जघन्यसे जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त की है, औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति भी अंतर्मुहूर्त की है, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरकी और क्षायिक सम्यग्दर्शनकी सादि अनंत है, तथा संसारमें रहनेकी अपेक्षासे उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा अंतर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो कोडी पूर्व है।

(६) विधान—सम्यग्दर्शन एक तरह अथवा स्वपर्यायकी योग्यतानुसार तीन प्रकार है—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। तथा आज्ञा, मार्ग, बीज, उपदेश, सूत्र, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ इस तरह १० भेदरूप है ॥ ७ ॥

और भी अन्य अमुल्य उपाय

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

अर्थः—[च] और [सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भावाल्प बहुत्वैः] सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भी पदार्थका ज्ञान होता है।

टीका

सत् और संख्या—यह द्रव्य गुण पर्यायके सत्त्वकी अपेक्षासे उपभेद है सत् सामान्य और संख्या विशेष है।

क्षेत्र और स्पर्शन—यह क्षेत्रका उपभेद है। क्षेत्र सामान्य और स्पर्शन विशेष है।

काल और अंतर—यह कालका उपभेद है, काल सामान्य और अंतर विशेष है।

भाव और अल्पबहुत्व—यह भावका उपभेद है, भाव सामान्य है और अल्पबहुत्व विशेष है।

सत्—वस्तुके अस्तित्वको सत् कहते हैं।

संख्या—वस्तुके परिमाणोंकी गणनाको संख्या कहते हैं।

क्षेत्र—वस्तुके वर्तमानकालीन निवासको क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन—वस्तुके त्रिकालवर्ती निवासको स्पर्शन कहते हैं।

काल—वस्तुके स्थिर रहनेकी मर्यादाको काल कहते हैं।

अंतर—वस्तुके विरहकालको अंतर कहते हैं।

भाव—गुणको अथवा औपशमिक, क्षायिक आदि पाँच भावोंको भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्व—अन्य पदार्थकी अपेक्षा से वस्तुकी हीनता अधिकता के वर्णनको अल्पबहुत्व कहते हैं।

अनुयोग—भगवत् प्रणीत उपदेश विषयके अनुसार भिन्न २ अधिकारमें कहा गया है, उस प्रत्येक अधिकारका नाम अनुयोग है। सम्यक् ज्ञान का उपदेश देनेके लिये प्रवृत्त हुये अधिकारको अनुयोग कहते हैं।

सत् और निर्देशमें अंतर

यदि 'सत्' शब्द सामान्यतः सम्यग्दर्शनादिकके अस्तित्वको बतलाने वाला हो तो निर्देशमें उसका समावेश हो जायगा, किंतु गति, इन्द्रिय, काय,

योग आदि चौदह मार्गणाओंमें किस जगह किस तरहका सम्यग्दर्शन होता है और किस तरहका नहीं ऐसा विशेष ज्ञान सत्से होता है, निर्देशसे ऐसा ज्ञान नहीं होता, यही सत् और निर्देशमें अंतर है।

इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग किस लिये किया है ?

अनधिकृत पदार्थोंका भी ज्ञान करा सकने की सत् शब्दकी सामर्थ्य है। यदि इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग न किया होता तो आगामी सूत्रमें सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि सात तत्त्वोंके ही अस्तित्वका ज्ञान निर्देश शब्दके द्वारा होता और जीवके क्रोध मान आदि पर्याय तथा पुद्गलके वर्ण गंध आदि तथा घट पट आदि पर्याय (जिनका यह अधिकार नहीं है) के अस्तित्वके अभावका ज्ञान होता इसलिये इस समय अनधिकृत पदार्थ जीवमें क्रोधादि तथा पुद्गलमे वर्णादिका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग किया है।

संख्या और विधानमें अंतर

प्रकारकी गणनाको विधान कहते हैं और उस भेदकी गणनाको संख्या कहते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि तीन तरहके हैं (१) औपशमिक सम्यग्दृष्टि (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। 'संख्या' शब्दसे भेद गणनाका ज्ञान होता है कि उक्त तीन प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंमें औपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं; भेदोंके गणनाकी विशेषताको बतलानेका जो कारण है उसे संख्या कहते हैं।

'विधान' शब्दमें मूलपदार्थके ही भेद ग्रहण किये हैं, इसीलिये भेदोंके अनेक तरहके भेदोंको ग्रहण करनेके लिये संख्या शब्दका प्रयोग किया है।

'विधान' शब्दके कहनेसे भेद प्रभेद आजाते हैं ऐसा माना जाय तो विशेष स्पष्टताके लिये संख्या शब्दका प्रयोग किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

क्षेत्र और अधिकरणमें अंतर

अधिकरण शब्द थोड़े स्थानको बतलाता है इसीसे वह व्याप्य है और क्षेत्र शब्द व्यापक है, वह अधिक स्थानको बतलाता है। 'अधिकरण' शब्दके कहनेसे सपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्षेत्रके कहनेसे सपूर्ण पदार्थों का ज्ञान होता है, इसलिये समस्त पदार्थोंके ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें क्षेत्र शब्दका प्रयोग किया है।

क्षेत्र और स्पर्शनमें अंतर

'क्षेत्र' शब्द अधिकरणसे विशेषता बतलाता है तो भी उसका विषय एक देशका है और 'स्पर्शन' शब्द सर्वदेश का विषय करता है। जैसे किसीने पूछा कि 'राजा कहाँ रहता है' उत्तर दिया कि 'फलाने नगरमें रहता है' यहाँ यद्यपि राजा सपूर्ण नगरमें नहीं रहता किंतु नगरके एकदेशमें रहता है इसलिये नगरके एक देशमें राजाका निवास होने से 'नगर' क्षेत्र है। किसीने पूछा कि 'तेल कहाँ है?' उत्तर दिया कि 'तिलमें तेल रहता है' यहाँ सपूर्ण स्थानमें तेल रहनेके कारण तिल तेलका स्पर्शन है, इस तरह क्षेत्र और स्पर्शन में अतर है।

क्षेत्र वर्तमान कालका विषय है और स्पर्शन त्रिकालगोचर विषय है। वर्तमानकी दृष्टिसे घड़ेमें जल है किंतु वह त्रिकाल नहीं है। तीनों काल में जिस जगह पदार्थकी सत्ता रहती है उसे स्पर्शन कहते हैं। यह दूसरी तरहसे क्षेत्र और स्पर्शनके बीच अतर है।

काल और स्थितिमें अतर

'स्थिति' शब्द कुछ पदार्थोंके कालकी मर्यादा बतलाता है, वह शब्द व्याप्य है। 'काल' शब्द व्यापक है और वह समस्त पदार्थोंकी मर्यादाको बतलाता है। 'स्थिति' शब्द कुछ ही पदार्थोंका ज्ञान कराता है और 'काल' शब्द समस्त पदार्थोंका ज्ञान कराता है। कालके दो भेद हैं (१) निश्चयकाल (२) व्यवहारकाल। मुख्य कालको निश्चयकाल कहते हैं और पर्याय विशिष्ट पदार्थोंकी मर्यादा बतलानेवाला अर्थात् घटा घड़ी पल आदि व्यवहारकाल है।

काल की मर्यादाको स्थिति कहते हैं अर्थात् 'स्थिति' शब्द इस बातको बतलाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक स्थानपर इतने समय रहता है, इतना काल और स्थितिमें अंतर है।

'भाव' शब्दका निक्षेपके सूत्रमें उल्लेख होने पर भी यहाँ किसलिये कहा है ?

निक्षेपके सूत्र ५ वें में भावका अर्थ यह है कि वर्तमानमें जो अवस्था मौजूद हो उसे भाव निक्षेप समझना और भविष्यमें होने वाली अवस्थाको वर्तमानमें कहना सो द्रव्य निक्षेप है। यहाँ ८ वें सूत्रमें 'भाव' शब्दसे औपशमिक क्षायिक आदि भावोंका ग्रहण किया है जैसे औपशमिक भी सम्यग्दर्शन है और क्षायिक आदि भी सम्यग्दर्शन कहे जाते हैं। इसप्रकार दोनों जगह (५ वें और ८ वें सूत्रमें) भाव शब्दका पृथक् प्रयोजन है।

विस्तृत वर्णनका प्रयोजन

कितने ही शिष्य अल्प कथनसे विशेष तात्पर्यको समझ लेते हैं और कितने ही शिष्य ऐसे होते हैं कि विस्तारपूर्वक कथन करने पर समझ सकते हैं। परम कल्याणमय आचार्यका सभीको तत्त्वोंका स्वरूप समझानेका उद्देश्य है। प्रमाण नयसे ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है तथापि विस्तृत कथनसे समझ सकने वाले जीवोंको निर्देश आदि तथा सत् संख्यादिकका ज्ञान करानेके लिये पृथक् २ सूत्र कहे हैं। ऐसी शंका ठीक नहीं है कि एक सूत्रमें दूसरेका समावेश हो जाता है इसलिये विस्तारपूर्वक कथन व्यर्थ है।

ज्ञान संबंधी विशेष स्पष्टिकरण

प्रश्न—इस सूत्रमें ज्ञानके सत्-संख्यादि आठ भेद ही क्यों कहे गये हैं, कम या अधिक क्यों नहीं कहे गये ?

उत्तर—निम्नलिखित आठ प्रकारका निषेध करनेके लिये वे आठ भेद कहे गये हैं:—

१—नास्तिक कहता है कि 'कोई वस्तु है ही नहीं'। इसलिये 'सत्' को सिद्ध करनेसे उस नास्तिककी तर्क खंडित करदी गई है।

२–कोई कहता है कि 'वस्तु' एक ही है, उसमें किसी प्रकारके भेद नहीं हैं। 'संख्या' को सिद्ध करनेसे यह तर्क खंडित करदी गई है।

३–कोई कहता है कि—'वस्तुके प्रदेश (आकार) नहीं हैं'। 'क्षेत्र' के सिद्ध करनेसे यह तर्क खंडित करदी गई है।

४–कोई कहता है कि 'वस्तु क्रिया रहित है'। स्पर्शन, के सिद्ध करने से यह तर्क खंडित करदी गई है। [नोट – एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना सो क्रिया है]

५–'वस्तुका प्रलय (सर्वथा नाश) होता है' ऐसा कोई मानता है। 'काल' के सिद्ध करनेसे यह तर्क खंडित करदी गई है।

६–कोई यह मानता है कि 'वस्तु क्षणिक है'। 'अंतर' के सिद्ध करने से यह तर्क खंडित करदी गई है।

७–कोई यह मानता है कि 'वस्तु कूटस्थ है'। 'भाव' के सिद्ध करने से यह तर्क खंडित करदी गई है। [जिसकी स्थिति न बदले उसे कूटस्थ कहते हैं।]

८–कोई यह मानता है कि 'वस्तु सर्वथा एक ही है अथवा वस्तु सर्वथा अनेक ही है'। 'अल्पबहुत्व'—के सिद्ध करनेसे यह तर्क खंडित करदी गई है। [देखो प्रश्नोत्तर सर्वार्थसिद्धि पृ० २७७–२७८]

सूत्र ४ से ८ तकका तात्पर्यरूप सिद्धान्त

जिज्ञासु जीवोंको जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वोंका जानना, छोड़ने योग्य मिथ्यात्व-रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक के स्वरूप की पहिचान करना, प्रमाण और नयोंके द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करना तथा निर्देश स्वामित्वादि और सत् संख्या दिके द्वारा उनका विशेष जानना चाहिये।

अब सम्यग्ज्ञानके भेद कहते हैं:—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच [ज्ञानम्] ज्ञान हैं।

टीका

(१) मतिज्ञान—पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा (अपनी शक्तिके अनुसार) जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञानके द्वारा जाने हुये पदार्थको विशेषरूपसे जानना सो श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान—जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय या मनके निमित्तके विना रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान—जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके विना ही दूसरे पुरुषके मनमें स्थित रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान—समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायोंको एक साथ प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं।

(२) इस सूत्रमें 'ज्ञानम्' शब्द एक वचनका है वह यह बतलाता है कि ज्ञानगुण एक है और उसकी पर्यायके ये ५ भेद हैं। इनमें जब एक प्रकार उपयोगरूप होता है तब दूसरा प्रकार उपयोगरूप नहीं होता, इसीलिये इन पाँच में से एक समयमें एक ही ज्ञानका प्रकार उपयोगरूप होता है।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है; सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यग्ज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी शुद्ध पर्याय है, यह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। सम्यग्ज्ञान का स्वरूप निम्न प्रकार है:—

" सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थ व्यवसायात्मकं विदुः "

(तत्त्वार्थसार पूर्वार्ध गाथा १८ पृष्ठ १४)

अर्थ — जिस ज्ञानमें स्व=अपना स्वरूप, अर्थ=विषय, व्यवसाय=यथार्थ निश्चय, ये तीन बातें पूरी हों उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञानमें विषय प्रतिबोधके साथ साथ स्वस्वरूप प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

नवमें सूत्रका सिद्धान्त

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित ज्ञानके समस्त भेदोंको जानकर परभावोंको छोड़कर और निजस्वरूपमें स्थिर होकर जीव जो चैतन्य चमत्कार मात्र है उसमें प्रवेश करता है वह तत्क्षण ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

(श्री नियमसार गाथा १० की टीकाका श्लोक) ॥ ९ ॥

कौनसे ज्ञान प्रमाण हैं ?

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ—[तत्] उपरोक्त पांचों प्रकारके ज्ञान ही प्रमाण (सच्चे ज्ञान) हैं।

टीका

नवमें सूत्रमें कहे हुये पाँचों ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं हैं। प्रमाण के दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। यह ध्यान रहे कि इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों और पदार्थों के संबंध (सन्निकर्ष) ये कोई प्रमाण नहीं हैं अर्थात् न तो इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है और न इन्द्रियों और पदार्थोंके संबंधसे ज्ञान होता है किन्तु उपरोक्त मति आदि ज्ञान स्व से होते हैं इसलिये ज्ञान प्रमाण हैं।

प्रश्न—इन्द्रियाँ प्रमाण हैं क्योंकि उनके द्वारा ज्ञान होता है ?

उत्तर—इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हैं क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं और ज्ञान तो चेतनका पर्याय है, वह जड़ नहीं है इसलिये आत्माके द्वारा ही ज्ञान होता है।

श्री जयधवला पुस्तक भाग १ पृष्ठ ५४-५५

प्रश्न—क्या यह ठीक है न कि प्रस्तुत ज्ञेय पदार्थ हो तो उससे ज्ञान होता है ?

उत्तर—यह ठीक नहीं है, यदि प्रस्तुत पदार्थ (ज्ञेय) और आत्मा इन दोनोंके मिलनेसे ज्ञान होता तो ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनों को ज्ञान होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३३२)

यदि उपादान और निमित्त ये दो होकर एक कार्य करें तो उपादान और निमित्त की स्वतंत्र सत्ता न रहे; उपादान निमित्त का कुछ नहीं करते और न निमित्त उपादानका कुछ करता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र रूपसे अपने अपने कारणसे अपने लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा नियम होनेसे अपनी योग्यतानुसार निमित्त-उपादान दोनोंका कार्य स्वतंत्र, पृथक् पृथक् होते हैं। यदि उपादान और निमित्त ये दोनों मिलकर काम करें तो दोनों उपादान हो जांय अर्थात् दोनोंकी एक सत्ता हो जाय किन्तु ऐसा नहीं होता।

इस संबंधमें ऐसा नियम है कि अपूर्ण ज्ञानका विकास जिस समय अपना व्यापार करता है उस समय उसके योग्य बाह्य पदार्थ अर्थात् इन्द्रियां प्रकाश, ज्ञेय पदार्थ, गुरु, शास्त्र इत्यादि (पर द्रव्य) स्व स्व कारणसे ही उपस्थित होते हैं, ज्ञानको उनकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। निमित्त नैमित्तिक का तथा उपादान निमित्तका ऐसा मेल होता है।

प्रश्न—आप सम्यग्ज्ञान का फल अधिगम कहते हो किन्तु वह (अधिगम) तो ज्ञान ही है इसलिये ऐसा मालुम होता है कि सम्यग्ज्ञानका कुछ फल नहीं होता।

उत्तर—सम्यग्ज्ञानका फल आनन्द (संतोष) उपेक्षा (राग द्वेष रहितता) और अज्ञान का नाश है।

(सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ ३३४)

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान स्व से ही होता है परपदार्थसे नहीं होता।

सूत्र ९-१० का सिद्धांत

नौवें सूत्रमें कथित पाँच सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हैं, उनके अतिरिक्त दूसरे लोग भिन्न भिन्न प्रमाण कहते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है। जिस जीवको सम्यग्ज्ञान हो जाता है वह अपने सम्यक्मति और सम्यक् श्रुतज्ञानके द्वारा अपनेको सम्यक्त्व होनेका निर्णय कर सकता है, और वह ज्ञान प्रमाण अर्थात् सच्चा ज्ञान है ॥ १० ॥

परोक्ष प्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

अर्थ – [आद्ये] प्रारम्भ के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [परोक्षम्] परोक्ष प्रमाण हैं।

टीका

यहाँ प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञानके भेदोंमें से प्रारम्भके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। यह ज्ञान परोक्ष प्रमाण है इसलिये उन्हें संशयवान या भूलयुक्त नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि वे सर्वथा सच्चे ही हैं। उनके उपयोगके समय इन्द्रिय या मन निमित्त होते हैं, इसलिये परापेक्षाके कारण उन्हें परोक्ष कहा है; स्व अपेक्षासे पाँचों प्रकारके ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

प्रश्न—तब क्या सम्यक् मतिज्ञानवाला जीव यह जान सकता है कि मुझे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है?

उत्तर—ज्ञान सम्यक् है इसलिये अपनेको सम्यग्ज्ञान होनेका निर्णय भलीभाँति कर सकता है; और जहाँ सम्यग्ज्ञान होता है वहाँ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिये उसका भी निर्णय कर ही लेता है। यदि निर्णय नहीं कर पाये तो वह अपना अनिर्णय अर्थात् अनध्यवसाय कहलायगा, और ऐसा होनेपर उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलायगा।

प्रश्न—सम्यक्‌मतिज्ञानी दर्शनमोहनीय प्रकृतिके पुद्‌गलोंको प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, और उसके पुद्‌गल उदयरूप हों तथा जीव उसमें युक्त होता हो तो क्या उसकी भूल नहीं होगी ?

उत्तर—यदि भूल होती है तो वह ज्ञान विपरीत होगा, और इसलिए वह ज्ञान 'सम्यक्' नहीं कहला सकता। जैसे शरीरके विगड़ने पर यह असाता-वेदनीयका उदय है, सातावेदनीय का उदय नहीं है—ऐसा कर्मके रजकणोंको प्रत्यक्ष देखे विना श्रुतज्ञानके वलसे यथार्थ जान लिया जाता है, उसी प्रकार अपने ज्ञान-अनुभवसे श्रुतज्ञानके वलसे यह सम्यक् (यथार्थ) जाना जा सकता है कि दर्शनमोहनीय कर्म उदयरूप नहीं है।

प्रश्न—क्या सम्यक्‌मतिज्ञान यह जान सकता है कि अमुक जीव भव्य है या अभव्य ?

उत्तर—इस सँवंधमें श्री धवला शास्त्रमें (पुस्तक ६ पृष्ठ १७ में) लिखा है कि—अवग्रहसे ग्रहण किये गये अर्थ को विशेष जानने की आकांक्षा 'ईहा' है। जैसे—किसी पुरुषको देखकर 'यह भव्य है या अभव्य ?' इस प्रकार की विशेष परीक्षा करना सो 'ईहाज्ञान' है। ईहाज्ञान संदेहरूप नहीं होता, क्यों कि ईहात्मक विचारवुद्धिसे संदेहका विनाश हो जाता है। संदेहसे ऊपर और अवायसे नीचे तथा मध्यमें प्रवृत्त होनेवाली विचारवुद्धिका नाम ईहा है।

× × × ×

ईहाज्ञानसे जाने गये पदार्थ विषयक संदेहका दूर हो जाना सो 'अवाय' (निर्णय) है। पहले ईहा ज्ञानसे 'यह भव्य है या अभव्य ?' इसप्रकार संदेह रूप वुद्धिके द्वारा विषय किया गया जीव 'अभव्य नहीं भव्य ही है, क्योंकि उसमें भव्यत्वके अविनाभावी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण प्रगट हुये हैं' इस प्रकार उत्पन्न हुये 'चर्य' (निश्चय) ज्ञानका नाम 'अवाय' है।

इससे सिद्ध होता है कि सम्यक्‌मतिज्ञान यह यथार्थतया निश्चय कर सकता है कि अपने को तथा परको सम्यग्दर्शन है।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने उपयोगमें युक्त होता है तब वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं। यह दशा चौथे गुणस्थान की होती है। मति-श्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय विशेष दशावाला होता है, फिर भी श्रेणिसमान तो नहीं किंतु अपनी भूमिकाके योग्य निर्विकल्प होता है, इसलिये मति श्रुतात्मक भावमन स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष माना गया है। मति श्रुत ज्ञानके बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती उसका यही कारण है। (अवधि मन:पर्ययज्ञानके बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है)

[पचाध्यायी भाग १ श्लोक ७०८ से ७१६ तक इस सूत्रकी चर्चा की गई है। देखो—प० देवकीनन्दनजीकृत टीका पृष्ठ ३६२ से ३६८]

यहाँ मति-श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है तत्संबंधी विशेष स्पष्टीकरण

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञानको 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा गया है। लोग कहते हैं कि 'मैंने घड़ेके रूपको प्रत्यक्ष देखा है' इसलिये यह ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

श्रुतज्ञानके तीन प्रकार हो जाते हैं—(१) सपूर्ण परोक्ष, (२) आंशिक परोक्ष, (३) परोक्ष बिलकुल नहीं किन्तु प्रत्यक्ष।

(१) शब्दरूप जो श्रुतज्ञान है सो परोक्ष ही है। तथा दूरभूत स्वर्ग नरकादि बाह्य विषयोंका ज्ञान करानेवाला विकल्परूप ज्ञान भी परोक्ष ही है।

(२) आभ्यंतरमें सुख दुःखके विकल्परूप जो ज्ञान होता है वह, अथवा 'मैं अनन्त ज्ञानादिरूप हूँ' ऐसा ज्ञान ईषत् (किंचित्) परोक्ष है।

(३) निश्चयभाव श्रुतज्ञान शुद्धात्माके सन्मुख होनेसे सुख संवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है। यद्यपि वह ज्ञान निजको जानता है तथापि इन्द्रियों तथा मनसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंके समूहसे रहित होनेसे निर्विकल्प है। (अभेदनयसे) उसे 'आत्मज्ञान' शब्दसे पहचाना जाता है। यद्यपि वह केवल ज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है तथापि छद्मस्थोंके क्षायिक ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे, क्षायोपशमिक होनेपर भी उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

प्रश्न—इस सूत्रमें मति और श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है, तथापि आपने उसे ऊपर 'प्रत्यक्ष' कैसे कहा है?

उत्तर—इस सूत्रमें जो श्रुतको परोक्ष कहा है सो यह सामान्य कथन है, और ऊपर जो भावश्रुतज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है सो विशेष कथन है। प्रत्यक्ष का कथन विशेष की अपेक्षासे है, ऐसा समझना चाहिये।

यदि इस सूत्रमें उत्सर्ग कथन न होता तो मतिज्ञानको परोक्ष नहीं कहा जाता। यदि मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्क शास्त्रमें उसे सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष क्यों कहते? इसलिये जैसे विशेष कथनमें उस मतिज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है उसीप्रकार निजात्मसन्मुख भावश्रुतज्ञानको (यद्यपि वह केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है तथापि) विशेष कथनमें प्रत्यक्ष कहा है।

यदि मति और श्रुत दोनों मात्र परोक्ष ही होते तो सुख-दुःखादिका जो संवेदन (ज्ञान) होता है वह भी परोक्ष ही होता, किन्तु वह संवेदन प्रत्यक्ष है यह सभी जानते हैं। [देखो वृहत् द्रव्यसंग्रह गाथा ५ की नीचे हिन्दी टीका पृष्ठ १२ से १५, इंगलिश पृष्ठ १७-१८] उत्सर्ग = सामान्य,-General Ordinance-सामान्य नियम; अपवाद = विशेष Exception-विशेष नियम।

नोटः—ऐसा उत्सर्ग कथन ध्याता के संबंध में अध्याय ९ सूत्र २७—४७ में कहा है, वहां अपवाद का कथन नहीं किया है। [देखो -बृहत् द्रव्य संग्रह गाथा ५७, नीचे हिन्दी टीका, पृष्ठ--२११] इस प्रकार जहां उत्सर्ग कथन हो वहां अपवाद कथन गर्भित है,—ऐसा समझना चाहिये।

प्रत्यक्षप्रमाणके भेद

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अर्थः—[अन्यत्] शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

टीका

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। [प्रत्यक्ष = प्रति × अक्ष] 'अक्ष' का अर्थ आत्मा है। आत्मा के प्रति जिसका नियम हो अर्थात् जो परनिमित्त-इन्द्रिय, मन, आलोक (प्रकाश), उपदेश आदिसे रहित आत्माके आश्रयसे उत्पन्न हो, जिसमें दूसरा कोई निमित्त न हो, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है ॥ १२ ॥

मतिज्ञानके दूसरे नाम

मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिंताभिनिबोधइत्यनर्थांतरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—[मतिः] मति, [स्मृतिः] स्मृति, [संज्ञा] संज्ञा, [चिंता] चिंता [अभिनिबोध] अभिनिबोध, [इति] इत्यादि [अनर्थांतरम्] अन्य पदार्थ नहीं हैं, अर्थात् ये मतिज्ञान के नामांतर हैं।

टीका

मति—मन अथवा इन्द्रियोंसे, वर्तमानकालवर्ती पदार्थको अवग्रहादि रूप साक्षात् जानना सो मति है।

स्मृति—पहले जाने हुये, सुने हुये या अनुभव किये हुये पदार्थका वर्तमानमें स्मरण आना सो स्मृति है।

संज्ञा—का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमानमें किसी पदार्थको देखने पर 'यह वही पदार्थ है जो पहले देखा था' इसप्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़रूप ज्ञानको संज्ञा कहते हैं।

चिंता—चिंतवनज्ञान अर्थात् किसी चिह्नको देखकर 'यहाँ उस चिह्न-वाला अवश्य होना चाहिये' इसप्रकारका विचार चिन्ता है। इस ज्ञानको ऊह, ऊहा, तर्क अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।

अभिनिबोध—स्वार्थानुमान, अनुमान, उसके दूसरे नाम हैं। सन्मुख चिह्नादि देखकर उस चिह्नवाले पदार्थका निर्णय करना सो 'अभिनिबोध' है।

यद्यपि इन सबमें अर्थभेद है तथापि प्रसिद्ध रूढ़िके बलसे वे मतिके नामान्तर कहलाते हैं। उन सबके प्रगट होनेमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम निमित्त मात्र है, यह लक्षमें रखकर उसे मतिज्ञानके नामांतर कहते हैं।

यह सूत्र सिद्ध करता है कि—जिसने आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं किया हो वह आत्माका स्मरण नहीं कर सकता; क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत पदार्थ की ही होती है, इसीलिये अज्ञानीको प्रभुस्मरण (आत्मस्मरण) नहीं होता; किंतु 'राग मेरा है' ऐसी पकड़का स्मरण होता है, क्योंकि उसे उसका अनुभव है। इसप्रकार अज्ञानी जीव धर्मके नाम पर चाहे जो कार्य करे तथापि उसका ज्ञान मिथ्या होनेसे उसे धर्मका स्मरण नहीं होता; किन्तु राग की पकड़का स्मरण होता है।

स्वसंवेदन, बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा इत्यादि भी मतिज्ञानके भेद हैं।

स्वसंवेदन—सुखादि अंतरंग विषयोंका ज्ञान स्वसंवेदन है।

बुद्धि—बोधनमात्रता बुद्धि है। बुद्धि, प्रतिभा, प्रज्ञा आदि मतिज्ञानकी तारतम्यता (हीनाधिकता) सूचक ज्ञानके भेद हैं।

अनुमान दो प्रकारके हैं—एक मतिज्ञानका भेद है और दूसरा श्रुतज्ञानका। साधनके देखनेपर स्वयं साध्यका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है। दूसरे के हेतु और तर्कके वाक्य सुनकर जो अनुमान ज्ञान हो सो श्रुतानुमान है। चिह्नादिसे उसी पदार्थका अनुमान होना सो मतिज्ञान है और उसी (चिह्नादि) से दूसरे पदार्थका अनुमान होना सो श्रुतज्ञान है ॥ १३ ॥

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके समय निमित्त—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अर्थ—[इन्द्रियानिन्द्रिय] इन्द्रियाँ और मन [तत्] उस मतिज्ञान के [निमित्तम्] निमित्त हैं।

टीका

इन्द्रिय—आत्मा, (इन्द्र = आत्मा) परम ऐश्वर्यरूप प्रवर्तमान है, इसप्रकार अनुमान करानेवाला शरीरका चिह्न।

नोइन्द्रिय—मन, जो सूक्ष्म पुद्गलस्कंध मनोवर्गणाके नामसे पहचाने जाते हैं उनसे बने हुये शरीरका आंतरिक अंग, जो कि अष्टदल कमलके आकारमें हृदयस्थानके पास है।

मतिज्ञानके होनेमें इन्द्रिय-मन निमित्त होता है, ऐसा जो इस सूत्रमें कहा है, सो यह परद्रव्योंके होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षासे कहा है,—ऐसा समझना चाहिये। भीतर स्वलक्षमें मन इन्द्रिय निमित्त नहीं है। जब जीव उस (मन और इन्द्रियके अवलम्बन) से अंशतः पृथक् होता है तब स्वतंत्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

इन्द्रियोंका धर्म तो यह है कि वे स्पर्श, रस, गंध, वर्णको जाननेमें निमित्त हों, आत्मामें वह नहीं है, इसलिये स्वलक्षमें इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं। मनका धर्म यह है कि वह अनेक विकल्पोंमें निमित्त हो। वह विकल्प भी यहाँ (स्वलक्षमें) नहीं है। जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके द्वारा प्रवृत्त होता था वही ज्ञान निजानुभवमें वर्त रहा है, इसप्रकार इस मतिज्ञानमें मन इन्द्रिय निमित्त नहीं है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। मनका विषय मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थ हैं, इसलिये मन संबंधी परिणाम स्वरूपके विषयमें एकाग्र होकर अन्य चिंतवनका निरोध करता है, इसलिये उसे (उपचारसे) मनके द्वारा हुआ कहा जाता है। ऐसा अनुभव चतुर्थगुणस्थानसे ही होता है।

इस सूत्रमें बतलाया गया है कि मतिज्ञानमें इन्द्रिय-मन निमित्त हैं, यह नहीं कहा है कि—मतिज्ञानमें ज्ञेय अर्थ (वस्तु) और आलोक (प्रकाश) निमित्त हैं, क्योंकि अर्थ और आलोक मतिज्ञानमें निमित्त नहीं हैं। उन्हें निमित्त मानना भूल है। यह विषय विशेष समझने योग्य है, इसलिये इसे प्रमेयरत्नमाला हिन्दी (पृष्ठ ५० से ५५) से यहाँ संक्षेपमें दे रहे हैं—

प्रश्न—सांव्यवहारिक मतिज्ञानका निमित्त कारण इन्द्रियादिको कहा है, उसी प्रकार (ज्ञेय) पदार्थ और प्रकाशको भी निमित्त कारण क्यों नहीं कहा ?

प्रश्नकारका तर्क यह है कि अर्थ (वस्तु) से भी ज्ञान उत्पन्न होता है, और प्रकाशसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है यदि उसे निमित्त न माना जाय तो सभी निमित्त कारण नहीं आ सकते इसलिये सूत्र अपूर्ण रह जाता है।

समाधान—आचार्यदेव कहते हैं कि—

"नार्थालोकौकारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् "

(द्वितीय समुद्देश)

अर्थ—अर्थ (वस्तु) और आलोक दोनों सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कारण नहीं हैं, किंतु वे केवल परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं। जैसे अंधकार ज्ञेय है वैसे ही वे भी ज्ञेय हैं।

इसी न्यायको बतलानेके लिये तत्पश्चात् सातवां सूत्र दिया है जिस में कहा गया है कि-ऐसा कोई नियम नहीं है कि जब अर्थ और आलोक हो तब ज्ञान उत्पन्न होता ही है और जब वे न हों तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इनके लिये निम्नलिखित दृष्टान्त दिये गये हैं—

(१) एक मनुष्यके सिर पर मच्छरोंका समूह उड़ रहा था किन्तु दूसरेने उसे बालोंका गुच्छा समझा; इसप्रकार यहाँ अर्थ (वस्तु) ज्ञानका कारण नहीं हुआ।

(२) अंधकारमें बिल्ली इत्यादि रात्रिचर प्राणी वस्तुओंको देख सकते हैं, इसलिये ज्ञानके होनेमें प्रकाश कारण नहीं हुआ।

उपरोक्त दृष्टान्त (१) में मच्छरोंका समूह था फिर भी ज्ञान तो बालोंके गुच्छेका हुआ, यदि अर्थ ज्ञानका कारण होता तो बालोंके गुच्छेका ज्ञान क्यों हुआ, और मच्छरोंके समूहका ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? और दृष्टान्त (२) में बिल्ली आदिको अंधकारमें ज्ञान हो गया; यदि प्रकाश ज्ञानका कारण होता तो बिल्लीको अंधेरेमें ज्ञान कैसे हुआ ?

प्रश्न— तब यह मतिज्ञान किस कारणसे होता है ?

उत्तर—क्षायोपशमिक ज्ञानकी योग्यताके अनुसार ज्ञान होता है, ज्ञान होनेका यह कारण है। ज्ञानके उस क्षयोपशमके अनुसार यह ज्ञान होता है, वस्तुके अनुसार नहीं, इसलिये यह निश्चित समझना चाहिये कि बाह्य वस्तु ज्ञानके होनेमें निमित्त कारण नहीं है। आगे नवमें सूत्रमें इस न्याय को सिद्ध किया है।

जैसे दीपक घट इत्यादि पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होता तथापि वह अर्थ का प्रकाशक है। [सूत्र ८]

जिस ज्ञानकी क्षयोपशम लक्षण योग्यता है वही विषयके प्रति नियम रूप ज्ञान होनेका कारण है, ऐसा समझना चाहिये [सूत्र ६]

जब आत्माके मतिज्ञान होता है तब इन्द्रियाँ और मन दोनों निमित्त मात्र होते हैं, वह मात्र इतना बतलाता है कि 'आत्मा', उपादान है। निमित्त अपने में (निमित्त में) शतप्रतिशत कार्य करता है किन्तु वह उपादानमें अंश-मात्र कार्य नहीं करता। निमित्त परद्रव्य है, आत्मा उससे भिन्न द्रव्य है, इसलिये आत्मामें (उपादानमें) उसका (निमित्तका) अत्यत अभाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमें घुस नहीं सकता, इसलिये निमित्त उपादानका कुछ नहीं कर सकता। उपादान अपनेमें अपना कार्य स्वत शत प्रतिशत करता है। मतिज्ञान परोक्षज्ञान है यह ग्यारहवें सूत्रमें कहा है। वह परोक्ष ज्ञान है इसलिये उस ज्ञानके समय निमित्तकी स्वत अपने कारणसे उपस्थिति होती है। वह उपस्थित निमित्त कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिये यह सूत्र कहा है, किंतु—'निमित्त आत्मामें कुछ भी कर सकता है' यह बताने के लिये यह सूत्र नहीं कहा है। यदि निमित्त आत्मामें कुछ करता होता तो वह (निमित्त) स्वयं ही उपादान हो जाता।

और 'निमित्त' भी उपादानके कार्य समय मात्र आरोपकारण है, यदि जीव चक्षुके द्वारा ज्ञान करे तो चक्षु पर निमित्तका आरोप होता है, और यदि जीव अन्य इन्द्रिय या मनके द्वारा ज्ञान करे तो उस पर निमित्तका आरोप होता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें (पर द्रव्यमें) अकिंचित्कर है, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें कदापि प्रवेश नहीं है और न अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यकी पर्यायका उत्पादक ही है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने अंतरंगमें अत्यंत (संपूर्णतया) प्रकाशित है, परमें लेशमात्र भी नहीं है। इसलिये निमित्तभूत वस्तु उपादानभूतवस्तुका कुछ भी नहीं कर सकती। उपादानमें निमित्तकी द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे नास्ति है, और निमित्तमें उपादानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्ति है; इसलिये एक दूसरे का क्या कर सकते हैं ? यदि एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ करने लगे तो वस्तु अपने वस्तुत्वको ही खो बैठे; किन्तु ऐसा हो ही नहीं सकता।

[निमित्त=संयोगरूपकारण; उपादान=वस्तु की सहज शक्ति] दशवें सूत्रकी टीकामें निमित्त-उपादान संबंधी स्पष्टीकरण किया है वहाँसे विशेष समझ लेना चाहिये।

उपादान-निमित्त कारण

प्रत्येक कार्यमें दो कारण होते हैं (१) उपादान, (२) निमित्त। इनमेंसे उपादान तो निश्चय (वास्तविक) कारण है और निमित्त व्यवहार-आरोप-कारण है, अर्थात् वह (जब उपादान कार्य कर रहा हो तब उसमें) अनुकूल उपस्थितरूप (विद्यमान) होता है। कार्यके समय निमित्त होता है किन्तु उपादानमें वह कोई कार्य नहीं कर सकता, इसलिये उसे व्यवहार कारण कहा जाता है। जब कार्य होता है तब निमित्त की उपस्थितिके दो प्रकार होते हैं (१) वास्तविक उपस्थिति (२) काल्पनिक उपस्थिति। जब छद्मस्थ जीव विकार करता है तब द्रव्यकर्मका उदय उपस्थितरूप होता ही है, वहाँ द्रव्यकर्मका उदय उस विकारका वास्तविक उपस्थितिरूप निमित्त कारण है। [यदि जीव विकार न करे तो वही द्रव्यकर्मकी निर्जरा हुई कहलाती है।] तथा जीव जब विकार करता है तब नो कर्मकी उपस्थिति वास्तवमें होती है अथवा कल्पनारूप होती है।

निमित्त होता ही नहीं, यह कहकर यदि कोई निमित्तके अस्तित्वका इन्कार करे तब, या उपादान कार्य कर रहा हो तब निमित्त उपस्थित होता है, यह बतलाया जाता है, किन्तु यह तो निमित्तका ज्ञान करानेके लिये है। इसलिये जो निमित्तके अस्तित्वको ही स्वीकार न करें उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। यहाँ सम्यग्ज्ञानका विषय होनेसे आचार्यदेवने निमित्त कैसा होता है इसका ज्ञान कराया है। जो यह मानता है कि निमित्त उपादान का कुछ करता है उसकी यह मान्यता मिथ्या है, और इसलिये यह समझना चाहिये कि उसे सम्यग्दर्शन नहीं है ॥ १४ ॥

मतिज्ञानके क्रमके भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अर्थ—[अवग्रह ईहा अवाय धारणाः] अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा यह चार भेद हैं।

टीका

अवग्रह—चेतनामें जो थोड़ा विशेषाकार भासित होने लगता है उससे पूर्व होनेवाले ज्ञानको 'अवग्रह' कहते हैं। विषय और विषयी (विषय करनेवाले) के योग्य स्थानमें आ जानेके बाद होनेवाला आद्यग्रहण अवग्रह है। स्व और पर दोनोंका (जिस समय जो विषय हो उसका) पहिले अवग्रह होता है। (Perception)

ईहा—अवग्रहके द्वारा जाने गये पदार्थको विशेष रूपसे जाननेकी चेष्टा (–आकांक्षा) को ईहा कहते हैं। ईहाका विशेष वर्णन ग्यारहवें सूत्रके नीचे दिया गया है। (Conception)

अवाय—विशेष चिह्न देखनेसे उसका निश्चय हो जाय सो अवाय है। (Judgment)

धारणा—अवायसे निर्णीत पदार्थको कालान्तरमें न भूलना सो धारणा है। (Rettienon)

आत्माके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा

जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम है, इसलिये पहिले आत्मज्ञानी पुरुषसे आत्मस्वरूपको सुनकर युक्तिके द्वारा यह निर्णय करना चाहिये कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है, तत्पश्चात्—

परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारण—इन्द्रिय द्वारा तथा मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धिको मर्यादामें लाकर अर्थात् पर पदार्थोंकी ओरसे अपना लक्ष्य खींचकर जब आत्मा स्वयं स्वसन्मुख लक्ष करता है तब, प्रथम सामान्य स्थूलतया आत्मासंबंधी ज्ञान हुआ, वह आत्माका अर्थावग्रह हुआ। तत्पश्चात् स्व-विचारके निर्णयकी ओर उन्मुख हुआ सो ईहा, और निर्णय हुआ सो अवाय, अर्थात् ईहासे ज्ञात आत्मामें यह वही है अन्य नहीं ऐसा दृढ़ ज्ञान अवाय है। आत्मा संबंधी कालान्तरमें संशय तथा विस्मरण न हो सो धारणा है। यहाँ तक तो परोक्षभूत मतिज्ञानमें धारणा तकका अंतिमभेद हुआ। इसके बाद यह आत्मा अनंत ज्ञानानन्द शांति स्वरूप है इसप्रकार मतिमेंसे प्रलंबित तार्किक ज्ञान श्रुतज्ञान है। भीतर स्वलक्ष्यमें मन-इन्द्रिय निमित्त नहीं है। जब जीव उससे अंशतः पृथक् होता है तब स्वतंत्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

अवग्रह या ईहा हो किन्तु यदि वह लक्ष चालू न रहे तो आत्माका निर्णय नहीं होता अर्थात् अवाय ज्ञान नहीं होता, इसलिये अवायकी अत्यंत आवश्यकता है। यह ज्ञान होते समय विकल्प, राग, मन, या पर वस्तुकी ओर लक्ष नहीं होता, किन्तु स्वसंमुख लक्ष होता है।

सम्यग्दृष्टि को अपना (आत्माका) ज्ञान होते समय इन चारों प्रकार का ज्ञान होता है। धारणा तो स्मृति है, जिस आत्माको सम्यग्ज्ञान अप्रतिहत (-निर्बाध) भावसे हुआ हो उसे आत्माका ज्ञान धारणारूप बना ही रहता है ॥१५॥

अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां ॥१६॥

अर्थ—[बहु] बहु [बहुविध] बहुप्रकार [क्षिप्र] जल्दी [अनिःसृत] अनिःसृत [अनुक्त] अनुक्त [ध्रुवाणां] ध्रुव [सेतराणाम्] उनसे उल्टे भेदोंसे युक्त अर्थात् एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, और अध्रुव, इसप्रकार बारह प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह ईहादिरूप ज्ञान होता है।

टीका

(१) बहु—एकही साथ बहुतसे पदार्थोंका अथवा बहुतसे समूहोंका अवग्रहादि होना [जैसे लोगोंके झुन्डका अथवा गेहूँके ढेरका] बहुतसे पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(२) एक—अल्प अथवा एक पदार्थका ज्ञान होना [जैसे एक मनुष्य का अथवा पानीके प्यालेका] थोडे पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(३) बहुविध—कई प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादि ज्ञान होना (जैसे कुत्तेके साथका मनुष्य अथवा गेहूँ चना चावल इत्यादि अनेक प्रकारके पदार्थ) युगपत् बहुत प्रकारके पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(४) एकविध—एक प्रकार के पदार्थोंका ज्ञान होना (जैसे एक प्रकार के गेहूँका ज्ञान) एक प्रकारके पदार्थ ज्ञानगोचर होना।

(५) क्षिप्र—शीघ्रतासे पदार्थका ज्ञान होना।

(६) अक्षिप्र—किसी पदार्थको धीरे धीरे बहुत समयमें जानना अर्थात् चिरग्रहण।

(७) अनिःसृत—एक भागके ज्ञानसे सर्वभागका ज्ञान होना (जैसे पानीके बाहर निकली हुई सूंडको देखकर पानीमें डूबे हुए पूरे हाथीका ज्ञान होना) एक भागके अव्यक्त रहने पर भी ज्ञानगोचर होना।

(८) निःसृत—बाहर निकले हुए प्रगट पदार्थका ज्ञान होना, पूर्ण-व्यक्त पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(६) अनुक्त—(अकथित) जिस वस्तुका वर्णन नहीं किया उसे जानना। जिसका वर्णन नहीं सुना है फिर भी उस पदार्थका ज्ञान-गोचर होना।

(१०) उक्त—कथित पदार्थका ज्ञान होना, वर्णन सुननेके बाद पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

(११) ध्रुव—बहुत समय तक ज्ञान जैसाका तैसा बना रहना, अर्थात् दृढ़तावाला ज्ञान।

(१२) अध्रुव—प्रतिक्षण हीनादिक होनेवाला ज्ञान अर्थात् अस्थिर-ज्ञान।

यह सब भेद सम्यक् मतिज्ञानके हैं। जिसे सम्यक्‌ज्ञान हो जाता है वह जानता है कि—आत्मा वास्तवमें अपने ज्ञान की पर्यायोंको जानता है, और पर तो उस ज्ञानका निमित्तमात्र है। 'परको जाना ऐसा कहना सो व्यवहार है, यदि परमार्थ दृष्टिसे कहा जाय कि आत्मा परको जानता है' सो मिथ्या है, क्योंकि ऐसा होनेपर आत्मा और पर (ज्ञान और ज्ञेय) दोनों एक हो जायेंगे; क्योंकि 'जिसका जो होता है वह वही होता है' इसलिये वास्तव में यदि यह कहा जाय कि 'पुद्‌गल का ज्ञान' है, तो ज्ञान पुद्‌गलरूप—ज्ञेयरूप हो जायगा, इसलिये यह समझना चाहिये कि निमित्त सम्बन्धी अपने ज्ञान की पर्यायको आत्मा जानता है। (देखो श्री समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका)

प्रश्न—अनुक्त विषय श्रोत्रज्ञानका विषय कैसे संभव है?

उत्तर—श्रोत्रज्ञानमें 'अनुक्त' का अर्थ 'ईषत् (थोड़ा) अनुक्त' करना चाहिये; और 'उक्त' का अर्थ 'विस्तारसे लक्षणादिके द्वारा वर्णन किया है' ऐसा करना चाहिये, जिससे नाममात्रके सुनते ही जीवको विशद (विस्तार रूप) ज्ञान हो जाय तो उस जीवको अनुक्त ज्ञान ही हुआ है ऐसा कहना चाहिये। इसीप्रकार अन्य इन्द्रियोंके द्वारा अनुक्तका ज्ञान होता है ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न—नेत्रज्ञानमें 'उक्त' विषय कैसे संभव है?

उत्तर—किसी वस्तुको विस्तारपूर्वक सुन लिया हो और फिर वह देखनेमें आये तो उस समयका नेत्र ज्ञान 'उक्त ज्ञान' कहलाता है। इसीप्रकार श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियोंके द्वारा भी 'उक्त' का ज्ञान होता है।

प्रश्न—'अनुक्त' का ज्ञान पाँच इन्द्रियोंके द्वारा कैसे होता है?

उत्तर—श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त चार इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला ज्ञान सदा अनुक्त होता है। और श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा अनुक्तका ज्ञान कैसे होता है सो इसका स्पष्टीकरण पहिले उत्तरमें किया गया है।

प्रश्न—अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों का संयोग होता हो यह हमें दिखाई नहीं देता, इसलिये हम उस संयोगको स्वीकार नहीं कर सकते।

उत्तर—यह भी ठीक नहीं है, जैसे यदि कोई जन्मसे ही जमीन के भीतर रक्खा गया पुरुष किसी प्रकार बाहर निकले तो उसे घट पटादि समस्त पदार्थोंका आभास होता है, किन्तु उसे जो 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि विशेषज्ञान होता है वह उसे परके उपदेशसे ही होता है, वह स्वयं वैसा ज्ञान नहीं कर सकता, इसीप्रकार सूक्ष्म अवयवोंके साथ जो इन्द्रियोंका भिड़ना होता है और उससे अवग्रहादि ज्ञान होता है वह विशेषज्ञान भी वीतरागके उपदेशसे ही जाना जाता है, अपने भीतर ऐसी शक्ति नहीं है कि उसे स्वयं जान सकें, इसलिये केवलज्ञानीके उपदेशसे जब अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह इत्यादि सिद्ध हैं तब उनका अभाव कभी नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा होनेवाले इन बारह प्रकारके मतिज्ञानका स्पष्टीकरण।

१—श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा

बहु-एक—तत (तांतका शब्द) वितत (तालका शब्द) घन

(काँसेके वाद्यका शब्द) और सुषिर (वाँसुरी आदिका शब्द) इत्यादि शब्दों का एक साथ अवग्रह ज्ञान होता है। उसमें तत इत्यादि भिन्न भिन्न शब्दोंका ग्रहण अवग्रहसे नहीं होता किन्तु उसके समुदायरूप सामान्यको वह ग्रहण करता है; ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिये: यहाँ बहु पदार्थका अवग्रह हुआ।

प्रश्न—संभिन्नसंश्रोतृऋद्धि के धारी जीवको तत इत्यादि प्रत्येक शब्दका स्पष्टतया भिन्न २ रूपसे ज्ञान होता है तो उसे यह अवग्रहज्ञान होना बाधित है?

उत्तर—यह ठीक नहीं है: सामान्य मनुष्यकी भाँति उसे भी क्रमशः ही ज्ञान होता है; इसलिये उसे भी अवग्रह ज्ञान होता है।

जिस जीवके विशुद्धज्ञान मंद होता है उसे तत आदि शब्दोंमेंसे किसी एक शब्दका अवग्रह होता है। यह एक पदार्थका अवग्रह हुआ।

बहुविध-एकविध—उपरोक्त दृष्टांतमें 'तत' आदि शब्दोंमें प्रत्येक शब्द के दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात या अनंत भेदोंको जीव ग्रहण करता है तब उसे 'बहुविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धताके मंद रहने पर जीव तत आदि शब्दोंमेंसे किसी एक प्रकार के शब्दोंको ग्रहण करता है उसे 'एकविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

क्षिप्र-अक्षिप्र—विशुद्धिके बलसे कोई जीव बहुत जल्दी शब्दको ग्रहण करता है उसे 'क्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धि की मंदता होनेसे जीवको शब्दके ग्रहण करनेमें ढील होती है उसे 'अक्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

अनिःसृत-निःसृत—विशुद्धिके बलसे जीव जब विना कहे अथवा विना बताये ही शब्दको ग्रहण करता है तब उसे 'अनिःसृत' पदार्थका अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धिकी मंदताके कारण जीव मुखमें से निकले हुए शब्द को ग्रहण करता है तब 'निःसृत' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है।

शंका—मुखसे पूरे शब्दके निकलनेको 'निःसृत', कहा है, और 'उक्त' का अर्थ भी वही होता है तब फिर दो में से एक भेद कहना चाहिये, दोनों क्यों कहते हो?

समाधान—जहाँ किसी अन्यके कहनेसे शब्दका ग्रहण होता है, जैसे किसीने 'गौ' शब्दका ऐसा उच्चारण किया कि 'यहाँ यह गौ शब्द है' उस पर से जो ज्ञान होता है वह 'उक्त' ज्ञान है, और इसप्रकार अन्यके बताये बिना शब्द समुच्च हो उसका यह 'अमुक शब्द है' ऐसा ज्ञान होना सो निःसृत ज्ञान है।

अनुक्त-उक्त—जिस समय समस्त शब्दका उच्चारण न किया गया हो, किन्तु मुखमें से एक वर्णके निकलते ही विशुद्धताके बलसे अभिप्रायमात्रसे समस्त शब्दको कोई अन्यके कहे बिना ग्रहण कर ले कि 'वह यह कहना चाहता है'—उस समय उसके 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है।

जिस समय विशुद्धिकी मंदतासे समस्त शब्द कहा जाता है तब किसी दूसरेके कहनेसे जीव ग्रहण करता है उस समय 'उक्त' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है। अथवा—

तन्त्री अथवा मृदंग आदिमें कौनसा स्वर गाया जायगा उसका स्वर सचार न किया हो उससे पूर्व ही केवल उस बाजेमें गाये जाने वाले स्वरका मिलाप हो उसी समय जीवको विशुद्धिके बलसे ऐसा ज्ञान हो जाय कि 'यह यह स्वर बाजेमें बजायगा,' उसी समय 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मंदताके कारण बाजेके द्वारा वह स्वर गाया जाय उस समय जानना सो 'उक्त' पदार्थका अवग्रह है।

ध्रुव-अध्रुव—विशुद्धिके बलसे जीवने जिसप्रकार प्रथम समयमें शब्दको ग्रहण किया उसीप्रकार निश्चयरूपसे कुछ समय ग्रहण करना चालू रहे-उसमें किंचित्मात्र भी न्यूनाधिक न हो सो 'ध्रुव' पदार्थका अवग्रह है।

बारबार होनेवाले सक्लेश तथा विशुद्ध परिणाम स्वरूप कारणोंसे जीवके श्रोत्र इन्द्रियादिका कुछ आवरण और कुछ अनावरण (क्षयोपशम)

भी रहता है, इसप्रकार श्रोत्र इन्द्रियादिके आवरणकी क्षयोपशमरूप विशुद्धि की कुछ प्रकर्ष और कुछ अप्रकर्ष दशा रहती है; उस समय न्यूनाधिकता जाननेके कारण कुछ चल-विचलता, रहती है इससे उस 'अध्रुव' पदार्थका अवग्रह कहलाता है तथा कभी तत इत्यादि बहुतसे शब्दोंका ग्रहण करना; कभी थोड़ेका कभी बहुतका, कभी बहुत प्रकारके शब्दोंका ग्रहण करना; कभी एक प्रकारका, कभी जल्दी, कभी देरसे, कभी अनिःसृत शब्दका ग्रहण करना, कभी निःसृतका, कभी अनुक्त शब्दका और कभी उक्तका ग्रहण करना—इस प्रकार जो चल-विचलतासे शब्दका ग्रहण करना सो सब 'अध्रुवावग्रह', का विषय है।

शंका-समाधान

शंका—'बहु' शब्दोंके अवग्रहमें तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है और 'बहुविध' शब्दोंके अवग्रहमें भी तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है; तो उनमें क्या अन्तर है?

समाधान—जैसे वाचालता रहित कोई विद्वान् बहुतसे शास्त्रोंके विशेष २ अर्थ नहीं करता और एक सामान्य (संक्षेप) अर्थका ही प्रतिपादन करता है; अन्य विद्वान् बहुतसे शास्त्रोंमें पाये जाने वाले एक दूसरेमें अंतर बताने वाले कई प्रकारके अर्थोंका प्रतिपादन करता है; उसीप्रकार बहु और बहुविध दोनों प्रकारके अवग्रहमें सामान्यरूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है; तथापि जिस अवग्रहमें तत आदि शब्दोंके एक, दो, चार, संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रकारके भेदोंका ग्रहण है अर्थात् अनेक प्रकारके भेद-प्रभेद युक्त तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह बहुविध बहु प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करने वाला अवग्रह कहलाता है; और जिस अवग्रहमें भेद प्रभेद रहित सामान्यरूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह बहु शब्दोंका अवग्रह कहलाता है।

२—चक्षु इन्द्रिय द्वारा

बहु-एक—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे सफेद काले हरे आदि रंगोंको ग्रहण करता है उस समय उसे 'बहु' पदार्थका अवग्रह होता है; और

मन्दताके कारण जीव एक वर्णको ग्रहण करता है तब उसे 'एक' पदार्थ का अवग्रह होता है।

बहुविध-एकविध—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे शुक्ल कृष्णादि प्रत्येक वर्णके दो, तीन, चार सख्यात, असख्यात, और अनत भेद प्रभेदोंको ग्रहण करता है उस समय उसे 'बहुविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

जिस समय मन्दताके कारण जीव शुक्ल कृष्णादि वर्णोंमें से एकप्रकार के वर्णको ग्रहण करता है उस समय उसे 'एकविध' पदार्थ का अवग्रह होता है।

क्षिप्र–अक्षिप्र—जिस समय जीव तीव्र क्षयोपशम (विशुद्धि) के बल से शुक्लादि वर्णको जल्दी ग्रहण करता है उस समय उसे क्षिप्र पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मन्दताके कारण जिस समय जीव देरसे पदार्थको ग्रहण करता है उस समय उसके 'अक्षिप्र' पदार्थका अवग्रह होता है।

अनिःसृत–निःसृत—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे किसी पचरगी वस्त्र या चित्रादिके एक बार किसी भागमें से पॉच रगोंको देखता है उस समय यद्यपि शेष भागकी पचरगीनता उसे दिखाई नहीं दी है तथा उस समय उसके समक्ष पूरा वस्त्र बिना खुला हुआ (घडी किया हुआ) ही रखा है तथापि वह उस वस्त्रके सभी भागोंकी पचरगीनताको ग्रहण करता है, यह 'अनिःसृत' पदार्थका अवग्रह है।

जिस समय विशुद्धिकी मन्दताके कारण जीवके समुख बाहर निकाल कर रखे गये पचरगी वस्त्रके पाचों रगोंको जीव ग्रहण करता है उस समय उसे 'निःसृत' पदार्थ का अवग्रह होता है।

अनुक्त-उक्त—सफेद-काले अथवा सफेद पीले आदि रगोंकी मिलावट करते हुए किसी पुरुषको देखकर (वह इसप्रकारके रगोंको मिलाकर अमुक प्रकारका रग तैयार करेगा) इसप्रकार विशुद्धिके बलसे बिना कहे ही जान लेना है, उस समय उसे 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है। अथवा—

दूसरे देशमें बने हुए किसी पचरंगी पदार्थको कहते समय, कहनेवाला पुरुष कहनेका प्रयत्न ही कर रहा है कि उसके कहनेसे पूर्व ही विशुद्धिके बलसे जीव जिस समय उस वस्तुके पाँच रंगोंको जान लेता है उस समय उसके भी 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मंदताके कारण पचरंगी पदार्थको कहनेपर जिससमय जीव पाँच रंगोंको जान लेता है उससमय उसके 'उक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

ध्रुव-अध्रुव—संक्लेश परिणाम रहित और यथायोग्य विशुद्धता सहित जीव जैसे सबसे पहिले रंगको जिस जिस प्रकारसे ग्रहण करता है उसीप्रकार निश्चलरूपसे कुछ समय वैसे ही उसके रंगको ग्रहण करना बना रहता है; कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता; उस समय उसके 'ध्रुव' पदार्थका अवग्रह होता है।

बारंबार होनेवाले संक्लेश परिणाम और विशुद्ध परिणामोंके कारण जीवके जिस समय कुछ आवरण रहता है और कुछ विकास भी रहता है तथा वह विकास कुछ उत्कृष्ट और कुछ अनुत्कृष्ट ऐसी दो दशाओंमें रहता है तब, जिस समय कुछ हीनता और कुछ अधिकताके कारण चल-विचलता रहती है उस समय उसके अध्रुव अवग्रह होता है। अथवा—

कृष्णादि बहुतसे रंगोंका जानना अथवा एक रंगको जानना, बहुविध रंगोंको जानना, या एकविध रंगको जानना, जल्दी रंगोंको जानना, या ढील से जानना, अनिःसृतरंगको जानना या निःसृतरंगको जानना, अनुक्तरूपको जानना या उक्तरूपको जानना; इसप्रकार जो चल-विचलरूप जीव जानता है सो अध्रुव अवग्रहका विषय है।

विशेष-समाधान—आगममें कहा है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन यह छह प्रकारका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। लब्धिका अर्थ है क्षायोपशमिकरूप (विकासरूप) शक्ति और 'अक्षर' का अर्थ है अविनाशी। जिस क्षायोपशमिक शक्तिका कभी नाश न हो उसे लब्ध्यक्षर कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंका भी अवग्रहादि ज्ञान

होता है। लब्ध्यक्षर ज्ञान श्रुतज्ञानका अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। जब इस ज्ञानको माना जाता है तब अनि सृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादि माननेमें कोई दोष नहीं है।

३-४-५ घ्राणेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय,-और स्पर्शनेन्द्रिय

घ्राण रसना और स्पर्शन इन तीन इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त बारह प्रकारके अवग्रहके भेद श्रोत्र और चक्षु इन्द्रियकी भाँति समझ लेना चाहिये।

ईहा अवाय-और धारणा

चालू सूत्रका शीर्षक 'अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ है, उसमें अवग्रहादिके कहने पर, जैसे बारह भेद अवग्रहके कहे हैं उसीप्रकार ईहा अवाय और धारणा ज्ञानोंका भी विषय मानना चाहिये।

शंका-समाधान—

शंका — जो इन्द्रियाँ पदार्थको स्पर्श करके ज्ञान कराती हैं वे पदार्थों के जितने भागों (अवयवों) के साथ संबंध होता है उतने ही भागोंका ज्ञान करा सकती हैं, अधिक अवयवोंका नहीं। श्रोत्र, घ्राण, स्पर्शन और रसना,- यह चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, इसलिये वे जितने अवयवोंके साथ संबद्ध होती हैं उतने ही अवयवों का ज्ञान करा सकती हैं, अधिकका नहीं, तथापि अनि सृत और अनुक्तमें ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहाँ पदार्थोंका एक भाग देख लेने या सुन लेनेसे समस्त पदार्थका ज्ञान माना जाता है, इसलिये श्रोत्रादि चार इन्द्रियोंसे जो अनि सृत और अनुक्त पदार्थोंका अवग्रह ईहादि माना गया है वह व्यर्थ है।

समाधान — यह शंका ठीक नहीं है। जैसे चींटी आदि जीवोंकी नाक तथा जिह्वाके साथ गुड़ आदि द्रव्योंका संबंध नहीं होता फिर भी उसकी गंध और रसका ज्ञान उन्हें हो जाता है, क्योंकि वहाँ अत्यन्त सूक्ष्म (जिसे हम नहीं देख सकते) गुड़ आदिके अवयवोंके साथ चींटी आदि जीवोंकी नाक तथा जिह्वा आदि इन्द्रियोंका एक दूसरेके साथ स्वाभाविक संयोग सम्बन्ध रहता है, उस संबंधमें किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये

सूक्ष्म अवयवोंके साथ संबंध रहनेसे वह प्राप्त होकर ही पदार्थको ग्रहण करते हैं। इसीप्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह इत्यादिमें भी अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोंके साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका अपनी उत्पत्तिमें परपदार्थोंकी अपेक्षा न रखनेवाला स्वाभाविक संयोग संबंध है, इसलिये अनिःसृत और अनुक्तस्थलोंपर भी प्राप्त होकर इन्द्रियाँ पदार्थोंका ज्ञान कराती हैं; अप्राप्त होकर नहीं।

इस सूत्रके अनुसार मतिज्ञानके भेदोंकी संख्या निम्न प्रकार है—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, = ४
पाँच इन्द्रिय और मन = ६

उपरोक्त छह प्रकारके द्वारा चार प्रकारसे ज्ञान (४ × ६) = २४ तथा विषयोंकी अपेक्षासे वहु वहुविध आदि वारह = (२४ × १२) = २८८ भेद हैं ॥ १६ ॥

उपरोक्त अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ भेद किसके हैं?

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ—उपरोक्त वारह अथवा २८८ भेद [अर्थस्य] पदार्थ के (द्रव्यके·वस्तुके) हैं।

टीका

यह भेद व्यक्त पदार्थके कहे हैं; अव्यक्त पदार्थके लिये अठारहवां सूत्र कहा है।

यदि कोई कहें कि—'रूपादि गुण ही इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं; इसलिये रूपादि गुणोंका ही अवग्रह होता है, न कि द्रव्योंका'। तो यह कहना ठीक नहीं है;—यह यहाँ वताया गया है। 'इन्द्रियोंके द्वारा रूपादि जाने जाते हैं' यह कहने मात्रका व्यवहार है; रूपादि गुण द्रव्यसे अभिन्न हैं इसलिये ऐसा व्यवहार होता है कि 'मैंने रूपको देखा या मैंने गंध

को सूघा'; किन्तु गुण पर्याय द्रव्यसे भिन्न नहीं है इसलिये पदार्थ का ज्ञान होता है। इन्द्रियोंका सम्बन्ध पदार्थके साथ होता है। मात्र गुण पर्यायोंके साथ नहीं होता ॥ १७ ॥



अवग्रह ज्ञानमें विशेषता

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ—[व्यंजनस्य] अप्रगटरूप शब्दादि पदार्थोंका [अवग्रहः] मात्र अवग्रह ज्ञान होता है—ईहादि तीन ज्ञान नहीं होते।

टीका

अवग्रहके दो भेद हैं—(१) व्यंजनावग्रह (२) अर्थावग्रह।

व्यंजनावग्रह—अव्यक्त-अप्रगट पदार्थके अवग्रहको व्यंजनावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह—व्यक्त-प्रगट पदार्थके अवग्रहको अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहके दृष्टान्त

(१) पुस्तकका शरीरकी चमड़ीसे स्पर्श हुआ तब (उस वस्तुका ज्ञान प्रारम्भ होने पर भी) कुछ समय तक वह ज्ञान अपनेको प्रगट रूप नहीं होता, इसलिये जीवको उस पुस्तकका ज्ञान अव्यक्त-अप्रगट होनेसे उस ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहा जाता है।

(२) पुस्तक पर दृष्टि पड़ने पर पहिले जो ज्ञान प्रगटरूप होता है वह व्यक्त अथवा प्रगट पदार्थका अवग्रह (अर्थावग्रह) कहलाता है।

व्यंजनावग्रह चक्षु और मनके अतिरिक्त चार इन्द्रियोंके द्वारा होता है, व्यंजनावग्रहके बाद मात्र प्रगटरूप होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। चक्षु और मनके द्वारा अर्थावग्रह ही होता है।

'अव्यक्त' का अर्थ

जैसे मिट्टीके कोरे घड़ेको पानीके छींटे डालकर भिगोना प्रारंभ किया जाय तो थोड़े छींटे पड़ने पर भी वे ऐसे सूख जाते हैं कि देखनेवाला उस स्थानको भीगा हुआ नहीं कह सकता, तथापि युक्तिसे तो वह 'भीगा हुआ ही है,' यह बात मानना ही होगी, इसीप्रकार कान, नाक, जीभ, और त्वचा यह चार इन्द्रियाँ अपने विषयोंके साथ भिड़ती हैं तभी ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये पहिले ही, कुछ समय तक विषयका मंद संबंध रहनेसे ज्ञान (होनेका प्रारंभ हो जाने पर भी) प्रगट मालुम नहीं होता, तथापि विषयका संबंध प्रारंभ होगया है इसलिये ज्ञानका होना भी प्रारंभ हो गया है—यह बात युक्तिसे अवश्य मानना पड़ती है। उसे (उस प्रारंभ हुए ज्ञानको) अव्यक्तज्ञान अथवा व्यंजनावग्रह कहते हैं।

जब व्यंजनावग्रहमें विषयका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं जाना जाता तब फिर विशेषताकी शंका तथा समाधानरूप ईहादि ज्ञान तो कहांसे हो सकता है? इसलिये अव्यक्तका अवग्रहमात्र ही होता है। ईहादि नहीं होते।

'व्यक्त' का अर्थ

मन तथा चक्षुके द्वारा होनेवाला ज्ञान विषयके साथ संबद्ध (स्पर्शित) होकर नहीं होता किन्तु दूर रहनेसे ही होता है, इसलिये मन और चक्षुके द्वारा जो ज्ञान होता है वह 'व्यक्त' कहलाता है। चक्षु तथा मनके द्वारा होनेवाला ज्ञान अव्यक्त कदापि नहीं होता, इसलिये उसके द्वारा अर्थावग्रह ही होता है।

अव्यक्त और व्यक्त ज्ञान

उपरोक्त अव्यक्त ज्ञानका नाम व्यंजनावग्रह है। जबसे विषयकी व्यक्तता भासित होने लगती है तभीसे उस ज्ञानको व्यक्तज्ञान कहते हैं, उसका नाम अर्थावग्रह है। यह अर्थावग्रह (अर्थ सहित अवग्रह) सभी इन्द्रियों तथा मनके द्वारा होता है)

ईहा

अर्थावग्रहके बाद ईहा होता है। अर्थावग्रह ज्ञानमें किसी पदार्थकी जितनी विशेषता भासित हो चुकी है उससे अधिक जाननेकी इच्छा हो तो वह ज्ञान सत्यकी ओर अधिक झुकता है, उसे ईहाज्ञान कहा जाता है, वह (ईहा) सुदृढ़ नहीं होता। ईहामें प्राप्त हुए सत्य विषयका यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं होता तथापि ज्ञानका अधिकांश वहाँ होता है। वह (ज्ञानके अधिकांश) विषयके सत्यार्थग्राही ही होते हैं, इसलिये ईहाको सत्य ज्ञानोंमें गिना गया है।

अवाय

अवायका अर्थ निश्चय अथवा निर्णय होता है, ईहाके बादके काल तक ईहाके विषय पर लक्ष रहे तो ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है, और उसे अवाय कहते हैं। ज्ञानके अवग्रह, ईहा, और अवाय इन तीनों भेदोंमें से अवाय उत्कृष्ट अथवा सर्वाधिक विशेषज्ञान है।

धारणा

धारणा अवायके बाद होती है। किन्तु उसमें कुछ अधिक दृढ़ता उत्पन्न होनेके अतिरिक्त अन्य विशेषता नहीं है, धारणाकी सुदृढ़ताके कारण एक ऐसा संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके हो जानेसे पूर्वके अनुभवका स्मरण हो सकता है।

एकके बाद दूसरा ज्ञान होता ही है या नहीं ?

अवग्रह होने के बाद ईहा हो या न भी हो, और यदि अवग्रहके बाद ईहा हो तो एक ईहा ही होकर छूट जाता है और कभी कभी अवाय भी होता है। अवाय होनेके बाद धारणा होती है और नहीं भी होती।

ईहाज्ञान सत्य है या मिथ्या ?

जिस ज्ञानमें दो विषय ऐसे आ जाँय जिनमें एक सत्य हो और दूसरा मिथ्या, तो (ऐसे समय) जिस अंश पर ज्ञान करनेका अधिक ध्यान हो तदनुसार उस ज्ञानको सत्य या मिथ्या मान लेना चाहिये। जैसे—एक

चन्द्रमाके देखने पर यदि दो चन्द्रमाका ज्ञान हो और वहाँ यदि देखनेवालेका लक्ष केवल चन्द्रमाको समझ लेनेकी ओर हो तो उस ज्ञानको सत्य मानना चाहिये, और यदि देखनेवालेका लक्ष एक या दो ऐसी संख्या निश्चित् करने की ओर हो तो उस ज्ञानको असत्य (मिथ्या) मानना चाहिये।

इस नियमके अनुसार ईहामें ज्ञानका अधिकांश विषयका सत्यंशग्राही ही होता है, इसलिये ईहाको सत्यज्ञान में माना गया है।

'धारणा' और 'संस्कार' संबंधी स्पष्टीकरण

शंका—धारणा किसी उपयोग ज्ञानका नाम है या संस्कारका?

शंकाकारका तर्क—यदि उपयोगरूप ज्ञानका नाम धारणा हो तो वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य कारणरूप पदार्थोंमें परस्पर कालका अंतर नहीं रह सकता। धारणा कब होती है और स्मरण कब, इसमें कालका बहुत बड़ा अंतर पड़ता है। यदि उसे (धारणाको) संस्काररूप मानकर स्मरणके समयतक विद्यमान मानने की कल्पना करें तो वह प्रत्यक्षका भेद नहीं होता; क्योंकि संस्काररूप ज्ञान भी स्मरणकी अपेक्षासे मलिन है; स्मरण उपयोगरूप होनेसे अपने समयमें दूसरा उपयोग नहीं होने देता और स्वयं कोई विशेषज्ञान उत्पन्न करता है, किन्तु धारणाके संस्काररूप होने से उसके रहने पर भी अन्यान्य अनेक ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, और स्वयं वह धारणा तो अर्थका ज्ञान ही नहीं करा सकती।

[यह शंकाकारका तर्क है उसका समाधान करते हैं]

समाधान—'धारणा' उपयोगरूप ज्ञानका भी नाम है और संस्कारका भी नाम है। धारणाको प्रत्यक्ष ज्ञानमें माना है और उसकी उत्पत्ति भी अवायके बाद ही होती है; उसका स्वरूप भी अवायकी अपेक्षा अधिक दृढ़रूप है; इसलिये उसे उपयोगरूप ज्ञानमें गर्भित करना चाहिए।

वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करती है और कार्यके पूर्वक्षणमें कारण रहना ही चाहिये इसलिये उसे संस्काररूप भी कह सकते हैं। तात्पर्य

यह है कि जो स्मरणके समयतक रहता है उसे किसी किसी जगह धारणा से पृथक् गिनाया है और किसी २ जगह धारणाके नामसे कहा है। धारणा तथा उस संस्कारमें कारण कार्य संबंध है। इसलिये जहाँ भेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न गिने जाते हैं और जहाँ अभेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न न गिनकर केवल धारणाको ही स्मरणका कारण कहा है।

चार भेदोंकी विशेषता

इसप्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह चार मतिज्ञानके भेद हैं, उसका स्वरूप उत्तरोत्तर तरतम-अधिक अधिक शुद्ध होता है और उसे पूर्व २ ज्ञानका कार्य समझना चाहिये। एक विषयकी उत्तरोत्तर विशेषता उसके द्वारा जानी जाती है, इसलिये उन चारों ज्ञानोंको एक ही ज्ञानके विशेष प्रकार भी कह सकते हैं। मति स्मृति आदिकी भांति उसमें कालका असंबंध नहीं है तथा बुद्धि मेधादि की भांति विषयका असंबंध भी नहीं है ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थ—व्यंजनावग्रह [चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम्] नेत्र और मनसे [न] नहीं होता।

टीका

मतिज्ञानके २८८ भेद सोलहवें सूत्रमें कहे गये हैं, और व्यंजनावग्रह चार इन्द्रियोंके द्वारा होता है, इसलिये उसके बहु बहुविध आदि बारह भेद होने पर अड़तालीस भेद हो जाते हैं इसप्रकार मतिज्ञानके ३३६ प्रभेद होते हैं ॥ १९ ॥

श्रुतज्ञानका वर्णन, उत्पत्तिका क्रम तथा उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

अर्थ—[श्रुतम्] श्रुतज्ञान [मतिपूर्वं] मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञानके बाद होता है, वह श्रुतज्ञान [द्व्यनेकद्वादशभेदम्] दो, अनेक और बारह भेदवाला है।

टीका

(१) सम्यग्ज्ञानका विषय चल रहा है, [देखो सूत्र ९] इसलिये यह सम्यक् श्रुतज्ञानसे संबंध रखनेवाला सूत्र है,—ऐसा समझना चाहिये। मिथ्या श्रुतज्ञानके संबंधमें २१ वाँ सूत्र कहा है।

(२) श्रुतज्ञान—मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थसे, उससे भिन्न पदार्थ ग्रहण करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे—

१–सद्गुरुका उपदेश सुनकर आत्माका यथार्थ ज्ञान होना। इसमें उपदेश सुनना मतिज्ञान है; और फिर विचार करके आत्माका भान प्रगट करना श्रुतज्ञान है।

२–शब्दसे घटादि पदार्थोंको जानना। इसमें घट शब्दका सुनना मतिज्ञान है, और उससे घट पदार्थका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है।

३–धुवेंसे अग्निका ग्रहण करना। इसमें धुवेंको आँखसे देखकर जो ज्ञान हुआ सो मतिज्ञान है; और धुवेंसे अग्निका अनुमान करना सो श्रुतज्ञान है।

४–एक मनुष्यने 'जहाज' शब्द सुना सो यह मतिज्ञान है। पहिले जहाजके गुण सुने अथवा पढ़े थे; तत्संबंधी ('जहाज' शब्द सुन कर) जो विचार करता है सो श्रुतज्ञान है।

(३) मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए विषयका अवलंबन लेकर जो उत्तर तर्कणा (दूसरे विषयके संबंधमें विचार) जीव करता है सो श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—(१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक। "आत्मा"

शब्दको सुनकर आत्माके गुणोंको हृदयमें प्रगट करना सो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षर और पदार्थमें वाचक-वाच्य संबंध है। 'वाचक' शब्द है उसका ज्ञान मतिज्ञान है, और उसके निमित्तसे 'वाच्य' का ज्ञान होना सो श्रुतज्ञान है। परमार्थसे ज्ञान कोई अक्षर नहीं है, अक्षर तो जड़ हैं, वह पुद्गलस्कंधकी पर्याय है, वह निमित्त मात्र है। 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' कहने पर कार्यमें कारणका (निमित्तका) मात्र उपचार किया गया समझना चाहिए।

(४) श्रुतज्ञान ज्ञानगुणकी पर्याय है, उसके होनेमें मतिज्ञान निमित्त मात्र है। श्रुतज्ञानसे पूर्व ज्ञानगुणकी मतिज्ञानरूप पर्याय होती है, और उस पर्यायका व्यय होने पर श्रुतज्ञान प्रगट होता है, इसलिये मतिज्ञानका व्यय श्रुतज्ञानका निमित्त है, वह 'अभावरूप निमित्त' है, अर्थात् मतिज्ञानका जो व्यय होता है वह श्रुतज्ञानको उत्पन्न नहीं करता, किंतु श्रुतज्ञान तो अपने उपादान कारणसे उत्पन्न होता है। (मतिज्ञानसे श्रुतज्ञान अधिक विशुद्ध होता है)

(५) प्रश्न—जगतमें कारणके समान ही कार्य होता है, इसलिये मतिज्ञानके समान ही श्रुतज्ञान होना चाहिये ?

उत्तर—उपादान कारणके समान कार्य होता है, निमित्त कारणके समान नहीं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें दंड, चक्र, कुम्हार, आकाश, इत्यादि निमित्त कारण होते हैं, किंतु उत्पन्न हुआ घट उन दंड चक्र कुम्हार आकाश आदिके समान नहीं होता; किंतु वह भिन्न स्वरूप ही (मिट्टीके स्वरूप ही) होता है। इसीप्रकार श्रुतज्ञानके उत्पन्न होनेमें मति नाम (केवल नाम) मात्र बाह्य कारण है, और उसका स्वरूप श्रुतज्ञान से भिन्न है।

(६) एकबार श्रुतज्ञानके होने पर फिर जब विचार प्रलंबित होता है। तब दूसरा श्रुतज्ञान मतिज्ञानके बीचमें आये बिना भी उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न—ऐसे श्रुतज्ञानमें 'मतिपूर्व' इस सूत्रमें दी गई व्याख्या कैसे लागू होती है ?

उत्तर—उसमें पहिला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक हुआ था इसलिये दूसरा श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक है ऐसा उपचार किया जा सकता है। सूत्रमें 'पूर्व' पहिले 'साक्षात्' शब्दका प्रयोग नहीं किया है, इसलिये यह समझना चाहिये कि श्रुतज्ञान साक्षात् मतिपूर्वक और परंपरामतिपूर्वक-ऐसे दो प्रकारसे होता है।

(७) भावश्रुत और द्रव्यश्रुत—

श्रुतज्ञानमें तारतम्यकी अपेक्षासे भेद होता है; और उसके निमित्त में भी भेद होता है। भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इन दोनोंमें दो अनेक और बारह भेद होते हैं। भावश्रुतको भावागम भी कह सकते हैं; और उसमें द्रव्यागम निमित्त होता है। द्रव्यागम (श्रुत) के दो भेद हैं; (१) अंग प्रविष्ट और (२) अंगबाह्य। अंग प्रविष्टके बारह भेद हैं।

(८) अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—पर्यायज्ञान और पर्यायसमास। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके उत्पन्न होते समय जो पहिले समयमें सर्व जघन्य श्रुतज्ञान होता है सो पर्याय ज्ञान है। दूसरा भेद पर्यायसमास है । सर्व-जघन्यज्ञानसे अधिक ज्ञानको पर्यायसमास कहते हैं। [उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं] निगोदिया जीवके सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता; किन्तु मिथ्याश्रुत होता है; इसलिये यह दो भेद सामान्य श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे कहे हैं ऐसा समझना चाहिये।

(९) यदि सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद न करके;-सामान्य मति-श्रुतज्ञानका विचार करें तो प्रत्येक छद्मस्थ जीवके मति और श्रुतज्ञान होता है। स्पर्शके द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है; और उसके संबंधसे ऐसा ज्ञान होना कि 'यह हितकारी नहीं है या है' सो श्रुत-ज्ञान है, वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। एकेन्द्रियादि असैनी जीवोंके अनक्षरा-त्मक श्रुतज्ञान ही होता है। सैनीपंचेन्द्रिय जीवोंके दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान होता है।

(१०) प्रमाणके दो प्रकार—

प्रमाण दो प्रकारका है—(१) स्वार्थप्रमाण, (२) परार्थप्रमाण। स्वार्थप्रमाण ज्ञानस्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। श्रुतके अतिरिक्त चार ज्ञान स्वार्थप्रमाण हैं। श्रुतप्रमाण स्वार्थ परार्थ-दोनों रूप है, इसलिये वह ज्ञानरूप और वचनरूप है। श्रुत उपादान है और वचन उसका निमित्त है। [विकल्पका समावेश वचनमें हो जाता है।] श्रुतप्रमाणका अंश 'नय' है।

[देखो पचाध्यायी भाग १ पृष्ठ ३४४ पं० देवकीनन्दनजी कृत और जैन सिद्धान्त दर्पण पृष्ठ २२, राजवार्तिक पृष्ठ १५३, सर्वार्थसिद्धि अध्याय एक सूत्र ६ पृष्ठ ५६]

(११) 'श्रुत' का अर्थ—

श्रुतका अर्थ होता है 'सुना हुआ विषय' अथवा 'शब्द'। यद्यपि श्रुतज्ञान मतिज्ञानके बाद होता है तथापि उसमें वर्णनीय तथा शिक्षा योग्य सभी विषय आते हैं, और वह सुनकर जाना जा सकता है, इसप्रकार श्रुतज्ञानमें श्रुतका (शब्दका) संबंध मुख्यतासे है, इसलिये श्रुतज्ञानको शास्त्रज्ञान (भावशास्त्रज्ञान) भी कहा जाता है। (शब्दोंको सुनकर जो श्रुतज्ञान होता है उसके अतिरिक्त अन्य प्रकारका भी श्रुतज्ञान होता है।) सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेसे पात्र जीवोंको आत्माका यथार्थ ज्ञान हो सकता है, इस अपेक्षासे उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

(१२) रूढ़िके बलसे भी मतिपूर्वक होनेवाले इस विशेष ज्ञानको 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है।

(१३) श्रुतज्ञानको वितर्क—भी कहते हैं। [अध्याय ९ सूत्र ३६]

(१४) अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग (६) ज्ञातृधर्मकथांग (७) उपासकाध्ययनांग (८) अंतःकृतदशांग (९) अनुत्तरौपपादिकांग (१०) प्रश्नव्याकरणांग (११) विपाकसूत्रांग और (१२) दृष्टिप्रवादांग—

अंगबाह्य श्रुतमें—चौदह प्रकीर्णक होते हैं। इन बारह अंग और चौदह पूर्वकी रचना, जिस दिन तीर्थंकर भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है तब भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत गणधर भगवान एक ही मुहूर्तमें क्रमसे करते हैं।

(१५) यह सब शास्त्र निमित्तमात्र हैं, भावश्रुतज्ञानमें उसका अनुसरण करके तारतम्य होता है,–ऐसा समझना चाहिये।

(१६) मति और श्रुतज्ञानके बीचका भेद–

प्रश्न—जैसे मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है, तब फिर दोनोंमें अंतर क्या है?

शंकाकारके कारण—इन्द्रिय और मनसे मतिज्ञानकी उत्पत्ति होती यह प्रसिद्ध है, और श्रुतज्ञान वक्ताके कथन और श्रोताके श्रवणसे उत्पन्न होता है, इसलिये वक्ताकी जीभ और श्रोताके कान तथा मन श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं; इसप्रकार मति–श्रुत दोनोंके उत्पादक कारण इन्द्रिय और मन हुए, इसलिये उन दोनोंको एक मानना चाहिए।

उत्तर–मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको एक मानना ठीक नहीं है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होते हैं यह हेतु असिद्ध है; क्योंकि जीभ और कानको श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मानना भूल है। जीभ तो शब्दका उच्चारण करनेमें कारण है, श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें नहीं। कान भी जीवके होनेवाले मतिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं, श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें नहीं, इसलिये श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें दो इन्द्रियोंको कारण बताना, और मति तथा श्रुतज्ञान दोनोंको इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न कहकर दोनोंकी एकता मानना मिथ्या है। वे दो इन्द्रियां श्रुतज्ञानमें निमित्त नहीं हैं, इसप्रकार मति और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिके कारणमें भेद है। मतिज्ञान इन्द्रियों और मनके कारण उत्पन्न होता है, और जिस पदार्थका इन्द्रियों तथा मनके द्वारा मतिज्ञानसे निर्णय हो जाता है उस पदार्थका मनके द्वारा जिस विशेषतासे ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है, इसलिये दोनों ज्ञान एक नहीं किन्तु भिन्न २ हैं।

विशेष स्पष्टीकरण—

१—इन्द्रिय और मनके द्वारा यह निश्चय किया कि यह 'घट' है सो यह मतिज्ञान है, तत्पश्चात्–उस घड़ेसे भिन्न, अनेक स्थलों और अनेक कालमें रहनेवाले अथवा विभिन्न रगोंके समान जातीय दूसरे घड़ोंका ज्ञान करना श्रुतज्ञान है। एक पदार्थको जाननेके बाद समान जातीय दूसरे प्रकार को जानना सो श्रुतज्ञानका विषय है। अथवा—

२—इन्द्रिय और मनके द्वारा जो घटका निश्चय किया, तत्पश्चात् उसके भेदोंका ज्ञान करना सो श्रुतज्ञान है, जैसे—अमुक घड़ा, अमुक रंगका है, अथवा घड़ा मिट्टीका है, तांबेका है, पीतलका है; इसप्रकार इन्द्रिय और मनके द्वारा निश्चय करके उसके भेद प्रभेदको जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। उसी (मतिज्ञानके द्वारा जाने गये) पदार्थके भेद प्रभेदका ज्ञान भी श्रुतज्ञान है। अथवा—

३—'यह जीव है' या 'यह अजीव है' ऐसा निश्चय करनेके बाद जिस ज्ञानसे सत्–सख्यादि द्वारा उसका स्वरूप जाना जाता है वह श्रुतज्ञान है; क्योंकि उस विशेष स्वरूपका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता, इसलिये वह मतिज्ञानका विषय नहीं किन्तु श्रुतज्ञानका विषय है। जीव अजीवको जाननेके बाद उसके सत्सख्यादि विशेषोंका ज्ञानमात्र मनके निमित्तसे होता है। मतिज्ञानमें एक पदार्थके अतिरिक्त दूसरे पदार्थका या उसी पदार्थके विशेषोंका ज्ञान नहीं होता, इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भिन्न भिन्न हैं। अवग्रहके बाद ईहाज्ञानमें उसी पदार्थका विशेष ज्ञान है और ईहाके बाद अवायमें उसी पदार्थका विशेष ज्ञान है, किन्तु उसमें (ईहा या अवाय, में) उसी पदार्थके भेद प्रभेदका ज्ञान नहीं है, इसलिये वह मतिज्ञान है–श्रुतज्ञान नहीं। (अवग्रह ईहा और अवाय, मतिज्ञानके भेद हैं।)

सूत्र ११ से २० तकका सिद्धांत

जीवको सम्यग्दर्शन होते ही सम्यक्‌मति और सम्यक् श्रुतज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य, ऐसा समझना चाहिये। यह

जो सम्यक्मति और श्रुतज्ञानके भेद दिये गये हैं वे ज्ञान विशेष निर्मलता होने के लिये दिये गये हैं; उन भेदोंमें अटक कर रागमें लगे रहने के लिये नहीं दिये गये हैं; इसलिये उन भेदोंका स्वरूप जानकर जीवको अपने त्रैकालिक अखंड अभेद चैतन्य स्वभावकी ओर उन्मुख होकर निर्विकल्प होनेकी आवश्यकता है ॥ २० ॥

अवधिज्ञान का वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

अर्थ—[भवप्रत्ययः] भवप्रत्यय नामक [अवधिः] अवधिज्ञान [देवनारकाणाम्] देव और नारकियोंके होता है।

टीका

(१) अवधिज्ञानके दो भेद हैं (१) भवप्रत्यय, (२) गुण प्रत्यय। प्रत्यय, कारण और निमित्त तीनों एकार्थ वाचक शब्द हैं। यहाँ 'भव प्रत्यय' शब्द बाह्य-निमित्तकी अपेक्षासे कहा है, अंतरंग निमित्त तो प्रत्येक प्रकारके अवधिज्ञानमें अवधिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है।

(२) देव और नारक पर्यायके धारण करने पर जीव को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय कहलाता है। जैसे पक्षियोंमें जन्मका होना ही आकाशमें गमनका निमित्त होता है, न कि शिक्षा, उपदेश, जपतप इत्यादि; इसीप्रकार नारकी और देवकी पर्यायमें उत्पत्ति मात्रसे अवधिज्ञान प्राप्त होता है। [यहाँ सम्यग्ज्ञानका विषय है फिर भी सम्यक् या मिथ्याका भेद किये विना सामान्य अवधिज्ञानके लिये 'भवप्रत्यय' शब्द दिया गया है।]

(३) भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरोंके (छद्मस्थदशामें) होता है, वह नियमसे देशावधि होता है, वह समस्तप्रदेश से उत्पन्न होता है।

(४) 'गुणप्रत्यय'–किसी विशेष पर्याय (भव) की अपेक्षा न करके जीवके पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक कहलाता है ॥ २१ ॥

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके भेद तथा उनके स्वामी—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अर्थ—[क्षयोपशमनिमित्तः] क्षयोपशमनैमित्तक अवधिज्ञान [षड्विकल्पः] अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान अवस्थित और अनवस्थित—ऐसे छह भेदवाला है, और वह [शेषाणाम्] मनुष्य तथा तिर्यंचों के होता है।

टीका

(१) अनुगामी—जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाशकी भाँति जीवके साथ ही साथ जाता है उसे अनुगामी कहते हैं।

अननुगामी—जो अवधिज्ञान जीवके साथ ही साथ नहीं जाता उसे अननुगामी कहते हैं।

वर्धमान—जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी कलाकी भाँति बढ़ता रहे उसे वर्धमान कहते हैं।

हीयमान—जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्षके चन्द्रमाकी कलाके माफिक घटता रहे उसे हीयमान कहते हैं।

अवस्थित—जो अवधिज्ञान एकसा रहे, न घटे न बढ़े उसे अवस्थित कहते हैं।

अनवस्थित—जो पानीकी तरंगोंकी भाँति घटता बढ़ता रहे, एकसा न रहे उसे अनवस्थित कहते हैं।

(२) यह अवधिज्ञान मनुष्योंको होता है ऐसा कहा गया है, इसमें तीर्थंकरोंको नहीं लेना चाहिए, उनके अतिरिक्त अन्य मनुष्योंको समझना चाहिए, वह भी बहुत थोड़ेसे मनुष्योंको होता है। इस अवधिज्ञान को 'गुण-

प्रत्यय' भी कहा जाता है। वह नाभिके ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश, मछली आदि शुभ चिह्नोंके द्वारा होता है।

(३) अवधिज्ञानके *प्रतिपाति, ×अप्रतिपाति, देशावधि, परमावधि और सर्वावधि भेद भी हैं।

(४) जघन्य + देशावधि संयत तथा असंयत मनुष्यों और तिर्यंचोंके होता है। (देव-नारकीको नहीं होता) उत्कृष्ट देशावधि संयत भावमुनिके ही होता है-अन्य तीर्थंकरादि गृहस्थ-मनुष्य, देव नारकीके नहीं होता; उनके देशावधि होता है।

(५) देशावधि उपरोक्त (पैरा १ में कहे गये) छह प्रकार तथा प्रतिपाति और अप्रतिपाति ऐसे आठ प्रकारका होता है।

परमावधि-अनुगामी, अननुगामी वर्धमान अवस्थित अनवस्थित और प्रतिपाति होता है।

(६) अवधिज्ञान रूपी-पुद्गल तथा उस पुद्गलके सम्बन्धवाले संसारी जीव (के विकारी भाव) को प्रत्यक्ष जानता है।

(७) द्रव्य अपेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषय—एक जीवके औदारिक शरीर संचयके लोकाकाश-प्रदेश प्रमाण-खंड करने पर उसके एक खंड तकका ज्ञान होता है।

द्रव्यापेक्षासे सर्वावधिज्ञानका विषय—एक परमाणु तक जानता है [देखो सूत्र २८ की टीका]

द्रव्यापेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्टके बीचके द्रव्योंके भेदोंको जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषय—उत्सेधांगुलके [आठ यव मध्यके] असंख्यातवें भाग तकके क्षेत्रको जानता है।

* प्रतिपाति=जो गिर जाता है। × अप्रतिपाति=जो नहीं गिरता। + जघन्य=सबसे कम।

क्षेत्र अपेक्षासे उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय—असंख्यात लोकप्रमाण तक क्षेत्रको जानता है।

क्षेत्र अपेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्ट के बीचके क्षेत्र भेदोंको जानना है।

कालापेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषय—आवलीके असंख्यात भाग प्रमाण भूत और भविष्यको जानता है।

कालापेक्षासे उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय—असंख्यात लोक प्रमाण अतीत और अनागतकालको जानता है।

कालापेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्ट के बीचके कालभेदोंको जानता है।

भाव अपेक्षासे अवधिज्ञानका विषय—पहिले द्रव्य प्रमाण निरूपण किये गये द्रव्योंकी शक्तिको जानता है।

[श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९३-९४]

(८) कर्मका क्षयोपशम निमित्तमात्र है, अर्थात् जीव अपने पुरुषार्थसे अपने ज्ञानकी विशुद्ध अवधिज्ञान पर्यायको प्रगट करता है उसमें 'स्वयं' ही कारण है। अवधिज्ञानके समय अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम स्वयं होता है इतना संबंध बतानेको निमित्त बताया है। कर्मकी उस समय की स्थिति कर्मके अपने कारणसे क्षयोपशमरूप होती है, इतना निमित्त नैमित्तिक संबंध है। यह यहाँ बताया है।

(९) क्षयोपशमका अर्थ—(१) सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय, (२) देशघातिस्पर्द्धकोंमें गुणका सर्वथा घात करनेकी शक्तिका उपशम क्षयोपशम कहलाता है। तथा—

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमें वेदक सम्यक्त्वप्रकृतिके 'स्पर्द्धकोंको क्षय' और मिथ्यात्व, तथा सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृतियोंके उदयाभावको उपशम कहते हैं। प्रकृतियोंके क्षय तथा उपशमको क्षयोपशम कहते हैं [श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २००—२११—२२१]

(१०) गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, देशव्रत अथवा महाव्रतके निमित्तसे होता है तथापि वह सभी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, या महाव्रती, जीवों के नहीं होता, क्योंकि असंख्यात लोक प्रमाण सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप परिणामोंमें अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारणभूत परिणाम बहुत थोड़े होते हैं। [श्री जयधवला पृष्ठ १७] गुणप्रत्यय सुअवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही हो सकता है, किन्तु वह सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके नहीं होता।

सूत्र २१–२२ का सिद्धान्त

यह मानना ठीक नहीं है कि "जिन जीवोंको अवधिज्ञान हुआ हो वे ही जीव अवधिज्ञानका उपयोग लगाकर दर्शन मोहकर्मके रजकणोंकी अवस्थाको देखकर उसपर से यह यथार्थतया जान सकते हैं कि— हमें सम्यग्दर्शन हुआ है" क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंको अवधिज्ञान नहीं होता, किंतु सम्यग्दृष्टि जीवोंमेंसे बहुत थोड़ेसे जीवोंको अवधिज्ञान होता है। अपनेको 'सम्यग्दर्शन हुआ है' यदि यह अवधिज्ञानके विना निश्चय न हो सकता होता तो जिन जीवोंके अवधिज्ञान नहीं होता उन्हें सदा तत्संबंधी शंका-संशय बना ही रहेगा, किंतु निःशंकित्व सम्यग्दर्शनका पहिला ही आचार है; इसलिये जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन संबंधी शंका बनी रहती है वे जीव वास्तवमें सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते किन्तु मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये अवधिज्ञानका, मनःपर्ययज्ञानका तथा उनके भेदोंका स्वरूप जानकर, भेदोंकी ओरके रागको दूर करके अभेद ज्ञानस्वरूप अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होना चाहिये ॥२२॥

मनःपर्ययज्ञानके भेद

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थ—[मनःपर्ययः] मनःपर्ययज्ञान [ऋजुमतिविपुलमतिः] ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकारका है।

टीका

(१) मन पर्ययज्ञानकी व्याख्या नवमें सूत्रकी टीकामें की गई है। दूसरेके मनोगत मूर्तिक द्रव्योंको मनके साथ जो प्रत्यक्ष जानता है सो मन पर्ययज्ञान है।

(२) द्रव्यापेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका विषय—जघन्य रूपसे एक समयमें होनेवाले औदारिक शरीरके निर्जरारूप द्रव्यतक जान सकता है, उत्कृष्टरूपसे आठ कर्मोंके एक समयमें बंधे हुए समयप्रबद्धरूप* द्रव्यके अनंत भागोंमें से एक भाग तक जान सकता है।

क्षेत्रापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—जघन्यरूपसे दो, तीन कोसतकके क्षेत्रको जानता है, और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर जान सकता है। [यहां विष्कंभरूप मनुष्यक्षेत्र समझना चाहिए]

कालापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—जघन्यरूपसे दो तीन भवोंका ग्रहण करता है, उत्कृष्टरूपसे असंख्यात भवोंका ग्रहण करता है।

भावापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—द्रव्यप्रमाणमें कहे गये द्रव्योंकी शक्तिको (भावको) जानता है। [श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९४]

इस ज्ञानके होनेमें मन अपेक्षामात्र (निमित्तमात्र) कारण है, वह उत्पत्तिका कारण नहीं है। इस ज्ञानकी उत्पत्ति आत्माकी शुद्धिसे होती है। इस ज्ञानके द्वारा स्व तथा पर दोनोंके मनमें स्थित रूपी पदार्थ जाने जा सकते हैं। [श्री सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८—४५१—४५२]

दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको भी मन कहते हैं, उनकी पर्यायों (विशेषों) को मन पर्यय कहते हैं, उसे जो ज्ञान जानता है सो मन पर्यय ज्ञान है। मन पर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति-ऐसे दो भेद हैं।

---

* समयप्रबद्ध—एक समयमें जितने कर्म परमाणु और नो कर्म परमाणु बंधते हैं उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।

ऋजुमति—मनमें चिंतित पदार्थको जानता है, अचिंतित पदार्थको नहीं; और वह भी सरलरूपसे चिंतित पदार्थको जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

विपुलमति—चिंतित और अचिंतित पदार्थको तथा वक्रचिंतित और अवक्रचिंतित पदार्थको भी जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट संयमधारीके होता है। [श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २८-२९] 'विपुल' का अर्थ विस्तीर्ण-विशाल-गंभीर होना है। [उसमें कुटिल, असरल, विषम, सरल इत्यादि गर्भित हैं] विपुलमतिज्ञानमें ऋजु और वक्र (सरल और पेचीदा) सर्वप्रकारके रूपी पदार्थोंका ज्ञान होता है। अपने तथा दूसरोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, इत्यादि का भी ज्ञान होता है।

विपुलमनःपर्ययज्ञानी व्यक्त अथवा अव्यक्त मनसे चिंतित या अचिंतित अथवा आगे जाकर चिन्तवन किये जाने वाले सर्व प्रकारके पदार्थोंको जानता है। [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८-४५१-४५२]

कालापेक्षासे ऋजुमति का विषय—जघन्यरूपसे भूत-भविष्यत के अपने और दूसरेके दो तीन भव जानता है, और उत्कृष्टरूपसे उसीप्रकार सात आठ भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे—यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीनसे ऊपर और नो से नीचे कोस, तथा उत्कृष्टरूपसे तीनसे ऊपर और नो से नीचे योजनके भीतर जानता है। उससे बाहर नहीं जानता।

कालापेक्षासे विपुलमतिका विषय—जघन्यरूपसे अगले पिछले सात आठ भव जानता है और उत्कृष्टरूपसे अगले पिछले असंख्यात भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे—यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीन से ऊपर और नो से नीचे योजन प्रमाण जानता है; और उत्कृष्टरूपसे मानुषोत्तरपर्वतके भीतरतक जानता है; उससे बाहर नहीं। [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४५४]

विपुलमति का अर्थ—इंग्लिश तत्वार्थसूत्रमें निम्न प्रकार दिया है।

Complex direct knowledge of complex mental things e g of what a man is thinking of now along with what he has thought of it in the past and will think of it in the future

[पृष्ठ ४०]

अर्थ—मनमें स्थित पेचीदा वस्तुओंका पेचीदगी सहित प्रत्यक्षज्ञान, जैसे एक मनुष्य वर्तमानमें क्या विचार कर रहा है, उसके साथ भूतकालमें उसने क्या विचार किया है और भविष्यमें क्या विचार करेगा, इस ज्ञानका मनोगत विकल्प मन पर्ययज्ञानका विषय है। (बाह्यवस्तु की अपेक्षा मनोगत भाव एक अति सूक्ष्म और विजातीय वस्तु है) ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

अर्थः—[विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां] परिणामोंकी विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होनेसे पूर्व न छूटना [तद्विशेषः] इन दो बातों से ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानमें विशेषता (अंतर) है।

टीका

ऋजुमति और विपुलमति यह दो मन पर्ययज्ञानके भेद सूत्र २३ की टीकामें दिये गये हैं। इस सूत्रमें स्पष्ट बताया गया है कि विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और यह कभी नहीं छूट सकता, किन्तु यह केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है यह भेद चारित्रकी तीव्रता के भेदके कारण होते हैं। संयम परिणाम का घटना-उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो कि किसी ऋजुमति वालेके होता है ॥ २४ ॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः ॥२५॥

अर्थः—[अवधिमनःपर्ययोः] अवधि और मनःपर्ययज्ञान में [विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः] विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षासे विशेषता होती है।

टीका

मनःपर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव-मुनियोंके ही होता है; और अवधिज्ञान चारों गतियोंके सैनी जीवोंके होता है; यह स्वामीकी अपेक्षासे भेद है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञानका क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण तक है; और मनः-पर्ययज्ञानका ढाई द्वीप मनुष्यक्षेत्र है। यह क्षेत्रापेक्षासे भेद है।

स्वामी तथा विषयके भेदसे विशुद्धिमें अंतर जाना जा सकता है, अवधिज्ञानका विषय परमाणु पर्यन्त रूपी पदार्थ है, और मनःपर्ययका विषय मनोगत विकल्प है।

विषयका भेद सूत्र २७-२८ की टीकामें दिया गया है; तथा सूत्र २२ की टीकामें अवधिज्ञानका और २३ की टीकामें मनःपर्ययज्ञानका विषय दिया गया है, उस पर से यह भेद समझ लेना चाहिए ॥ २५ ॥

मति-श्रुतज्ञानका विषय—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

अर्थः—[मतिश्रुतयोः] मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका [निबंधः] विषयसंबंध [असर्वपर्यायेषु] सर्व पर्यायोंसे रहित [द्रव्येषु] जीव,—पुद्गलादि सर्व द्रव्य हैं।]

टीका

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी रूपी-अरूपी द्रव्योंको जानते हैं, किन्तु उनकी सभी पर्यायोंको नहीं जानते, उनका विषय-संबंध सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोंके साथ होता है।

इस सूत्रमें 'द्रव्येषु' शब्द दिया है जिससे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्य समझना चाहिए। उनकी कुछ पर्यायोंको यह ज्ञान जानते हैं, सभी पर्यायोंको नहीं।

प्रश्न—जीव, धर्मास्तिकाय, इत्यादि अमूर्तद्रव्य हैं, उन्हें मतिज्ञान कैसे जानता है, जिससे यह कहा जा सके कि मतिज्ञान सब द्रव्योंको जानता है?

उत्तर—अनिन्द्रिय (मन) के निमित्तसे अरूपी द्रव्योंका अवग्रह ईहा अवाय और धारणारूप मतिज्ञान पहिले उत्पन्न होता है और फिर उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान सर्व द्रव्योंको जानता है, और अपनी अपनी योग्य पर्यायोंको जानता है।

इन दोनों ज्ञानोंके द्वारा जीवको भी यथार्थतया जाना जा सकता है॥ २६॥

अवधिज्ञानका विषय—

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

अर्थ—[अवधेः] अवधिज्ञानका विषय-संबंध [रूपिषु] रूपी द्रव्योंमें है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थोंको जानता है।

टीका

जिसके रूप, रस गंध स्पर्श होता है वह पुद्गलद्रव्य है, पुद्गल द्रव्यसे संबंध रखनेवाले संसारी जीवको भी इस ज्ञानके हेतुके लिये रूपी कहा जाता है, [देखो सूत्र २८ की टीका]

जीवके पाँच भावोंमें से औदयिक औपशमिक, और क्षायोपशमिक,– यह तीन भाव (परिणाम) ही अवधिज्ञानके विषय हैं; और जीवके शेष-क्षायिक तथा परिणामिकभाव और धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, तथा कालद्रव्य, अरूपी पदार्थ हैं, वे अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं होते।

यह ज्ञान सर्व रूपी पदार्थों और उसकी कुछ पर्यायोंको जानता है ॥ २७ ॥

मनःपर्ययज्ञानका विषय

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थ—[तत् अनंतभागे] सर्वावधिज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके अनंतवें भागमें [मनःपर्ययस्य] मन.पर्ययज्ञानका विषय-संबंध है ।

टीका

परमावधिज्ञानके विषयभूत जो पुद्गलस्कंध हैं उनका अनंतवाँ भाग करने पर जो एक परमाणुमात्र होता है सो सर्वावधिका विषय है, उसका अनंतवाँ भाग ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानका विषय है और उसका अनंतवाँ भाग विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानका विषय है। (सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ ४७२)

सूत्र २७–२८ का सिद्धान्त

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका विषय रूपी है, ऐसा यहाँ कहा गया है। अध्याय दो सूत्र एकमें आत्माके पाँच भाव कहे हैं, उनमें से औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक ये तीन भाव इस ज्ञानके विषय हैं, ऐसा २७ वें सूत्रमें कहा है, इससे निश्चय होता है कि परमार्थतः यह तीन भाव रूपी हैं,—अर्थात् वे अरूपी आत्माका स्वरूप नहीं हैं। क्योंकि आत्मामें से वे भाव दूर हो सकते हैं, और जो दूर हो सकते हैं वे परमार्थतः आत्माके नहीं हो सकते। 'रूपी' की व्याख्या अध्याय पाँचके सूत्र पाँचवें में दी है। वहाँ पुद्गल 'रूपी' है-ऐसा कहा है; और पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण

वाले हैं, यह अध्याय पाँचके २३ सूत्रमें कहा है। श्री समयसारकी गाथा ५० से ६८ तथा २०३ में यह कहा है कि वर्णादिसे गुणस्थानतकके भाव पुद्गल द्रव्यके परिणाम होनेसे जीवकी अनुभूतिसे भिन्न हैं, इसलिये वे जीव नहीं हैं। वही सिद्धान्त इस शास्त्रमें उपरोक्त सक्षिप्त सूत्रोंके द्वारा प्रतिपादन किया गया है।

अध्याय २ सूत्र १ में उन भावोंको व्यवहारसे जीवका कहा है, यदि वे वास्तवमें जीवके होते तो कभी जीवसे अलग न होते और एकसे बने रहते, किंतु वे अलग किये जा सकते हैं और वे एकसे नहीं रहते, इसलिये वे जीवस्वरूप या जीवके निज भाव नहीं हैं ॥ २८ ॥

केवलज्ञानका विषय

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

अर्थ—[केवलस्य] केवलज्ञानका विषय सबध [सर्वद्रव्य-पर्यायेषु] सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें हैं, अर्थात् केवलज्ञान एक ही साथ सभी पदार्थोंको और उनकी सभी पर्यायोंको जानता है।

टीका

केवलज्ञान=असहाय ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय, मन, या आलोक की अपेक्षासे रहित है। यह त्रिकालगोचर अनत पर्यायोंको प्राप्त अनत वस्तुओंको जानता है। यह असकुचित, प्रतिपक्षी रहित और अमर्यादित है।

शका—जिस पदार्थका नाश हो चुका है और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुआ उसे केवलज्ञान कैसे जान सकता है?

समाधान—केवलज्ञान निरपेक्ष होनेसे बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षाके बिना ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंको जाने तो इसमें कोई विरोध नहीं आता। केवलज्ञानको विपर्ययज्ञानत्वका भी प्रसग नहीं आता, क्योंकि यह यथार्थ

स्वरूपसे पदार्थोंको जानता है। यद्यपि नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओंका वर्तमान में सद्भाव नहीं है तथापि उनका अत्यन्ताभाव भी नहीं है।

केवलज्ञान सर्व द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्यायोंको अक्रमसे एक ही कालमें जानता है; वह ज्ञान सहज (विना इच्छाके) जानता है। केवलज्ञानमे ऐसी शक्ति है कि अनंतानंत लोक-अलोक हों तो भी उन्हें जाननेमें केवलज्ञान समर्थ है।

शंका—केवली भगवानके एक ही ज्ञान होता है या पांचों?

समाधान—पाँचों ज्ञानोंका एक ही साथ रहना नहीं माना जा सकता, क्योंकि मतिज्ञानादि आवरणीयज्ञान हैं, केवलज्ञानी भगवान क्षीण आवरणीय हैं इसलिये भगवानके आवरणीय ज्ञानका होना संभव नहीं है; क्योंकि आवरणके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानोंका (आवरणोंका अभाव होनेके वाद) रहना हो सकता, ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है, [श्री धवला पु० ६ पृ० २९-३०]

मति आदि ज्ञानोंका आवरण केवलज्ञानावरणके नाश होनेके साथ ही संपूर्ण नष्ट हो जाता है। [देखो सूत्र ३० की टीका]

एक ही साथ सर्वथा जाननेकी एक एक जीवमें सामर्थ्य है।

२९ वें सूत्रका सिद्धांत—

'मैं परको जानूं तो वड़ा कहलाऊं' ऐसा नहीं, किंतु मेरी अपार सामर्थ्य अनंत ज्ञान-ऐश्वर्यरूप है इसलिये मैं पूर्णज्ञानघन स्वाधीन आत्मा हूँ,—इसप्रकार पूर्ण साध्यको प्रत्येक जीवको निश्चित करना चाहिये; इसप्रकार निश्चित करके स्वसे एकत्व और परसे विभक्त (भिन्न) अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिये। अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जीव क्रमशः आगे वढ़ता है और थोड़े समय में उसकी पूर्ण ज्ञान दशा प्रगट हो जाती है॥ २९॥

एक जीवके एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

अर्थः—[एकस्मिन्] एक जीवमें [युगपत्] एक साथ [एकादीनि] एकसे लेकर [आचतुर्भ्यः] चार ज्ञान तक [भाज्यानि] विभक्त करने योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं।

टीका

(१) एक जीवके एक साथ एकसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं ? यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है, दो हो तो मति और श्रुत होते हैं, तीन हो तो मति श्रुत और अवधि अथवा मति श्रुत और मन:पर्ययज्ञान होते हैं, चार हो तो मति श्रुत, अवधि और मन:पर्ययज्ञान होते हैं। एक ही साथ पाँच ज्ञान किसीके नहीं होते। और एक ही ज्ञान एक समयमें उपयोगरूप होता है, केवलज्ञानके प्रगट होने पर वह सदाके लिये बना रहता है; दूसरे ज्ञानोंका उपयोग अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्त होता है, उससे अधिक नहीं होता, उसके बाद ज्ञानके उपयोगका विषय बदल ही जाता है। केवलीके अतिरिक्त सभी संसारी जीवोंके कमसे कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।

(२) क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है एक कालमें एक ही प्रवर्तित होता है; किन्तु यहाँ जो चार ज्ञान एक ही साथ कहे हैं सो चारका विकास एक ही समय होनेसे चार ज्ञानोंकी जाननेरूप लब्धि एक कालमें होती है,—यही कहनेका तात्पर्य है। उपयोग तो एक कालमें एक ही स्वरूप होता है॥३०॥

सूत्र ९ से ३० तक का सिद्धांत।

आत्मा वास्तवमें परमार्थ है और वह ज्ञान है; आत्मा स्वयं एक ही पदार्थ है इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। जो यह ज्ञान नामक एक पद है सो यह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष उपाय है। इन सूत्रोंमें ज्ञानके जो भेद कहे हैं वे इस एक पदको अभिनंदन करते हैं।

ज्ञानके हीनाधिकरूप भेद उसके सामान्य ज्ञान स्वभावको नहीं भेदते, किन्तु अभिनंदन करते हैं; इसलिये जिसमें समस्त भेदोंका अभाव है ऐसे आत्मस्वभावभूत ज्ञानका ही एकका आलंबन करना चाहिए; अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्माका ही अवलंबन करना चाहिये, ज्ञानस्वरूप आत्माके अवलंबनसे ही निम्न प्रकार प्राप्ति होती है:—

१—निजपद की प्राप्ति होती है। २—भ्रांतिका नाश होता है। ३—आत्माका लाभ होता है। ४—अनात्माका परिहार सिद्ध होता है। ५—भावकर्म बलवान नहीं हो सकता। ६—राग-द्वेष मोह उत्पन्न नहीं होते। ७—पुनः कर्मका आश्रव नहीं होता। ८—पुनः कर्म नहीं बँधता। ९—पूर्वबद्ध कर्म भोगा जानेपर निर्जरित हो जाता है। १०—समस्त कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है। ज्ञान स्वरूप आत्माके आलंबनकी ऐसी महिमा है।

क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमें जो भेद होते हैं वे कहीं ज्ञान सामान्यको अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते हैं इसलिये इन सब भेदोंपर का लक्ष्य गौण करके ज्ञान सामान्य का अवलंबन करना चाहिये। नवमें सूत्रके अंतमें एक वचन सूचक 'ज्ञानम्' शब्द कहा है, वह भेदोंका स्वरूप जानकर, भेदों परका लक्ष्य छोड़कर, शुद्धनयके विषयभूत अभेद, अखंड ज्ञानस्वरूप आत्माकी ओर अपना लक्ष्य करनेके लिये कहा है; ऐसा समझना चाहिए [देखो पाटनी ग्रन्थमाला का श्री समयसार–गाथा २०४, पृष्ठ ३१०]

मति श्रुत और अवधिज्ञानमें मिथ्यात्व—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययाश्च ॥३१॥

अर्थः—[मतिश्रुतावधयः] मति, श्रुत और अवधि यह तीन ज्ञान [विपर्ययाश्च] विपर्यय भी होते हैं।

टीका

(१) उपरोक्त पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, किंतु मति श्रुत और अवधि यह तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। उस मिथ्याज्ञानको कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान तथा कुअवधि (विभंगावधि) ज्ञान कहते हैं। अभीतक सम्यग्ज्ञानका अधिकार चला आ रहा है, अब इस सूत्रमें 'च' शब्दसे यह सूचित किया है कि यह तीन ज्ञान सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। सूत्रमें विपर्यय शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसमें संशय और अनध्यवसाय गर्भितरूपसे आ जाते हैं। मति और श्रुतज्ञानमें संशय विपर्यय, और अनध्यवसाय यह तीन दोष हैं, अवधिज्ञानमें संशय नहीं होता, किन्तु अनध्यवसाय अथवा विपर्यय यह दो दोष होते हैं, इसलिये उसे कुअवधि अथवा विभंग कहते हैं। विपर्यय संबंधी विशेष वर्णन ३२ वें सूत्रकी टीकामें दिया गया है।

(२) अनादि मिथ्यादृष्टिके कुमति और कुश्रुत होते हैं। तथा उसके देव और नारकीके भवमें कुअवधि भी होता है। जहाँ जहाँ मिथ्यादर्शन होता है वहाँ वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अविनाभावी रूपसे होता है ॥३१॥

प्रश्न—जैसे सम्यग्दृष्टि जीव नेत्रादि इन्द्रियोंसे रूपादिको सुमतिसे जानता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुमतिज्ञानसे उन्हें जानता है, तथा जैसे सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञानसे उन्हें जानता है तथा कथन करता है, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुश्रुतज्ञानसे जानता है और कथन करता है, तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानसे रूपी वस्तुओंको जानता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि कुअवधिज्ञानसे जानता है,—तब फिर मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्याज्ञान क्यों कहते हो?

उत्तर—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

अर्थः—[यदृच्छोपलब्धेः] अपनी इच्छासे चाहे जैसा (Whims) ग्रहण करनेके कारण [सत् असतोः] विद्यमान और अविद्यमान पदार्थोंका [अविशेषात्] भेदरूप ज्ञान (यथार्थ विवेक) न होनेसे [उन्मत्तवत्] पागलके ज्ञानकी भाँति मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान ही होता है।

टीका

(१) यह सूत्र बहुत उपयोगी है। यह 'मोक्षशास्त्र है' इसलिये अविनाशी सुखके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एक ही मार्ग है यह पहिले सूत्रमें बताकर, दूसरे सूत्रमे सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है; जिसकी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन होता है वे सात तत्त्व चौथे सूत्रमें बताये हैं, तत्त्वोंको जाननेके लिये प्रमाण और नयके ज्ञानोंकी आवश्यकता है ऐसा ६ वें सूत्रमें कहा है, पाँच ज्ञान सम्यक् हैं इसलिये वे प्रमाण हैं, यह नव-दश (९-१०) सूत्रमें बताया है और उन पांच सम्यग्ज्ञानोंका स्वरूप ११ से ३० वें सूत्र तक बताया है।

(२) इतनी भूमिका बाँधनेके बाद मति श्रुत और अवधि यह तीन मिथ्याज्ञान भी होते हैं; और जीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है इसलिये वह जब तक सम्यक्त्वको नहीं पाता तब तक उसका ज्ञान विपर्यय है, यह ३१ वें सूत्रमें बताया है। सुखके सच्चे अभिलाषीको सर्वप्रथम मिथ्यादर्शन का त्याग करना चाहिये—यह बतानेके लिये इस सूत्रमें मिथ्याज्ञान-जोकि सदा मिथ्यादर्शन पूर्वक ही होता है—उसका स्वरूप बताया है।

(३) सुखके सच्चे अभिलाषीको मिथ्याज्ञानका स्वरूप समझाने के लिये कहा है कि—

१—मिथ्यादृष्टि जीव सत् और असत्के बीचका भेद (विवेक) नहीं जानता, इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भव्य जीवको पहिले सत् क्या है और असत् क्या है इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मिथ्याज्ञानको दूर करना चाहिये।

२—जहाँ सत् और असतके भेदका अज्ञान होता है वहाँ ना समझ पूर्वक जीव जैसा अपने को ठीक लगता है वैसी पागल पुरुषकी भाँति अथवा शराब पीये हुए मनुष्यकी भाँति मिथ्या कल्पनाएँ किया ही करता है। इसलिये यह समझाया है कि सुखके सच्चे अभिलाषी जीवको सच्ची समझ पूर्वक मिथ्या कल्पनाओंका नाश करना चाहिए।

(४) पहिले से तीस तकके सूत्रोंमें मोक्षमार्ग और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका स्वरूप समझाकर उसे ग्रहण करनेको कहा है, वह उपदेश 'अस्ति' से दिया है, और ३१ वें सूत्रमें मिथ्याज्ञानका स्वरूप बताकर उसका कारण ३२ वें सूत्रमें देकर मिथ्याज्ञानका नाश करनेका उपदेश दिया है, अर्थात् इस सूत्रमें 'नास्ति' से समझाया है। इसप्रकार 'अस्ति-नास्ति' के द्वारा अर्थात् अनेकांत के द्वारा सम्यग्ज्ञानको प्रगट करके मिथ्याज्ञानकी नास्ति करनेके लिये उपदेश दिया है।

(५) सत्=विद्यमान (वस्तु)

असत्=अविद्यमान (वस्तु)

अविशेषात्=इन दोनोंका यथार्थ विवेक न होनेसे।

यदृच्छ (विपर्यय) उपलब्धेः=[विपर्यय शब्दकी ३१ वें सूत्र से अनुवृत्ति चली आई है] विपरीत-अपनी मनमानी इच्छानुसार कल्पनाएँ –होनेसे यह मिथ्याज्ञान है।

उन्मत्तवत्—मदिरा पीये हुए मनुष्यकी भाँति।

विपर्यय—विपरीतता, वह तीन प्रकारकी है-१—कारणविपरीतता, २—स्वरूपविपरीतता, ३—भेदाभेदविपरीतता।

कारणविपरीतता—मूलकारणको न पहिचाने और अन्यथा कारण को माने।

स्वरूपविपरीतता—जिसे जानता है उसके मूल वस्तुभूत स्वरूप को न पहिचाने और अन्यथा स्वरूपको माने।

भेदाभेदविपरीतता—जिसे वह जानता है उसे 'यह इससे भिन्न है' और 'यह इससे अभिन्न है'—इसप्रकार यथार्थ न पहिचान कर अन्यथा भिन्नत्व-अभिन्नत्वको माने सो भेदाभेदविपरीतता है।

(१) इन तीन विपरीतताओंको दूर करनेका उपाय—

सच्चे धर्मकी यह परिपाटी है कि पहले जीव सम्यक्त्व प्रगट करता है, पश्चात् व्रतरूप शुभभाव होते हैं। और सम्यक्त्व स्व और परका श्रद्धान होनेपर होता है; तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग (अध्यात्म शास्त्रों) का अभ्यास करनेसे होता है, इसलिये पहिले जीवको द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये, और फिर स्वयं चरणानुयोगके अनुसार सच्चे व्रतादि धारण करके व्रती होना चाहिए।

इसप्रकार मुख्यतासे तो नीचली दशामें ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। यथार्थ अभ्यासके परिणामस्वरूप विपरीतताके दूर होने पर निम्नप्रकार यथार्थतया मानता है—

१—एक द्रव्य, उसके गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य, उसके गुण या पर्यायमें कुछ भी नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने कारणसे अपनी पर्याय धारण करता है। विकारी अवस्थाके समय परद्रव्य निमित्तरूप अर्थात् उपस्थित तो होता है किन्तु वह किसी अन्यद्रव्यमें विक्रिया (कुछ भी) नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघुत्व नामक गुण है इसलिये वह द्रव्य अन्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरेरूप नहीं होता और एक पर्याय दूसरेरूप नहीं होती। एक द्रव्यके गुण या पर्याय उस द्रव्यसे पृथक् नहीं हो सकते। इसप्रकार जो अपने क्षेत्रसे अलग नहीं हो सकते और पर द्रव्यमें नहीं जा सकते तब फिर वे उसका क्या कर सकते हैं? कुछ भी नहीं। एक द्रव्य, गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें कारण नहीं होते, इसीप्रकार वे दूसरे का कार्य भी नहीं होते, ऐसी अकारणकार्यत्वशक्ति प्रत्येक द्रव्यमें विद्यमान है। इसप्रकार समझ लेने पर कारणविपरीतता दूर हो जाती है।

२—प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। जीव द्रव्य चेतनागुण स्वरूप है, पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण स्वरूप है, जबतक जीव ऐसी विपरीत पकड़ पकड़े रहता है कि 'मैं परका कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है तथा शुभ विकल्पसे लाभ होता है' तबतक उसकी अज्ञानरूप पर्याय बनी रहती है। जब जीव यथार्थको समझता है अर्थात् सत्को समझता है तब यथार्थ मान्यता पूर्वक उसे सच्चा ज्ञान होता है। उसके परिणाम स्वरूप क्रमशः शुद्धता बढ़कर संपूर्ण वीतरागता प्रगट होती है। अन्य चार द्रव्य (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और काल) अरूपी हैं, उनकी कभी अशुद्ध अवस्था नहीं होती, इसप्रकार समझ लेने पर स्वरूप विपरीतता दूर हो जाती है।

३—परद्रव्य, जड़कर्म और शरीरसे जीव त्रिकाल भिन्न है, जब वे एक क्षेत्रावगाह सम्बंधसे रहते हैं तब भी जीवके साथ एक नहीं हो सकते, एक द्रव्यके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे द्रव्यमें नास्तिरूप है, क्योंकि दूसरे द्रव्यसे यह द्रव्य चारों प्रकारसे भिन्न है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने गुणसे अभिन्न है। क्योंकि उससे वह द्रव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता। इसप्रकार समझ लेने पर भेदाभेदविपरीतता दूर हो जाती है।

सत्—त्रिकाल टिकनेवाला, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय, शुद्ध, यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जीवका ज्ञायकभाव त्रैकालिक अखंड है, इसलिये वह सत्, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय और शुद्ध है। इस दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, वस्तुदृष्टि, शिवदृष्टि, तत्त्वदृष्टि और कल्याणकारी दृष्टि भी कहते हैं।

असत्—क्षणिक, अभूतार्थ, अपरमार्थ, व्यवहार, भेद, पर्याय, भंग, अविद्यमान; जीवमें होनेवाला विकारभाव असत् है क्योंकि वह क्षणिक है और टालने पर टाला जा सकता है।

जीव अनादिकालसे इस असत् विकारी भाव पर दृष्टि रख रहा है इसलिये उसे पर्यायबुद्धि, व्यवहारविमूढ़, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि मोही और

मूढ़ भी कहा जाता है, अज्ञानी जीव इस असत् क्षणिक भावको अपना मान रहा है, अर्थात् वह असत्को सत् मान रहा है; इसलिये इस भेद्को जानकर जो असत्को गौण करके सत् स्वरूपपर भार देकर अपने ज्ञायक स्वभावकी ओर उन्मुख होता है वह मिथ्याज्ञानको दूर करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है; उसकी उन्मत्तता दूर हो जाती है।

विपर्यय—भी दो प्रकारका है, सहज और आहार्य।

(१) सहज—जो स्वतः अपनी भूलसे अर्थात् परोपदेशके विना विपरीतता उत्पन्न होती है।

(२) आहार्य—दूसरेके उपदेशसे ग्रहण की गई विपरीतता यह श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होनेवाले कुमतिज्ञान पूर्वक ग्रहण किया गया कुश्रुत-ज्ञान है।

शंका—दया धर्मके जाननेवाले जीवोंके भले ही आत्माकी पहिचान न हो तथापि उन्हें दया धर्मकी श्रद्धा तो होती ही है, तब फिर उनके ज्ञान को अज्ञान (मिथ्याज्ञान) कैसे माना जा सकता है?

समाधान–दया धर्मके ज्ञाताओंमें भी आप्त, आगम, और पदार्थ (नव तत्त्वों) की यथार्थ श्रद्धासे रहित जो जीव हैं उनके दयाधर्म आदिमें यथार्थ श्रद्धा होनेका विरोध है; इसलिये उनका ज्ञान अज्ञान ही है। ज्ञानका जो कार्य होना चाहिए वह न हो तो वहाँ ज्ञानको अज्ञान माननेका व्यवहार लोकमें भी प्रसिद्ध है, क्योंकि पुत्रका कार्य न करनेवाले पुत्रको भी लोकमें कुपुत्रका कहनेका व्यवहार देखा जाता है।

शंका–ज्ञानका कार्य क्या है?

समाधान—जाने हुए पदार्थकी श्रद्धा करना ज्ञानका कार्य है। ऐसे ज्ञानका कार्य मिथ्यादृष्टि जीवमें नहीं होता इसलिये उसके ज्ञानको अज्ञान कहा है। [श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २२४]

विपर्ययमें संशय और अनध्यवसायका समावेश हो जाता है,—यह ३१ वें सूत्रकी टीकामें कहा है, इसी संबंधमें यहां कुछ बताया जाता है—

१—कुछ लोगोंको यह संशय होता है कि धर्म या अधर्म कुछ होगा या नहीं ?

२—कुछ लोगोंको सर्वज्ञके अस्तित्व-नास्तित्वका संशय होता है।

३—कुछ लोगोंको परलोकके अस्तित्व नास्तित्वका संशय होता है।

४—कुछ लोगोंको अनध्यवसाय (अनिर्णय) होता है। वे कहते हैं कि—हेतुवादरूप तर्कशास्त्र है इसलिये उससे कुछ निर्णय नहीं हो सकता ? और जो आगम है सो वे भिन्न २ प्रकारसे वस्तुका स्वरूप बतलाते हैं, कोई कुछ कहता है और कोई कुछ, इसलिये उनकी परस्पर बात नहीं मिलती।

५—कुछ लोगोंको ऐसा अनध्यवसाय होता है कि कोई ज्ञाता सर्वज्ञ अथवा कोई मुनि या ज्ञानी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता कि जिसके वचनोंको हम प्रमाण मान सकें, और धर्मका स्वरूप अति सूक्ष्म है इसलिये कैसे निर्णय हो सकता है ? इसलिये "महाजनो येन गता स पन्था" अर्थात् बड़े आदमी जिस मार्गसे जाते हैं उसी मार्ग पर हमें चलना चाहिए।

६—कुछ लोग वीतराग धर्मका लौकिकवादोंके साथ समन्वय करते हैं। वे शुभभावोंके वर्णनमें कुछ समानता देखकर जगतमें चलनेवाली सभी धार्मिक मान्यताओंको एक मान बैठते हैं। (यह विपर्यय है)।

७—कुछ लोग यह मानते हैं कि मंदकषायसे धर्म (शुद्धता) होता है, (यह भी विपर्यय है)।

८—कुछ लोग ईश्वरके स्वरूपको इसप्रकार विपर्यय मानते हैं कि-इस जगतको किसी ईश्वरने उत्पन्न किया है और वह उसका नियामक है।

इसप्रकार संशय विपर्यय और अनध्यवसाय अनेक प्रकारसे मिथ्या-ज्ञानमें होते हैं, इसलिये सत् और असत्का यथार्थ भेद यथार्थ समझकर, स्वच्छन्दतापूर्वक की जानेवाली कल्पनाओं और उन्मत्तताको दूर करनेके लिये यह सूत्र कहते हैं। [मिथ्यात्वको उन्मत्तता कहा है क्योंकि मिथ्यात्वसे अनंत पापोंका बंध होता है जिसका ध्यान जगतको नहीं है]॥ ३२ ॥

प्रमाणका स्वरूप कहा गया, अब श्रुतज्ञानके अंशरूप नयका स्वरूप कहते हैं।

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतानयाः॥३३॥

अर्थ–[नैगम] नैगम [संग्रह] संग्रह [व्यवहार] व्यवहार [ऋजुसूत्र] ऋजुसूत्र [शब्द] शब्द [समभिरूढ़] समभिरूढ़ [एवंभूता] एवंभूत–यह सात [नयाः] नय [Viewpoints] हैं।

टीका

वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे किसी एककी मुख्यता करके अन्य धर्मोंका विरोध किये विना उन्हें गौण करके साध्य को जानना सो नय है।

प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म रहे हुए हैं इसलिये वह अनेकान्तस्वरूप है। ['अंत' का अर्थ 'धर्म' होता है] अनेकान्तस्वरूप समझानेकी पद्धतिको 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वाद द्योतक है, अनेकान्त द्योत्य है। 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' होता है, अर्थात् किसी यथार्थ प्रकारकी विवक्षाका कथन स्याद्वाद है। अनेकान्तका प्रकाश करनेके लिये 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

हेतु और विषयकी सामर्थ्यकी अपेक्षासे प्रमाणसे निरूपण किये गये अर्थके एक देशको कहना सो नय है। उसे 'सम्यक् एकान्त, भी कहते हैं। श्रुतप्रमाण दो प्रकारका है स्वार्थ और परार्थ। उस श्रुतप्रमाणका अंश नय है। शास्त्रका भाव समझनेके लिये नयोंका स्वरूप समझना आवश्यक है, सात नयोंका स्वरूप निम्नप्रकार है।

१–नैगमनय—जो भूतकालकी पर्यायमें वर्तमानवत् संकल्प करे अथवा भविष्यकी पर्यायमें वर्तमानवत् संकल्प करे तथा वर्तमान पर्यायमें कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) है और कुछ निष्पन्न नहीं है उसका निष्पन्नरूप संकल्प करे उस ज्ञानको तथा वचनको नैगमनय कहते हैं। [Figurative]

२–संग्रहनय– जो समस्त वस्तुओंको तथा समस्त पर्यायोंको संग्रहरूप करके जानता है तथा कहता है सो संग्रहनय है। जैसे सत् द्रव्य, इत्यादि [General, Common]

३–व्यवहारनय–अनेकप्रकारके भेद करके व्यवहार करे या भेदे सो व्यवहारनय है। जो संग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थको विधिपूर्वक भेद करे सो व्यवहार है जैसे सत्‌के दो प्रकार हैं—द्रव्य और गुण। द्रव्यके छह भेद हैं--जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। गुणके दो भेद हैं सामान्य और विशेष। इस प्रकार जहाँतक भेद हो सकते हैं वहाँ तक यह नय प्रवृत्त होता है। [Distributive]

४–ऋजुसूत्रनय–[ऋजु अर्थात् वर्तमान, उपस्थित, सरल] जो ज्ञान का अंश वर्तमान पर्यायमात्रको ग्रहण करे सो ऋजुसूत्रनय है। (Present condition)

५–शब्दनय–जो नय लिंग, संख्या, कारक आदिके व्यभिचारको दूर करता है सो शब्द नय है। यह नय लिंगादिके भेदसे पदार्थको भेदरूप ग्रहण करता है, जैसे दार, (पु०) भार्या (स्त्री०) कलत्र (न०), यह दार भार्या और कलत्र तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होनेसे यद्यपि एक ही पदार्थके वाचक हैं तथापि यह नय स्त्री पदार्थ को लिंगके भेदसे तीन भेदरूप जानता है। [Descriptive]

६–समभिरूढनय—(१) जो भिन्न २ अर्थोंका उलंघन करके एक अर्थको रूढिसे ग्रहण करे। जैसे गाय [Usage] (२) जो पर्याय के भेदसे अर्थको भेदरूप ग्रहण करे। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरंदर, यह तीनों शब्द इन्द्रके नाम हैं किन्तु यह नय तीनोंका भिन्न २ अर्थ करता है। [Specific]

७–एवंभूतनय–जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है उस क्रियारूप परिणमित होनेवाले पदार्थको जो नय ग्रहण करता है उसे एवंभूतनय कहते हैं जैसे पुजारीको पूजा करते समय ही पुजारी कहना। [Active]

पहिले तीन भेद द्रव्यार्थिकनयके हैं, उसे सामान्य उत्सर्ग अथवा अनुवृत्ति नामसे भी कहा जाता है।

बादके चार भेद पर्यायार्थिकनय के हैं, उसे विशेष, अपवाद अथवा व्यावृत्ति नामसे कहते हैं।

पहिले चार नय अर्थनय हैं, और बादके तीन शब्दनय हैं। पर्याय के दो भेद हैं—(१) सहभावी–जिसे गुण कहते हैं, (२) क्रमभावी–जिसे पर्याय कहते हैं।

द्रव्य नाम वस्तुओंका भी है और वस्तुओंके सामान्य स्वभावमय एक स्वभावका भी है। जब द्रव्य प्रमाणका विषय होता है तब उसका अर्थ वस्तु (द्रव्य–गुण और तीनों कालकी पर्याय सहित) करना चाहिये। जब नयोंके प्रकरणमें द्रव्यार्थिकका प्रयोग होता है तब 'सामान्य स्वभावमय एक-स्वभाव' (सामान्यात्मक धर्म) अर्थ करना चाहिए। द्रव्यार्थिकमें निम्नप्रकार तीन भेद होते हैं।

१–सत् और असत् पर्यायके स्वरूपमें प्रयोजनवश परस्पर भेद न मानकर दोनोंको वस्तुका स्वरूप मानना सो नैगमनय है।

२–सत्के अंतर भेदोंमें भेद न मानना सो संग्रहनय है।

३–सत्में अन्तर्भेदोंको मानना सो व्यवहारनय है।

नयके ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थनय,—ऐसे भी तीन प्रकार होते हैं।

१–वास्तविक प्रमाणज्ञान है; और जब वह एक देशग्राही होता है तब उसे नय कहते हैं, इसलिये ज्ञानका नाम नय है और उसे ज्ञान नय कहा जाता है।

२-ज्ञानके द्वारा जाने गये पदार्थका प्रतिपादन शब्दके द्वारा होता है इसलिये उस शब्दको शब्दनय कहते हैं।

३-ज्ञानका विषय पदार्थ है इसलिये नयसे प्रतिपादित किये जानेवाले पदार्थको भी नय कहते हैं। यह अर्थनय है।

आत्माके सबंधमें इन सात नयोंको श्रीमद्‌राजचन्द्रजीने निम्न लिखित चौदह प्रकारसे अवतरित किए हैं। ये साधकको उपयोगी होनेसे यहाँ अर्थ सहित दिये जाते हैं।

१-एवभूतदृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर=पूर्णताके लक्ष्यसे प्रारंभ कर।

२-ऋजुसूत्रदृष्टिसे एवभूत स्थिति कर=साधकदृष्टिके द्वारा साध्यमें स्थिति कर।

३-नैगमदृष्टिसे एवभूत प्राप्ति कर=तू पूर्ण है ऐसी संकल्पदृष्टि से पूर्णताको प्राप्त कर।

४-एवभूतदृष्टिसे नैगम विशुद्ध कर=पूर्णदृष्टिसे अव्यक्त अंश विशुद्ध कर।

५-संग्रहदृष्टिसे एवभूत हो=त्रैकालिक सतदृष्टिसे पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट कर।

६-एवभूतदृष्टिसे संग्रह विशुद्ध कर=निश्चयदृष्टिसे सत्ताको विशुद्ध कर।

७-व्यवहारदृष्टिसे एवभूतके प्रति जा=भेददृष्टि छोड़कर अभेदके प्रति जा।

८-एवभूतदृष्टिसे व्यवहार निवृत्ति कर=अभेददृष्टिसे भेदको निवृत्त कर।

९-शब्ददृष्टिसे एवभूतके प्रति जा=शब्दके रहस्यभूत पदार्थकी दृष्टिसे पूर्णताके प्रति जा।

१०-एवभूतदृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर=निश्चयदृष्टिसे शब्दके रहस्यभूत पदार्थमें निर्विकल्प हो।

११-समभिरूढ़दृष्टिसे एवंभूतको देख=साधक अवस्थाके आरूढ़-
भावसे निश्चयको देख।

१२-एवंभूतदृष्टिसे समभिरूढ़ स्थिति कर=निश्चयदृष्टिसे समस्वभाव
के प्रति आरूढ़ स्थिति कर।

१३-एवंभूतदृष्टिसे एवंभूत हो=निश्चयदृष्टिसे निश्चयरूप हो।

१४-एवंभूत स्थितिसे एवंभूतदृष्टिको शमित कर=निश्चय स्थितिसे
निश्चयदृष्टिके विकल्पको शमित करदे।

वास्तविकभाव लौकिकभावोंसे विरुद्ध होते हैं।

प्रश्न—यदि व्यवहारनयसे अर्थात् व्याकरणके अनुसार जो प्रयोग (अर्थ) होता है उसे आप शब्दनयसे दूषित कहेंगे तो लोक और शास्त्रमें विरोध आयगा।

उत्तर—लोक न समझें इसलिये विरोध भले करें; यहाँ यथार्थ स्वरूप (तत्त्व) का विचार किया जा रहा है—परीक्षा की जा रही है। औषधि रोगीकी इच्छानुसार नहीं होती। [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ५३४] जगत रोगी है ज्ञानीजन उसीके अनुकूल (रुचिकर) तत्त्वका स्वरूप (औषधि) नहीं कहते, किन्तु वे वही कहते हैं जो यथार्थ स्वरूप होता है॥ ३३॥

पाँच प्रकारसे जैन शास्त्रोंके अर्थ समझने की रीति

प्रत्येक वाक्यका पाँच प्रकारसे अर्थ करना चाहियेः—

शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ।

"परमात्माको नमस्कार" इस वाक्यका यहाँ पाँच प्रकारसे अर्थ किया जाता हैः—

(१) शब्दार्थः—'जो ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मकलंकको भस्म करके शुद्ध नित्य निरंजन ज्ञानमय हुए हैं उन परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ।' यह परमात्माको नमस्कारका शब्दार्थ हुआ।

(२) नयार्थः—शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा परमानंदस्वरूप है; पूर्णशुद्धता प्रगट हुई वह शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयका विषय है। कर्म दूर हुए वह

असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार प्रत्येक स्थान पर नयसे समझना चाहिये। यदि नयोंके अभिप्रायको न समझे तो वास्तविक अर्थ समझमें नहीं आता। यथार्थ ज्ञानमें साधकके सुनय होते ही हैं।

'ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानको रोका'—ऐसा वाक्य हो वहाँ 'ज्ञानावरणीय नामका जड़ कर्म रोकता है, ऐसा कहना दो द्रव्योंका सम्बन्ध बतलानेवाला व्यवहारनयका कथन है, सत्यार्थ नहीं है।

शास्त्रोंके सच्चे रहस्यको खोलनेके लिये नयार्थ होना चाहिये, नयार्थ को समझे बिना चरणानुयोगका कथन भी समझमें नहीं आता। गुरुका उपकार माननेका कथन आये वहाँ समझना चाहिये कि गुरु परद्रव्य है, इसलिये वह व्यवहारका कथन है और वह असद्भूतउपचरित व्यवहारनय है। परमात्म प्रकाश गाथा ७ तथा १४ के अर्थमें बताया गया है कि—असद्भूतका अर्थ 'मिथ्या' होता है।

चरणानुयोगमें परद्रव्य छोड़नेकी बात आये वहाँ समझना चाहिये कि वहाँ रागको छुड़ानेके लिये व्यवहारनयका कथन है। प्रवचनसारमें शुद्धता और शुभरागकी मित्रता कही है, किन्तु वास्तवमें वहाँ उनके 'मित्रता' नहीं है, राग तो शुद्धताका शत्रु ही है, किन्तु चरणानुयोगके शास्त्रमें वैसा कहने की पद्धति है और वह व्यवहारनयका कथन है। अशुभसे बचनेके लिये शुभ राग निमित्तमात्र मित्र कहा है, उसका भावार्थ तो यह है कि—वह वास्तवमें वीतरागताका शत्रु है किन्तु निमित्त बतानेके लिये व्यवहार नय द्वारा ऐसा ही कथन होता है।

(२) मतार्थः—दूसरे विरुद्ध मत किसप्रकारसे मिथ्या है, उसका वर्णन करना सो मतार्थ है। चरणानुयोगमें कहे हुए व्यवहारव्रतादि करनेसे धर्म हो, ऐसी मान्यतावाले अन्यमत हैं जैनमत नहीं है, श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भाव पाहुड गाथा ८३ में कहा है कि—"पूजादिकमें और व्रतादि सहित होय सो तो पुण्य है और मोह क्षोभ रहित आत्माका परिणाम सो धर्म है।

लौकिक जन-अन्यमति कई कहै हैं जो पूजा आदिक शुभ क्रियामें और व्रत-क्रिया सहित है सो जिनधर्म है सो ऐसैं नहीं है।"

यहाँ बौद्ध, वेदान्त, नैयायिक इत्यादिमें जो एकांत मान्यता है और जिनमतमें रहनेवाले जीवोंमें भी जिस प्रकारकी विपरीत-एकान्त-मान्यता चल रही हो वह भूल बतलाकर उस भूल-रहित सच्चा अभिप्राय बतलाना सो मतार्थ है।

(४) आगमार्थः—जो सत् शास्त्रमें (सिद्धांतमें) कहा हो उसके साथ अर्थको मिलाना सो आगमार्थ है। सिद्धांतमें जो अर्थ प्रसिद्ध हो वह आगमार्थ है।

(५) भावार्थः—तात्पर्य अर्थात् इस कथनका अन्तिम अभिप्राय—सार क्या है? कि—परमात्मस्वरूप वीतरागी आत्मद्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त कोई निमित्त या किसी प्रकारका राग-विकल्प उपादेय नहीं है; यह सब तो मात्र जाननेयोग्य है; एक परमशुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। भावनमस्काररूप पर्याय भी निश्चयसे आदरणीय नहीं है, इसप्रकार परमशुद्धात्म स्वभावको ही उपादेयरूपसे अंगीकार करना सो भावार्थ है।

यह पाँच प्रकारसे शास्त्रोंका अर्थ करनेकी बात समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, वृ० द्रव्यसंग्रह, परमात्मप्रकाशकी टीकामें है।

यदि किसी शास्त्रमें वह न कही हो तो भी प्रत्येक शास्त्रके प्रत्येक कथनमें इन पाँच प्रकारसे अर्थ करके उसका भाव समझना चाहिये।

इसप्रकार श्री उमास्वामि विरचित मोक्षशास्त्रके प्रथम अध्यायकी गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्षशास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका







प्रथम अध्याय का

परिशिष्ट

१





टीका सम्पादक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ







[१]

सम्यग्दर्शनके संबंधमें कुछ ज्ञातव्य

(१)

सम्यग्दर्शन की आवश्यकता

प्रश्न:—ज्ञानी जब कहते हैं कि सम्यग्दर्शनसे धर्मका प्रारम्भ होता है, तब फिर सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान और चारित्र कैसे होते हैं ?

उत्तर:—यदि सम्यग्दर्शन न हो तो ग्यारह अंगका ज्ञाता भी मिथ्याज्ञानी है; और उसका चारित्र भी मिथ्याचारित्र है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, जप, तप, भक्ति, प्रत्याख्यान आदि जितने भी आचरण हैं वे सब मिथ्याचारित्र हैं, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन क्या है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

(२)

सम्यग्दर्शन क्या है ?

प्रश्न:—सम्यग्दर्शन क्या है ? वह द्रव्य है, गुण है या पर्याय ?

उत्तर:—सम्यग्दर्शन जीव द्रव्यके श्रद्धागुणकी एक निर्मल पर्याय है। इस जगतमें छह द्रव्य हैं उनमेंसे एक चैतन्यद्रव्य (जीव) है, और पाँच अचेतन-जड़ द्रव्य-पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल हैं। जीव द्रव्य अर्थात् आत्मवस्तुमें अनंत गुण हैं, उनमेंसे एक गुण श्रद्धा (मान्यता विश्वास—प्रतीति) है, उस गुणकी अवस्था अनादिकालसे उल्टी है इसलिये जीवको अपने स्वरूपका भ्रम बना हुआ है, उस अवस्थाको मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस श्रद्धागुणकी सुलटी [—शुद्ध] अवस्था सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार आत्माके श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय सम्यग्दर्शन है।

(३)

श्रद्धागुणकी मुख्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) श्रद्धागुणकी जिस अवस्थाके प्रगट होनेसे अपने शुद्ध आत्मा का प्रतिभास हो सो सम्यग्दर्शन है।

(२) सर्वज्ञ भगवानकी वाणीमें जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा गया है वैसा श्रद्धान करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

[निश्चय सम्यग्दर्शन-निमित्तको, अपूर्ण या विकारी पर्यायको, भंग-भेदको या गुणभेदको स्वीकार नहीं करता—(भेदरूप) लक्षमें नहीं लेता।]

नोटः- वहुतसे लोग यह मानते हैं कि मात्र एक सर्वव्यापक आत्मा है और वह आत्मा कूटस्थमात्र है, किन्तु उनके कथनानुसार चैतन्यमात्र आत्माको मानना सम्यग्दर्शन नहीं है।

(३) स्वरूपका श्रद्धान।

(४) आत्म श्रद्धान [पुरुषार्थसिद्धि उपाय श्लोक २१६]

(५) स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति-श्रद्धान [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७१-सस्ती ग्रन्थमाला देहलीसे प्रकाशित]

(६) परसे भिन्न अपने आत्माकी श्रद्धा-रुचि [समयसार कलश ६, छहढाला तीसरी ढाल, छन्द २।]

नोटः—'यहाँ परसे भिन्न' शब्द सूचित करता है कि सम्यग्दर्शनको पर-वस्तु, निमित्त, अशुद्धपर्याय, अपूर्ण शुद्धपर्याय या भगभेद आदि कुछ भी स्वीकार्य नहीं हैं। सम्यग्दर्शनका विषय [लक्ष्य] पूर्ण ज्ञानघन त्रैकालिक आत्मा है। [पर्यायकी अपूर्णता इत्यादि सम्यग्ज्ञानका विषय है।]

(७) विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावस्वरूप निज परमात्मा की रुचि सम्यग्दर्शन है [जयसेनाचार्यकृत टीका—हिन्दी समयसार पृष्ठ ८]

नोटः—यहाँ 'निज' शब्द है, वह अनेक आत्मा हैं उनसे अपनी भिन्नता वतलाता है।

(८) शुद्ध-जीवास्तिकायकी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व। [जय सेनाचार्यकृत टीका-पचास्तिकाय गाथा १०७ पृष्ठ १७०]

(४)

ज्ञान गुणकी मुख्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) विपरीत अभिनिवेशरहित जीवादि तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है, [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७० तथा पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक २२]

नोट —यह व्याख्या प्रमाण दृष्टिसे है उसमें अस्ति नास्ति दोनों पहलू बताये हैं।

(२) 'जीवादि का श्रद्धान सम्यक्त्व है' अर्थात् जीवादि पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धान स्वरूपमें आत्माका परिणमन सम्यक्त्व है [समयसार गाथा १५५, हिन्दी टीका पृष्ठ २२५, गुजराती पृष्ठ २०१]

(३) भूतार्थसे जाने हुए पदार्थोंसे शुद्धात्माके पृथक्त्वका सम्यक् अवलोकन। [जयसेनाचार्यकृत टीका हिन्दी समयसार पृष्ठ २२६]

नोट —कालम न० २ और ३ यह सूचित करते हैं कि जिसे नव पदार्थों का सम्यग्ज्ञान होता है उसे ही सम्यग्दर्शन होता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी भाव बतलाता है। यह कथन द्रव्यार्थिक नयसे है।

(४) पचाध्यायी भाग दूसरेमें ज्ञानकी अपेक्षासे निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या श्लोक १८६ से १८९ में दी गई है, यह कथन पर्यायार्थिकनयसे है। वह निम्नप्रकार कहा गया है —

[गाथा १८६]—'इसलिये शुद्धतत्त्व कहीं उन नव तत्त्वोंसे विलक्षण अर्थान्तर नहीं है, किन्तु केवल नवतत्त्व संबंधी विकारोंको छोड़कर नवतत्त्व ही शुद्ध है।

भावार्थः—इससे सिद्ध होता है कि केवल विकार की उपेक्षा करने से नवतत्त्व ही शुद्ध हैं, नवतत्त्वोंसे कहीं सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है।']

[गाथा १८७]—'इसलिये सूत्रमें तत्त्वार्थकी श्रद्धा करनेको सम्यग्दर्शन माना गया है, और वह भी जीव-अजीवादिरूप नव हैं, [×××

भावार्थः—विकारकी उपेक्षा करने पर शुद्धत्व नवतत्त्वोंसे अभिन्न है, इसलिये सूत्रकारने [तत्त्वार्थसूत्रमें] नवतत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। ××× "

[गाथा १८८] इस गाथामें 'जीव अजीव आश्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष' इन सात तत्त्वोंके नाम दिये हैं।

[गाथा १८६] "पुण्य और पापके साथ इन सात तत्त्वोंको नव पदार्थ कहा जाता है, और वे नव पदार्थ भूतार्थके आश्रयसे सम्यग्दर्शनका वास्तविक विषय हैं।"

भावार्थ—"पुण्य और पापके साथ यह सात तत्त्व ही नव पदार्थ कहलाते हैं, और वे नव पदार्थ यथार्थताके आश्रयसे सम्यग्दर्शनके यथार्थ विषय हैं।"

नोटः—यह ध्यान रहे कि यह कथन ज्ञानकी अपेक्षासे है। दर्शनापेक्षासे सम्यग्दर्शनका विषय अपना अखंड शुद्ध चैतन्यस्वरूप परिपूर्ण आत्मा है,—यह बात ऊपर बताई गई है।

(५) "शुद्ध चेतना एक प्रकारकी है क्योंकि शुद्धका एक प्रकार है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्धरूप है और वह ज्ञानरूप है इसलिये वह ज्ञान चेतना है" [पंचाध्यायी अध्याय २गाथा १६४]

"सभी सम्यग्दृष्टियोंके यह ज्ञानचेतना प्रवाहरूपसे अथवा अखंड एकधारारूपसे रहती है। [पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ८५१]

(६) ज्ञेय-ज्ञातृत्वकी यथावत् प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है। [प्रवचनसार अध्याय ३ गाथा ४२, श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका पृष्ठ ३३५]

(७) आत्मासे आत्माको जाननेवाला जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि है। [परमात्मप्रकाश गाथा ८२]

(८) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' [तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र २]

(५)

चारित्रगुणकी मुख्यतासे निश्चयसम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) "ज्ञानचेतनामें 'ज्ञान' शब्दसे ज्ञानमय होनेके कारण शुद्धात्माका ग्रहण है, और वह शुद्धात्मा जिसके द्वारा अनुभूत होता है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं" [पचाध्यायी अध्याय २ गाथा १६६—भावार्थ•]

(२) उसका स्पष्टीकरण यह है कि—आत्माका ज्ञानगुण सम्यक्त्व-युक्त होने पर आत्मस्वरूपकी जो उपलब्धि होती है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं"। [पचाध्यायी गाथा १६७]

(३) 'निश्चयसे यह ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके ही होती है। [पचाध्यायी गाथा १६८]

नोट —यहाँ आत्माका जो शुद्धोपयोग है —अनुभव है वह चारित्रगुण की पर्याय है।

(४) आत्माकी शुद्ध उपलब्धि सम्यग्दर्शनका लक्षण है [पचाध्यायी गाथा २१५]

नोट —यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञानकी मुख्यता या चारित्र की मुख्यतासे जो कथन है उसे सम्यग्दर्शनका बाह्य लक्षण जानना चाहिये, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और अनुभवके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी है इसलिये वे सम्यग्दर्शनको अनुमानसे सिद्ध करते हैं। इस अपेक्षासे इसे व्यवहार कथन कहते हैं और दर्शन [श्रद्धा] गुणकी अपेक्षासे जो कथन है उसे निश्चय कथन कहते हैं।

(५) दर्शनका निश्चय स्वरूप ऐसा है कि—भगवान् परमात्म स्वभावके अतीन्द्रिय सुखकी रुचि करनेवाले जीवमें शुद्ध अतरग आत्मिक तत्त्व के आनन्दको उत्पन्न होनेका धाम ऐसे शुद्ध जीवास्तिकायका (अपने जीव-स्वरूपका) परम श्रद्धान, दृढ़ प्रतीति और सच्चा निश्चय ही दर्शन है। (यह व्याख्या सुख गुणकी मुख्यतासे है।)

(६)

अनेकान्त स्वरूप

दर्शन-ज्ञान-चारित्र संबंधी अनेकान्त स्वरूप समझने योग्य है इसलिये वह यहाँ कहा जाता है।

(१) सम्यग्दर्शन—सभी सम्यग्दृष्टियोंके अर्थात् चौथे गुणस्थान से सिद्धोंतक सभीके एक समान है, अर्थात् शुद्धात्माकी मान्यता उन सबके एकसी है—मान्यतामें कोई अंतर नहीं है।

(२) सम्यग्ज्ञान—सभी सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्वकी अपेक्षासे ज्ञान एक ही प्रकारका है किन्तु ज्ञान किसीके हीन या किसीके अधिक होता है। तेरहवें गुणस्थानसे सिद्धोंतकका ज्ञान संपूर्ण होनेसे सर्व वस्तुओंको युगपत् जानता है। नीचेके गुणस्थानोंमें [चौथे से बारहवें तक] ज्ञान क्रमशः होता है, और वहाँ यद्यपि ज्ञान सम्यक् है तथापि कम-बढ़ होता है, उस अवस्थामें जो ज्ञान विकासरूप नहीं है वह अभावरूप है, इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अंतर है।

(३) सम्यक्चारित्र—सभी सम्यग्दृष्टियोंके जो कुछ भी चारित्र प्रगट हुआ हो सो सम्यक् है। और जो दशवें गुणस्थान तक प्रगट नहीं हुआ सो विभावरूप है। तेरहवें गुणस्थानमें अनुजीवीयोग गुण कंपनरूप होनेसे विभावरूप है, और वहाँ प्रतिजीवीगुण बिलकुल प्रगट नहीं है। चौदहवें गुणस्थानमें भी उपादानकी कचाई है इसलिये वहाँ औदयिकभाव है।

(४) जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्रका अंश अभेदरूप होता है, ऊपर कहे अनुसार दर्शनगुणसे ज्ञानगुणका पृथक्त्व और उन दोनों गुणोंसे चारित्रगुणका पृथक्त्व सिद्ध हुआ, इसप्रकार अनेकान्त स्वरूप हुआ।

(५) यह भेद पर्यायार्थिकनयसे है। द्रव्य अखंड है इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे सभी गुण अभेद-अखंड हैं, ऐसा समझना चाहिये।

(७)

दर्शन [श्रद्धा], ज्ञान, चारित्र इन तीनों गुणोंकी अभेददृष्टिसे निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) अखंड प्रतिभासमय, अनंत, विज्ञानघन, परमात्मस्वरूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्‌रूपसे दिखाई देता है—[अर्थात् श्रद्धा की जाती है] और ज्ञात होता है इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। क्योंके पक्षपातको छोड़कर एक अखंड प्रतिभासको अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' ऐसे नाम पाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभवसे भिन्न नहीं है। [समयसार गाथा १४४ टीका भावार्थ,]

(२) वर्ते निज स्वभावका अनुभव लक्ष प्रतीत,
वृत्ति वहे निजभावमें परमार्थे समकित।
[आत्मसिद्धि गाथा १११]

अर्थः—अपने स्वभावकी प्रतीति, ज्ञान और अनुभव वर्ते और अपने भावमें अपनी वृत्ति वहे सो परमार्थ सम्यक्त्व है।

(८)

निश्चय सम्यग्दर्शनका चारित्र के भेदोंकी अपेक्षासे कथन

निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे प्रारंभ होता है, चौथे और पांचवें गुणस्थानमें चारित्रमें मुख्यतया राग होता है इसलिये उसे 'सराग सम्यक्त्व' कहते हैं। छठे गुणस्थानमें चारित्रमें राग गौण है, और ऊपरके गुणस्थानोंमें उसके दूर होते होते अंतमें संपूर्ण वीतराग चारित्र हो जाता है, इसलिये छठे गुणस्थानसे 'वीतराग सम्यक्त्व, कहलाता है।

(९)

निश्चय सम्यग्दर्शनके संबंधमें प्रश्नोत्तर

प्रश्नः—मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीके निमित्तसे होनेवाले विपरीत

अभिनिवेशसे रहित जो श्रद्धा है सो निश्चय सम्यक्त्व है या व्यवहार सम्यक्त्व ?

उत्तरः—वह निश्चय सम्यक्त्व है, व्यवहार सम्यक्त्व नहीं।

प्रश्नः—पंचास्तिकायकी १०७ वीं गाथाकी संस्कृत टीकामें उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है ?

उत्तरः—नहीं, उसमें इसप्रकार शब्द हैं—"मिथ्यात्वोदयजनित विपरीताभिनिवेश रहितं श्रद्धानम्", यहाँ 'श्रद्धान' कहकर श्रद्धानकी पहिचान कराई है, किन्तु उसे व्यवहार सम्यक्त्व नहीं कहा है व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या गाथा १०७ में कथित 'भावाणम्' शब्दके अर्थमें कही है।

प्रश्नः—'अध्यात्मकमलमार्तंड' की सातवीं गाथामें उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है, क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—नहीं, वहाँ निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या है, द्रव्यकर्मके उपशम, क्षय इत्यादिके निमित्तसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है-इसप्रकार निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या करना सो व्यवहारनयसे है क्योंकि वह व्याख्या परद्रव्य की अपेक्षासे की है। अपने पुरुषार्थसे निश्चय सम्यक्त्व प्रगट होता है यह निश्चयनयका कथन है। हिन्दीमें जो 'व्यवहार सम्यक्त्व' ऐसा अर्थ किया है सो यह मूल गाथाके साथ मेल नहीं खाता।

(१०)
व्यवहार सम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) पंचास्तिकाय, छहद्रव्य तथा जीव-पुद्गलके संयोगी परिणामोंसे उत्पन्न आश्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इसप्रकार नव पदार्थोंके विकल्परूप व्यवहार सम्यक्त्व है।

[पंचास्तिकाय गाथा १०७ जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ १७०]

(२) जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंकी ज्योंकी त्यों यथार्थ अटल श्रद्धा करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। [छहढाला, ढाल ३ छन्द ३]

(३) प्रश्नः—क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक है ?

उत्तरः—प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब विकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनका अभाव होता है। इसलिये वह (व्यवहार सम्यग्दर्शन) वास्तवमें निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक नहीं है, तथापि उसे भूत नैगमनयसे साधक कहा जाता है, अर्थात् पहिले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था वह निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट होते समय अभावरूप होता है, इसलिये जब उसका अभाव होता है तब पूर्वकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्म प्रकाश गाथा १४० पृष्ठ १४३, प्रथमावृत्ति संस्कृत टीका) इसप्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण नहीं, किन्तु उसका अभाव कारण है।

(११)

व्यवहाराभास सम्यग्दर्शनको कभी व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहते हैं।

द्रव्यलिंगी मुनिको आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभावकी एकता भी कार्यकारी नहीं है [देखो प्रवचनसार अध्याय ३ गाथा ३६]

यहाँ जो 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' शब्दका प्रयोग हुआ है सो वह भाव निक्षेप से नहीं किन्तु नाम निक्षेपसे है।

'जिसे स्व—परका यथार्थ श्रद्धान नहीं है किन्तु जो वीतराग कथित देव, गुरु और धर्म-इन तीनोंको मानता है तथा अन्य मतमें कथित देवादिको तथा तत्त्वादिको नहीं मानता, ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्वसे वह निश्चय सम्यक्त्वी नाम नहीं पा सकता'। (प० टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी) उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर होगया है इस अपेक्षासे व्यवहार सम्यक्त्व हुआ है ऐसा कहा जाता है, किन्तु उसके अगृहीत मिथ्यादर्शन है इसलिये वास्तवमें उसे व्यवहाराभास सम्यग्दर्शन है।

मिथ्यादृष्टि जीवको देव गुरु धर्मादिका श्रद्धान आभासमात्र होता है, उसके श्रद्धानमें से विपरीताभिनिवेशका अभाव नहीं हुआ है, और उसे व्यवहार सम्यक्त्व आभासमात्र है, इसलिये उसे जो देव गुरु धर्म; नव तत्त्वादि का श्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशके अभावके लिये कारण नहीं हुआ, और कारण हुए विना उसमें [सम्यग्दर्शनका] उपचार संभवित नहीं होता, इसलिये उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन भी संभव नहीं है, उसे व्यवहार सम्यक्त्व, मात्र नामनिक्षेपसे कहा जाता है [मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृष्ठ ४७६–४७७ देहलीका]

(१२)

सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेका उपाय

प्रश्न—सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेका क्या उपाय है।

—(१)—

उत्तर—आत्मा और परद्रव्य सर्वथा भिन्न है, एकका दूसरेमें अत्यंत अभाव है। एक द्रव्य, उसका कोई गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यमें, उसके गुण में या उसकी पर्यायमें प्रवेश नहीं कर सकते; इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, ऐसी वस्तुस्थितिकी मर्यादा है। और फिर प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघुत्व गुण है क्योंकि वह सामान्यगुण है। उस गुणके कारण कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। इसलिये आत्मा परद्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, शरीरको हिला डुला नहीं सकता, द्रव्यकर्म या कोई भी परद्रव्य जीवको कभी हानि नहीं पहुँचा सकता,—यह पहिले निश्चय करना चाहिये।

इसप्रकार निश्चय करनेसे जगतके परपदार्थोंके कर्तृत्वका जो अभिमान आत्माके अनादिकालसे चला आरहा है वह दोष मान्यतामें से और ज्ञानमें से दूर हो जाता है।

शास्त्रोंमें कहा गया है कि द्रव्यकर्म जीवके गुणोंका घात करते हैं, इसलिये कई लोग मानते हैं कि उन कर्मोंका उदय जीवके गुणोंका वास्तवमें घात करता है, और वे लोग ऐसा ही अर्थ करते हैं, किन्तु उनका यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि यह कथन व्यवहारनयका है जो कि केवल निमित्तका ज्ञान करानेवाला है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि-जब जीव अपने पुरुषार्थके दोषसे अपनी पर्यायमें विकार करता है अर्थात् अपनी पर्यायका घात करता है तब उस घातमें अनुकूल निमित्तरूप जो द्रव्यकर्म आत्मप्रदेशोंसे खिरनेके लिये तैयार हुआ है उसे 'उदय' कहनेका उपचार है अर्थात् उस कर्मपर निमित्तका आरोप होता है। और यदि जीव स्वयं अपने सत्यपुरुषार्थसे विकार नहीं करता—अपनी पर्यायका घात नहीं करता तो द्रव्यकर्मोंके उसी समूह को 'निर्जरा' नाम दिया जाता है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक संबंधका ज्ञान करने मात्रके लिये उस व्यवहार कथनका अर्थ होता है। यदि अन्यप्रकारसे (शब्दानुसार ही) अर्थ किया जाय तो इस संबंधके बदले कर्ता, कर्म का संबंध माननेके बराबर होता है, अर्थात् उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार एकरूप हो जाता है, अथवा एक ओर जीवद्रव्य और दूसरी ओर अनंत पुद्गल द्रव्य हैं, तो अनंत द्रव्योंने मिलकर जीवमें विकार किया है ऐसा उसका अर्थ हो जाता है, जो कि ऐसा नहीं हो सकता। यह निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतानेके लिये कर्मके उदयने जीवपर असर करके हानि पहुँचाई,-उसे परिणमित किया इत्यादि प्रकारसे उपचारसे कहा जाता है, किन्तु उसका यदि उस शब्दके अनुसार ही अर्थ किया जाय तो वह मिथ्या है। [देखो समयसार गाथा १२२ से १२५ तथा ३३७ से ३४४, अमृतचन्द्राचार्य की टीका]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये पहिले स्वद्रव्य-परद्रव्य की भिन्नता निश्चित करनी चाहिए, और फिर क्या करना चाहिए सो कहते हैं।

(२)

स्वद्रव्य और परद्रव्यकी भिन्नता निश्चित् करके, परद्रव्यों परसे

(१६)

सम्यग्दर्शनके भेद क्यों कहे गये हैं ?

प्रश्न—यदि सभी सम्यग्दृष्टियोंका सम्यग्दर्शन समान है तो फिर आत्मानुशासनकी ग्यारहवीं गाथामें सम्यग्दर्शनके दश प्रकारके भेद क्यों कहे गये हैं ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनके यह भेद निमित्तादिकी अपेक्षासे कहे गये हैं आत्मानुशासनमें दशप्रकारसे सम्यक्त्वके जो भेद कहे गये हैं उनमें से आठ भेद सम्यग्दर्शन प्रगट होनेसे पूर्व जो निमित्त होते हैं उनका ज्ञान करानेके लिये कहे हैं, और दो भेद ज्ञानके सहकारीपनकी अपेक्षासे कहे हैं। श्रुतकेवलीको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे अवगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं, और केवलीभगवानको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन कहा जाता है, इसप्रकार आठ भेद निमित्तोंकी अपेक्षासे और दो भेद ज्ञानकी अपेक्षासे हैं। 'दर्शनकी' अपनी अपेक्षासे वे भेद नहीं हैं। उन दशों प्रकारमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप एकही प्रकार का होता है,–ऐसा समझना चाहिए, [दे० का मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ६ पृ० ४६३]

प्रश्न—यदि चौथे गुणस्थानसे सिद्धभगवान तक सभी सम्यग्दृष्टियों के सम्यग्दर्शन एकसा है तो फिर केवलीभगवानके परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन क्यों कहा है ?

उत्तर—जैसे छद्मस्थको श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसी प्रकार केवली और सिद्धभगवानको केवलज्ञानके अनुसार ही प्रतीति होती है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर जो आत्मस्वरूप निर्णीत किया था वही केवलज्ञानके द्वारा जाना गया, इसलिये वहाँ प्रतीतिमें परमावगाढ़ता कहलाई, इसीलिये वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है। किन्तु पहिले जो श्रद्धान किया था उसे यदि केवलज्ञानमें मिथ्या जाना होता तब तो छद्मस्थकी श्रद्धा अप्रतीतिरूप कहलाती, किन्तु आत्मस्वरूपका जैसा श्रद्धान छद्मस्थको होता है वैसा ही केवली और सिद्धभगवानको भी होता है;—

तात्पर्य यह है कि मूलभूत जीवादिके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थको होता है वैसा ही केवलीको भी होता है।

(१७)

सम्यक्त्वकी निर्मलताका स्वरूप

औपशमिक सम्यक्त्व वर्तमानमें क्षायिकवत् निर्मल है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें समल तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है। यहाँ जो मलत्व है उसका तारतम्य-स्वरूप केवलज्ञानगम्य है। इस अपेक्षासे वह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। अत्यंत निर्मल तत्त्वार्थ श्रद्धान-क्षायिक सम्यग्दर्शन है। [मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ६] इन सभी सम्यक्त्वमें ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तुच्छ ज्ञानी तिर्यंचादिके तथा केवलीभगवान और सिद्धभगवानके सम्यक्त्व गुण तो समान ही कहा है, क्योंकि सबके अपने आत्माकी अथवा सात तत्त्वोंकी एकसी मान्यता है [मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ७७५ देहली]

सम्यग्दृष्टिके व्यवहार सम्यक्त्वमें निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है,—निरंतर गमन (परिणमन) रूप है, [श्री टोडरमलजी की चिट्ठी]

(१८)

सम्यक्त्वकी निर्मलतामें निम्नप्रकार पाँच भेद भी किये जाते हैं

१-समल अगाढ, २-निर्मल, ३-गाढ़, ४-अवगाढ और ५-परमावगाढ़।

वेदक सम्यक्त्व समल अगाढ है, औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल है, क्षायिक सम्यक्त्व गाढ़ है। अंग और अंग बाह्य सहित जैनशास्त्रोंके अवगाहनसे उत्पन्न दृष्टि अवगाढ़ सम्यक्त्व है, श्रुतकेवलीको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं परमावधिज्ञानीके और केवलज्ञानीके जो तत्त्वश्रद्धान है उसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो भेद ज्ञानके सहकारीभावकी अपेक्षासे हैं [मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ९]

"औपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व अधिक विशुद्ध है", [देखो तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १ नीचेकी कारिका १०-११, तथा उसके नीचे संस्कृत टीका]

"क्षायोपशमिक सम्यक्त्वसे क्षायिक सम्यक्त्वकी विशुद्धि अनंत गुणी अधिक है", [देखो तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १ कारिका १२ नीचे की संस्कृत टीका]

(१६)

सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सम्यक्त्व प्रगट होनेकी बात श्रुतज्ञानके द्वारा बराबर जानता है।

प्रश्न—अपनेको सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है यह किस ज्ञानके द्वारा मालूम होता है?

उत्तर—चौथे गुणस्थानमें भावश्रुतज्ञान होता है उससे सम्यग्दृष्टिको सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेकी बात मालूम हो जाती है। यदि उस ज्ञानके द्वारा खबर नहीं होती ऐसा माना जाय तो उस श्रुतज्ञानको सम्यक् [यथार्थ] कैसे कहा जा सकेगा। यदि अपनेको अपने सम्यग्दर्शनकी खबर न होती हो तो उसमें और मिथ्यादृष्टि अज्ञानीमें क्या अंतर रहा?

प्रश्न—यहाँ आपने कहा है कि सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है, किन्तु पंचाध्यायी अध्याय २ में उसे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान गोचर कहा है। वे श्लोक निम्नप्रकार हैं?—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वांतःपर्ययज्ञानयोर्द्वयो ॥ ३७५ ॥

[अर्थ—सम्यक्त्व वास्तवमें सूक्ष्म है और केवलज्ञानगोचर है तथा अवधि और मनःपर्यय इन दोनोंके गोचर है।] और अध्याय २ गाथा ३७६ में यह कहा है कि वे मति और श्रुतज्ञान गोचर नहीं हैं; और यहाँ आप कहते हैं कि सम्यक् दर्शन श्रुतज्ञानगोचर है, इसका क्या उत्तर है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानगोचर नहीं है इसप्रकार जो ३७६ वीं गाथामें कहा है उसका अर्थ इतना ही है कि-सम्यग्दर्शन उस—उसज्ञानका प्रत्यक्ष विषय नहीं है ऐसा समझना चाहिए। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस ज्ञानसे सम्यक् दर्शन किसी भी प्रकारसे नहीं जाना जा-सकता। इस संबंधमें पंचाध्यायी अध्याय २ की ३७१ और ३७३ वीं गाथा निम्नप्रकार है—

इत्येव ज्ञानतत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने राग-द्वेषौ परित्यजेत् ॥ ३७१ ॥

अर्थ—इसप्रकार तत्त्वोंको जाननेवाले स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानमें राग द्वेषको छोड़ते हैं।

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैं (श्च) संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके दूसरे लक्षण भी हैं। जिन सम्यक्त्वके अविनाभावी लक्षणोंके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव लक्षित होता है।

ये लक्षण गाथा ३७४ में कहते हैं—

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः।
नादेयं कर्म सर्वं च (स्व) तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥ ३७४ ॥

अर्थ—जैसे ऊपर कहा है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टिको इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानका आदर नहीं है तथा आत्म प्रत्यक्ष होनेसे सभी कर्मोंका भी आदर नहीं है।

गाथा ३७५ ३७६ का इतना ही अर्थ है कि—सम्यग्दर्शन केवलज्ञानादि का प्रत्यक्ष विषय है और मति श्रुतज्ञानका प्रत्यक्ष विषय नहीं है, किन्तु मति श्रुतज्ञानमें वह उसके लक्षणोंके द्वारा जाना जा सकता है, और केवलज्ञानादि ज्ञानमें लक्षण लक्ष्यका भेद किये बिना प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

प्रश्नः—इस विषयको दृष्टांतपूर्वक समझाइये ?

उत्तर—स्वानुभवदशामें जो आत्माको जाना जाता है सो श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, वह मतिज्ञान-श्रुतज्ञान परोक्ष है इसलिये वहाँ आत्माका जानना प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ जो आत्माको भलीभाँति स्पष्ट जानता है उसमें पारमार्थिक प्रत्यक्षत्व नहीं है तथा जैसे पुद्गल पदार्थ नेत्रादिके द्वारा जाना जाता है उसीप्रकार एकदेश (अंशतः) निर्मलतापूर्वक भी आत्माके असंख्यातप्रदेशादि नहीं जाने जाते, इसलिये सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नहीं है।

अनुभवमें आत्मा तो परोक्ष ही है, कहीं आत्माके प्रदेशोंका आकार भासित नहीं होता, परन्तु स्वरूपमें परिणाम मग्न होने पर जो स्वानुभव हुआ वह (स्वानुभव) प्रत्यक्ष है। इस स्वानुभवका स्वाद कहीं आगम-अनुमानादि परोक्षप्रमाणके द्वारा ज्ञान नहीं होता, किन्तु स्वयं ही इस अनुभवके रसास्वाद को प्रत्यक्ष वेदन करता है जानता है। जैसे कोई अंध पुरुष मिश्रीका स्वाद लेता है, वहाँ मिश्रीका आकारादि परोक्ष है, किन्तु जिह्वाके द्वारा स्वाद लिया है इसलिये वह स्वाद प्रत्यक्ष है,—ऐसा अनुभवके संबंधमें जानना चाहिए। [टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी।] यह दशा चौथे गुणस्थानमें होती है।

इसप्रकार आत्माका अनभव जाना जा सकता है, और जिस जीवको उसका अनुभव होता है उसे सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिये मति-श्रुतज्ञानसे सम्यग्दर्शन भलीभाँति जाना जा सकता है।

प्रश्नः—इस संबंधमें पंचाध्यायीकारने क्या कहा है ?

उत्तरः—पंचाध्यायीके पहले अध्यायमें मति-श्रुतज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि—

अपि किंचाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥ ७०६ ॥

अर्थः—और विशेष यह है कि—स्वानुभूतिके समय जितना भी पहिले

उस मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका द्वैत रहता है उतना वह सब साक्षात् प्रत्यक्षकी भाँति प्रत्यक्ष है, दूसरा नहीं-परोक्ष नहीं।

भावार्थ—तथा उस मति और श्रुतज्ञानमें भी इतनी विशेषता है कि-जिस समय उन दो ज्ञानोंमेंसे किसी एक ज्ञानके द्वारा स्वानुभूति होती है उस समय यह दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्माको प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए यह दोनों ज्ञान भी स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष हैं—परोक्ष नहीं।

प्रश्नः—क्या इस सबधमें कोई और शास्त्राधार है?

उत्तरः—हाँ, प० टोडरमलजीकृत रहस्यपूर्ण चिट्ठीमें निम्नप्रकार कहा है,—

"जो प्रत्यक्षके समान होता है उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोकमें भी कहते हैं कि-'हमने स्वप्नमें या ध्यानमें अमुक मनुष्यको प्रत्यक्ष देखा,' यद्यपि उसने प्रत्यक्ष नहीं देखा है तथापि प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ देखा है इसलिये उसे प्रत्यक्ष कह देते हैं, इसीप्रकार अनुभवमें आत्मा प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है।'

प्रश्नः—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार परमागममें इस सबधमें क्या कहा है?

उत्तरः—(१) श्री समयसारकी ४६ वीं गाथाकी टीकामें इस प्रकार कहा है,—'इसप्रकार रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द, सस्थान और व्यक्तता का अभाव होने परभी स्वसवेदनके बलसे सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगोचर मात्रताके अभावके कारण (जीवको) अलिंगग्रहण कहा जाता है।'

"अपने अनुभवमें आनेवाले चेतना गुणके द्वारा सदा अतरगमें प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतना गुणवाला है।"

(२) श्री समयसार की १४३ वीं गाथा की टीकामें इसप्रकार कहा है,—

टीकाः—जैसे केवली भगवान, विश्वके साक्षीपनके कारण, श्रुतज्ञानके अवयवभूत-व्यवहार निश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं किन्तु,

निरंतर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन होनेसे, श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तत्वके द्वारा (श्रुतज्ञानकी भूमिकाको उलंघन कर चुकनेसे) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, उसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), जिसकी उत्पत्ति क्षयोपशम से होती है ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्पोंके उत्पन्न होते हुए भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निश्चयनय पक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं, किन्तु तीक्ष्ण ज्ञान दृष्टिसे ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके कारण (चैतन्यमय आत्माके अनुभवसे) उस समय (अनुभवके समय) स्वयं ही विज्ञानघन होनेसे, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अंतर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोंकी भूमिका की अतिक्रांतताके द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तवमें समस्त विकल्पोंसे परे, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थः—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्षके स्वरूपके साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करते हैं तब वे नयपक्षके स्वरूपके ज्ञाता ही होते हैं। एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाय तो मिथ्यात्वके साथ मिश्रित राग होता है; प्रयोजनके वश एक नयको प्रधान करके उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त चारित्र मोहका राग रहता है; और जब नयपक्षको छोड़कर केवल वस्तु स्वरूपको जानता है तब श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतरागके समान ही होता है, ऐसा समझना चाहिए।

(२) श्री समयसारकी ५ वीं गाथामें आचार्यदेव कहते हैं कि—"उस एकत्वविभक्त आत्माको मैं आत्माके निज वैभवके द्वारा दिखाता हूँ, यदि मैं उसे दिखाऊं तो प्रमाण करना।" उसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—"यों जिसप्रकारसे मेरा ज्ञानका वैभव है उस समस्त

वैभवसे दिखलाता हूँ। यदि दिखाऊ तो स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण कर लेना"। आगे जाकर भावार्थमें बताया है– कि— 'आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परापर गुरुका उपदेश, और स्वसंवेदन–इन चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्व–विभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। उसे सुननेवाले हे श्रोताओं! अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे प्रमाण करो"। इससे सिद्ध होता है कि—अपनेको जो सम्यक्त्व होता है उसकी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे श्रुतप्रमाण (सच्चेज्ञान) के द्वारा अपनेको खबर हो जाती है।

(४) कलश ९ में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि—

मालिनी

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

अर्थ—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते हैं कि इन सर्व भेदोंको गौण करनेवाला जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्य चमत्कार मात्र तेज पुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होनेपर नयोंकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नहीं होती। प्रमाण अस्तको प्राप्त होता है और निक्षेपोंका समूह कहाँ चला जाता है सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थ— × × × × × × शुद्ध अनुभव होनेपर द्वैत ही भासित नहीं होता, केवल एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

इससे भी सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थानमें भी आत्माको स्वयं अपने भावश्रुतके द्वारा शुद्ध अनुभव होता है। समयसारमें लगभग प्रत्येक गाथामें यह अनुभव होता है, यह बतलाकर अनुभव करनेका उपदेश दिया है।

सम्यक्त्व सूक्ष्म पर्याय है यह ठीक है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर सकता है कि मुझे सुमति और सुश्रुतज्ञान हुआ है, और इससे श्रुतज्ञान में यह निश्चय करता है कि—उसका (सम्यग्ज्ञानका) अविनाभावी सम्यग्दर्शन मुझे हुआ है। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान सम्यग्दर्शनको प्रत्यक्ष जान सकता है,—इतना ही मात्र अंतर है।

पंचाध्यायीकी गाथा १९६–१९७–१९८ की हिन्दी टीका (पं० मक्खनलालजी कृत) में कहा है कि " ज्ञानशब्दसे आत्मा समझना चाहिए, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है; वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जाना जाता है उसका नाम ज्ञान चेतना है अर्थात् जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होता है-केवल शुद्धात्माका अनुभव करता है उससमय उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है। ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिको ही होती है, मिथ्यादृष्टिको कभी नहीं हो सकती। "

सम्यक्मति और सम्यक् श्रुतज्ञान कथंचित् अनुभवगोचर होनेसे प्रत्यक्षरूप भी कहलाता है; और संपूर्णज्ञान जो केवलज्ञान है वह यद्यपि छद्मस्थको प्रत्यक्ष नहीं है तथापि शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष बतलाता है।

[श्री समयसार गाथा १४ के नीचेका भावार्थ] इसप्रकार सम्यग्दर्शनका यथार्थज्ञान सम्यक्मति और श्रुतज्ञानके अनुसार हो सकता है।

(२०)

कुछ प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्न—जब ज्ञानगुण आत्माभिमुख होकर आत्मलीन हो जाता है तब उस ज्ञानकी विशेष अवस्थाको सम्यग्दर्शन कहते हैं, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नहीं, यह ठीक नहीं; सम्यग्दर्शन दर्शन (श्रद्धा) गुणकी पर्याय है, वह ज्ञानकी विशेष पर्याय नहीं है। ज्ञानकी आत्माभिमुख अवस्थाके समय सम्यग्दर्शन होता है; यह सही है किन्तु सम्यक्दर्शन ज्ञानकी पर्याय नहीं है।

(२) प्रश्न— क्या सुगुरु सुदेव और सुशास्त्रकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है?

उत्तर—यह निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं किन्तु व्यवहारसम्यग्दर्शन है, क्योंकि वहाँ रागमिश्रित विचार (विकल्प) सहित श्रद्धा है, ऐसी श्रद्धा (व्यवहार सम्यग्दर्शन) होनेके बाद जीव जब अपने त्रिकाल अखंड चैतन्य स्वरूपकी ओर उन्मुख होता है तब राग-विकल्पका सबध अंशत दूर होकर निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

(३) प्रश्न—क्या व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण है?

उत्तर—नहीं, व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण नहीं है। व्यवहारसम्यग्दर्शन विकार है, और निश्चयसम्यग्दर्शन शुद्ध पर्याय है। विकार अविकारका कारण कैसे हो सकता है? अर्थात् व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण नहीं हो सकता, किन्तु उसका व्यय (अभाव) होकर निश्चयसम्यग्दर्शनका उत्पाद सुपात्र जीवोंको अपने पुरुषार्थसे होता है।

जहाँ शास्त्रमें व्यवहारसम्यग्दर्शनको निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण कहा है वहाँ यह समझना चाहिये कि व्यवहारसम्यग्दर्शनको अभावरूप कारण कहा है। कारणके दो प्रकार हैं—(१) निश्चय (२) और व्यवहार। निश्चय कारण तो अवस्थारूपसे होनेवाला द्रव्य स्वय है और व्यवहार कारण पूर्वकी पर्यायका व्यय होता है।

(४) प्रश्न—श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आदि जितने गुण हैं वे सब सम्यक्त्व नहीं किन्तु ज्ञानकी पर्याय हैं ऐसा पचाध्यायी अध्याय २ गाथा ३८६-३८७ में कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जब आत्मा जीवादि सात तत्त्वोंका विचार करता है तब उसके ज्ञानमें रागसे भेद होता है इसलिये वे ज्ञानकी पर्याय हैं और वे सम्यक् नहीं हैं ऐसा कहा है।

सात तत्त्व और नव पदार्थोंका निर्विकल्पज्ञान निश्चय सम्यग्दर्शन सहितका ज्ञान है। [देखो पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक १८६-१८६]

श्लोक ३८६ के भावार्थमें कहा है कि—"परंतु वास्तवमें ज्ञान भी यही है कि जैसेको तैसा जानना और सम्यक्त्व भी यही है कि जैसेका तैसा श्रद्धान करना"।

इससे समझना चाहिए कि रागमिश्रित श्रद्धा ज्ञानकी पर्याय है। राग-रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसे सम्यक् मान्यता अथवा सम्यक् प्रतीति भी कहते हैं। गाथा ३८७ में कहा है कि—ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शनका लक्षण है,—इसका यह अर्थ है कि अनुभूति स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं है किन्तु जब वह होती है तब सम्यग्दर्शन अविनाभावीरूप होता है इसलिये उसे बाह्य लक्षण कहा है। [देखो, पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ४०१-४०२-४०३] सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है, और आत्मानुभूति होती है,—अर्थात् ज्ञान स्वज्ञेयमें स्थिर होता है। किन्तु वह स्थिरता कुछ समय ही रहती है। और राग होनेसे ज्ञान स्वमें से छूटकर परकी ओर जाता है तब भी सम्यग्दर्शन होता है। और यद्यपि ज्ञानका उपयोग दूसरेके जाननेमें लगा हुआ है तथापि वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उस समय अनुभूति उपयोगरूप नहीं है फिर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि लब्धरूप अनुभूति है।

(५) प्रश्न—'सम्यग्दर्शनका एक लक्षण ज्ञानचेतना है' क्या यह ठीक है?

उत्तर—ज्ञानचेतनाके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता ही है इसलिये वह व्यवहार अथवा बाह्य लक्षण है।

(६) प्रश्न—'अनुभूतिका नाम चेतना है' क्या यह ठीक है?

उत्तर—ज्ञानकी स्थिरता अर्थात् शुद्धोपयोग (अनुभूति) को उपयोग-रूप ज्ञानचेतना कहा जाता है।

(७) प्रश्न—यदि सम्यक्त्वका विषय सभीके एकसा है तो फिर सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक—ऐसे भेद क्यों किये हैं?

उत्तर—दर्शन मोहनीय कर्मके अनुभागबंधकी अपेक्षासे वे भेद नहीं हैं किन्तु स्थितिबंधकी अपेक्षासे हैं। उनके कारणसे उनमें आत्माकी मान्यता में कोई अंतर नहीं पड़ता। प्रत्येक प्रकारके सम्यग्दर्शनमें आत्माकी मान्यता एक ही प्रकारकी है। आत्माके स्वरूपकी जो मान्यता औपशमिक सम्यक्दर्शन में होती है वही क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनमें होती है। केवली भगवानको परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है, उनके भी आत्मस्वरूपकी उसी प्रकारकी मान्यता होती है। इसप्रकार सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके आत्मस्वरूप की मान्यता एक ही प्रकारकी होती है। [देखो, पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ६३४—६३८]

(२१)

ज्ञानचेतनाके विधानमें अंतर क्यों है?

प्रश्न—पंचाध्यायी और पंचास्तिकायमें ज्ञानचेतनाके विधानमें अंतर क्यों है?

उत्तर—पंचाध्यायीमें चतुर्थ गुणस्थानसे ज्ञानचेतनाका विधान किया है [अध्याय २ गाथा ८५४], और पंचास्तिकायमें तेरवें गुणस्थानसे ज्ञानचेतना को स्वीकार किया है, किन्तु इससे उसमें विरोध नहीं आता। सम्यग्दृष्टि जीवके शुभाशुभभावका स्वामित्व नहीं है इस अपेक्षासे पंचाध्यायीमें चतुर्थ गुणस्थानसे ज्ञानचेतना कही है। भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवने क्षायोपशमिक भावमें कर्म निमित्त होता है इस अपेक्षासे नीचेके गुणस्थानोंमें उसे स्वीकार नहीं किया है। दोनों कथन विवक्षाधीन होनेसे सत्य है।

(२२)

इस संबंधमें विचारणीय नव विषय—

(१) प्रश्न—गुणके समुदायको द्रव्य कहा है और संपूर्ण गुण द्रव्य के प्रत्येक प्रदेशमें रहते हैं इसलिये यदि आत्माका एक गुण (–सम्यग्दर्शन)

क्षायिक हो जाय तो संपूर्ण आत्मा ही क्षायिक हो जाना चाहिए और उसी क्षण उसकी मुक्ति हो जानी चाहिए, ऐसा क्यों नहीं होता ?

उत्तर—जीव द्रव्यमें अनंत गुण हैं, वे प्रत्येक गुण असहाय और स्वाधीन हैं, इसलिये एक गुणकी पूर्ण शुद्धि होनेपर दूसरे गुणकी पूर्ण शुद्धि होनी ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है। आत्मा अखंड है इसलिये एक गुण दूसरे गुणके साथ अभेद है—प्रदेश भेद नहीं है, किन्तु पर्यायापेक्षासे प्रत्येक गुणकी पर्यायके भिन्न २ समयमें पूर्ण शुद्ध होनेमें कोई दोष नहीं है; जब द्रव्यापेक्षासे संपूर्ण शुद्धि प्रगट हो तब द्रव्यकी संपूर्ण शुद्धि प्रगट हुई मानी जाय, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेपर संपूर्ण आत्मा क्षायिक होना चाहिए और तत्काल मुक्ति होनी चाहिए ऐसा मानना ठीक नहीं है।

(२) प्रश्न—एक गुण सर्व गुणात्मक है और सर्व गुण एक गुणात्मक है; इसलिये एक गुणके संपूर्ण प्रगट होनेसे अन्य संपूर्ण गुण भी पूर्ण-रीतिसे उसीसमय प्रगट होना चाहिए,—क्या यह ठीक है ?

उत्तर—यह मान्यता ठीक नहीं है। गुण और गुणी अखंड हैं इस अभेदापेक्षासे गुण अभेद हैं—किन्तु इसीलिये एक गुण दूसरे सभी गुणरूप है ऐसा नहीं कहा जा सकता; ऐसा कहने पर प्रत्येक द्रव्य एक ही गुणात्मक हो जायगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। भेदकी अपेक्षासे प्रत्येक गुण भिन्न, स्वतंत्र, असहाय है, एक गुणमें दूसरे गुणकी नास्ति है, वस्तुका स्वरूप भेदाभेद है—ऐसा न माना जाय तो द्रव्य और गुण सर्वथा अभिन्न हो जायँगे। एक गुणका दूसरे गुणके साथ निमित्त नैमित्तिक संबंध है,—इस अपेक्षासे एक गुणको दूसरे गुणका सहायक कहा जाता है। [जैसे सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है।]

(३) प्रश्न—आत्माके एक गुणका घात होनेमें उस गुणके घातमें निमित्तरूप जो कर्म है उसके अतिरिक्त दूसरे कर्म निमित्तरूप घातक हैं या नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—अनतानुबंधी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है इसलिये वह चारित्रके घातमें निमित्त हो सकती है, किन्तु वह सम्यग्दर्शनके घातमें निमित्त कैसे मानी जाती है?

उत्तर—अनतानुबंधीके उदयमें युक्त होनेपर क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं किन्तु कहीं अतत्त्व श्रद्धान नहीं होता, इसलिये वह चारित्रके घातका ही निमित्त होता है, किन्तु सम्यक्त्वके घातमें वह निमित्त नहीं है, परमार्थसे तो ऐसा ही है, किन्तु अनतानुबंधीके उदयसे जैसे क्रोधादिक होते हैं वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्वके सद्भावमें नहीं होते,—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सबंध है इसलिये उपचारसे अनतानुबंधीमें सम्यक्त्वकी घातकता कही जाती है। [मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ४४६ देहली ।)

(४) प्रश्न—ससारमें ऐसा नियम है कि प्रत्येक गुण का क्रमिक विकास होता है, इसलिये सम्यग्दर्शनका भी क्रमिक विकास होना चाहिए। क्या यह ठीक है?

उत्तर—ऐसा एकात सिद्धात नहीं है। विकासमें भी अनेकात स्वरूप लागू होता है,—अर्थात् आत्माका श्रद्धागुण उसके विषयकी अपेक्षासे एकसाथ प्रगट होता है और आत्माके ज्ञानादि कुछ गुणोंमें क्रमिक विकास होता है।

अक्रमिक विकास का दृष्टात

मिथ्यादर्शनके दूर होने पर एक समयमें सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसमें क्रम नहीं पड़ता। जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तभीसे वह अपने विषयके प्रति पूर्ण और क्रम रहित होता है।

क्रमिक विकास का दृष्टात

सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रमें क्रमशः विकास होता है। इसप्रकार विकास में क्रमिकता और अक्रमिकता आती है। इसलिये विकासका स्वरूप अनेकात है ऐसा समझना चाहिए।

दोनों भिन्न २ गुण हैं तथापि उन दोनोंके घातमें निमित्तकर्म एक मोह ही माना गया है, इसका क्या कारण है?

प्रश्न का विस्तार

इस प्रश्न परसे निम्न लिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१—जब कि मोहनीय कर्म सम्यक्त्व और चारित्र दोनों गुणोंके घातमें निमित्त है तब मूल प्रकृतियोंमें उसके दो भेद मानकर नौ कर्म कहना चाहिए, किन्तु आठ ही क्यों कहे गये हैं?

२—जब कि मोहनीय कर्म दो गुणोंके घातनेमें निमित्त है तब चार घातिया कर्म चार ही गुणोंके घातनेमें निमित्त क्यों बताये गये हैं? पाँच गुणोंका घात क्यों नहीं माना गया?

३—शुद्ध जीवोंके कर्म नष्ट होनेपर प्रगट होनेवाले जो आठ गुण कहे हैं, उनमें चारित्रको न कहकर सम्यक्त्वको ही कहा है इसका क्या कारण है? वहाँ चारित्रको क्यों छोड़ दिया है?

४—कहीं कहीं चारित्र अथवा सम्यक्त्वमेंसे एकको भी न कहकर सुख गुणका ही उल्लेख किया गया है सो ऐसा क्यों?

उत्तर

जब जीव अपना निजस्वरूप प्रगट न करे और संसारिक दशाको बढ़ाये तब मोहनीय कर्म निमित्त है किन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है कि कर्म जीवका कुछ कर सकते हैं। संसारिक दशाका अर्थ यह है कि जीवमें आकुलता हो, अशांति हो, क्षोभ हो। इस अशांतिके तीन भाग किये जा सकते हैं:—१-अशांतिरूप वेदनका ज्ञान, २-उस वेदन की ओर जीव झुके तब निमित्त कारण, और ३-अशांतिरूप वेदन। उस वेदनका ज्ञान ज्ञानगुणमें गर्भित हो जाता है। उस ज्ञानके कारणमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम निमित्त है। जब जीव उस वेदन की ओर लगता है तब वेदनीय कर्म उस कार्यमें निमित्त होता है; और वेदनमें मोहनीय निमित्त है। अशांति, मोह, आत्म-

ज्ञानपराङ्मुखता, तथा विषयासक्ति,—यह सब मोहके ही कार्य हैं। कारणके नाशसे कार्य भी नष्ट हो जाता है इसलिये विषयासक्तिको घटाने से पूर्व ही आत्मज्ञान उत्पन्न करनेका उपदेश भगवानने दिया है।

मोहके कार्यको दो प्रकारसे विभक्त कर सकते हैं—१ दृष्टिकी विमुखता और २—चारित्र की विमुखता। दोनोंमें विमुखता सामान्य है। वे दोनों सामान्यतया 'मोह' के नामसे पहिचानी जाती हैं, इसलिये उन दोनोंको अभेदरूपसे एक कर्म बतलाकर उसके दो उपविभाग 'दर्शन मोह' और 'चारित्र मोह' कहे हैं। दर्शनमोह अपरिमितमोह है और चारित्रमोह परिमित। मिथ्यादर्शन संसार की जड है, सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही मिथ्यादर्शन का अभाव हो जाता है। मिथ्यादर्शन में दर्शनमोह निमित्त है, दर्शनमोहका अभाव होनेपर उसी समय चारित्र मोहका एक उपविभाग जो कि अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ है उसका एक ही साथ अभाव हो जाता है, और तत्पश्चात् क्रमशः वीतरागताके बढनेपर चारित्रमोहका क्रमशः अभाव होता जाता है, इसलिये दर्शनको कारण और चारित्रको कार्य भी कहा जाता है, इसप्रकार भेदकी अपेक्षासे ये पृथक् हैं। इसलिये प्रथम अभेदकी अपेक्षासे 'मोह' एक होनेसे उसे एक कर्म मानकर फिर उसके दो उपविभाग—दर्शनमोह और चारित्रमोह माने गये हैं।

चार घातिया कर्मोंको चार गुणोंके घातमें निमित्त कहा है इसका कारण यह है कि—मोह कर्मको अभेदकी अपेक्षासे जब एक माना है तब श्रद्धा और चारित्र गुणको अभेदकी अपेक्षासे शांति (सुख) मान कर चार गुणोंके घातमें चार घातिया कर्मोंको निमित्तरूप कहा है।

शंका—यदि मिथ्यात्व और कषाय एक ही हो तो मिथ्यात्वका नाश होने पर कषायका भी अभाव होना चाहिए, जिस कषायके अभावको चारित्र की प्राप्ति कहते हैं,—किन्तु ऐसा नहीं होता और सम्यक्त्वके प्राप्त होने पर भी चौथे गुणस्थानमें चारित्र प्राप्त नहीं होता, इसलिये चौथे गुणस्थान को अव्रतरूप कहा जाता है। अणुव्रतके होनेपर पाँचवाँ गुणस्थान होता है, और

पूर्ण व्रतके होने पर 'व्रती' संज्ञा होने पर भी यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार विचार करनेसे मालूम होगा कि सम्यक्त्वके क्षायिक रूप पूर्ण होने पर भी चारित्र की प्राप्तिमें अथवा पूर्णतामें विलंब होता है इसलिये सम्यक्त्व और चारित्र अथवा मिथ्यात्व और कषायोंमें एकता तथा कार्य-कारणता कैसे ठीक हो सकती है?

समाधान—मिथ्यात्वके न रहनेसे जो कषाय रहती है वह मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली अति तीव्र अनंतानुबंधी कषायोंके समान नहीं होती, किंतु अति मंद हो जाती है, इसलिये वह कषाय चाहे जैसा बंध करे तथापि वह बंध दीर्घसंसारका कारणभूत नहीं होता, और इससे ज्ञानचेतना भी सम्यग्दर्शनके होते ही प्रारंभ हो जाती है,–जोकि बंधके नाशका कारण है, इसलिये जब प्रथम मिथ्यात्व होता है तब जो चेतना होती है वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होती है—जोकि पूर्ण बंधका कारण है। इसका सारांश यह है कि— कषाय तो सम्यग्दृष्टिके भी शेष रहती है किन्तु मिथ्यात्वका नाश होनेसे अति मंद हो जाती है और उससे सम्यग्दृष्टि जीव कुछ अंशोंमें अबंध रहता है और निर्जरा करता है; इससे मिथ्यात्व और कषायका कुछ अविनाभाव अवश्य है।

अब शंका की बात यह रह जाती है कि—मिथ्यात्वके नाशके साथ ही कषायका पूर्ण नाश क्यों नहीं होता? इसका समाधान यह है कि—मिथ्यात्व और कषाय सर्वथा एक वस्तु तो नहीं हैं। सामान्य स्वभाव दोनोंका एक है किन्तु विशेष की अपेक्षासे कुछ भेद भी है। विशेष—सामान्यकी अपेक्षासे भेद-अभेद दोनों को यहाँ मानना चाहिए। यह भाव दिखानेके लिए ही शास्त्रकारने सम्यक्त्व और आत्मशांतिके घातका निमित्त मूल प्रकृति एक 'मोह' रखी है और उत्तर प्रकृतिमें दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय—दो भेद किये हैं। [इस स्पष्टीकरणमें पहिली और दूसरी शंकाका समाधान हो जाता है] जब कि उत्तर प्रकृतिमें भेद है तब उसके नाशका पूर्ण अविनाभाव कैसे हो सकता है? [-नहीं हो सकता] हाँ, मूल कारणके न रहने पर चारित्र-

मोहनीय की स्थिरता भी अधिक नहीं रहती। दर्शनमोहनीयके साथ न सही, तो भी थोडे ही समयमें चारित्रमोहनीय भी नष्ट हो जाता है।

अथवा सम्यक्त्वके हो जाने पर भी ज्ञान सदा स्वानुभूतिमें ही तो नहीं रहता, जब ज्ञानका बाह्य लक्ष्य हो जाता है तब स्वानुभूतिसे हट जानेके कारण सम्यग्दृष्टि भी विषयोंमें अल्पतन्मय हो जाता है, किन्तु यह छद्मस्थ ज्ञानकी चचलताका दोष है और उसका कारण भी कषाय ही है। उस ज्ञान की केवल कषाय-नैमित्तिक चचलता कुछ समय तक ही रह सकती है, और वह भी तीव्र बधका कारण नहीं होती।

भावार्थ—यद्यपि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे ससारकी जड कट जाती है किन्तु दूसरे कर्मोंका उसी क्षण सर्व नाश नहीं हो जाता। कर्म अपनी अपनी योग्यतानुसार बँधते है और उदयमें आते हैं। जैसे—मिथ्यात्वके साथी चारित्र मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागरकी होती है। इससे यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व ही समस्त दोषोंमें अधिक बलवान दोष है, और वही दीर्घससारकी स्थापना करता है, इसलिये यह समझना चाहिए कि उसका नाश किया और ससारका किनारा आगया। किन्तु साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मोह तो दोनों हैं। उनमें से एक (दर्शनमोह) अम र्यादित है और दूसरा (चारित्रमोह) मर्यादित है। किन्तु दोनों ससारके ही कारण हैं।

यदि ससारका सक्षेपमें स्वरूप कहा जाय तो वह दु खमय है, इसलिये आनुषगिक रूपसे दूसरे कर्म भी भले ही दुखके निमित्त कारण हों किन्तु मुख्य निमित्तकारण तो मोहनीयकर्म ही है। जबकि सर्वदु खका कारण (निमित्तरूपसे) मोहनीय कर्ममात्र है तो मोहके नाशको सुख कहना चाहिए। जो प्रथकार मोहके नाशको सुख गुणकी प्राप्ति मानते हैं उनका मानना मोहके सयुक्त कार्यकी अपेक्षा से ठीक है। वैसा मानना अभेद-व्यापकदृष्टिसे है। इसलिये जो सुखको अनत चतुष्टयमें गर्भित करते हैं वे चारित्र तथा सम्यक्त्वको भिन्न नहीं गिनते, क्योंकि सम्यक्त्व तथा चारित्रके सामुदायिक स्वरूपको सुख कहा जा सकता है।

चारित्र और सम्यक्त्व दोनोंका समावेश सुखगुणमें अथवा स्वरूपलाभमें ही होता है; इसलिये चारित्र और सम्यक्त्वका अर्थ सुख भी हो सकता है। जहाँ सुख और वीर्यगुणका उल्लेख अनंत चतुष्टयमें किया गया है वहाँ उन गुणोंकी मुख्यता मानकर कहा है, और दूसरोंको गौण मानकर नहीं कहा है, तथापि उन्हें उनमें संग्रहीत हुआ समझ लेना चाहिए, क्योंकि वे दोनों सुखगुणके विशेषाकार हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्म किस गुणके घातमें निमित्त है। और इससे वेदनीयकी अघातकता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि वेदनीय किसीके घातनेमें निमित्त नहीं है; मात्र घात हुए स्वरूपका जीव जब अनुभव करता है तब निमित्तरूप होता है। [इस स्पष्टीकरणमें तीसरी और चौथी शंका का समाधान हो जाता है।]

[यह बात विशेष ध्यानमें रखनी चाहिए कि जीवमें होनेवाले विकारभावोंको जीव जब स्वयं करता है तब कर्मका उदय उपस्थितरूपमें निमित्त होता है, किन्तु उस कर्मके रजकणोंने जीवका कुछ भी किया है या कोई असर पहुँचाया है, यह मानना सर्वथा मिथ्या है। इसीप्रकार जीव जब विकार करता है तब पुद्गल कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमित होती है,—ऐसा निमित्तनैमित्तिक संबंध है। जीवको विकारीरूपमें कर्म परिणमित करता है और कर्मको जीव परिणमित करता है,-इसप्रकार संबंध बतानेवाला व्यवहार कथन है। वास्तवमें जड़को कर्मरूपमें जीव परिणमित नहीं कर सकता और कर्म जीवको विकारी नहीं कर सकता, गोमट्टसार आदि कर्म शास्त्रोंका इसप्रकार अर्थ करना ही न्यायपूर्ण है।]

(८) प्रश्न—बंधके कारणोंमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-ये पाँचों मोक्षशास्त्रमें कहे हैं, और दूसरे आचार्य कषाय तथा योग दो ही बतलाते हैं, इसप्रकार वे मिथ्यात्व अविरति और प्रमादको कषायका भेद मानते हैं। कषाय चारित्रमोहनीयका भेद है, इससे यह प्रतीत होता है कि चारित्रमोहनीय ही सभी कर्मोंका कारण है। क्या यह कथन ठीक है?

उत्तर—मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद कषायके उपभेद हैं किन्तु इससे यह मानना ठीक नहीं है कि कषाय चारित्रमोहनीयका भेद है। मिथ्यात्व महा कषाय है। जब 'कषाय' को सामान्य अर्थमें लेते हैं तब दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनोंरूप माने जाते हैं, क्योंकि कषायमें मिथ्यादर्शनका समावेश हो जाता है जब कषायको विशेष अर्थमें प्रयुक्त करते हैं तब वह चारित्र मोहनीयका भेद कहलाता है। चारित्र मोहनीय कर्म उन सब कर्मोंका कारण नहीं है, किन्तु जीवका मोहभाव उन सात अथवा आठ कर्मोंके बंध का निमित्त है।

(६) प्रश्न—सात प्रकृतियोंका क्षय अथवा उपशमादि होता है सो वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है या निश्चयसम्यग्दर्शन ?

उत्तर—वह निश्चयसम्यग्दर्शन है।

प्रश्न—सिद्ध भगवानके व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है या निश्चय सम्यग्दर्शन ?

उत्तर—सिद्धोंके निश्चयसम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न—व्यवहारसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्दर्शनमें क्या अंतर है ?

उत्तर—जीवादि नव तत्त्व और सच्चे देव गुरु शास्त्रकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहारसम्यक्त्व कहते हैं। जो जीव उस विकल्पका अभाव करके अपने शुद्धात्माकी ओर उन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसे पहिले व्यवहारसम्यक्त्व था ऐसा कहा जाता है। जो जीव निश्चय सम्यग्दर्शनको प्रगट नहीं करता उसका वह व्यवहाराभाससम्यक्त्व है। जो उसीका अभाव करके निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसके व्यवहार-सम्यग्दर्शन उपचारसे (अर्थात् व्ययरूपमें–अभावरूपमें) निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीवको विपरीताभिनिवेश रहित जो आत्माका श्रद्धान है सो निश्चयसम्यग्दर्शन है, और देव, गुरु धर्मादिका श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन

है इसप्रकार एक कालमें सम्यग्दृष्टिके दोनों सम्यग्दर्शन होते हैं। कुछ मिथ्या-दृष्टियोंको द्रव्यलिंगी मुनियोंको और कुछ अभव्य जीवोंको देव गुरु धर्मादिका श्रद्धान होता है, किन्तु वह आभासमात्र होता है. क्योंकि उनके निश्चय सम्यक्त्व नहीं है इसलिये उनका व्यवहार सम्यक्त्व भी आभासरूप है [देखो देहलीसे प्रकाशित–मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ४८६–४९०]

देव गुरु धर्मके श्रद्धानमें प्रवृत्तिकी मुख्यता है। जो प्रवृत्तिमें अर्हंतादिको देवादि मानता है और अन्यको नहीं मानता उसे देवादिका श्रद्धानी कहा जाता है। तत्त्व श्रद्धानमें विचारकी मुख्यता है। जो ज्ञानमें जीवादि तत्त्वोंका विचार करता है उसे तत्त्वश्रद्धानी कहा जाता है। इन दोनोंको समझनेके बाद कोई जीव स्वोन्मुख होकर रागका आंशिक अभाव करके सम्यक्त्व को प्रगट करता है, इसलिये यह दोनों (–व्यवहार श्रद्धान) इसी जीवके सम्यक्त्व के (उपचारसे) कारण कहे जाते हैं, किन्तु उसका सद्भाव मिथ्यादृष्टिके भी संभव है इसलिये वह श्रद्धान व्यवहाराभास है।

–२३–

सम्यग्दर्शन और ज्ञानचेतनामें अंतर

प्रश्न—जबतक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है तबतक ज्ञान ज्ञानचेतना है और उतना ही सम्यग्दर्शन है, यह ठीक है?

उत्तर – आत्माके अनुभवको शुद्धोपलब्धि कहते हैं, वह चारित्रगुण की पर्याय है। जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धोपयोगमें युक्त होता है अर्थात् स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे सम्यक्त्व होता है, और जब शुद्धोपयोगमें युक्त नहीं होता तब भी उसे ज्ञानचेतना लब्धरूप होती है। जब ज्ञानचेतना अनुभवरूप होती है तभी सम्यग्दर्शन होता है और जब अनुभवरूप नहीं होती तब नहीं होता,—इसप्रकार मानना बहुत बड़ी भूल है।

क्षायिक सम्यक्त्वमें जीव शुभाशुभरूप प्रवृत्ति करे या स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करे, किन्तु सम्यक्त्वगुण तो सामान्य प्रवर्त्तनरूप ही है। [देखो, पं० टोडरमलजीकी रहस्यपूर्ण चिट्ठी]

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है। वह क्रमशः विकसित नहीं होता किन्तु अक्रमसे एकसमयमें प्रगट हो जाता है। और सम्यग्ज्ञानमें तो हीनाधिकता होती है किन्तु विभावाभाव नहीं होता। चारित्रगुण भी क्रमशः विकसित होता है। वह अंशतः शुद्ध और अंशतः अशुद्ध (रागद्वेषवाला) निम्नदशामें होता है, अर्थात् इसप्रकारसे तीनों गुणोंकी शुद्ध पर्यायके विकासमें अंतर है।

–२४–

सम्यक्श्रद्धा करनी ही चाहिये

चारित्र न पले फिर भी उसकी श्रद्धा करनी चाहिए

दर्शन पाहुड की २२ वीं गाथामें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने कहा है कि—"यदि (हम कहते हैं वह) करनेको समर्थ हो तो करना, और यदि करनेमें समर्थ न हो तो सच्ची श्रद्धा अवश्य करना, क्योंकि केवलीभगवानने श्रद्धा करनेवालेको सम्यक्त्व कहा है।"

यह गाथा बतलाती है कि—जिसने निजस्वरूपको उपादेय जानकर श्रद्धा की उसका मिथ्यात्व मिट गया किन्तु पुरुषार्थकी हीनतासे चारित्र अंगीकार करनेकी शक्ति न हो तो जितनी शक्ति हो उतना ही करे और शेषके प्रति श्रद्धा करे। ऐसी श्रद्धा करनेवालेके भगवानने सम्यक्त्व कहा है।

[अष्टपाहुड हिन्दीमें पृष्ठ ३३, दर्शन पाहुड गाथा २२]

इसी आशयकी बात नियमसारकी गाथा १५४ में भी कही गई है क्योंकि सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है।

–२५–

निश्चय सम्यग्दर्शनका दूसरा अर्थ

मिथ्यात्वभावके दूर होनेपर सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमें प्रगट होता है। वह श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय होनेसे निश्चयसम्यक्त्व है। किन्तु यदि उस सम्यग्दर्शनके साथके चारित्र गुणकी पर्यायका विचार किया जाय तो

चारित्र गुणकी रागवाली पर्याय हो या स्वानुभवरूप निर्विकल्प पर्याय हो वहाँ चारित्र गुणकी निर्विकल्प पर्यायके साथके निश्चय सम्यग्दर्शनको वीतराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है, और सविकल्प (रागसहित) पर्यायके साथके निश्चय सम्यग्दर्शनको सराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस संबंधमें आगे (८ वें विभागमें) कहा जा चुका है।

जब सातवें गुणस्थानमें और उससे आगे बढ़नेवाली दशामें निश्चय सम्यग्दर्शन और वीतराग चारित्रका अविनाभावीभाव होता है तब उस अविनाभावीभावको बतानेके लिए दोनों गुणका एकत्त्व लेकर उस समयके सम्यग्दर्शनको उस एकत्त्वकी अपेक्षासे 'निश्चय सम्यक्त्व' कहा जाता है। और निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ की विकल्प दशा बतानेके लिये, उस समय यद्यपि निश्चय सम्यग्दर्शन है फिर भी उस निश्चय सम्यग्दर्शनको 'व्यवहार सम्यक्त्व' कहा जाता है। इसलिये जहाँ 'निश्चय सम्यग्दर्शन' शब्द आया हो वहाँ वह श्रद्धा और चारित्रकी एकत्वापेक्षासे है या मात्र श्रद्धागुणकी अपेक्षासे है, यह निश्चय करके उसका अर्थ समझना चाहिए।

प्रश्न—कुछ जीवोंको गृहस्थ दशामें मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे कैसा सम्यग्दर्शन समझना चाहिए?

उत्तर—केवल श्रद्धागुणकी अपेक्षासे निश्चयसम्यग्दर्शन और श्रद्धा तथा चारित्र गुणकी एकत्वकी अपेक्षासे व्यवहारसम्यग्दर्शन समझना चाहिए। इसप्रकार गृहस्थ दशामें जो निश्चयसम्यग्दर्शन है वह कथंचित् निश्चय और कथंचित् व्यवहार सम्यग्दर्शन है—ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—उस निश्चय सम्यग्दर्शनको श्रद्धा और चारित्रकी एकत्वापेक्षासे व्यवहारसम्यग्दर्शन क्यों कहा है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव शुभरागको तोड़कर वीतराग चारित्रके साथ अल्प कालमें तन्मय हो जायगा, इतना संबंध बतानेके लिये उस निश्चयसम्यग्दर्शनको श्रद्धा और चारित्रकी एकत्व अपेक्षासे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

सातवें और आगेके गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी एकता होती है इसलिये उस समयके सम्यक्त्वमें निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद नहीं होते, इसलिये वहाँ जो सम्यक्त्व होता है उसे 'निश्चयसम्यग्दर्शन' ही कहा जाता है।

(देखो परमात्मप्रकाश अध्याय १ गाथा ८५ नीचेकी संस्कृत तथा हिन्दी टीका, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ ९० तथा परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा १७—१८ के नीचेकी संस्कृत तथा हिन्दी टीका, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ १४६—१४७ और हिन्दी समयसारमें श्री जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका गाथा १२१—१२५ के नीचे पृष्ठ १८६ तथा हिन्दी समयसारकी टीकामें श्री जयसेनाचार्यकी टीकाका अनुवाद पृष्ठ ११६)

—अंतमें—

पुण्यसे धर्म होता है और आत्मा पर द्रव्यका कुछ भी कर सकता है—यह बात श्री वीतरागदेवके द्वारा प्ररूपित धर्मकी मर्यादाके बाहर है।



❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्षशास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका



प्रथम अध्याय का

परिशिष्ट

१



टीका सम्पादक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



[२]

卐 निश्चय सम्यग्दर्शन 卐

निश्चय सम्यग्दर्शन क्या है और उसे किसका अवलम्बन है?

यह सम्यग्दर्शन स्वयं आत्माके श्रद्धागुणकी निर्विकारी पर्याय है। अखंड आत्माके लक्षसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शनको किसी विकल्प का अवलम्बन नहीं है, किन्तु निर्विकल्प स्वभावके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्माके सर्व सुखका मूल है। 'मैं ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ बंध रहित हूँ' ऐसा विकल्प करना भी शुभ राग है, उस शुभ राग का अवलम्बन भी सम्यग्दर्शनको नहीं है, उस शुभ विकल्पका अतिक्रम करने पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं रागादि विकल्प रहित निर्मल पर्याय है। उसे किसी निमित्त या विकारका अवलम्बन नहीं है,–किन्तु पूर्ण रूप आत्माका अवलम्बन है—वह संपूर्ण आत्माको स्वीकार करता है।

एक बार निर्विकल्प होकर अखंड ज्ञायक स्वभावको लक्षमें लिया कि वहाँ सम्यक्प्रतीति हो जाती है। अखंड स्वभावका लक्ष ही स्वरूपकी शुद्धिके लिये कार्यकारी है। अखंड सत्य स्वरूपको जाने बिना-श्रद्धा किये बिना, 'मैं ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ अबद्धस्पृष्ट हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूपकी शुद्धिके लिये कार्यकारी नहीं है। एक बार अखंड ज्ञायक स्वभावका संवेदन-लक्ष किया कि फिर जो वृत्ति उठती है वे शुभाशुभ वृत्तियाँ अस्थिरताका कार्य करती हैं, किंतु वे स्वरूपके रोकनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि श्रद्धा तो नित्य विकल्प रहित होनेसे जो वृत्ति उद्भूत होती है वह श्रद्धाको नहीं बदल सकती। यदि विकल्पमें ही रुक गया तो वह मिथ्यादृष्टि है।

विकल्प रहित होकर अभेदका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। इस संबंधमें समयसारमें कहा है कि –

> कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
> पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥

'आत्मा कर्मसे बद्ध है या अबद्ध' ऐसे दो प्रकारके भेदोंके विचारमें रुकना सो नयका पक्ष है। 'मैं आत्मा हूँ परसे भिन्न हूँ' ऐसा विकल्प भी राग है इस रागकी वृत्तिको,—नयके पक्षको,—उलंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो। 'मैं बद्ध हूँ अथवा बंध रहित मुक्त हूँ' ऐसी विचार श्रेणीको लांघकर जो आत्मानुभव करता है वही सम्यग्दृष्टि है और वही शुद्धात्मा है।

'मैं अबंध हूँ, बंध मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसे भंगकी विचार श्रेणीके कार्य में रुकना सो अज्ञान है। और उस भंगके विचारको लांघकर अभंगस्वरूपको स्पर्श कर लेना (अनुभव कर लेना) ही पहिला आत्म-धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। 'मैं पराश्रय रहित, अबंध, शुद्ध हूँ' ऐसे निश्चयनयके पक्षका विकल्प राग है, और जो उस रागमें अटक जाता है (-रागको ही सम्यग्दर्शन मान ले और राग रहित स्वरूपका अनुभव न करे) सो वह मिथ्यादृष्टि है।

भेदके विकल्प उठते तो हैं किन्तु उनसे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादिकालसे आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं है परिचय नहीं है, इसलिये आत्मानुभव करते समय तत्सम्बन्धी विकल्प आये बिना नहीं रहते। अनादिकालसे आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं है इसलिये वृत्तियोंका उद्भव होता है कि:—'मैं आत्मा कर्मोंके साथ संबंधवाला हूँ या कर्मोंके संबंधसे रहित हूँ' इसप्रकार नयोंके दो विकल्प उठते हैं; परन्तु—'कर्मोंके साथ सम्बन्ध वाला या कर्मोंके संबंधसे रहित अर्थात् बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ' ऐसे दो प्रकारके भेदोंका भी एक स्वरूपमें कहाँ अवकाश है? स्वरूप तो नयपक्षकी अपेक्षाओं से परे है। एक प्रकारके स्वरूपमें दो प्रकारकी अपेक्षाएँ नहीं होती। मैं शुभाशुभभाव से रहित हूँ ऐसे विचारमें उलझना भी पक्ष है। उससे भी परे स्वरूप है, और स्वरूप तो पक्षातिक्रांत है यही सम्यग्दर्शनका विषय है, अर्थात् उसीके लक्षसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई सम्यग्दर्शन का उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप क्या है? किसी शारीरिक क्रियासे सम्यग्दर्शन नहीं होता जड़ कर्मोंसे भी नहीं होता, और अशुभ राग या शुभ रागके लक्षसे

भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। तथा 'मैं पुण्य पापके परिणामोंसे रहित ज्ञायक स्वरूप हूँ' ऐसा विचार भी स्वरूपका अनुभव करानेमें समर्थ नहीं है। मैं ज्ञायक हूँ 'ऐसे विचारमें उलझा कि भेदके विचारमें उलझ गया' किन्तु स्वरूप तो ज्ञाताद्रष्टा है' उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेदके विचारमें उलझना सम्यग्दर्शनका स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है सो स्वत परिपूर्ण स्वभावसे भरी हुई है। आत्माका स्वभाव परापेक्षासे रहित एकरूप है। मै कर्म सम्बधवाला हूँ या कर्मोंके सम्बन्ध से रहित हूँ, ऐसी अपेक्षाओंसे उस स्वभावका लक्ष नहीं होता। यद्यपि आत्म स्वभाव तो अबन्ध ही है किन्तु 'मै अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्पको भी छोड़कर निर्विकल्प। ज्ञातद्रष्टा निरपेक्ष स्वभावका लक्ष करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

आत्माकी प्रभुताकी महिमा भीतर परिपूर्ण है, अनादिकालसे उसकी सम्यक् प्रतीतिके बिना उसका अनुभव नहीं हुआ, अनादिकालसे पर लक्ष किया है किन्तु स्वभावका लक्ष नहीं किया। शरीरादिमें आत्माका सुख नहीं है, शुभरागमें भी सुख नहीं है, और 'मेरा स्वरूप शुभरागसे रहित है' ऐसे भेदके विचारमें भी आत्माका सुख नहीं है। इसलिये उस भेदके विचारमें उलझना भी अज्ञानी का कार्य है। इसलिये उस नयपक्षके भेदका लक्ष छोड़कर अभेद ज्ञाता स्वभावका लक्ष करना ही सम्यग्दर्शन है और उसीमें सुख है। अभेद स्वभावका लक्ष कहो या ज्ञाता स्वरूपका अनुभव कहो अथवा सुख कहो, धर्म कहो या सम्यग्दर्शन कहो—सब यही है।

विकल्पको रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता

अखण्डानद अभेद आत्माका लक्ष नयपक्षके द्वारा नहीं होता। नयपक्षकी विकल्परूपी मोटर चाहे जितनी दौड़ाई जाय,—'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ,' ऐसे विकल्प करें फिरभी वे विकल्प स्वरूप तकके आँगन तक ही ले जायँगे, किंतु स्वरूपानुभवके समय तो ये सब विकल्प छोड़ ही देने पड़ेंगे। विकल्पको साथ लेकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नयपक्षोंका ज्ञान स्वरूपके आँगन तक पहुँ-

चनेमें बीचमें आते हैं। "मैं स्वाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ हैं, जड़ कर्म मेरे स्वरूपको नहीं रोक सकते, यदि मैं विकार करूँ तो कर्म निमित्त कहलाते हैं किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते क्योंकि कर्म और आत्मामें परस्पर अत्यंत अभाव होनेसे दोनों द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। किसी अपेक्षा में जड़का कुछ नहीं करता, और जड़ मेरा कुछ नहीं करते, जो राग-द्वेष होते हैं उन्हें भी कर्म नहीं कराता, तथा वे परवस्तुमें नहीं होते किंतु मेरी अवस्थामें होते हैं वे राग द्वेष मेरा स्वभाव नहीं हैं, निश्चयसे मेरा स्वभाव राग रहित ज्ञान स्वरूप है" इसप्रकार सभी पहलुओं (नयोंका) ज्ञान पहिले करना चाहिए किन्तु इतना करने तक भी भेदका लक्ष है, भेदके लक्षसे अभेद आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं होता फिर भी पहिले उन भेदोंको जानना चाहिए। जब इतना जान लेता है तब वह स्वरूपके आँगनतक पहुँचा हुआ कहलाता है। उसके बाद जब स्वसन्मुख अनुभव द्वारा अभेदका लक्ष करता है तब भेदका लक्ष छूट जाता है, प्रत्यक्ष स्वरूपानुभव होनेसे अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसप्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होनेसे पूर्व नयपक्ष के विचार होते हैं किन्तु उस नयपक्षके कोई भी विचार स्वरूपानुभवमें सहायक नहीं हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संबंध किसके साथ है ?

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है, उसका मात्र निश्चय–अखंड स्वभावके साथ ही संबन्ध है। अखण्ड द्रव्य जो कि भंग-भेद रहित है वही सम्यग्दर्शनको मान्य है; सम्यग्दर्शन पर्यायको स्वीकार नहीं करता, किन्तु सम्यग्दर्शनके साथ रहनेवाले सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध निश्चय-व्यवहार दोनोंके साथ है अर्थात् निश्चय—अखंड स्वभावको तथा व्यवहारमें पर्यायके जो भंग-भेद होते हैं उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है, किंतु 'मैं एक निर्मल पर्याय हूँ' इस प्रकार सम्यग्दर्शन स्वयं अपनेको नहीं जानता। सम्यग्दर्शन का अखंड विषय एक द्रव्य ही है, पर्याय नहीं।

प्रश्न—जब कि सम्यग्दर्शनका विषय अखंड है और वह पर्यायको स्वीकार नहीं करता तब फिर सम्यग्दर्शनके समय पर्याय कहाँ चली जाती है? सम्यग्दर्शन स्वयं ही पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्यसे पृथक् होगई?

उत्तर—सम्यग्दर्शनका विषय अखंड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शनके विषय द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद नहीं है, द्रव्य-गुण-पर्यायसे अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शनको मान्य है। (अभिन्न वस्तुका लक्ष करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य वस्तुके साथ अभिन्न हो जाती है)। सम्यग्दर्शन रूप पर्यायको भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, एक समयमें अभिन्न परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शनको मान्य है, एक मात्र पूर्णरूप आत्माको सम्यग्दर्शन प्रतीतिमें लेता है, • •—• परन्तु सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य विशेष सबको जानता है, सम्यक्ज्ञान पर्यायको और निमित्तको भी जानता है। सम्यग्दर्शनको भी जाननेवाला सम्यक्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुए?

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव-कोई भी सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है क्योंकि वे सब पर्याय हैं। सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, पर्यायको सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, जब अकेली वस्तुका लक्ष किया जाता है तब श्रद्धा सम्यक् होती है।

प्रश्न—उस समय होनेवाला सम्यक्ज्ञान कैसा होता है?

उत्तर—ज्ञानका स्वभाव सामान्य-विशेष सबको जानना है। जब ज्ञानने सपूर्ण द्रव्यको, विकसित पर्यायको और विकारको ज्यों का त्यों जान कर, यह विवेक किया कि—'जो परिपूर्ण स्वभाव है सो मैं हूँ और जो विकार रह गया है सो मैं नहीं हूँ' तब वह सम्यक् कहलाया। सम्यग्दर्शनरूप विकसित पर्यायको, सम्यग्दर्शनकी विषयभूत परिपूर्ण वस्तुको और अवस्थाकी कमीको इन तीनोंको सम्यग्ज्ञान यथावत् जानता है, अवस्थाकी स्वीकृति ज्ञानमें है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन एक निश्चयको ही (अभेद स्वरूपको ही) स्वीकार करता है, और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी सम्यग्ज्ञान निश्चय तथा व्यवहार

दोनोंको यथावत् जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय-व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं होता। यदि व्यवहारका आश्रय करे तो दृष्टि मिथ्या सिद्ध होती है और यदि व्यवहारको जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। ज्ञान निश्चय-व्यवहारका विवेक करता है तब वह सम्यक् कहलाता है। और दृष्टि व्यवहारका आश्रय छोड़कर निश्चयको अंगीकार करे तो वह सम्यक् कहलाती है।

सम्यग्दर्शनका विषय क्या है ?
मोक्षका परमार्थ कारण क्या है ?

सम्यग्दर्शनके विषयमें मोक्ष पर्याय और द्रव्य ऐसे भेद ही नहीं हैं। द्रव्य ही परिपूर्ण है जो कि सम्यग्दर्शनको मान्य है। बंध-मोक्ष भी सम्यग्दर्शनको मान्य नहीं है। बंध-मोक्षकी पर्याय, साधक दशाके भंग-भेद इत्यादि सबको सम्यक्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्षका परमार्थ कारण है। पंच महाव्रतादि या विकल्पको मोक्षका कारण कहना स्थूल व्यवहार है, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्थाको मोक्षका कारण कहना भी व्यवहार है, क्योंकि उस साधक अवस्थाका भी जब अभाव होता है तब मोक्ष दशा प्रगट होती है, अर्थात् वह भी अभावरूप कारण है, इसलिये व्यवहार है। त्रैकालिक अखंड वस्तु ही मोक्षका निश्चय कारण है। परमार्थसे वस्तुमें कारण-कार्यके भेद भी नहीं हैं, कार्यकारणका भेद भी व्यवहार है। एक अखंड वस्तुमें कार्यकारणके भेदके विचारसे विकल्प होता है इसलिये वह भी व्यवहार है, फिर भी व्यवहाररूपसे भी कार्य-कारणके भेद सर्वथा नहीं ही हो तो मोक्षदशाको प्रगट करनेकी बात भी नहीं कही जा सकती। अर्थात् अवस्थामें साधक साध्य के भेद हैं किन्तु अभेदके लक्षके समय व्यवहारका लक्ष नहीं होता, क्योंकि व्यवहारके लक्षमें भेद होता है और भेदके लक्षमें परमार्थ-अभेद स्वरूप लक्षमें नहीं आता, इसलिये सम्यग्दर्शनके लक्षमें भेद नहीं होते, एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शनका विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शांतिका उपाय है

अनादिकालसे आत्माके अखंड रसको सम्यक्दर्शनके द्वारा नहीं जाना है इसलिये जीव परमें और विकल्पमें रस मान रहा है। किन्तु मैं अखंड एकरूप स्वभाव हूँ उसीमें मेरा रस है, परमें कहीं मेरा रस नहीं है,— इसप्रकार स्वभाव दृष्टिके बलसे एकबार सबको नीरस बना दे! तुझे सहजानन्द स्वरूपके अमृत रसकी अपूर्व शांतिका अनुभव प्रगट होगा। उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसारका अभाव सम्यग्दर्शनसे ही होता है

अनंतकालसे अनंतजीव संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं और अनंत कालमें अनंतजीव सम्यग्दर्शनके द्वारा पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करके मोक्षको प्राप्त हुए हैं जीवोंने संसार पक्ष तो अनादिकालसे ग्रहण किया है किन्तु सिद्धों का पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया। अब सिद्धोंका पक्ष ग्रहण करके अपने सिद्ध स्वरूपको जानकर संसारका अभाव करनेका अवसर आया है,— ... और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है—

❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्षशास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका





प्रथम अध्याय का

परिशिष्ट

३



टीका सम्पादक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



[३]

जिज्ञासुको धर्म किस प्रकार करना चाहिए ?

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभावको समझना चाहता है वह अपने सुखको प्राप्त (–प्रगट अनुभवरूप) करना चाहता है और दुःखको दूर करना चाहता है तो सुख अपना नित्य स्वभाव है और वर्तमानमें जो दुःख है सो क्षणिक है इसलिये वह दूर हो सकता है। वर्तमान दुःख अवस्थाको दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्थाको प्रगट कर सकता है,–इतना तो सत्‌को समझना चाहता है उसने स्वीकार ही कर लिया है। आत्माको अपने भावमें अपूर्व तत्त्व विचाररूप पुरुषार्थ करके विकार रहित स्वरूपका निर्णय करना चाहिए। वर्तमान विकारके होने पर भी विकार रहित स्वभावकी श्रद्धा की जा सकती है अर्थात् यह विकार और दुःख मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा निश्चय हो सकता है।

पात्र जीव का लक्षण

जिज्ञासु जीवोंको स्वरूपका निर्णय करनेके लिये शास्त्रोंने पहिले ही ज्ञान क्रिया बतलाई है। स्वरूपका निर्णय करनेके लिये दूसरा कोई दान पूजा भक्ति व्रत, तपादि करने को नहीं कहा है, किन्तु श्रुतज्ञानसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करनेको ही कहा है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रकी ओरका आदर और उस ओरका झुकाव तो हट ही जाना चाहिए तथा विषयादि परवस्तुमें से सुख बुद्धि दूर हो जानी चाहिए। सब ओरसे रुचि हटकर अपनी ओर रुचि ढलनी चाहिए। और देव शास्त्र गुरुको यथार्थतया पहिचानकर उस ओर आदर करे, और यह सब यदि स्वभावके लक्षसे हुआ हो तो उस जीव की पात्रता हुई कहलाती है। इतनी पात्रता तो अभी सम्यग्दर्शनका मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शनका मूल कारण चैतन्य स्वभावका लक्ष करना है, किन्तु पहिले कुदेवादिका सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र और सत्समागम

का प्रेम; पात्र जीवोंके होता ही है ऐसे पात्र हुए जीवोंको आत्माका स्वरूप समझनेके लिए क्या करना चाहिए सो यहाँ स्पष्ट बताया है।

सम्यग्दर्शनके उपायके लिये ज्ञानियोंके द्वारा बताई गई क्रिया

"पहिले श्रुतज्ञानके अवलंबनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, फिर आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए, पर पदार्थ की प्रसिद्धि की कारण जो इन्द्रियोंके द्वारा और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं उन्हें मर्यादामें लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्वको आत्मसंमुख किया है ऐसा, तथा नाना प्रकारके पक्षों के आलंबनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलताको उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंको भी मात्र मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्वको भी आत्म-संमुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल........परमात्म-स्वरूप आत्माको जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है [अर्थात् श्रद्धा की जाती है] और ज्ञात होता है वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।" [देखो समयसार गाथा १४४ की टीका]

उपरोक्त कथनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:—

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ?

"प्रथम श्रुतज्ञानके अवलंबनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए।" ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ? सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तु स्वरूपको सिद्ध करता है। जो अनेकांतस्वरूप वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है' इसप्रकार वस्तु को स्वतंत्र सिद्ध करता है वह श्रुतज्ञान है।

पर वस्तुके छोड़नेको कहे अथवा परके ऊपरके रागको घटानेको कहे सो कोई भगवानके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञानका लक्षण नहीं है। एक वस्तु निजरूपसे है और वह वस्तु अनंत परद्रव्योंसे पृथक् है इसप्रकार अस्ति-नास्ति रूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंको प्रकाशित करके जो वस्तु स्वरूपको बतावे सो अनेकान्त है और वही श्रुतज्ञानका लक्षण है। वस्तु स्वापेक्षासे है और परापेक्षासे नहीं—इसमें वस्तुकी नित्यता और स्वतंत्रता सिद्ध की है।

श्रुतज्ञानका वास्तविक लक्षण—अनेकात

एक वस्तुमें 'है' और 'नहीं' ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंको भिन्न २ अपेक्षासे प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूपको परसे भिन्न बताये सो श्रुतज्ञान है, आत्मा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न वस्तु है ऐसा पहिले श्रुतज्ञानसे निश्चित करना चाहिये।

अनत परवस्तुसे यह आत्मा भिन्न है,—यह सिद्ध होने पर अब अपने द्रव्य पर्यायमें देखना है। मेरा त्रैकालिक द्रव्य एक समयमात्रकी अवस्थारूप नहीं है, अर्थात् विकार क्षणिक पर्यायरूपसे है और त्रैकालिक स्वरूपसे विकार नहीं है—इसप्रकार विकार रहित स्वभावकी सिद्धि भी अनेकातके द्वारा ही होती है। भगवान्‌के द्वारा कहे गये शास्त्रोंकी महत्ता अनेकान्तसे ही है। भगवानने पर जीवोंकी दया पालनेको कहा है या अहिंसा बतलाई है अथवा कर्मोंका वर्णन किया है,—इसप्रकार मानना न तो भगवानको पहिचानने का वास्तविक लक्षण है और न भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रों को ही पहिचानने का।

भगवान भी दूसरेका कुछ नहीं कर सके

भगवानने अपना कार्य भली भाँति किया किन्तु वे दूसरेका कुछ नहीं कर सके, क्योंकि एक तत्त्व स्वापेक्षासे है और परापेक्षासे नहीं है, इसलिये कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य पृथक् पृथक् स्वतत्र है, कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। इसप्रकार समझ लेना ही भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रों की पहिचान है, और यही श्रुतज्ञान है।

प्रभावनाका सच्चा स्वरूप

कोई जीव पर द्रव्यकी प्रभावना नहीं कर सकता, किन्तु जैनधर्म जो कि आत्माका वीतराग स्वभाव है उसकी प्रभावना धर्मी जीव करते हैं। आत्माको जाने विना आत्म स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना कैसे की जा सकती है? प्रभावना करनेका जो विकल्प उठता है सो भी परके कारण से नहीं। दूसरेके लिये कुछ भी अपनेमें होता है यह कहना जैन शासन की मर्यादामें नहीं है। जैन शासन तो वस्तुको स्वतत्र, स्वाधीन और परिपूर्ण स्थापित करना है।

भगवानके द्वारा कथित सच्ची दया (अहिंसा) का स्वरूप

यह बात मिथ्या है कि भगवानने दूसरे जीवोंकी दया स्थापित की है। जब कि यह जीव पर जीवोंकी क्रिया कर ही नहीं सकता तब फिर उसे बचा सकने की बात भगवान कैसे कहें? भगवानने तो आत्माके स्वभाव को पहिचान कर ज्ञातामात्र भावकी श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा कषायभावसे अपने आत्माको बचानेकी बात कही है; और यही सच्ची दया है। अपना आत्माका निर्णय किये बिना जीव क्या कर सकता है? भगवानके श्रुतज्ञानमें तो यह कहा है कि—तू स्वतः परिपूर्ण वस्तु है, प्रत्येक तत्त्व, स्वतः स्वतंत्र है किसी तत्त्वको दूसरे तत्त्वका आश्रय नहीं है,—इसप्रकार वस्तु स्वरूपको पृथक् स्वतंत्र जानना सो अहिंसा है और वस्तुको पराधीन मानना कि एक दूसरे का कुछ कर सकता है तथा रागसे धर्म मानना सो हिंसा है। सरागीको दूसरे जीवको बचाने का राग तो होता है किन्तु उस शुभ रागसे पुण्य बंधन होता है-धर्म नहीं होता है ऐसा समझना चाहिये।

आनन्द को प्रकट करनेवाली भावनावाला क्या करे?

जगतके जीवोंको सुख चाहिये है और सुखका दूसरा नाम धर्म है। धर्म करना है अर्थात् आत्म शांति चाहिए है अथवा अच्छा करना है। और वह अच्छा कहाँ करना है? आत्माकी अवस्थामें दुःखका नाश करके वीतरागी आनन्द प्रगट करना है। वह आनंद ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो-जिसके लिये परका अवलंबन न हो। ऐसा आनन्द प्रगट करनेकी जिसकी यथार्थ भावना हो सो वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानन्द प्रगट करने की भावना वाला जिज्ञासु पहिले यह देखता है कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट हुआ है? अपनेको अभी ऐसा आनंद प्रगट नहीं हुआ है किन्तु अपनेको जिसकी चाह है ऐसा आनन्द अन्य किसीको प्रगट हुआ है और जिन्हें वह आनन्द प्रगट हुआ है उनके निमित्तसे स्वयं उस आनन्दको प्रगट करनेका सच्चा मार्ग जान ले। और ऐसा जान ले सो उसमें सच्चे निमित्तोंकी पहिचान भी आ गई। जब तक इतना करता है तब तक वह जिज्ञासु है।

अपनी अवस्थामें अधर्म-अशांति है उसे दूर करके धर्म-शांति प्रगट करना है। वह शांति अपने आधारसे और परिपूर्ण होनी चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा होती है वह पहिले यह निश्चय करता है कि—मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ। तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी औरके प्रगट हुआ होना चाहिए, यदि परिपूर्ण सुख—आनंद प्रगट न हो तो दुखी कहलाये। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट होता है वह संपूर्ण सुखी है, और ऐसे सर्वज्ञ वीतराग हैं। इसप्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञानमें सर्वज्ञका निर्णय करता है। दूसरेका कुछ करने धरनेकी बात तो है ही नहीं। जब परसे कुछ पृथक् हुआ है तभी तो आत्माकी जिज्ञासा हुई है। जिसे परसे हटकर आत्महित करनेकी तीव्र आकांक्षा जाग्रत हुई है ऐसे जिज्ञासु जीवकी यह बात है। परद्रव्यके प्रति सुख बुद्धि और रुचिको दूर की, वह पात्रता है। और स्वभावकी रुचि तथा पहिचान होना सो पात्रताका फल है।

दुखका मूल भूल है जिसने अपनी भूलसे दुःख उत्पन्न किया है वह अपनी भूलको दूर करे तो उसका दुःख दूर हो। अन्य किसीने भूल नहीं कराई इसलिये दूसरा कोई अपना दुःख दूर करनेमें समर्थ नहीं है।

श्रुतज्ञानका अवलम्बन ही पहिली क्रिया है

जो आत्म कल्याण करनेको तैयार हुआ है ऐसे जिज्ञासुको पहिले क्या करना चाहिए,—यह बतलाया जाता है। आत्मकल्याण कहीं अपने आप नहीं हो जाता किन्तु वह अपने ज्ञानमें रुचि और पुरुषार्थसे होता है। अपना कल्याण करनेके लिये पहिले अपने ज्ञानमें यह निर्णय करना होगा कि—जिन्हें पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है वे कौन हैं और वे क्या कहते हैं। तथा उन्होंने पहिले क्या किया था। अर्थात् सर्वज्ञका स्वरूप जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे अपने आत्माका निर्णय करना चाहिये, यही प्रथम कर्तव्य है। किसी परके अवलम्बनसे धर्म प्रगट नहीं होता, फिर भी जब स्वयं अपने पुरुषार्थसे समझता है तब समुख निमित्तरूपसे सच्चे-देव-गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार प्रथम ही निर्णय यह हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष संपूर्ण सुखी है और संपूर्ण ज्ञाता है, वही पुरुष पूर्ण सुखका पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है, स्वयं उसे समझकर अपना पूर्ण सुख प्रगट कर सकता है और स्वयं जब समझता है तब सच्चे देव गुरु शास्त्र ही निमित्तरूप होते हैं। जिसे स्त्री पुत्र पैसा इत्यादिकी अर्थात् संसारके निमित्तोंके ओर की तीव्र रुचि होगी उसे धर्मके निमित्त-भूत देव शास्त्र गुरुके प्रति रुचि नहीं होगी अर्थात् उसे श्रुतज्ञानका अवलंबन नहीं रहेगा और श्रुतज्ञानके अवलंबनके बिना आत्माका निर्णय नहीं होगा। क्योंकि आत्माके निर्णयमें सत् निमित्त ही होते हैं, कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र इत्यादि कोई भी आत्माके निर्णयमें निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादिको मानता है उसे आत्म निर्णय हो ही नहीं सकता।

जिज्ञासुकी यह मान्यता तो हो ही नहीं सकती कि दूसरेकी सेवा करेंगे तो धर्म होगा। किन्तु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है इसके लिये पहिले पूर्णज्ञानी भगवान और उनके कथित शास्त्रोंके अवलंबनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिये उद्यमी होगा। अनंतभवमें जीवने धर्मके नाम-पर मोह किया किन्तु धर्मकी कलाको समझा ही नहीं है। यदि धर्मकी एक कला ही सीख ले तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहेगा।

जिज्ञासु जीव पहिले कुदेवादिका और सुदेवादिका निर्णय करके कुदेवादिको छोड़ता है और फिर उसे सच्चे देव गुरुकी ऐसी लगन लग जाती है कि उसका एक मात्र यही लक्ष हो जाता है कि सत्पुरुष क्या कहते हैं उसे समझा जाय, अर्थात् वह अशुभसे तो अलग हो ही जाता है। यदि कोई सांसारिक रुचिसे पीछे न हटे तो वह श्रुतावलंबनमें टिक नहीं सकेगा।

धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है?

बहुतसे जिज्ञासुओंको यही प्रश्न होता है कि धर्मके लिये पहिले क्या करना चाहिए? क्या पर्वत पर चढ़ना चाहिए, या सेवा-पूजा-ध्यान करते रहना चाहिए, या गुरु की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए अथवा दान देना चाहिए? इस सबका उत्तर यह है कि इसमें कहीं भी आत्माका धर्म नहीं

है। धर्म तो अपना स्वभाव है, धर्म पराधीन नहीं है। किसीके अवलंबनसे धर्म नहीं होता। धर्म किसीके द्वारा दिया नहीं जाता किन्तु अपनी पहिचानसे ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिए है उसे यह निश्चित करना चाहिये कि पूर्णानन्दका स्वरूप क्या है और वह किसे प्रगट हुआ है? जो आनन्द मैं चाहता हूँ वह पूर्ण अबाधित आनंद चाहता हूँ। अर्थात् कोई आत्मा वैसे पूर्णानन्द दशाको प्राप्त हुए हैं और उन्हें पूर्णानन्द दशामें ज्ञान भी पूर्ण ही है, क्योंकि यदि ज्ञान पूर्ण न हो तो राग द्वेष रहेगा, उसके रहनेसे दुःख रहेगा और जहाँ दुःख होता है वहाँ पूर्णानन्द नहीं हो सकता इसलिए जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं। उनका और वे क्या कहते हैं इसका जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिए। इसीलिये कहा है कि 'पहिले श्रुतज्ञानके अवलंबनसे आत्माका-पूर्णरूपका निर्णय करना चाहिए' — इसमें उपादान निमित्त की संधि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है, सत् बात कौन कहता है,—यह सब निश्चय करनेके लिए निवृत्ति लेनी चाहिए। यदि स्त्री-कुटुम्ब, लक्ष्मीका प्रेम और संसार की रुचिमें कमी न आये तो वह सत् समागमके लिये निवृत्ति नहीं ले सकेगा। जहाँ श्रुतका अवलंबन लेनेको कहा है वहीं तीव्र अशुभ भावका त्याग आ गया और सच्चे निमित्तोंकी पहिचान करना भी आ गया।

सुखका उपाय ज्ञान और सत् समागम

तुझे तो सुख चाहिए है? यदि तुझे सुख चाहिए है तो पहिले यह निर्णय कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है। सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है, इसका ज्ञान किये बिना (बाह्याचार करके यदि) सूख जाय तब भी सुख नहीं मिलता-धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कथित श्रुतज्ञानके अवलंबनसे यह निर्णय होता है और इस निर्णय का करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म करना हो वह धर्मीको पहिचान कर वे क्या कहते हैं इसका निर्णय करनेके लिये सत् समागम करे। सत् समागमसे जिसे श्रुतज्ञानका अवलंबन प्राप्त हुआ है कि अहो! परिपूर्ण आत्मवस्तु ही उत्कृष्ट महिमावान है, मैंने ऐसा परमस्वरूप अनंतकालमें पहिले

कभी नहीं सुना था—ऐसा होनेपर उसे स्वरूपकी रुचि जाग्रत होती है और सत्समागमका रंग लग जाता है अर्थात् उसे कुदेवादि या संसारके प्रति रुचि हो ही नहीं सकती।

यदि अपनी वस्तुको पहिचाने तो प्रेम जाग्रत हो और उस तरफका पुरुषार्थ ढले। आत्मा अनादिकालसे स्वभावको भूलकर पुण्य-पापमय परभाव रूपी परदेशमें परिभ्रमण करता है, स्वरूपसे बाहर संसारमें परिभ्रमण करते करते परमपिता सर्वज्ञदेव और परम हितकारी श्री परमगुरुसे भेंट हुई और वे पूर्ण हित कैसे होता है यह सुनाते हैं तथा आत्मस्वरूप की पहिचान कराते हैं। अपने स्वरूपको सुनते हुए किस धर्मीको उल्लास नहीं होता? आत्मस्वभाव की बात सुनते ही जिज्ञासु जीवोंको महिमा आती ही है कि—अहो! अनंतकालसे यह अपूर्व ज्ञान नहीं हुआ; स्वरूपके बाहर परभावमें भ्रमित होकर अनन्तकाल तक दुःखी हुआ, यदि यह अपूर्वज्ञान पहिले किया होता तो यह दुःख नहीं होता। इसप्रकार स्वरूप की चाह जाग्रत हो, रस आये, महिमा जागे और इस महिमाको यथार्थतया रटते हुए स्वरूपका निर्णय करे। इसप्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो उसे पहिले श्रुतज्ञानका अवलंबन लेकर आत्माका निर्णय करना चाहिये।

भगवान की श्रुतज्ञानरूपी डोरीको दृढ़तापूर्वक पकड़ कर उसके अवलंबनसे-स्वरूपमें पहुँचा जाता है। श्रुतज्ञानके अवलंबनका अर्थ क्या है? सच्चे श्रुतज्ञानका ही रस है, अन्य कुश्रुतज्ञानका रस नहीं है, संसार की बातों का तीव्र रस टल गया है और श्रुतज्ञानका तीव्र रस आने लगा है। इसप्रकार श्रुतज्ञानके अवलंबनसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिये जो तैयार हुआ है उसे अल्पकालमें आत्म प्रतीति होगी........संसारका तीव्र लोह-रस जिसके हृदयमें घुल रहा हो उसे परमशांत स्वभावकी बात समझनेकी पात्रता ही जाग्रत नहीं होती......यहाँ जो 'श्रुतका अवलंबन' शब्द दिया है सो वह अवलंबन स्वभावके लक्षसे है, पीछे न हटनेके लक्ष से है जिसने ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिए श्रुतका अवलंबन लिया है वह

आत्मस्वभावका निर्णय करता ही है। उसके पीछे हटनेकी बात शास्त्रमें नहीं ली गई है।

संसारकी रुचिको घटाकर आत्म निर्णय करनेके लक्षसे जो यहाँतक आया है उसे श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे निर्णय अवश्य होगा, यह हो ही नहीं सकता कि निर्णय न हो। सच्चे साहूकारके बहीखातेमें दिवाले की बात ही नहीं हो सकती, उसीप्रकार यहाँ दीर्घ संसारीकी बात ही नहीं है यहाँ तो सच्चे जिज्ञासु जीवों ही की बात है। सभी बातोंकी हां में हां भरे और एक भी बातका अपने ज्ञानमें निर्णय न करे ऐसे 'ध्वजपुच्छ' जैसे जीवोंकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो निश्चल और स्पष्ट बात है। जो अनन्तकालीन संसारका अंत करने के लिये पूर्ण स्वभावके लक्षसे प्रारम्भ करनेको निकले हैं ऐसे जीवोंका प्रारम्भ किया हुआ कार्य फिर पीछे नहीं हटता,—ऐसे जीवों की ही यहाँ बात है, यह तो अप्रतिहत मार्ग है। 'पूर्णताके लक्षसे किया गया प्रारम्भ ही वास्तविक प्रारम्भ है'। पूर्णताके लक्षसे किया गया प्रारम्भ पीछे नहीं हटता, पूर्णताके लक्षसे पूर्णता अवश्य होती है।

जिस ओरकी रुचि उसी ओरकी रटन

एककी एक बात ही पुन पुन (बदल बदलकर) कही जा रही है, किन्तु रुचिवान जीवको उकताहट नहीं होती। नाटकका रुचिवान मनुष्य नाटकमें 'वन्स मोर' कहकर अपनी रुचियाली वस्तुको बारबार देखता है। इसीप्रकार जिन भव्य जीवोंको आत्मरुचि हुई है और जो आत्मकल्याण करने को निकले हैं वे बारबार रुचिपूर्वक प्रतिसमय—खाते, पीते, चलते फिरते सोते जागते उठते बैठते बोलते चालते विचार करते हुए निरंतर श्रुतका ही अवलंबन स्वभावके लक्षसे करते हैं, उसमें किसी काल या क्षेत्रकी मर्यादा नहीं करते। उन्हें श्रुतज्ञानकी रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी नहीं हटती। ऐसा नहीं कहा है कि अमुक समय तक अवलंबन करना चाहिए और फिर छोड़ देना चाहिए, किन्तु श्रुतज्ञानके अवलंबनसे

आत्माका निर्णय करनेको कहा है। जिसे सच्ची तत्त्वकी रुचि हुई है वह दूसरे सब कार्योंकी प्रीति को गौण ही कर देता है।

प्रश्न—तब क्या सत्‌की प्रीति होती है इसलिये खाना-पीना और व्यापार धंधा सब छोड़ देना चाहिए ? और श्रुतज्ञानको सुनते ही रहना चाहिए ? किन्तु उसे सुनकर भी क्या करना है ?

उत्तर—सत्‌की प्रीति होती है इसलिये तत्काल खाना पीना सब छूट ही जाय ऐसा नियम नहीं है, किन्तु उस ओरकी रुचि तो अवश्य कम हो ही जाती है। परमें से सुख बुद्धि उड़ जाय और सबमें एक आत्मा ही आगे रहे इसका अर्थ यह है कि निरंतर आत्मा ही की तीव्राकांक्षा और चाह होती है। ऐसा नहीं कहा है कि मात्र श्रुतज्ञानको सुना ही करे किन्तु श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका निर्णय करना चाहिए।

श्रुतावलंबनकी धुन लगने पर वहाँ, देव-गुरु-शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार, इत्यादि अनेक प्रकारसे बातें आती हैं उन सब प्रकारोंको जानकर एक ज्ञान स्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए। उसमें भगवान कैसे हैं उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं; इन सबका अवलंबन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञान स्वरूपी ही है, ज्ञानके अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं और उन्हें पहिचानकर उनका अवलंबन लेनेवाला स्वयं क्या समझा है.—यह इसमें बताया है। 'तू ज्ञान स्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानना ही है, कुछ परका करना या पुण्य पापके भाव करना तेरा स्वरूप नहीं है' इसप्रकार जो बताते हो वे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं, और इसप्रकार जो समझता है वही देव-गुरु-शास्त्रके अवलंबनसे श्रुतज्ञानको समझा है। किन्तु जो रागसे निमित्तसे धर्म-मनवाते हो और जो यह मनवाते हो कि आत्मा शरीराश्रित क्रिया करता है जड़कर्म आत्माको हैरान करते हैं वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

जो शरीरादि सर्व परसे भिन्न ज्ञान स्वभाव आत्माका स्वरूप बतलाता हो और यह बतलाता हो कि—पुण्य-पापका कर्तव्य आत्माका नहीं है वही सत् श्रुत है, वही सच्चा देव है और वही सच्चा गुरु है। और जो पुण्य से धर्म बताये, शरीरकी क्रियाका कर्ता आत्माको बतावे और रागसे धर्म बताने यह कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र है, क्योंकि वे यथावत् वस्तु स्वरूपके ज्ञाता नहीं हैं प्रत्युत उल्टा स्वरूप बतलाते हैं। जो वस्तु स्वरूपको यथावत् नहीं बतलाते और किंचित्मात्र भी विरुद्ध बतलाते हैं वे कोई देव, गुरु, या शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

श्रुतज्ञानके अवलम्बनका फल-आत्मानुभव

'मैं आत्मा ज्ञायक हूँ' पुण्य पापकी प्रवृत्तिया मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञानसे पृथक् हैं, इसप्रकार पहिले विकल्पके द्वारा देव-गुरु शास्त्रके अवलम्बनसे यथार्थ निर्णय करना चाहिए। यह तो अभी ज्ञान स्वभावका अनुभव नहीं हुआ उससे पहिलेकी बात है।'जिसने स्वभावके लक्षसे श्रुतका अवलम्बन लिया है वह अल्पकालमें आत्मानुभव अवश्य करेगा। प्रथम विकल्पमें जिसने यह निश्चय किया कि मैं परसे भिन्न हूँ, पुण्य पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे शुद्ध स्वभाव के आश्रयसे ही लाभ है, देव गुरु शास्त्रका भी अवलम्बन परमार्थसे नहीं है, मैं तो स्वाधीन ज्ञान स्वभाव हूँ,' इसप्रकार निर्णय करनेवालेको अनुभव हुए 'बिना नहीं रहेगा।

पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ—इसप्रकार जिसने निर्णय के द्वारा स्वीकार किया है उसका परिणमन पुण्य-पापकी ओरसे पीछे हटकर ज्ञायक स्वभावकी ओर ढल गया है अर्थात् उसे पुण्य-पापका आदर नहीं रहा, इसलिये वह अल्पकालमें ही पुण्य-पाप रहित स्वभावका निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जायगा। यहाँ पूर्णकी ही बात है—प्रारम्भ और पूर्णताके बीच कोई भेद ही नहीं किया, क्योंकि जो प्रारम्भ हुआ है सो वह पूर्णताको लक्षमें लेकर ही हुआ है। सत्यको सुनानेवाले और सुननेवाले दोनोंकी पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभावकी बात करते हैं वे देव

गुरु और शास्त्र-तीनों पवित्र ही हैं। उनके अवलंबनसे जिसने हाँ कही है वह भी पूर्ण पवित्र हुए विना नहीं रह सकता.........जो पूर्णकी हाँ कहकर आया है वह पूर्ण होगा ही....... इसप्रकार उपादान निमित्तकी संधि साथ ही है।

सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व................

आत्मानंद प्रगट करनेके लिए पात्रताका स्वरूप क्या है ? तुझे तो धर्म करना है न ! तो तू अपनेको पहिचान। सर्व प्रथम सच्चा निर्णय करनेकी बात है। अरे तू है कौन ? क्या क्षणिक पुण्य पापका करनेवाला तू ही है ? नहीं, नहीं। तू तो ज्ञानका करनेवाला ज्ञानस्वभाव है। तू परको ग्रहण करने वाला या छोड़नेवाला नहीं है, तू तो केवल जाननेवाला ही है। ऐसा निर्णय ही धर्मके प्रारंभका (सम्यग्दर्शनका) उपाय है। प्रारंभमें अर्थात् सम्यग्दर्शनसे पूर्व यदि ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रतामें भी नहीं है। मेरा सहज स्वभाव जाननेका है,—ऐसा श्रुतके अवलंबनसे जो निर्णय करता है वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट हुई है उसे आंतरिक अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व जिज्ञासु जीव--धर्म संमुख हुआ जीव--सत्समागममें आया हुआ जीव-श्रुतज्ञानके अवलंबनसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभाव जाननेवाला हूँ, मेरा ज्ञानस्वभाव ऐसा नहीं है कि ज्ञेयमें कहीं राग-द्वेष करके अटक जाय; पर पदार्थ चाहे जैसा हो, मैं तो उसका मात्र ज्ञाता हूँ, मेरा ज्ञाता स्वभाव परका कुछ करनेवाला नहीं है, मैं जैसा ज्ञान स्वभाव हूं उसीप्रकार जगतके सभी आत्मा ज्ञानस्वभाव हैं; वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय (करना) चूक गये हैं इसलिये दुःखी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो, मैं किसीको बदलनेमें समर्थ नहीं हूँ। मैं पर जीवोंका दुःख दूर नहीं कर सकता, क्योंकि उन्होंने दुःख अपनी भूलसे किया है यदि वे अपनी भूलको दूर करें तो उनका दुःख दूर हो।

पहिले श्रुतका अवलंबन बताया है, उसमें पात्रता हुई है, अर्थात् श्रुतावलंबनसे आत्माका अव्यक्त निर्णय हुआ है, तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है यह नीचे कहा जा रहा है—

इस निर्णयको जगतके सब सभी आत्मा कर सकते हैं, सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान हो हैं इसलिये सब अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो आत्महित करना चाहता है उसे वह हो सकता है, किन्तु अनादिकालसे अपनी चिन्ता नहीं की है। अरे भाई! तू कौन वस्तु है, यह जाने बिना तू क्या करेगा? पहिले इस ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए। इसके निर्णय होने पर अव्यक्तरूपसे आत्माका लक्ष हो जाता है, और फिर परके लक्षसे तथा विकल्पसे हटकर स्वका लक्ष-पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति अनुभवरूपसे प्रगट करना चाहिए।

आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए इन्द्रिय और मनसे जो पर-लक्ष जाता है उसे बदलकर उस मतिज्ञानको निजमें एकाग्र करने पर आत्माका लक्ष होता है अर्थात् आत्माकी प्रगटरूपसे प्रसिद्धि होती है शुद्ध आत्माका प्रगटरूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यक् दर्शन ही धर्म है।

धर्मके लिए पहिले क्या करना चाहिए?

कई लोग कहा करते हैं कि-यदि आत्माके स्वधर्मे कुछ समझमें न आये तो पुण्यके शुभ भाव करना चाहिए या नहीं? इसका उत्तर यह है कि—पहिले आत्मस्वभावको समझना ही धर्म है। धर्मसे ही संसार का अंत आता है। शुभभावसे धर्म नहीं होता और धर्मके विना संसारका अंत नहीं होता, धर्म तो अपना स्वभाव है इसलिये पहिले स्वभाव ही समझना चाहिए।

प्रश्न—यदि स्वभाव समझमें न आये तो क्या करना चाहिए? और यदि उसके समझनेमें देर लगे तो क्या अशुभ भाव करके दुर्गतिका बंध करना चाहिए? क्योंकि आप शुभ भावोंसे धर्म होना तो मानते नहीं,—उसका निषेध करते हैं!

उत्तर—पहिले तो, यह हो ही नहीं सकता कि यह बात समझमें न आये। हाँ यदि समझनेमें देर लगे तो वहाँ निरंतर समझनेका लक्ष मुख्य

रखकर अशुभ भावोंको दूर करके शुभभाव करनेका निषेध नहीं है, किन्तु मिथ्या श्रद्धाका निषेध है; यह समझना चाहिये कि शुभभावसे कभी धर्म नहीं होता। जबतक जीव किसी भी जड़ वस्तुकी क्रियाको और रागकी क्रियाको अपनी मानता है तथा प्रथम व्यवहार करते २ बादमें निश्चय धर्म होगा ऐसा मानता है तब तक वह यथार्थ समझ के मार्ग पर नहीं है, किन्तु विरुद्धमें है।

सुखका मार्ग सच्ची समझ, विकारका फल जड़

यदि आत्माकी सच्ची रुचि हो तो समझका मार्ग लिये बिना न रहे। यदि सत्य चाहिए हो, सुख चाहिए हो तो यही मार्ग है। समझने में भले देर लगे किन्तु सच्ची समझका मार्ग तो ग्रहण करना ही चाहिए। यदि सच्ची समझ का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझमें आये बिना रह ही नहीं सकता। यदि इस मनुष्य देहमें और सत्समागमके इस सुयोगमें भी सत्य न समझे तो फिर ऐसे सत्यका सुअवसर नहीं मिलता। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं कौन हूं और जो यहाँ पर भी स्वरूप को चूक कर जाता है वह अन्यत्र जहाँ जायगा वहाँ क्या करेगा? शान्ति कहाँ से लायगा? कदाचित् शुभभाव किये हों तो उस शुभका फल जड़में जाता है, आत्मामें पुण्यका फल नहीं पहुँचता जिसने आत्माकी चिन्ता नहीं की और जो यहींसे मूढ़ हो गया है इसलिये उन रज-कणोंके फलमें भी रजकणोंका संयोग ही मिलेगा। उन रजकणोंके संयोगमें आत्माका क्या लाभ है? आत्माकी शांति तो आत्मामें ही है किन्तु उसकी चिंता की नहीं है।

असाध्य कौन है? और शुद्धात्मा कौन है?

अज्ञानी जीव जड़का लक्ष करके जड़वत् हो गया है इसलिये मरते समय अपनेको भूलकर संयोग दृष्टिको लेकर मरता है; असाध्यतया प्रवृत्ति करता है अर्थात् चैतन्य स्वरूपका भान नहीं है। वह जीते जी ही असाध्य ही है। भले शरीर हिले डुले, बोले चाले; किन्तु यह तो जड़ की क्रिया है। उसका स्वामी होगया किन्तु अंतरंगमें साध्यभूत ज्ञानस्वरूप की जिसे खबर नहीं है वह असाध्य (जीवित मुर्दा) है, यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञानसे वस्तु

स्वभावको यथार्थतया न समझे तो जीवको स्वरूपका किंचित् लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानके द्वारा स्वरूप की पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ उसीको 'शुद्धात्मा' नाम मिलता है, और शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मै शुद्ध हूँ' ऐसा विकल्प छूटकर मात्र आत्मानुभव रह जाय सो यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वे कहीं आत्मासे भिन्न नहीं हैं।

जिसे सत्य चाहिए हो ऐसे जिज्ञासु-समझदार जीवको यदि कोई असत्य बतलाए तो वह असत्यको स्वीकार नहीं कर लेता, जिसे स्वभा-वकी चाह है वह स्वभावसे विरुद्धभावको स्वीकार नहीं करता, वस्तुका स्व रूप शुद्ध है इसका ठीक निर्णय किया और वृत्ति छूट गई, इसके बाद जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ वही धर्म है। ऐसा धर्म किस प्रकार होता है और धर्म करनेके लिए पहिले क्या करना चाहिए ? तत्सम्बंधी यह कथन चल रहा है।

धर्मकी रुचिवाले जीव कैसे होते हैं ?

धर्मके लिये सर्वप्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर श्रवण-मननसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए कि मैं एक ज्ञान स्वभाव हूँ। ज्ञान स्वभावमें ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई करने धरनेका स्वभाव नहीं है इस प्रकार सत्के समझनेमें जो काल व्यतीत होता है वह भी अनतकालमें पहिले कभी नहीं किया गया अपूर्व अभ्यास है। जीवको सत्की ओरकी रुचि होती है इसलिये वैराग्य जाग्रत होता है और समस्त संसारके ओरकी रुचि उड़ जाती है, चौरासीके अवतारके प्रति त्रास जाग्रत हो जाता है कि यह कैसी विडम्बना है ? एक तो स्वरूपकी प्रतीति नहीं है और उधर प्रतिक्षण पराश्रय-भावमें रचे पचे रहते हैं,-भला यह भी कोई मनुष्यका जीवन है ? तिर्यंच इत्यादिके दुःखोंकी तो बात ही क्या, किन्तु इस नर-देहमें भी ऐसा जीवन ? और मरण समय स्वरूपका भान रहित असाध्य होकर ऐसा दयनीय मरण ? इसप्रकार संसार संबंधी त्रास उत्पन्न होने पर स्वरूपको समझनेकी रुचि उत्पन्न होती है। वस्तुको समझनेके लिये जो काल व्यतीत होता है वह भी ज्ञानकी क्रिया है, सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओंको पहिले ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए कि "मैं सदा एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य-पापके भाव, या स्वर्ग-नरक आदि कोई मेरा स्वभाव नहीं है,"-इसप्रकार श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान-निमित्त और कारण-कार्य

१—सच्चे श्रुतज्ञानके अवलंबन के बिना और २—श्रुतज्ञानसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय किये बिना आत्मा अनुभवमें नहीं आता। इसमें आत्माका अनुभव करना कार्य है. आत्माका निर्णय करना उपादान कारण है और श्रुतका अवलंबन निमित्त कारण है। श्रुतके अवलंबनसे ज्ञान स्वभाव का जो निर्णय किया उसका फल उस निर्णयके अनुसार आचरण अर्थात् अनुभव करना है। आत्माका निर्णय कारण और आत्माका अनुभव कार्य है,-इसप्रकार यहाँ लिया गया है अर्थात् जो निर्णय करता है उसे अनुभव होता ही है,-ऐसी बात कही है।

अंतरंग अनुभवका उपाय अर्थात् ज्ञानकी क्रिया

अब यह बतलाते हैं कि आत्माका निर्णय करनेके बाद उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिये। निर्णयानुसार श्रद्धाका आचरण अनुभव है। प्रगट अनुभवमें शांतिका वेदन लानेके लिए अर्थात् आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारणोंको छोड़ देना चाहिए। पहिले 'मैं ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा हूँ' ऐसा निश्चय करनेके बाद आत्माके आनन्दका प्रगट भोग करनेके लिए [वेदन या अनुभव करनेके लिये], परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारण,—जो इन्द्रिय और मनके द्वारा परलक्षमें प्रवर्तमान ज्ञान है उसे स्व की ओर लाना, देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि परपदार्थों की ओरका लक्ष तथा मनके अवलंबनसे प्रवर्तमान बुद्धि अर्थात् मतिज्ञान को संकुचित करके-मर्यादामें लाकर स्वात्माभिमुख करना सो आंतरिक अनुभवका पंथ है, सहज शीतल स्वरूप अनाकुल स्वभावकी छायामें प्रवेश करनेकी पहिली सीढ़ी है।

प्रथम, आत्मा ज्ञान स्वभाव है ऐसा भलीभांति निश्चय करके फिर प्रगट अनुभव करनेके लिए पर की ओर जाने वाले भाव जो मति और श्रुत ज्ञान हैं उन्हें अपनी ओर एकाग्र करना चाहिए। जो ज्ञान परमें विकल्प करके रुक जाता है अथवा मैं ज्ञान हूँ व मेरे विकल्पमें रुक जाता है उसी ज्ञान को वहाँसे हटाकर स्वभावकी ओर लाना चाहिए। मति और श्रुतज्ञानके जो भाव हैं वे तो ज्ञानमें ही रहते हैं, किन्तु पहिले वे भाव परकी ओर जाते थे, अब उन्हें आत्मोन्मुख करने पर स्वभावका लक्ष होता है। आत्माके स्वभावमें एकाग्र होनेकी यह क्रमिक सीढ़ी है।

ज्ञानमें भय नहीं है

जिसने मनके अवलम्बनसे प्रवर्तमान ज्ञानको मनसे छुड़ाकर अपनी ओर किया है अर्थात् पर पदार्थ की ओर जाते हुए मतिज्ञानको मर्यादामें लाकर आत्म सन्मुख किया है उसके ज्ञानमें अनंत संसारका नास्तिभाव और पूर्ण ज्ञानस्वभावका अस्ति भाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करनेमें अनंत पुरुषार्थ है। स्वभावमें भय नहीं है इसलिये जिसका स्वभावकी ओर का पुरुषार्थ उदित हुआ है उसे भयकी शंका नहीं रहती। जहाँ भयकी शंका है वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है, और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ भयकी शंका नहीं है। इसप्रकार ज्ञान और भयकी एक दूसरेमें नास्ति है।

पुरुषार्थके द्वारा सत्समागमसे अकेले ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करनेके बाद 'मैं अबंध हूँ या बंधवान, शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, त्रिकाल हूँ या क्षणिक हूँ,' ऐसे जो वृत्तियाँ उठती है उनमें भी आत्म-शांति नहीं है, वे वृत्तियाँ आकुलतामय-आत्म शांतिकी विरोधिनी हैं। नयपक्षोंके अवलम्बनसे होनेवाले मनसंबंधी अनेक प्रकारके विकल्पोंको भी मर्यादामें लाकर अर्थात् उन विकल्पों को रोकनेके पुरुषार्थसे श्रुतज्ञानको भी आत्म सन्मुख करने पर शुद्धात्माका अनुभव होता है। इसप्रकार मति और श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन है। इन्द्रिय और मनके अवलम्बनसे जो मतिज्ञान शब्दादि विषयोंमें प्रवृत्ति कर रहा था उसे, और मनके अवलम्बनसे जो श्रुतज्ञान अनेक प्रकारके

नयपक्षोंके विकल्पोंमें उलझ रहा था उसे—अर्थात् परावलंबन से प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको मर्यादामें लाकर–अंतरस्वभाव संमुख करके, उन ज्ञानोंके द्वारा एक ज्ञानस्वभावको पकड़कर (लक्षमें लेकर) निर्विकल्प होकर, तत्काल निज रससे ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिए; वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार अनुभवमें आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है ?

शुद्धात्मा आदि मध्य और अंत रहित त्रिकाल एकरूप पूर्ण ज्ञानघन है; उसमें बंध–मोक्ष नहीं है, वह अनाकुलता स्वरूप है, 'मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ' ऐसे विकल्पोंसे होनेवाली आकुलता से रहित है। लक्षमेंसे पुण्य–पापका आश्रय छूटकर मात्र आत्मा ही अनुभवरूप है। केवल एक ज्ञानमात्र आत्मामें पुण्य-पापके कोई भाव नहीं हैं। मानों संपूर्ण विश्वके ऊपर तैर रहा हो अर्थात् समस्त विभावोंसे पृथक् हो गया हो ऐसा चैतन्य स्वभाव पृथक् अखंड प्रतिभासमय अनुभवमें आता है। आत्माका स्वभाव पुण्य-पापके ऊपर तैरता है, अर्थात् उनमें मिल नहीं जाता, एकमेक नहीं हो जाता या तद्रूप नहीं हो जाता, किन्तु उनसे अलगका अलग रहता है। वह अनंत है, अर्थात् उसके स्वभावका कभी अन्त नहीं है' पुण्य-पाप अंतवाले हैं, और ज्ञानस्वरूप अनंत है तथा विज्ञानघन है। मात्र ज्ञानका ही पिण्ड है मात्र ज्ञान पिण्डमें राग-द्वेष किंचित् मात्र भी नहीं है। अज्ञान भावसे रागादिका कर्ता था किन्तु स्वभाव भावसे रागका कर्ता नहीं है। अखंड आत्मस्वभावका अनुभव होने पर जो जो अस्थिरताके विभाव थे उन सबसे प्रथक् होकर जब यह आत्मा, विज्ञानघन अर्थात् जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सकते ऐसे ज्ञानके निविड़ पिण्ड रूप परमात्म स्वरूप आत्माका अनुभव करता है तब वह स्वयं ही सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

निश्चय और व्यवहार

इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों आ जाते हैं। अखंड विज्ञानघन-स्वरूप ज्ञानस्वभाव आत्मा निश्चय है और परिणतिको स्वभाव संमुख करना

व्यवहार है। मति श्रुतज्ञानको अपनी ओर लगा लेनेकी पुरुषार्थरूप जो पर्याय है सो व्यवहार है, और अखंड आत्मस्वभाव निश्चय है। जब मति श्रुतज्ञानको स्वोन्मुख किया और आत्मानुभव किया कि उसी समय आत्मा सम्यक्‌तया दिखाई देता है-उसकी श्रद्धा की जाती है। यह सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके समय की बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

सम्यग्दर्शनके होने पर स्वरसका अपूर्व आनन्द अनुभवमें आता है। आत्माका सहज आनन्द प्रगट होता है। आत्मिक आनन्द उछलने लगता है। अंतरंगमें अपूर्व आत्मशांति का वेदन होता है। आत्माका जो सुख अंतरंगमें है वह अनुभवमें आता है। इस अपूर्व सुखका मार्ग सम्यक्‌दर्शन ही है। 'मैं भगवान आत्मा चैतन्य स्वरूप हूँ' इसप्रकार जो निर्विकल्प शांतरस अनुभव में आता है वही शुद्धात्मा अर्थात् सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है यहाँ सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेदरूप लिये गये हैं आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

बारंबार ज्ञानमें एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए

सर्व प्रथम आत्माका निर्णय करके फिर अनुभव करनेको कहा है। सबसे पहिले जबतक यह निर्णय नहीं होता कि—'मैं निश्चय ज्ञान स्वरूप हूँ, दूसरा कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है,' तबतक सच्चे श्रुतज्ञानको पहिचान कर उसका परिचय करना चाहिए।

सत् श्रुतके परिचयसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके बाद मति श्रुतज्ञानको उस ज्ञानस्वभाव की ओर ले जानेका प्रयत्न करना, निर्विकल्प होनेका प्रयत्न करना ही प्रथम अर्थात् सम्यग्दर्शनका मार्ग है। इसमें तो बारबार ज्ञानमें एकाग्रताका अभ्यास ही करना है, बाहरमें कुछ करनेकी बात नहीं है, किंतु ज्ञानमें ही समझ और एकाग्रताका प्रयास करने की बात है। ज्ञानमें अभ्यास करते करते जहाँ एकाग्र हुआ वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपमें यह आत्मा प्रगट होता है। यही जन्म मरणको दूर करने

का उपाय है। एकमात्र ज्ञाता स्वभाव है उसमें, दूसरा कुछ करनेका स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प अनुभव होनेसे पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो समझना चाहिए कि उसे व्यवहारसे भी आत्मा का निश्चय नहीं है। अनंत उपवास करने पर भी आत्मज्ञान नहीं होता, बाहर की दौड़ धूपसे भी ज्ञान नहीं होता किन्तु ज्ञानस्वभावकी पकड़से ही ज्ञान होता है। आत्माकी ओर लक्ष और श्रद्धा किये बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहाँसे हो सकता है? पहिले देव गुरु शास्त्रके निमित्तोंसे अनेकप्रकारसे श्रुतज्ञान जानता है और उन सबमेंसे एक आत्माको निकाल लेता है, और फिर उसका लक्ष करके प्रगट अनुभव करनेके लिये, मति-श्रुतज्ञानके बाहिर झुकने वाली पर्यायोंको स्वसन्मुख करता हुआ तत्काल निर्विकल्प निजस्वभाव-रस-आनन्दका अनुभव होता है। जब आत्मा परमात्मस्वरूपका अनुभव करता है उसी समय आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है, उसे बादमें विकल्प उठने पर भी उसकी प्रतीति बनी रहती है, अर्थात् आत्मानुभवके बाद विकल्प उठे तो उससे सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। निज स्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करनेके बाद भी शुभ भाव आते तो हैं किन्तु आत्महित तो ज्ञानस्वभाव का निश्चय और आश्रय करनेसे ही होता है। जैसे जैसे ज्ञानस्वभावकी दृढ़ता बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे शुभभाव भी हटते जाते हैं। परोन्मुखतासे जो वेदन होता है वह सब दुःखरूप है, अंतरंगमें शांतरस की ही मूर्ति आत्मा है, उसके अभेद लक्ष से जो वेदन होता है वही सुख है। सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, गुण गुणी से अलग नहीं होता। ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिंड एक अखंड प्रतिभासमय आत्माका निःशंक अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

अंतिम अभिप्राय

यह आत्म कल्याणका छोटेसे छोटा (जिसे सब कर सके ऐसा) उपाय है। दूसरे सब उपाय छोड़कर यही एक करना है। हितका साधन

बाह्यमें किंचित् मात्र नहीं है। सत्समागमसे एक आत्माका ही निश्चय करना चाहिए। वास्तविक तत्त्वकी श्रद्धाके बिना आंतरिक वेदनका आनन्द नहीं आ सकता। पहिले भीतरसे सत्की स्वीकृति आये बिना सत् स्वरूपका ज्ञान नहीं होता और सत् स्वरूपके ज्ञानके बिना भव बन्धनकी बेड़ी नहीं टूटती। भव बंधनका अंत आये बिना यह जीवन किस कामका? भवके अन्तकी श्रद्धाके बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद या इन्द्रपद मिलता है किन्तु उसमें आत्माको क्या है? आत्म प्रतीतिके बिना व्रत-तपकी प्रवृत्ति सब पुण्य और इन्द्रपद आदि व्यर्थ हैं, उनमें आत्मशान्तिका अंश तक नहीं होता; इसलिये पहिले श्रुतज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वभावका दृढ़ निश्चय करना चाहिये फिर प्रतीतिमें भवकी शंका ही नहीं रहती, और जितनी ज्ञानकी दृढ़ता होती है उतनी शान्ति बढ़ती जाती है।

प्रभो! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, यह तूने नहीं जान पाया। अपनी प्रभुता की प्रतीति किये बिना तू बाह्यमें चाहे जिसके गीत गाता फिरे तो इससे कहीं तुझे अपनी प्रभुताका लाभ नहीं हो सकता। अभी तक दूसरेके गीत गाये हैं किन्तु अपने गीत नहीं गाये। तू भगवानकी प्रतिमा के सन्मुख खड़ा होकर कहता है कि—हे भगवान! हे नाथ! आप अनन्त ज्ञान के धनी हो' वहाँ सामनेसे भी ऐसी ही आवाज आती है—ऐसी ही प्रतिध्वनि होती है कि—'हे भगवान! हे नाथ! आप अनन्त ज्ञानके धनी हैं' — यदि अन्तरंगमें पहिचान हो तभी तो उसे समझेगा। बिना पहिचानके भीतर में सच्ची प्रतिध्वनि (निःशंकतारूप) नहीं पड़ती।

शुद्धात्मस्वरूपका वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो, या साक्षात्कार कहो,—जो कहो सो यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ है सो यह एक आत्मा ही है, उसीको भिन्न २ नामोंसे कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद या साधुपद यह सब एक आत्मा में ही समाविष्ट होते हैं। समाधिमरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूप की स्थिरता ही है। इसप्रकार आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन है, और यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मोंका मूल है, सम्यग्दर्शन ही आत्माका धर्म है।

❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्षशास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका



प्रथम अध्याय का

परिशिष्ट

४



टीका समाहक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



मोक्षशास्त्र अध्याय एक (१), सूत्र २ में 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है; उस लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषका परिहार।

अव्याप्ति दोषका परिहार

(१) प्रश्न—तिर्यंचादि कितने ही तुच्छज्ञानी जीव सात तत्त्वोंके नाम तक नहीं जान सकते तथापि उनके भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति शास्त्रोंमें कही गई है, इसलिये आपने जो सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्) कहा है उसमें अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—जीव-अजीवादिके नामादिको जाने या न जाने अथवा अन्यथा जाने, किन्तु उसके स्वरूपको यथार्थ जानकर श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है। उसमें कोई तो सामान्यतया स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है और कोई विशेषतया स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है। तिर्यंचादि तुच्छज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवादिके नाम भी नहीं जानते तथापि वे सामान्यरूपसे उसका स्वरूप पहिचानकर श्रद्धान करते हैं इसलिये उन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। जैसे कोई तिर्यंच अपना या दूसरोंका नामादि तो नहीं जानता किन्तु अपनेमें ही अपनापन तथा अन्यको पर मानता है, इसीप्रकार तुच्छज्ञानी जीव-अजीवके नाम न जाने फिर भी वह ज्ञानादिस्वरूप आत्मामें स्वत्व मानता है तथा शरीरादिको पर मानता है, ऐसा श्रद्धान उसे होता है और यही जीव-अजीवका श्रद्धान है। और फिर जैसे वही तिर्यंच सुखादिके नामादि तो नहीं जानता तथापि सुखावस्थाको पहिचानकर तदर्थ भावी दुःखोंके कारणोंको पहिचानकर उनका त्याग करना चाहता है तथा वर्तमानमें जो दुःखके कारण बने हुए हैं उनके अभावका उपाय करता है; इसीप्रकार तुच्छज्ञानी मोक्षादिके नाम नहीं जानता फिर भी सर्वथा सुखरूप मोक्षावस्थाका श्रद्धान करके उसके लिए भाविबंधनके कारणरूप रागादि आस्रवभाव

के त्यागरूप संवरको करना चाहता है, तथा जो संसार-दुःखके कारण हैं उनकी शुद्ध भावसे निर्जरा करना चाहता है। इसप्रकार उसे आश्रवादिका श्रद्धान है। इसीप्रकार उसे भी सात तत्त्वोंका श्रद्धान होता है यदि उसे ऐसा श्रद्धान न हो तो रागादिको छोड़कर शुद्धभाव करनेकी इच्छा नहीं हो सकती। सो ही यहाँ कहनेमें आता है।

यदि जीवकी जातिको न जाने—स्वपरको न पहिचाने तो वह परमें रागादि क्यों न करे? यदि रागादिको न पहिचाने तो वह उनका त्याग क्यों करना चाहेगा? और रागादि ही आश्रव है। तथा रागादिका फल बुरा है, यह न जाने तो वह रागादिको क्यों छोड़ना चाहेगा? रागादिका फल ही बंध है। यदि रागादि रहित परिणामोंको पहिचानेगा तो तद्‌रूप होना चाहेगा। रागादि रहित परिणामका नाम ही संवर है। और पूर्व संसारावस्थाका जो कारण विभावभाव है उसकी हानिको वह पहिचानता है और तदर्थ वह शुद्धभाव करना चाहता है। पूर्व संसारावस्थाका कारण विभावभाव है, और उसकी हानि होना ही निर्जरा है। यदि संसारावस्थाके अभावको न पहिचाने तो वह संवर निर्जरारूप प्रवृत्ति क्यों करे? और संसारावस्थाका अभाव ही मोक्ष है इसप्रकार सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होते ही रागादिको छोड़कर शुद्धभावरूप होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है; यदि इनमेंसे एक भी तत्त्वका श्रद्धान न हो तो ऐसी इच्छा न हो। ऐसी इच्छा उन तुच्छज्ञानी तिर्यंचादिक सम्यक्‌दृष्टियोंके अवश्य होती है, इसलिये यह निश्चय समझना चाहिए कि उनके सात तत्त्वोंका श्रद्धान होता है। यद्यपि ज्ञानावरणका क्षयोपशम अल्प होनेसे उन्हें विशेषरूपसे तत्त्वोंका ज्ञान नहीं होता, फिर भी मिथ्यादर्शनके उपशमादिसे सामान्यतया तत्त्वश्रद्धान की शक्ति प्रगट होती है। इसप्रकार इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता।

(२) प्रश्न—जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषय कषायोंके कार्यों में प्रवृत्ति करता है उस समय उसे सात तत्त्वोंका विचार ही नहीं होता तब फिर वहाँ श्रद्धान कैसे संभव है? और सम्यक्त्व तो उसे रहता ही है; इसलिए इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—विचार तो उपयोगाधीन होता है, जहाँ उपयोग जुड़ता है उसीका विचार होता है, किन्तु श्रद्धान तो निरन्तर शुद्ध प्रतीतिरूप है। इस लिए अन्यज्ञेयका विचार होने पर, शयनादि क्रिया होने पर यद्यपि तत्त्वोंका विचार नहीं होता तथापि उसकी प्रतीति तो सदा स्थिर बनी ही रहती है, नष्ट नहीं होती, इसलिये उसके सम्यक्त्वका सद्भाव है। जैसे किसी रोगी पुरुषको यह प्रतीति है कि—'मैं मनुष्य हूँ तिर्यंच नहीं, मुझे अमुक कारणसे रोग हुआ है, और अब मुझे यह कारण मिटाकर रोगको कम करके निरोग होना चाहिए'। वही मनुष्य जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे ऐसा विचार नहीं होता, किन्तु श्रद्धान तो ऐसा ही बना रहता है, इसीप्रकार इस आत्माको ऐसी प्रतीति तो है कि—'मैं आत्मा हूँ–पुद्गलादि नहीं। मुझे आश्रवसे बंध हुआ है किन्तु अब मुझे संवरके द्वारा निर्जरा करके मोक्षरूप होना है,' अब वही आत्मा जब अन्य विचादिरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे वैसा विचार नहीं होता किन्तु श्रद्धान तो ऐसा ही रहा करता है।

प्रश्न—यदि उसे ऐसा श्रद्धान रहता है तो फिर वह बंध होनेके कारणोंमें क्यों प्रवृत्त होता है?

उत्तर—जैसे कोई मनुष्य किसी कारणसे रोग बढ़नेके कारणोंमें भी प्रवृत्त होता है; व्यापारादि कार्य या क्रोधादि कार्य करता है फिर भी उसके उस श्रद्धानका नाश नहीं होता, इसीप्रकार यह आत्मा पुरुषार्थकी अशक्तिके वशी भूत होनेसे बंध होनेके कारणोंमें भी प्रवृत्त होता है, विषय सेवनादि तथा क्रोधादि कार्य करता है तथापि उसके उस श्रद्धानका नाश नहीं होता। इस प्रकार सात तत्त्वोंका विचार न होने पर भी उनमें श्रद्धानका सद्भाव है, इस लिये वहाँ अव्याप्ति दोष नहीं आता।

(३) प्रश्न—जहाँ उच्च दशामें निर्विकल्प आत्मानुभव होता है वहाँ सात तत्त्वादिके विकल्पका भी निषेध किया है। तब सम्यक्त्वके लक्षण का निषेध करना कैसे संभव है और यदि वहाँ निषेध संभव है तो अव्याप्ति दोष आ जायगा।

उत्तर—निम्नदशामें सात तत्त्वोंके विकल्पमें उपयोग लगाकर प्रतीति को दृढ़ किया तथा उपयोगको विषयादिसे छुड़ाकर रागादिक कम किये, अब उस कार्यके सिद्ध होनेपर उन्हीं कारणोंका निषेध करते हैं। क्योंकि जहाँ प्रतीति भी दृढ़ होगई तथा रागादि भी दूर होगये वहाँ अब उपयोगको घुमानेका खेद क्यों किया जाय? इसलिये वहाँ इन विकल्पोंका निषेध किया है। और फिर सम्यक्त्वका लक्षण तो प्रतीति ही है, उसका (उस प्रतीतिका) वहाँ निषेध तो किया नहीं है। यदि प्रतीति छुड़ाई होती तो उस लक्षणका निषेध किया कहलाता, किन्तु ऐसा तो है नहीं। तत्त्वोंकी प्रतीति वहाँ भी स्थिर बनी रहती है इसलिये यहाँ अव्याप्ति दोष नहीं आता।

(४) प्रश्न—छद्मस्थके प्रतीति-अप्रतीति कहना संभवित है, इसलिये वहाँ सात तत्त्वोंकी प्रतीतिको सम्यक्त्वका लक्षण कहा है,—जिसे हम मानते हैं किन्तु केवली और सिद्ध भगवान्‌को तो सबका ज्ञातृत्व समानरूपसे है इसलिये वहाँ सात तत्त्वोंकी प्रतीति कहना संभवित नहीं होती, और उनके सम्यक्त्वगुण तो होता ही है, इसलिये वहाँ इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—जैसे छद्मस्थको श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवली और सिद्धभगवान्‌को केवलज्ञानके अनुसार ही प्रतीति होती है। जिन सात तत्त्वोंका स्वरूप पहिले निर्णीत किया था वही अब केवलज्ञानके द्वारा जाना है इसलिये वहाँ प्रतीतिमें परम अवगाढ़त्व हुआ इसीलिये वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है। किंतु पहिले जो श्रद्धान किया था उसे यदि झूँठ जाना हो तो वहाँ अप्रतीति होती, किंतु जैसा सात तत्त्वोंका श्रद्धान छद्मस्थको हुआ था वैसा ही केवली, सिद्ध भगवान्‌को भी होता है, इसलिए ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक और केवली सिद्ध भगवानके सम्यक्त्व गुण तो समान ही कहा है। और पूर्वावस्थामें वह यह मानता था कि–'संवर-निर्जराके द्वारा मोक्षका उपाय करना चाहिए' और अब मुक्तावस्था होने पर यह मानने लगा कि–'संवर-निर्जराके द्वारा मुझे मुक्तावस्था प्राप्त हुई है।' पहिले ज्ञानकी हीनतासे जीवादि

के थोड़े भेदोंको जानता था और अब केवलज्ञान होने पर उसके सर्व भेदों को जानता है, किन्तु मूलभूत जीवादिके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थको होता है वैसा ही केवलीको भी होता है। यद्यपि केवली-सिद्ध भगवान् अन्य पदार्थों को भी प्रतीति सहित जानते हैं तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं इसलिये सम्यक्त्वगुणमें सात तत्त्वोंका श्रद्धान ही ग्रहण किया है। केवली सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते और संसारावस्थाको नहीं चाहते सो यह श्रद्धानका ही बल समझना चाहिए।

प्रश्न—जब कि सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्ग कहा है तब फिर उसका सद्भाव मोक्षमें कैसे हो सकता है?

उत्तर—कई कारण ऐसे भी होते हैं जो कार्यके सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होते। जैसे किसी वृक्षकी एक शाखासे अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई हो, तो उसके होने पर भी वह एक शाखा नष्ट नहीं होती, इसीप्रकार किसी आत्माको सम्यक्त्वगुणके द्वारा अनेक गुणयुक्त मोक्ष अवस्था प्रगट हुई किन्तु उसके होने पर भी सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इसप्रकार केवली सिद्ध भगवान्के भी तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण होता ही है। इसलिये वहाँ अव्याप्ति दोष नहीं आता।

अतिव्याप्ति दोष का परिहार

प्रश्न—शास्त्रोंमें यह निरूपण किया गया है कि मिथ्यादृष्टिके भी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण होता है, और श्री प्रवचनसारमें आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थ-श्रद्धान अकार्यकारी कहा है। इसलिए सम्यक्त्वका जो लक्षण 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' कहा है उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—मिथ्यादृष्टिको जो तत्त्वार्थश्रद्धान बताया है वह मात्र नाम निक्षेपसे है। जिसमें तत्त्वश्रद्धानका गुण तो नहीं है किन्तु व्यवहारमें जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहते हैं वह मिथ्यादृष्टिके होता है, अथवा आगमद्रव्यनिक्षेपसे होता है,—अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानके प्रतिपादक शास्त्रोंका अभ्यास है किन्तु उसके स्वरूपका निश्चय करनेमें उपयोग नहीं लगाता ऐसा जानना

चाहिये। और यहां जो सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है सो वह तो भावनिक्षेपसे कहा है, अर्थात् गुणसहित सच्चा तत्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टिके कभी भी नहीं होता। और जो आत्मज्ञानशून्य तत्वार्थश्रद्धान कहा है वहाँ भी यही अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि जिसे जीव अजीवादिका सच्चा श्रद्धान होता है उसे आत्मज्ञान क्यों न होगा? अवश्य होगा। इसप्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टिको सच्चा तत्वार्थश्रद्धान सर्वथा नहीं होता, इसलिये इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।

असंभव दोषका परिहार

और जो यह 'तत्वार्थश्रद्धान' लक्षण कहा है सो असंभवदूषणयुक्त भी नहीं है। क्योंकि सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है और उसका लक्षण इससे विपरीततायुक्त है।

इसप्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषोंसे रहित तत्वार्थश्रद्धान सभी सम्यग्दृष्टियों के होता है और किसी भी मिथ्यादृष्टिके नहीं होता, इसलिये सम्यग्दर्शनका यथार्थ लक्षण तत्वार्थश्रद्धान ही है।

विशेष स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न—यहाँ सात तत्त्वोंके श्रद्धानका नियम कहा है किन्तु वह ठीक नहीं बैठता, क्योंकि कहीं कहीं परसे भिन्न अपने श्रद्धानको भी (आत्मश्रद्धानको भी) सम्यक्त्व कहा है। श्री समयसारमें 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि कलशमें यह कहा है कि—आत्माका परद्रव्यसे भिन्न अवलोकन ही नियमतः सम्यग्दर्शन है, इसलिये नवतत्त्वकी संततिको छोड़कर हमें तो यह एक आत्मा ही प्राप्त हो।' और कहीं कहीं एक आत्माके निश्चयको ही सम्यक्त्व कहा है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें 'दर्शनमात्मविनिश्चितिः' ऐसा पद है, उसका भी यही अर्थ है, इसलिये जीव-अजीवका ही या केवल जीवका ही श्रद्धान होनेपर भी सम्यक्त्व होता है। यदि सात तत्त्वोंके श्रद्धानका ही नियम होता तो ऐसा क्यों लिखते?

उत्तर—परसे भिन्न जो अपना श्रद्धान होता है वह आस्रवादिके श्रद्धानसे रहित होता है या सहित होता है? यदि रहित होता है तो मोक्षके श्रद्धानके बिना वह किस प्रयोजनके लिये ऐसा उपाय करता है? संवर निर्जरा के श्रद्धानके बिना रागादि रहित होकर अपने स्वरूपमें उपयोग लगानेका उद्यम क्यों करता है? आस्रव-बंधके श्रद्धानके बिना वह पूर्वावस्थाको क्यों छोड़ता है? क्योंकि आस्रवादिके श्रद्धानसे रहित स्व परका श्रद्धान करना सम्भवित नहीं है, और यदि आस्रवादिके श्रद्धानसे युक्त है तो वहाँ स्वयं सातों तत्त्वोंके श्रद्धानका नियम हुआ। और जहाँ केवल आत्माका निश्चय है वहाँ भी परका पररूप श्रद्धान हुए बिना आत्माका श्रद्धान नहीं होता। इसलिये अजीवका श्रद्धान होते ही जीवका श्रद्धान होता है, और पहिले कहे अनुसार आस्रवादिका श्रद्धान भी वहाँ अवश्य होता है; इसलिये यहाँ भी सातों तत्त्वों के ही श्रद्धानका नियम समझना चाहिये।

दूसरे, आस्रवादिके श्रद्धानके बिना स्व परका श्रद्धान अथवा केवल आत्माका श्रद्धान सच्चा नहीं होता क्योंकि आत्मद्रव्य शुद्ध अशुद्ध पर्याय सहित है इसलिये जैसे ततुके अवलोकन के बिना परका अवलोकन नहीं होता उसी प्रकार शुद्ध अशुद्ध पर्यायको पहिले पहिचाने बिना आत्मद्रव्यका श्रद्धान भी नहीं हो सकता, और शुद्ध अशुद्ध अवस्थाकी पहिचान आस्रवादिकी पहिचान से होती है। आस्रवादिके श्रद्धानके बिना स्व-परका श्रद्धान या केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है क्योंकि—ऐसा श्रद्धान करो या न करो, जो स्वयं है सो स्वयं ही है और जो पर है सो पर ही है। और आस्रवादिका श्रद्धान हो तो आस्रव-बंधका अभाव करके संवर-निर्जरारूप उपायसे वह मोक्षपदको प्राप्त हो, जो स्व परका श्रद्धान कराया जाता है वह भी इसी प्रयोजनके लिये कराया जाता है; इसलिए आस्रवादिके श्रद्धानसे युक्त स्व परका जानना या स्व का जानना कार्यकारी है।

(२) प्रश्न—यदि ऐसा है तो शास्त्रोंमें जो स्व-परके श्रद्धानको या केवल आत्माके श्रद्धानको ही सम्यक्त्व कहा है और कार्यकारी कहा है और

कहा है कि नवतत्त्वोंकी संततिको छोड़कर हमें तो एक आत्मा ही प्राप्त हो, सो ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर—जिसे स्व-परका या आत्माका सत्य श्रद्धान होता है उसे सातों तत्त्वोंका श्रद्धान अवश्य होता है और जिसे सातों तत्त्वोंका सत्यश्रद्धान होता है उसे स्व-परका तथा आत्माका श्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा परस्पर अविनाभावी संबंध जानकर स्व-परके श्रद्धानको तथा आत्मश्रद्धान होनेको सम्यक्त्व कहा है। किन्तु यदि कोई सामान्यतया स्व-परको जानकर या आत्माको जानकर कृत-कृत्यता समझ ले तो यह उसका कोरा भ्रम है, क्योंकि ऐसा कहा है कि "निर्विशेषो हि सामान्ये भवेत्खर-विषाणवत्" अर्थात् विशेष-रहित सामान्य गधेके सींगके समान है। इसलिये प्रयोजनभूत आश्रवादि विशेषोंसे युक्त स्व-परका या आत्माका श्रद्धान करना योग्य है, अथवा सातों तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे जो रागादि को मिटानेके लिए पर द्रव्योंको भिन्न चिंतवन करता है या अपने आत्माका चिंतवन करता है उसे प्रयोजनकी सिद्धि होती है, इसलिये मुख्यतया भेद विज्ञानको या आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है। तत्त्वार्थश्रद्धान किये विना सब कुछ जानना कार्य-कारी नहीं है, क्योंकि प्रयोजन तो रागादिको मिटाना है, इसलिये आस्रवादि के श्रद्धानके विना जब यह प्रयोजन भासित नहीं होता तब केवल जाननेसे मान को बढ़ाये और रागादिको न छोड़े तो उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा? दूसरे, जहाँ नवतत्त्वकी संतति छोड़नेको कहा है वहाँ पहिले नवतत्त्वके विचारसे सम्यग्दर्शन हुआ और फिर निर्विकल्प दशा होनेके लिए नवतत्त्वोंका विकल्प भी छोड़नेकी इच्छा की, किन्तु जिसे पहिलेसे ही नवतत्त्वोंका विचार नहीं है उसे उन विकल्पोंको छोड़नेका क्या प्रयोजन है? इससे तो अपनेको जो अनेक विकल्प होते हैं उन्हींका त्याग करो। इसप्रकार स्व-परके श्रद्धानमें या आत्म श्रद्धानमें अथवा नवतत्त्वोंके श्रद्धानमें सात तत्त्वोंके श्रद्धानकी सापेक्षता होती है, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है।

(३) प्रश्न—तब फिर जो कहीं कहीं शास्त्रोंमें अरहंतदेव, निर्ग्रंथ गुरु और हिंसादि रहित धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है सो कैसे?

उत्तर—अरहंत देवादिका श्रद्धान होनेसे और कुदेवादिका श्रद्धान दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है, इस अपेक्षासे उसे सम्यग्दृष्टि कहा है, किन्तु सम्यक्त्वका सर्वथा लक्षण यह नहीं है, क्योंकि—द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोंको भी ऐसा श्रद्धान होता है। अरहंत देवादिका श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्व हो या न हो किन्तु अरहंतादिका श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कभी भी नहीं होता। इसलिये अरहंतादिके श्रद्धानको अन्वयरूप कारण जानकर कारणमें कार्यका उपचार करके इस श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। और इसीलिये उसका नाम व्यवहारसम्यक्त्व है। अथवा जिसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे सच्चे अरहंतादिके स्वरूपका श्रद्धान अवश्य होता है। तत्त्वार्थश्रद्धानके बिना अरहंतादिका श्रद्धान पक्षसे करे तथापि यथावत् स्वरूपकी पहिचान सहित श्रद्धान नहीं होता, तथा जिसे सच्चे अरहन्तादिके स्वरूपका श्रद्धान हो उसे तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य ही होता है, क्योंकि अरहन्तादिके स्वरूपको पहिचानने पर जीव अजीव आस्रवादि की पहिचान होती है। इसप्रकार उसे परस्पर अविनाभावी जानकर कहीं कहीं अरहन्तादिके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है।

(४) प्रश्न—नरकादिके जीवोंको देव कुदेवादिका व्यवहार नहीं है फिर भी उनको सम्यक्त्व होता है, इसलिये सम्यक्त्वके होनेपर अरहंतादिका श्रद्धान होता ही है, ऐसा नियम सम्भवित नहीं है।

उत्तर—सात तत्त्वोंके श्रद्धानमें अरहंतादिका श्रद्धान गर्भित है, क्योंकि वह तत्त्वश्रद्धानमें मोक्ष तत्त्वको सर्वोत्कृष्ट मानता है। और मोक्षतत्त्व अरहन्त सिद्धका ही लक्षण है, तथा जो लक्षणको उत्कृष्ट मानता है वह उसके लक्ष्यको भी उत्कृष्ट अवश्य मानेगा। इसलिये उन्हींको सर्वोत्कृष्ट माना और अन्यको नहीं माना यही उसके देवका श्रद्धान हुआ कहलाया। और मोक्षका कारण संवर निर्जरा है इसलिये उसे भी वह उत्कृष्ट मानता है, तथा संवर-निर्जराके धारक मुख्यतया मुनिराज हैं इसलिये वह मुनिराजको उत्तम मानता है और अन्यको उत्तम नहीं मानता यही उसका गुरुका श्रद्धान है। और रागादि

रहित भावका नाम अहिंसा है, उसे वह उपादेय मानता है तथा अन्यको नहीं मानता यही उसका धर्मका श्रद्धान है। इसप्रकार तत्त्वार्थ-श्रद्धानमें अरहन्त देवादिका श्रद्धान भी गर्भित है। अथवा जिस निमित्तसे उसे तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है उसी निमित्तसे अरहन्त देवादिका भी श्रद्धान होता है, इसलिये सम्यग्दर्शनमें देवादिके श्रद्धानका नियम है।

(५) प्रश्न—कोई जीव अरहन्तादिका श्रद्धान करता है, उनके गुणोंको पहिचानता है फिर भी उसे तत्त्व श्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता, इसलिये जिसे सच्चे अरहन्तादिका श्रद्धान होता है उसे तत्त्व श्रद्धान अवश्य होता ही है, ऐसा नियम संभवित नहीं होता।

उत्तर—तत्त्व श्रद्धानके विना वह अरहन्तादिके ४६ आदि गुणोंको जानता है, वहाँ पर्यायाश्रित गुणोंको भी नहीं जानता; क्योंकि जीव-अजीवकी जातिको पहिचाने विना अरहन्तादिके आत्माश्रित और शरीराश्रित गुणोंको वह भिन्न नहीं जानता, यदि जाने तो वह अपने आत्माको परद्रव्यसे भिन्न क्यों न माने ? इसीलिये श्री प्रवचनसारमें कहा है किः—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयं ॥ ८० ॥

अर्थ—जो अरहन्तको द्रव्यत्व, गुणत्व, और पर्यायत्वसे जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोह नाशको प्राप्त होता है इसलिये जिसे जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं है उसे अरहन्तादिका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। और वह मोक्षादि तत्त्वोंके श्रद्धानके विना अरहन्तादिका माहात्म्य भी यथार्थ नहीं जानता। मात्र लौकिक अतिशयादिसे अरहन्तका, तपश्चरणादिसे गुरुका और परजीवोंकी अहिंसादिसे धर्मका माहात्म्य जानता है किन्तु यह तो पराश्रितभाव है और अरहन्तादिका स्वरूप तो आत्माश्रित भावों द्वारा तत्त्व-श्रद्धान होते ही ज्ञात होता है, इसलिये जिसे अरहन्तादिका सच्चा श्रद्धान होता है उसे तत्त्व श्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा नियम समझना चाहिए। इसप्रकार सम्यक्त्वका लक्षण निर्देश किया है।

प्रश्न ६—यथार्थ तत्वार्थ श्रद्धान, स्व-परका श्रद्धान, आत्मश्रद्धान, तथा देव गुरु धर्मका श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण कहा है और इन सब लक्षणों की परस्पर एकता भी बताई है सो वह तो जान लिया, किन्तु इसप्रकार अन्य अन्य प्रकारसे लक्षण करनेका क्या प्रयोजन है?

उत्तर—जो चार लक्षण कहे हैं उनमें सच्ची दृष्टि पूर्वक कोई एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणोंका ग्रहण होता है तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न २ समझ कर अन्य अन्य प्रकार से यह लक्षण कहे हैं १—जहाँ तत्त्वार्थ-श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ यह प्रयोजन है कि-यदि इन तत्त्वोंको पहिचाने तो वस्तुके यथार्थ स्वरूपका व हिताहितका श्रद्धान करके मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करे। २—जहाँ स्व-पर भिन्नताका श्रद्धानरूप लक्षण कहा है वहाँ जिससे तत्त्वार्थ श्रद्धानका प्रयोजन सिद्ध हो उस श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है, क्योंकि जीव अजीवके श्रद्धानका प्रयोजन स्व परका भिन्न श्रद्धान करना है, और आश्रवादिके श्रद्धानका प्रयोजन रागादि छोड़ना है, अर्थात् स्व-परकी भिन्नता का श्रद्धान होनेपर परद्रव्योंमें रागादि न करनेका श्रद्धान होता है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन स्व-परके भिन्न श्रद्धानसे सिद्ध हुआ जानकर यह लक्षण कहा है। ३—जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ स्व परके भिन्न-श्रद्धानका प्रयोजन इतना ही है कि—अपनेको अपनेरूप जानना। अपनेको अपनेरूप जाननेपर परका भी विकल्प कार्यकारी नहीं है ऐसे मूलभूत प्रयोजनकी प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। तथा ४—जहाँ देव गुरु धर्मकी श्रद्धारूप लक्षण कहा है वहाँ बाह्य साधनकी प्रधानता की है, क्योंकि-अरहंत देवादिका श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धानका कारण है तथा कुदेवादिका श्रद्धान कल्पित तत्त्वार्थ श्रद्धानका कारण है। इस बाह्य कारणकी प्रधानता से कुदेवादिका श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिका श्रद्धान करानेके लिए देव गुरु धर्मके श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। इस प्रकार भिन्न २ प्रयोजनोंकी मुख्यतासे भिन्न २ लक्षण कहे हैं।

(७) प्रश्न—यह जो भिन्न २ चार लक्षण कहे हैं उनमेंसे इस जीव को कौनसे लक्षणको अंगीकार करना चाहिये ?

उत्तर—जहाँ पुरुषार्थके द्वारा सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर विपरीताभिनिवेशका अभाव होता है वहाँ यह चारों लक्षण एक साथ होते हैं तथा विचार अपेक्षासे मुख्यतया तत्त्वार्थोंका विचार करता है या स्व-परका भेद विज्ञान करता है, या आत्मस्वरूपको ही सँभालता है अथवा देवादिके स्वरूपका विचार करता है। इसप्रकार ज्ञानमें नाना प्रकारके विचार होते हैं किन्तु श्रद्धानमें सर्वत्र परस्पर सापेक्षता होती है। जैसे तत्त्वविचार करता है तो भेद विज्ञानादिके अभिप्राय सहित करता है, इसीप्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षता है। इसलिये सम्यक्दृष्टिके श्रद्धानमें तो चारों लक्षणोंका अंगीकार है, किंतु जिसे विपरीताभिनिवेश होता है उसे यह लक्षण आभासमात्र होते हैं, यथार्थ नहीं होते। वह जिनमतके जीवादि तत्त्वोंको मानता है, अन्यके नहीं, तथा उनके नाम, भेदादिको सीखता है। इसप्रकार उसे तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है किन्तु उसके यथार्थभावका श्रद्धान नहीं होता। और वह स्व-परके भिन्नत्वकी बातें करता है तथा वस्त्रादिमें परबुद्धिका चितवन करता है, परन्तु उसे जैसी पर्यायमें अहंबुद्धि है तथा वस्त्रादिमें परबुद्धि है वैसी आत्मामें अहंबुद्धि और शरीरमें परबुद्धि नहीं होती। वह आत्माका जिनवचनानुसार चितवन करता है किन्तु प्रतीतरूपसे निजको निजरूप श्रद्धान नहीं करता तथा वह अरहंतादिके अतिरिक्त अन्य कुदेवादिको नहीं मानता; किन्तु उनके स्वरूपको यथार्थ पहिचान कर श्रद्धान नहीं करता। इसप्रकार यह लक्षणभास मिथ्यादृष्टिके होते हैं। उसमें कोई हो या न हो किन्तु उसे यहाँ भिन्नत्व भी संभवित नहीं है। दूसरे, इन लक्षणभासोंमें इतनी विशेपता है कि,—पहिले तो देवादिका श्रद्धान होता है, फिर तत्त्वोंका विचार होता है, पश्चात् स्व-परका चितवन करता है और फिर केवल आत्माका चितवन करता है। यदि इस क्रमसे जीव साधन करे तो परम्परासे सच्चे मोक्षमार्गको पाकर सिद्ध पदको भी प्राप्त कर ले; और जो इस क्रमका उलंघन करता है उसे देवादिकी मान्यता

का भी कोई ठिकाना नहीं रहता। इसलिये जो जीव अपना भला करना चाहता है उसे जहाँ तक सच्चे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हो वहाँ तक इसे भी क्रमशः अंगीकार करना चाहिये। पहिले आज्ञादिके द्वारा या किसी परीक्षाके द्वारा कुदेवादिकी मान्यताको छोड़कर अरहंत देवादिका श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि इनका श्रद्धान होने पर गृहीतमिथ्यात्वका अभाव होता है, कुदेवादिका निमित्त दूर होता है और अरहंत देवादिका निमित्त मिलता है, इसलिये पहिले देवादिका श्रद्धान करना चाहिये और फिर जिनमतमें कहे गये जीवादितत्त्वोंका विचार करना चाहिये, उनके नाम-लक्षणादि सीखना चाहिये, क्योंकि इसके अभ्याससे तत्त्वश्रद्धानकी प्राप्ति होती है। इसके बाद जिससे स्व-परका भिन्नत्व भासित हो ऐसे विचार करते रहना चाहिये, क्योंकि-इस अभ्याससे भेद विज्ञान होता है। इसके बाद एक निजमें निजत्व मानने के लिये स्वरूपका विचार करते रहना चाहिए। क्योंकि-इस अभ्याससे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार क्रमशः उन्हें अंगीकार करके, फिर उसमें से ही कभी देवादिके विचारमें, कभी तत्त्व विचारमें, कभी स्व-परके विचारमें तथा कभी आत्मविचारमें उपयोगको लगाना चाहिए। इसप्रकार अभ्याससे सत्य सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है।

(८) प्रश्न—सम्यक्त्वके लक्षण अनेक प्रकारके कहे गये हैं, उनमेंसे यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको ही मुख्य कहा है, सो इसका क्या कारण है?

उत्तर—तुच्छ बुद्धिवालेको अन्य लक्षणोंमें उसका प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता या भ्रम उत्पन्न होता है तथा इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें प्रयोजन प्रगटरूपसे भासित होता है और कोई भी भ्रम उत्पन्न नहीं होता, इसलिये इस लक्षणको मुख्य किया है। यही यहाँ दिखाया जा रहा है —

देवगुरुधर्मके श्रद्धानमें तुच्छ बुद्धिको ऐसा भासित होता है कि अरहंतदेवादिको ही मानना चाहिए और अन्यको नहीं मानना चाहिए, इतना ही सम्यक्त्व है, किन्तु वहाँ उसे जीव अजीवके बंध मोक्षके कारण कार्यका स्वरूप

भासित नहीं होता और उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती है, और जीवादिका श्रद्धान हुए विना मात्र इसी श्रद्धानमें संतुष्ट होकर अपनेको सम्यक्दृष्टि माने वा एक कुदेवादिके प्रति द्वेष तो रक्खे किन्तु अन्य रागादि छोड़नेका उद्यम न करे, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। और स्व-परके श्रद्धानमें तुच्छ बुद्धिवालेको ऐसा भासित होता है कि एक स्व-परको जानना ही कार्यकारी है और उसीसे सम्यक्त्व होता है। किन्तु उसमें आश्रवादिका स्वरूप भासित नहीं होता और उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी नहीं होती। और आश्रवादिका श्रद्धान हुए विना मात्र इतना ही जाननेमे संतुष्ट होकर अपने को सम्यक्दृष्टि मानकर स्वच्छंदी हो जाता है किंतु रागादिके छोड़नेका उद्यम नहीं करता; ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। तथा आत्मश्रद्धान लक्षणमें तुच्छबुद्धि वालेको ऐसा भासित होता है कि—एक आत्माका ही विचार कार्यकारी है और उसीसे सम्यक्त्व होता है, किन्तु वहाँ जीव-अजीवादिके विशेष तथा आश्रवादिका स्वरूप भासित नहीं होता और इसलिये मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी नहीं होती, और जीवादिके विशेषोंका तथा आश्रवादिके स्वरूपका श्रद्धान हुए विना मात्र इतने ही विचारसे अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छन्दी होकर रागादिको छोड़नेका उद्यम नहीं करता; ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। ऐसा जानकर इन लक्षणोंको मुख्य नहीं किया और तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणमें जीव-अजीवादि व आश्रवादिका श्रद्धान हुआ वहाँ यदि उन सबका स्वरूप ठीक ठीक भासित हो तो मोक्षमार्गरूप प्रयोजन की सिद्धि हो। और इस श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके होनेपर भी स्वयं संतुष्ट नहीं होता परन्तु आश्रवादिका श्रद्धान होनेसे रागादिको छोड़कर मोक्षका उद्यम करता है। इसप्रकार उसे भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको मुख्य किया है।

अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें देवादिका श्रद्धान, स्व-परका श्रद्धान, तथा आत्मश्रद्धान गर्भित होता है, और वह तुच्छबुद्धिवालेको भी भासित होता है किन्तु अन्य लक्षणोंमें तत्त्वार्थश्रद्धान गर्भित है यह विशेष बुद्धिवान्‌को ही भासित होता है, तुच्छबुद्धिवालेको नहीं। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान

लक्षणको मुख्य किया है। तथा मिथ्यादृष्टिको यह आभासमात्र होता है, वहाँ तत्त्वार्थोंका विचार विपरीताभिनिवेशको दूर करनेमें शीघ्र कारणरूप होता है किन्तु अन्य लक्षण शीघ्र कारणरूप नहीं होते या विपरीताभिनिवेशके भी कारण हो जाते हैं, इसलिये यहाँ सर्वप्रकारसे प्रसिद्ध जानकर विपरीताभिनिवेशरहित जीवादितत्त्वार्थोंका श्रद्धान ही सम्यक्त्वका लक्षण है ऐसा निर्देश किया है। ऐसा लक्षण जिस आत्माके स्वभावमें हो उसीको सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्षशास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका





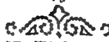


द्वितीय अध्याय



टीका समाहक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



अध्याय दूसरा

पहिले अध्यायमें सम्यग्दर्शनके विषयका उपदेश देते हुए प्रारंभमें [अ० १ सू० ४ में] जीवादिक तत्त्व कहे थे। उनमेंसे जीव तत्त्वके भाव, उनका लक्षण और शरीरके साथके सम्बन्धका वर्णन इस दूसरे अध्यायमें है। पहिले जीवके स्वतत्त्व (निजभाव) बतानेके लिए सूत्र कहते हैं:—

जीवके असाधारण भाव

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च ॥१॥

अर्थ—[जीवस्य] जीवके [औपशमिकक्षायिकौ] औपशमिक और क्षायिक [भावौ] भाव [च मिश्रः] और मिश्र तथा [औदयिकपारिणामिकौ च] औदयिक और पारिणामिक यह पाँच भाव [स्वतत्त्वम्] निजभाव है अर्थात् यह जीवके अतिरिक्त दूसरेमें नहीं होते।

टीका

पाँच भावोंकी व्याख्या

(१) औपशमिकभाव—आत्माके पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धताका प्रगट न होना अर्थात् दब जाना। आत्माके इस भावको औपशमिकभाव कहते हैं, यह जीवकी एक समयमात्रकी पर्याय है, यह एक एक समय करके अन्तर्मुहूर्त तक रहती है, किन्तु एक समयमें एक ही अवस्था होती है। और उसी समय आत्माके पुरुषार्थका निमित्त पाकर जड़ कर्मका प्रगटरूप फल जड़ कर्ममें न आना सो कर्मका उपशम है।

(२) क्षायिकभाव—आत्माके पुरुषार्थसे किसी गुणकी शुद्ध अवस्थाका प्रगट होना सो क्षायिकभाव है। यह भी जीवकी एक समयमात्रकी अवस्था है। एक एक समय करके वह सादि-अनंत रहती है तथापि एक समयमें एक ही अवस्था होती है, सादि अनंत-अमूर्त-अतीन्द्रिय स्वभाववाले केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलवीर्य-युक्त-फलरूप अनंत चतुष्टयके साथ रहनेवाली परम उत्कृष्ट क्षायिकभावकी शुद्ध परिणति जो कार्यशुद्धपर्याय है, उसे क्षायिकभाव भी कहते हैं। और उसी समय आत्माका पुरुषार्थका निमित्त पाकर कर्मावरणका नाश होना सो कर्मका क्षय है।

(३) क्षायोपशमिकभाव—आत्माके पुरुषार्थका निमित्त पाकर जो कर्मका स्वयं आंशिक क्षय और आंशिक उपशम वह कर्मका क्षयोपशम है, और क्षायोपशमिकभाव आत्माकी पर्याय है। यह भी आत्माकी एक समय की अवस्था है, वह उसकी योग्यताके अनुसार उत्कृष्ट कालतक भी रहती है, किन्तु प्रति समय बदलकर रहती है।

(४) औदयिकभाव—कर्मोंके निमित्तसे आत्मा अपनेमें जो विकारभाव करता है सो औदयिक भाव है। यह भी आत्माकी एक समय की अवस्था है।

(५) पारिणामिकभाव—'पारिणामिक' का अर्थ है सहजस्वभाव, उत्पाद-व्यय-रहित ध्रुव-एकरूप स्थिर रहनेवाला भाव पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव सभी जीवोंके सामान्य होता है। औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक-इन चार भावोंसे रहित जो भाव है सो पारिणामिक भाव है। 'पारिणामिक' कहते ही ऐसा ध्वनित होता है कि 'परिणमता है,' अर्थात् द्रव्य-गुणका नित्य वर्तमानरूप निर्पेक्षता है, ऐसी द्रव्यकी पूर्णता है। द्रव्य-गुण और निर्पेक्ष पर्यायरूप वस्तुकी जो पूर्णता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

जिसका निरन्तर सद्भाव रहता है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। जिसमें सर्वभेद गर्भित हैं ऐसा चैतन्यभाव ही जीवका पारिणामिक भाव है।

मतिज्ञानादि तथा केवलज्ञानादि जो अवस्थाएँ हैं वे पारिणामिक भाव नहीं हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान (यह अवस्थाएँ) क्षायोपशमिकभाव हैं, केवलज्ञान (अवस्था) क्षायिकभाव है। केवलज्ञान प्रगट होनेसे पूर्व ज्ञानका विकासका जितना अभाव है वह औदयिकभाव है। ज्ञान दर्शन और वीर्यगुणकी अवस्थामें औपशमिकभाव होता ही नहीं। मोह का ही उपशम होता है, उसमें प्रथम मिथ्यात्वका (दर्शनमोहका) उपशम होने पर जो निश्चय सम्यक्त्व प्रगट होता है वह श्रद्धागुणका औपशमिक भाव है।

(ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुणकी पर्यायमें पूर्ण विकासका जितना अभाव है वह भी औदयिकभाव है, वह १२ वें गुणस्थान तक है)

२. यह पाँच भाव क्या बतलाते हैं ?

(१) जीवमें एक अनादि अनंत शुद्ध चैतन्य स्वभाव है ? यह पारिणामिकभाव सिद्ध करता है।

(२) जीवमें अनादि अनंत शुद्ध चैतन्यस्वभाव होने पर भी उसकी अवस्थामें विकार है, ऐसा औदयिकभाव सिद्ध करता है।

(३) जड़कर्मके साथ जीवका अनादिकालीन संबंध है और जीव अपने ज्ञाता स्वभावसे च्युत होकर जड़कर्मकी ओर झुकाव करता है जिससे विकार होता है किन्तु कर्मके कारण विकारभाव नहीं होता, यह भी औदयिकभाव सिद्ध करता है।

(४) जीव अनादिकालसे विकार करता हुआ भी जड़ नहीं हो जाता और उसके ज्ञान, दर्शन तथा वीर्यका आंशिक विकास सदा बना रहता है, यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(५) आत्माका स्वरूप यथार्थतया समझकर जब जीव अपने पारिणामिकभावका आश्रय लेता है तब औदयिकभावका दूर होना प्रारम्भ होता है, और पहिले श्रद्धागुणका औदयिकभाव दूर होता है, यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(६) सच्ची समझके बाद जीव जैसे २ सत्यपुरुषार्थको बढ़ाता है वैसे २ मोह अंशतः दूर होता जाता है यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(७) यदि जीव प्रतिहतभावसे पुरुषार्थमें आगे बढ़ता है तो चारित्र-मोह स्वयं दब जाता है [-उपशमको प्राप्त होता है] यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(८) अप्रतिहत पुरुषार्थसे पारिणामिकभावका अच्छी तरह आश्रय बढ़ाने पर विकारका नाश हो सकता है ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(९) यद्यपि कर्मोंके साथका संबंध प्रवाहसे अनादिकालीन है तथापि प्रतिसमय पुराने कर्म जाते हैं और नये कर्मोंका संबंध होता रहता है, इस अपेक्षासे कर्मोंके साथका वह संबंध सर्वथा दूर हो जाता है, यह क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(१०) कोई निमित्त विकार नहीं कराता किन्तु जीव स्वयं निमित्ताधीन होकर विकार करता है। जब जीव पारिणामिक भावरूप अपने द्रव्य स्वभाव सन्मुख हो करके स्वाधीनताको प्रगट करता है तब अशुद्धता दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है, ऐसा औपशमिकभाव, साधकदशाका क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव तीनों सिद्ध करते हैं।

३. पाँचभावोंके संबंधमें कुछ प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्न—भावनाके समय इन पाँचमें से कौनसा भाव ध्यान करने योग्य है अर्थात् ध्येय है?

उत्तर—भावनाके समय पारिणामिकभाव ध्यान करने योग्य है अर्थात ध्येय है। ध्येयभूत द्रव्य रूप शुद्ध पारिणामिकभाव त्रिकाल रहते हैं इसलिये वे ध्यान करने योग्य हैं।

(२) प्रश्न—पारिणामिकभावके आश्रयसे होनेवाला ध्यान-भावना के समय ध्येय क्यों नहीं है?

उत्तर—वह ध्यान स्वय पर्याय है इसलिये विनश्वर है, पर्यायके लक्षसे शुद्ध अवस्था प्रगट नहीं होती, इसलिये वह ध्येय नहीं है।

[हिन्दी समयसार टीका, जयसेनाचार्यकृत टीकाका अनुवाद पृष्ठ ३३०—३३१]

(३) प्रश्न—शुद्ध और अशुद्धभेदसे पारिणामिकभावके दो प्रकार नहीं हैं किन्तु पारिणामिकभाव शुद्ध ही है, क्या यह कहना ठीक है?

उत्तर—नहीं, यह ठीक नहीं है। यद्यपि सामान्यरूपसे (द्रव्यार्थिक नयसे अथवा उत्सर्ग कथनसे) पारिणामिकभाव शुद्ध है तथापि विशेषरूपसे (पर्यायार्थिकनयसे अथवा अपवाद कथनसे) अशुद्ध पारिणामिकभाव भी है। इस लिये 'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस (सातवें सूत्र) से पारिणामिकभावको जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व–तीन प्रकारका कहा है, उनमें से जो शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व है वह अविनाशी शुद्ध द्रव्याश्रित है, इसलिये उसे शुद्ध द्रव्याश्रित नामका शुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। और जो दश प्रकारके द्रव्य प्राणोंसे पहिचाना जाता है ऐसा जीवत्व और मोक्षमार्गकी योग्यता अयोग्यतासे भव्यत्व, अभव्यत्व यह तीन प्रकार पर्यायाश्रित है इसलिये उन्हें पर्यायार्थिक नामके अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिये।

(४) प्रश्न—इस तीन भावोंकी अशुद्धता किस अपेक्षासे है?

उत्तर—यह अशुद्ध पारिणामिकभाव व्यवहारनयसे सांसारिक जीवों में हैं फिर भी 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" अर्थात् सब जीव शुद्धनयसे शुद्ध हैं, इसलिये यह तीनों भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे किसी जीवको नहीं हैं, संसारी जीवोंमें पर्यायकी अपेक्षा अशुद्धत्व है। [भव्य जीवमें अभव्यत्व गुण नहीं है और अभव्य जीवमें भव्यत्व गुण नहीं है तथा वे दोनों गुण जीवके अनुजीवी गुण हैं, श्रद्धा गुणकी पर्याय नहीं, देखो "अनुजीवीगुण" जैन सि० प्रवेशिका।]

प्रश्न—इन शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिकभावोंमें से कौनसा भाव ध्यानके समय ध्येयरूप है?

उत्तर—द्रव्यरूप शुद्ध पारिणामिकभाव अविनाशी है इसलिये वह ध्येय-रूप है, अर्थात् वह त्रैकालिक शुद्ध पारिणामिकभावके लक्षसे शुद्ध अवस्था को प्रगट करता है। [बृहत् द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ३४-३५]

४. औपशमिकभाव कब होता है ?

अध्याय १ सूत्र ३२ में कहा गया है कि जीवके सत् और असत्के विवेकसे रहित जो दशा है सो उन्मत्त जैसी है मिथ्या अभिप्रायसे अपनी ऐसी दशा अनादिकालसे है यह अ० १ सूत्र ४ में कथित तत्त्वोंका विचार करने पर जीवको ज्ञानमें आता है। और उसे यह भी ज्ञानमें आता है कि जीवका पुद्‌गलकर्म तथा शरीरके साथ प्रवाहरूपसे अनादिकालीन संबंध है, अर्थात् जीव स्वयं वह का वही है किन्तु कर्म और शरीर पुराने जाते हैं तथा नये आते हैं। और यह संयोग संबंध अनादिकालसे चला आ रहा है। जीव इस संयोग संबंधको एकरूप (तादात्म्यसंबंधरूपसे) मानता है और इसप्रकार जीव अज्ञानतासे शरीरको अपना मानता है इसलिये शरीरके साथ मात्र निमित्त नैमित्तिक संबंध होने पर भी उसके साथ कर्ता-कर्म संबंध मानता है; इसलिये वह यह मानता आ रहा है कि 'मैं शरीरके कार्य कर सकता हूँ और जड़ कर्म, शरीरादि मुझको कुछ करता है।' तत्त्व विचार करते २ जीवको ऐसा लगता है कि यह मेरी भूल है मैं जीवतत्त्व हूँ, और शरीर तथा जड़ कर्म मुझसे सर्वथा भिन्न अजीवतत्त्व है, मैं अजीवमें और अजीव मुझमें नहीं है, इसलिये मैं अजीवका कुछ नहीं कर सकता, मैं अपने ही भाव कर सकता हूँ, तथा अजीव अपने भाव (उसीके भाव) कर सकता है, मेरे नहीं।

इसप्रकार जिज्ञासु आत्मा प्रथम रागमिश्रित विचारके द्वारा जीव-अजीव तत्त्वोंका स्वरूप जानकर, यह निश्चय करते है कि अपनेमें जो कुछ विकार होते हैं वे अपने ही दोषके कारण होते है। इतना जानने पर उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि अविकारीभाव क्या है। इसप्रकार विकारभाव (पुण्य पाप आश्रव बंध) का तथा अविकारभाव (संवर निर्जरा मोक्ष) का स्वरूप वे जिज्ञासु आत्मा निश्चित करते हैं। पहिले रागमिश्रित विचारोंके

द्वारा इन तत्वोंका ज्ञान करके फिर जब जीव उन भेदोंकी ओरका लक्ष दूर करके अपने त्रैकालिक पारिणामिकभावका–ज्ञायकभावका यथार्थ आश्रय लेते हैं तब उन्हें श्रद्धागुणका औपशमिकभाव प्रगट होता है। श्रद्धागुणके औपशमिकभावको उपशम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर जीवके धर्मका प्रारम्भ होता है, तब जीवकी अनादिकालसे चली आनेवाली श्रद्धागुणकी मिथ्या दशा दूर होकर सम्यक् दशा प्रगट होती है। यह औपशमिकभावसे मिथ्यात्वादिके संवर होते हैं।

५ औपशमिकभावकी महिमा

इस औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शनकी ऐसी महिमा है कि जो जीव पुरुषार्थके द्वारा उसे एक बार प्रगट कर लेता है उसे अपनी पूर्ण पवित्र दशा प्रगट हुए बिना नहीं रह सकती। प्रथम–औपशमिकभावके प्रगट होने पर अ० १ सूत्र ३२ में कथित 'उन्मत्तदशा' दूर हो जाती है अर्थात् जीवकी मिथ्याज्ञानदशा दूर होकर वह सम्यक्मति श्रुतज्ञानरूप हो जाती है, और यदि उस जीवको पहिले मिथ्या अवधिज्ञान हो तो वह भी दूर होकर सम्यक् अवधिज्ञानरूप हो जाता है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा बतानेके लिये आचार्य देवने अ० १ के पहिले सूत्रमें पहिला ही शब्द सम्यग्दर्शन कहा है, और प्रथम सम्यग्दर्शन औपशमिकभावसे ही होता है इसलिये औपशमिकभावकी महिमा बताने लिये यहाँ भी यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ करते हुए वह भाव पहिले सूत्रके पहिले ही शब्दमें बताया है।

६. पाँच भावोंके सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न—प्रत्येक जीवमें अनादिकालसे पारिणामिकभाव है फिर भी उसे औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन क्यों प्रगट नहीं हुआ ?

उत्तर—जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपकी प्रतीति नहीं है और इसलिये यह यह नहीं जानता कि मैं स्वयं पारिणामिकभाव स्वरूप हूँ, और

वह अज्ञान दशामें यह मानता रहता है कि 'शरीर मेरा है और शरीरके अनुकूल ज्ञात होनेवाली पर वस्तुएँ मुझे लाभकारी हैं तथा शरीरके प्रतिकूल ज्ञात होनेवाली वस्तुएँ हानिकारी हैं,' इसलिये उसका झुकाव पर वस्तुओं, शरीर, और विकारी भावोंकी ओर बना ही रहता है। यहाँ जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया है और कभी किसीसे जिसका विनाश नहीं होता ऐसे पारिणामिकभावका ज्ञान कराकर, अपने गुण-पर्यायरूप भेदोंको और पर वस्तुओंको गौण करके आचार्यदेव उन परसे लक्ष छुड़वाते हैं। भेददृष्टि में निर्विकल्पदशा नहीं होती इसलिये अभेददृष्टि कराई है कि जिससे निर्विकल्पदशा प्रगट हो। औपशमिकभाव भी एक प्रकारकी निर्विकल्पदशा है।

(२) प्रश्न—इस सूत्रमें कथित पाँचभावोंमें से किस भावकी ओर के लक्षसे धर्मका प्रारंभ और पूर्णता होती है ?

उत्तर—पारिणामिकभावों के अतिरिक्त चारों भाव क्षणिक हैं,—एक समय मात्रके हैं, और उनमें भी क्षायिकभाव तो वर्तमान नहीं है, औपशमिकभाव भी होता है तो अल्प समय ही टिकता है. और औदयिक-क्षायोपशमिकभाव भी समय २ पर बदलते रहते हैं, इसलिये उन भावों पर लक्ष किया जाय तो वहाँ एकाग्रता नहीं हो सकती और धर्म प्रगट नहीं हो सकता। त्रैकालिक पूर्ण स्वभाव रूप पारिणामिकभावकी महिमाको जानकर उस ओर जीव अपना लक्ष करे तो धर्मका प्रारंभ होता है और उस भावकी एकाग्रताके बलसे ही धर्मकी पूर्णता होती है।

(३) प्रश्न—पंचास्तिकायमें कहा है कि—

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः ।
बंधमौदयिका भावा निःक्रियाः पारिणामिकाः ॥

[गाथा ५६ जयसेनाचार्य कृत टीका]

अर्थ—मिश्र, औपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव मोक्षकर्ता हैं; औदयिकभाव बंध करते हैं और पारिणामिकभाव बंध मोक्षकी क्रियासे रहित हैं।

प्रश्न—उपरोक्त कथनका क्या आशय है ?

उत्तर—इस श्लोकमें यह नहीं कहा है कि कौनसा भाव उपादेय अर्थात् आश्रय करने योग्य है किन्तु इसमें मोक्ष जो कि कर्मके अभावरूप निमित्तकी अपेक्षा रखता है वह भाव जब प्रगट होता है तब जीवका कौनसा भाव होता है यह बताया है अर्थात् मोक्ष जो कि, सापेक्ष पर्याय है उसका प्रगट होते समय तथा पूर्व सापेक्ष पर्याय कौनसी थी इसका स्वरूप बताया है। यह श्लोक बतलाता है कि क्षायिकभाव मोक्षको करता है अर्थात् उस भावका निमित्त पाकर आत्म प्रदेशसे द्रव्यकर्मका स्वय अभाव होता है। मोक्ष इस अपेक्षासे क्षायिक पर्याय है और क्षायिकभाव जडकर्मका अभाव सूचित करता है। क्षायिकभाव होनेसे पूर्व मोहके औपशमिक तथा क्षायोपशमिकभाव होना ही चाहिये और तत्पश्चात् क्षायिकभाव प्रगट होते हैं और क्षायिकभावके प्रगट होने पर ही कर्मोंका स्वय अभाव होता है—तथा ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सबध बतानेके लिये यह कहा है कि 'यह तीनों भाव मोक्ष करते हैं'। इस श्लोकमें यह-प्रतिपादन नहीं किया गया है कि—किस भावके आश्रयसे धर्म प्रगट होता है। ध्यान रहे कि पहिले चारों भाव स्व अपेक्षासे पारिणामिक-भाव हैं। (देखो जयधवल ग्रन्थ १ पृष्ठ ३१६, धवला भाग ५ पृष्ठ १६७)

४ प्रश्न—ऊपरके श्लोकमें कहा गया है कि-औदयिकभाव बधका कारण है। यदि यह स्वीकार किया जाय तो गति, जाति, आदि नामकर्म सबधी-औदयिकभाव भी बधके कारण क्यों नहीं होंगे ?

उत्तर—श्लोकमें कहे गये औदयिकभावमें सर्व औदयिकभाव बधके कारण हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये, किन्तु यह समझना चाहिए कि मात्र मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग यह चार भाव बधके कारण हैं। (श्री धवला पुस्तक ७ पृष्ठ ६–१०)

५ प्रश्न—'औदयिका भावाः बंधकारणम्' इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—इसका यही अर्थ है कि यदि जीव मोहके उदयमें युक्त होता है तो बध होता है। द्रव्य मोहका उदय होने पर भी यदि जीव शुद्धात्मभावना

के बलसे भावमोहरूप परिणमित न हो तो बंध नहीं होता। यदि जीवको कर्मोदयके कारण बंध होता हो तो संसारीके सर्वदा कर्मोदय विद्यमान हैं इसलिये उसे सर्वदा बंध होगा, कभी मोक्ष होगा ही नहीं। इसलिए यह समझना चाहिए कि कर्मका उदय बंधका कारण नहीं है, किन्तु जीवका भावमोहरूपसे परिणमन होना बंधका कारण है।

(हिन्दी प्रवचनसार पृष्ठ ५८-५९ जयसेनाचार्य कृत टीका)

६. प्रश्न—पारिणामिकभावको कहीं किसी गुणस्थानमें पर्यायरूपसे वर्णन किया है?

उत्तर—हाँ, दूसरा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्मकी उदय, उपशम, क्षयोपशम, या क्षय इन चार अवस्थाओंमें से किसी भी अवस्थाकी अपेक्षा नहीं रखता, इतना बतानेके लिए वहाँ श्रद्धाकी पर्याय अपेक्षासे पारिणामिकभाव कहा गया है। यह जीव जो चारित्रमोहके साथ युक्त होता है सो वह तो औदयिकभाव है, उस जीवके ज्ञानदर्शन और वीर्यका क्षायोपशमिकभाव है और सर्व जीवोंके (द्रव्यार्थिकनयसे) अनादि अनंत पारिणामिकभाव होता है, वह इस गुणस्थानमें रहनेवाले जीवके भी होता है।

७. प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव विकारीभावोंको—अपूर्णदशाको आत्माका स्वरूप नहीं मानते और इस सूत्रमें ऐसे भावोंको आत्माका स्वतत्त्व कहा है इसका क्या कारण है?

उत्तर—विकारीभाव और अपूर्ण अवस्था आत्माकी वर्तमान भूमिकामें आत्माके अपने दोषके कारण होती है, किसी जड़कर्म अथवा परद्रव्यके कारण नहीं, यह बतानेके लिये इस सूत्रमें उस भावको 'स्वतत्त्व' कहा है।

७. जीवका कर्तव्य

जीवको तत्त्वादिका निश्चय करनेका उद्यम करना चाहिए उससे औपशमिकादि सम्यक्त्व स्वयं होता है। द्रव्यकर्मके उपशमादि पुद्गलकी शक्ति (पर्याय) है, जीव उसका कर्ता हर्ता नहीं है। पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करना जीवका काम है। जीवको स्वयं तत्त्व निर्णय करनेमें उपयोग लगाना

चाहिये। इस पुरुषार्थसे मोक्षके उपायकी सिद्धि अपने आप होती है। जब जीव पुरुषार्थके द्वारा तत्त्व निर्णय करनेमें उपयोग लगानेका अभ्यास करता है तब उसकी विशुद्धता बढ़ती है, कर्मोंका रस स्वयं हीन होता है और कुछ समयमें जब अपने पुरुषार्थसे जीवमें प्रथम औपशमिकभावसे प्रतीति प्रगट होती है तब दर्शनमोहका अपने आप उपशम हो जाता है। जीवका कर्तव्य तो तत्त्व निर्णयका अभ्यास है। जब जीव तत्त्व निर्णयमें उपयोग लगाता है तब दर्शनमोहका उपशम स्वयमेव हो जाता है, कर्मके उपशममें जीवका कोई भी कर्तव्य नहीं है।

८. पाँच भावोंके सम्बन्धमें विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्माको सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते हैं अर्थात् सर्वथा शुद्ध मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें अशुद्धताके होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। और कोई आत्माका स्वरूप सर्वथा आनन्दमात्र मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें दुःख होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी वे मान्यताएँ और उन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही हो तो संसार, बंध, मोक्ष और मोक्षका उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायगे। आत्माका त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्थाका स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्यायसे आत्माका स्वरूप) कैसा होता है सो यथार्थतया यह पाँच भाव बतलाते हैं। यदि इन पाँच भावोंमें से एक भी भावका अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो आत्माके शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका सत्य कथन नहीं होता, और उससे ज्ञानमें दोष आता है। यह सूत्र ज्ञानका दोष दूर करके, आत्माके त्रैकालिक स्वरूप और निगोदसे सिद्धतककी उसकी समस्त अवस्थाओंको अत्यल्प शब्दोंमें चमत्कारिक रीतिसे बतलाता है। उन पाँच भावोंमें चौदह गुणस्थान तथा सिद्ध दशा भी आ जाती है।

इस शास्त्रमें अनादिकालसे चला आनेवाला-औदयिकभाव प्रथम नहीं लिया है किन्तु औपशमिकभाव पहिले लिया गया है; यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्रमें स्वरूपको समझानेके लिये भेद बतलाये गये हैं तथापि

भेदके आश्रयसे अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक-भावोंके लक्षसे विकल्प चालू रहता है अर्थात् अनादिकालसे चला आनेवाला औदयिकभाव ही चालू रहता है, इसलिये उन भावोंकी ओरका लक्ष छोड़कर ध्रुवरूप पारिणामिकभावकी ओर लक्ष करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहिले औपशमिकभाव प्रगट होता है, और क्रमशः शुद्धताके बढ़नेपर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

९. इस सूत्रमें नय-प्रमाणकी विवक्षा

वर्तमान पर्याय¹ और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उसके गुणोंका सादृश्यतया त्रिकाल ध्रुवरूपसे बने रहना²,—ऐसे दो पहलू प्रत्येक द्रव्यमें हैं, आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिए उनमें भी ऐसे दो पहलू हैं, उनमें से वर्तमान पर्यायका विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्रमें कथित पाँच भावोंमें से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप-वर्तमान अवस्थामात्रके लिये हैं इसलिये वे पर्यायार्थिकनयका विषय हैं; उस वर्तमान पर्यायको छोड़कर द्रव्य-सामान्य तथा उसके अनंत-गुणोंका जो सादृश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं; उस भावको कारणपरमात्मा, कारणसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है; वह त्रिकाल सादृश्यरूप होनेसे द्रव्यार्थिकनयका विषय है यह दोनों पहलू (पर्यायार्थिकनयका विषय और द्रव्यार्थिकनयका विषय दोनों) एक होकर संपूर्ण जीव द्रव्य है, इसलिये वे दोनों पहलू प्रमाणके विषय हैं।

इन दोनों पहलुओंका नय और प्रमाणके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके जो जीव अपनी वर्तमान पर्यायको अपने अभेद त्रैकालिक पारिणामिकभावकी ओर ले जाता है उसे सम्यग्दर्शन होता है; और वह क्रमशः स्वभावके अवलंबनसे आगे बढ़कर मोक्षदशारूप क्षायिकभावको प्रगट करता है ॥ १ ॥

भावोंके भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थ—उपरोक्त पांच भाव [यथाक्रमम्] क्रमशः [द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः] दो, नव, अट्ठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

इन भेदोंका वर्णन आगेके सूत्रोंके द्वारा करते हैं ॥ २ ॥

औपशमिकभावके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ-[सम्यक्त्व] औपशमिक सम्यक्त्व और [चारित्रे] औपशमिक चारित्र-इसप्रकार औपशमिकभावके दो भेद हैं।

टीका

(१) औपशमिक सम्यक्त्व—जब जीवके अपने सत्यपुरुषार्थसे औपशमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है तब जड़कर्मोंके साथ निमित्त नैमित्तिक संबंध ऐसा है कि मिथ्यात्वकर्मका और अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभका स्वयं उपशम हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवोंके तथा किन्हीं सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वकी एक और अनंतानुबंधीकी चार—इसप्रकार कुल पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं, और शेष सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति-यह तीन तथा अनंतानुबंधीकी चार, यों कुल सात प्रकृतियोंका उपशम होता है। जीवके इस भावको औपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है।

(२) औपशमिक चारित्र—जब जिस चारित्रभावसे उपशम श्रेणीके योग्यभाव प्रगट करता है उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं। उस समय मोहनीय कर्मकी अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियोंका स्वयं उपशम हो जाता है।

प्रश्न—जड़कर्म प्रकृतिका नाम 'सम्यक्त्व' क्यों है?

उत्तर—सम्यग्दर्शनके साथ-सहचरित उदय होनेसे उपचारसे कर्म-प्रकृतिको 'सम्यक्त्व' नाम दिया गया है ॥ ३ ॥

[श्री धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ३६]

क्षायिकभावके नव भेद

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोपवीर्याणि च ॥ ४ ॥

अर्थ—[ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग वीर्याणि] केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य, तथा [च] च कहने पर, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र-इसप्रकार क्षायिकभावके नव भेद हैं।

टीका

जीव जब ये केवलज्ञानादिभाव प्रगट करता है तब द्रव्यकर्म स्वयं आत्मप्रदेशोंसे अत्यंत वियोगरूप पृथक् हो जाते हैं अर्थात् कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं इसलिये इन भावोंको 'क्षायिकभाव' कहा जाता है।

(१) केवलज्ञान—संपूर्ण ज्ञानका प्रगट होना केवलज्ञान है, तब ज्ञानावरणीय कर्मकी अवस्था क्षयरूप स्वयं होती है।

(२) केवलदर्शन—संपूर्ण दर्शनका प्रगट होना केवलदर्शन है, इस समय दर्शनावरणीय कर्मका स्वयं क्षय होता है।

क्षायिक दानादि पाँच भाव—इसप्रकार अपने गुणकी अपने लिये दानादि पाँच भावरूपसे संपूर्णतया प्रगटता होती है, उस समय दानांतराय इत्यादि पाँच प्रकारके अंतरायकर्मका स्वयं क्षय होता है।

(३) क्षायिकदान—अपने शुद्ध स्वरूपका अपनेको दान देना सो उपादानरूप निश्चय क्षायिकदान है और अनंत जीवोंको शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति में जो निमित्तपनाकी योग्यता सो व्यवहार क्षायिक अभयदान है।

(४) क्षायिकलाभ—अपने शुद्धस्वरूपका अपनेको लाभ होना सो उपादान है और निमित्तरूपसे शरीरके बलको स्थिर रखनेमें कारणरूप अन्य मनुष्यको न हों ऐसे अत्यन्त शुभ सूक्ष्म नोकर्मरूप परिणमित होनेवाले अनंत पुद्‌गल परमाणुओंका प्रतिसमय सम्बंध होना क्षायिकलाभ है।

(५) क्षायिक भोग—अपने शुद्धस्वरूपका भोग क्षायिक भोग है और निमित्तरूपसे पुष्पवृष्टि आदिक विशेषोंका प्रगट होना क्षायिक भोग है।

(६) क्षायिक उपभोग—अपने शुद्धस्वरूपका प्रतिसमय उपभोग होना सो क्षायिक उपभोग है, और निमित्तरूपसे छत्र, चमर, सिंहासनादि विभूतियोंका होना क्षायिक उपभोग है।

(७) क्षायिक वीर्य—अपने शुद्धात्म स्वरूपमें उत्कृष्ट सामर्थ्यरूपसे प्रवृत्तिका होना सो क्षायिक वीर्य है।

(८) क्षायिकसम्यक्त्व—अपने मूलस्वरूपकी दृढ़तम प्रतीतिरूप पर्याय क्षायिक सम्यक्त्व है, जब यह प्रगट होती है तब मिथ्यात्वकी तीन और अनंतानुबंधीकी चार, इसप्रकार मूल सात कर्म प्रकृतियोंका स्वयं क्षय होता है।

(९) क्षायिकचारित्र—अपने स्वरूपका पूर्ण चारित्र प्रगट होना सो क्षायिकचारित्र है। उस समय मोहनीय कर्मकी शेष २१ प्रकृतियों का क्षय होता है। इसप्रकार जब कर्मका स्वयं क्षय होता है तब मात्र उपचार से यह कहा जाता है कि 'जीवने कर्मका क्षय किया है'। परमार्थसे तो जीवने अपनी अवस्थामें पुरुषार्थ किया है, जड़ प्रकृतिमें नहीं।

इन नव क्षायिकभावोंको नव लब्धि भी कहते हैं ॥ ४ ॥

क्षायोपशमिकभावके १८ भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

अर्थ—[ज्ञान अज्ञान] मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय यह चार ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान [दर्शन] चक्षु

अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन [लब्धयः] क्षायोपशमिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, ये पाँच लब्धियाँ [चतुः त्रि त्रि पंच भेदाः] इसप्रकार ४+३ + ३ + ५ = (१५) भेद तथा [सम्यक्त्व] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व [चारित्र] क्षायिक चारित्र [च] और [संयमासंयमाः] संयमासंयम इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके १८ भेद हैं।

टीका

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्वकी तथा अनंतानुबंधीकी कर्म प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय तथा उपशमकी अपेक्षासे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है और सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयकी अपेक्षासे उसीको वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

क्षायोपशमिक चारित्र—सम्यग्दर्शन पूर्वक-चारित्रके समय जो राग है उसकी अपेक्षासे वह सराग चारित्र कहलाता है किन्तु उसमें जो राग है वह चारित्र नहीं है, जितना वीतरागभाव है उतना ही चारित्र है। इस चारित्रको क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

संयमासंयमः—इस भावको देशव्रत, अथवा विरताविरत चारित्र भी कहते हैं।

मतिज्ञान इत्यादिका स्वरूप पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है।

दान, लाभ इत्यादि लब्धिका स्वरूप ऊपरके सूत्रमें कहा गया है। वहाँ क्षायिकभावसे वह लब्धि थी और यहाँ वह लब्धि क्षायोपशमिकभावसे है ऐसा समझना चाहिए ॥ ५ ॥

औदयिकभावके २१ भेद

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या-
श्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थ—[गति] तिर्यंच, नरक, मनुष्य और देव यह चार गतियाँ [कषाय] क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषायें [लिंग] स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, यह तीन लिंग [मिथ्यादर्शन] मिथ्यादर्शन [अज्ञान] अज्ञान [असंयत] असंयम [असिद्ध] असिद्धत्व तथा [लेश्याः] कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल यह छह लेश्यायें इसप्रकार [चतुः चतुः त्रि एक एक एक एक षड्भेदाः] ४ + ४ + ३ + १ + १ + १ + १ + ६ (२१) इसप्रकार सब मिलकर औदयिकभावके २१ भेद हैं।

टीका

प्रश्न—गति अघातिकर्मके उदयसे होती है, जीवके अनुजीवीगुणके घातका यह निमित्त नहीं है तथापि उसे औदयिकभावमें क्यों गिना है ?

उत्तर—जीवके जिस प्रकारकी गतिका संयोग होता है उसीमें वह ममत्व करने लगता है, जैसे वह यह मानता है कि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ'। इसप्रकार जहाँ मोहभाव होता है वहाँ वर्तमान गतिमें जीव अपनेपनकी कल्पना करता है, इसलिये इस अपेक्षासे गतिको औदयिक भावमें गिन लिया गया है।

लेश्या—कषायसे अनुरंजित योग को लेश्या कहते हैं। लेश्याके दो प्रकार हैं—द्रव्यलेश्या तथा भावलेश्या। यहाँ भावलेश्याका विषय है। भाव लेश्या छह प्रकारकी है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि लेश्यायें समय आत्मामें उस उस प्रकारका रंग होता है किन्तु जीवके विकारी कार्य भावा पेक्षासे ६ प्रकारके होते हैं, उस भावमें विकारका तारतम्य बतानेके लिये ६ प्रकार कहे हैं। लोकमें यदि कोई व्यक्ति खराब काम करता है तो कहा जाता है कि इसने काला काम किया है, वहाँ उसके कामका रंग काला नहीं होता किन्तु उस काममें उसका तीव्र बुरा भाव होनेसे उसे काला कहा जाता है,

और इस भावापेक्षासे उसे कृष्णलेश्या कहते हैं। जैसे जैसे विकार की तीव्रता में हलकापन होता है उसीप्रकार भावको 'नील लेश्या' इत्यादि नाम दिये जाते हैं। शुक्ललेश्या भी शुभ औदयिकभावमें होती है। शुक्ललेश्या कहीं धर्म नहीं है क्योंकि वह मिथ्यादृष्टियोंके भी होती है। पुण्यके तारतम्यमें जब उच्च पुण्यभाव होता है तब शुक्ललेश्या होती है। वह औदयिकभाव है और इसलिये वह संसारका कारण है, धर्मका नहीं।

प्रश्न—भगवानको तेरहवें गुणस्थानमें कषाय नहीं होती फिर भी उनके शुक्ललेश्या क्यों कही है?

उत्तर—भगवानके शुक्ललेश्या उपचारसे कही है। पहिले योगके साथ लेश्याका सहकारित्व था, वह योग तेरहवें गुणस्थानमें विद्यमान होनेसे वहाँ उपचारसे लेश्या भी कह दी गई है। लेश्याका कार्य कर्मबंध है। भगवान के कषाय नहीं है फिर भी योगके होनेसे एक समयका बंध है यह अपेक्षा लक्ष्यमें रखकर उपचारसे शुक्ललेश्या कही गई है।

अज्ञान—ज्ञानका अभाव अज्ञान है, इस अर्थमें यहाँ अज्ञान लिया गया है, कुज्ञानको यहाँ नहीं लिया है, कुज्ञानको क्षायोपशमिकभावमें लिया है ॥ ६ ॥

पारिणामिकभावके तीन भेद

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

अर्थ—[जीवभव्याभव्यत्वानि च] जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—इसप्रकार पारिणामिकभावके तीन भेद हैं।

टीका

१ सूत्रके अंतमें 'च' शब्दसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणोंका भी ग्रहण होता है।

–भव्यत्व—मोक्ष प्राप्त करने योग्य जीवके 'भव्यत्व' होता है।

अभव्यत्व—जो जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य नहीं होते उनके 'अभव्यत्व' होता है।

भव्यत्व और अभव्यत्व गुण है, ये दोनों अनुजीवी गुण हैं, कर्मके सद्भाव या अभाव की अपेक्षासे ये नाम नहीं दिये गये हैं।

जीवत्व—चेतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुणयुक्त रहना सो जीवन है।

पारिणामिक भावका अर्थ—कर्मोदयकी अपेक्षाके बिना आत्मामें जो गुण मूलत स्वभावमात्र ही हों उन्हें 'पारिणामिक' कहते हैं। अथवा—

"द्रव्यात्म लाभमात्र हेतुक परिणाम"

अर्थ—जो वस्तुके निजस्वरूपकी प्राप्ति मात्रमें ही हेतु हो सो पारिणामिक है।

(सर्वार्थसिद्धि टीका)

२ विशेष स्पष्टीकरण

(१) पाँचभावोंमें औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप (वर्तमानमें विद्यमान दशारूप) हैं और पाँचवाँ शुद्ध पारिणामिकभाव है वह त्रिकाल एकरूप ध्रुव है इसलिये वह द्रव्यरूप है। इसप्रकार आत्मपदार्थ द्रव्य और पर्याय सहित (जिस समय जो पर्याय हो उस सहित) है।

(२) जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व-इन तीन पारिणामिक भावों में जो शुद्ध जीवत्वभाव है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके आश्रित होनेसे नित्य निरावरण शुद्ध पारिणामिकभाव है और वह बंध मोक्ष पर्याय (–परिणति) से रहित है।

(३) जो दश प्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्व है उसे वर्तमानमें होनेवाले अवस्थाके आश्रित होनेसे (पर्यायार्थिक नयाश्रित होनेसे)

अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। जैसे सर्व संसारी जीव शुद्धनयसे शुद्ध हैं उसीप्रकार यदि अवस्था दृष्टिसे भी शुद्ध है ऐसा माना जाय तो दश प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्वका अभाव ही हो जाय।

(४) भव्यत्व और अभव्यत्वमेंसे भव्यत्व नामक अशुद्ध पारिणामिक भाव भव्यजीवोंके होता है। यद्यपि वह भाव द्रव्यकर्मकी अपेक्षा नहीं रखता तथापि जीवके सम्यक्त्वादि गुण जब मलिनतामें रुके होते हैं तब उसमें जड़ कर्म जो निमित्त है उसे भव्यत्वकी अशुद्धतामें उपचारसे निमित्त कहा जाता है। वह जीव जब अपनी पात्रताके द्वारा ज्ञानीकी देशनाको सुनकर सम्यक्-दर्शन प्रगट करता है और अपने चारित्रमें स्थिर होता है तब उसे भव्यत्व शक्ति प्रगट (व्यक्त) होती है। वह जीव सहज शुद्ध पारिणामिकभाव जिसका लक्षण है ऐसे अपने परमात्म द्रव्यमय सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और अनुचरणरूप अवस्था (पर्याय) को प्रगट करता है।

(देखो समयसार हिन्दी जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका पृष्ठ ४२३)

(५) पर्यायार्थिक नयसे कहा जानेवाला लाभ भव्यत्वभावका अभाव मोक्षदशामें होता है अर्थात् जीवमें जब सम्यग्दर्शनादि गुण की पूर्णता हो जाती है तब भव्यत्वका व्यवहार मिट जाता है।

(देखो अध्याय १० सूत्र ३)

३. अनादि अज्ञानी जीवके कौनसे भाव कभी नहीं हुए?

(१) यह बात लक्षमें रखना चाहिए कि जीवके अनादिकालसे ज्ञान, दर्शन और वीर्य क्षायोपशमिकभावरूपसे हैं किन्तु वे कहीं धर्मके कारण नहीं हैं।

(२) अपने स्वरूपकी असावधानी–जो मिथ्यादर्शनरूप मोह उसका अभावरूप औपशमिकभाव अनादि अज्ञानी जीवके कभी प्रगट नहीं हुआ। जब जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब दर्शनमोहका (मिथ्यात्वका) उप-

शम होता है। सम्यग्दर्शन अपूर्व है, क्योंकि जीवके कभी भी पहले यह भाव नहीं हुआ था। इस औपशमिकभावके होनेके बाद मोहसे सबंध रखनेवाले क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव उस जीवके प्रगट हुए बिना नहीं रहते, यह जीव अवश्य ही मोक्षावस्था को प्रगट करता है।

४. उपरोक्त औपशमिकादि तीन भाव किस विधिसे प्रगट होते हैं ?

(१) जब जीव अपने इन भावोंका स्वरूप समझकर त्रिकाल ध्रुवरूप (सकलनिरावरण) अखंड एक अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव की ओर अपना लक्ष स्थिर करता है तब उपरोक्त तीन भाव प्रगट होते हैं।

'मैं खंड-ज्ञानरूप हूँ' ऐसी भावनासे औपशमिकादिभाव प्रगट नहीं होते।

[श्री समयसार हिन्दी जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ ४८३]

(२) अपने अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभावकी ओरके झुकावको अध्यात्म भाषामें 'निश्चयनयका आश्रय' कहा जाता है। निश्चयनयके आश्रयसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। निश्चयका विषय अखंड अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव अर्थात् ज्ञायकभाव है। व्यवहारनयके आश्रयसे शुद्धता प्रगट नहीं होती किन्तु अशुद्धता प्रगट होती है (श्रीसमयसार गाथा ११)

५ पाँच भावोंमेंसे कौनसे भाव बंधरूप हैं और कौनसे नहीं ?

१ इन पाँच भावोंमेंसे एक औदयिकभाव (मोहके साथका सयुक्त भाव) बंधरूप है। जब जीव मोहभाव करता है तब कर्मका उदय उपचारसे बंधका कारण कहलाता है। यदि जीव मोहभावरूपसे परिणमित न हो तो बंध न हो और तब वही जड़कर्मकी निर्जरा कहलाये।

(२) जिसमे पुण्य-पाप, दान, पूजा, व्रतादि भावोंका समावेश होता है ऐसे आश्रव और बंध दो औदयिकभाव हैं; संवर और निर्जरा मोहके औपशमिक और क्षायोपशमिकभाव हैं, ये शुद्धताके अंश होनेसे बंधरूप नहीं हैं; और मोक्ष क्षायिकभाव है, वह सर्वथा पवित्र पर्याय है इसलिये वह भी बंधरूप नहीं है।

(३) शुद्ध त्रैकालिक पारिणामिकभाव बंध और मोक्षसे निरपेक्ष है ॥ ७ ॥

जीवका लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ–[लक्षणम्] जीवका लक्षण [उपयोगः] उपयोग है।

टीका

लक्षण–बहुतसे मिले हुये पदार्थोंमें से किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले हेतु (साधन) को लक्षण कहते हैं।

उपयोग—चैतन्यगुणके साथ संबंध रखनेवाले जीवके परिणामको उपयोग कहते हैं।

उपयोगको 'ज्ञान-दर्शन' भी कहते हैं वह सभी जीवोंमें होता है और जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमें नहीं होता, इसलिये उसे जीवका असाधारण गुण अथवा लक्षण कहते हैं। और वह सद्भूत (आत्मभूत) लक्षण है इसलिये सब जीवोंमें सदा होता है। इस सूत्रमें ऐसा सामान्य लक्षण दिया है जो सब जीवों पर लागू होता है। (तत्त्वार्थसार पृष्ठ ५४)

जैसे सोने चाँदीका एक पिंड होने पर भी उसमें सोना अपने पीलेपन आदि लक्षणसे और चाँदी अपने शुक्लादि लक्षणसे दोनों अलग २ हैं, ऐसा उनका भेद जाना जा सकता है, इसीप्रकार जीव और कर्म-नोकर्म (शरीर) एक क्षेत्रमें होने पर भी जीव अपने उपयोग लक्षणके द्वारा कर्म-नोकर्मसे अलग है और द्रव्यकर्म-नोकर्म अपने स्पर्शादि लक्षणके द्वारा जीवसे अलग है, इसप्रकार उनका भेद प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

जीव और पुद्गलका अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाहरूप संबंध है, इसलिये अज्ञानदशामें वे दोनों एकरूप भासित होते हैं। जीव और पुद्गल एक आकाश क्षेत्रमें होने पर भी यदि उनके यथार्थ लक्षणोंसे निर्णय किये जाँय तो वे दोनों भिन्न हैं ऐसा ज्ञान होता है। बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमें से किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं। अनंत परमाणुओंसे बना हुआ शरीर और जीव इसप्रकार बहुतसे मिले हुए पदार्थ हैं

उनमें अनंत पुद्गल हैं और एक जीव है। उसे ज्ञानमें अलग करनेके लिये यहाँ जीवका लक्षण बताया गया है। 'जीवका लक्षण उपयोग है' इसप्रकार यहाँ कहा है।

प्रश्न - उपयोगका अर्थ क्या है ?

उत्तर - चैतन्य आत्माका स्वभाव है, उस चैतन्य स्वभावको अनुसरण करनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं। उपयोग जीवका अबाधित लक्षण है।

आठवें सूत्रका सिद्धान्त

मैं शरीरादिके कार्य कर सकता हूँ, और मैं उन्हें हिला-डुला सकता हूँ, ऐसा जो जीव मानते हैं वे चेतन और जड द्रव्यको एक रूप मानते हैं। उनकी इस मिथ्या मान्यता को छुड़ानेके लिये और जीवद्रव्य जड़से सर्वथा भिन्न है यह बतानेके लिये इस सूत्रमें जीवका असाधारण लक्षण उपयोग है-ऐसा बताया गया है।

नित्य उपयोग लक्षणवाला जीवद्रव्य कभी पुद्गल द्रव्यरूप (शरीरादिरूप) होता हुआ देखनेमें नहीं आता और नित्य जड लक्षणवाला शरीरादि पुद्गलद्रव्य कभी जीव द्रव्यरूप होता हुआ देखनेमें नहीं आता, क्योंकि उपयोग और जड़त्वके एकरूप होनेमें प्रकाश और अंधकारकी भाँति विरोध है। जड़ और चैतन्य कभी भी एक नहीं हो सकते। वे दोनों सर्वथा भिन्न २ हैं, कभी भी, किसी भी प्रकारसे एकरूप नहीं होते, इसलिये हे जीव तू सब प्रकारसे प्रसन्न हो! अपना चित्त उज्ज्वल करके सावधान हो और स्वद्रव्यको ही 'यह मेरा है' ऐसा अनुभव कर। ऐसा श्री गुरुका उपदेश है।

जीव शरीर और द्रव्यकर्म एक आकाश प्रदेशमें बंधरूप रहते हैं इसलिये वे बहुतसे मिले हुये पदार्थोंमें से एक जीव पदार्थको अलग जाननेके लिये इस सूत्रमें जीवका लक्षण कहा गया है ॥ ८ ॥

(सर्वार्थसिद्धि भाग २ पृष्ठ २७-२८)

उपयोगके भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ— [सः] वह उपयोग [द्विविधः] ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है; और वे क्रमशः [अष्ट चतुः भेदः] आठ और चार भेद सहित हैं अर्थात् ज्ञानोपयोगके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल (यह पाँच सम्यग्ज्ञान) और कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (यह तीन मिथ्याज्ञान) इसप्रकार आठ भेद हैं। तथा दर्शनोपयोगके चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इसप्रकार चार भेद हैं। इसप्रकार ज्ञानके आठ और दर्शनके चार भेद मिलकर उपयोगके कुल बारह भेद हैं।

टीका

१. इस सूत्रमें उपयोगके भेद बताये हैं, क्योंकि यदि भेद बताये हो तो जिज्ञासु जल्दी समझ लेता है, इसलिये कहा है कि–"सामान्य शास्त्रतोनूनं, विशेषो बलवान् भवेत्" अर्थात् सामान्यशास्त्रसे विशेष बलवान् है। सामान्यका अर्थ है संक्षेपमें कहनेवाला और विशेषका अर्थ है भेद करके बतानेवाला। साधारण मनुष्य विशेषसे भलीभाँति निर्णय कर सकते हैं।

(२) दर्शन शब्दके भिन्न भिन्न अर्थ और उनमें से यहाँ लागू होनेवाला अर्थ—

शास्त्रोंमें एक ही शब्दका कहीं कोई अर्थ होता है और कहीं कोई। 'दर्शन' शब्दके भी अनेक अर्थ हैं।

(१) अध्याय १ सूत्र १–२ में मोक्षमार्ग सम्बन्धी कथन करते हुये 'सम्यग्दर्शन' शब्द कहा है; वहाँ दर्शन शब्दका अर्थ श्रद्धा है। (२) उपयोग के वर्णनमें 'दर्शन' शब्दका अर्थ वस्तुका सामान्य ग्रहणमात्र है। और (३) इन्द्रियके वर्णनमें 'दर्शन' शब्दका अर्थ नेत्रोंके द्वारा देखना मात्र है। इन तीन अर्थोंमें से यहाँ प्रस्तुत सूत्रमें दूसरा अर्थ लागू होता है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

दर्शनोपयोग—किसी भी पदार्थको जाननेकी योग्यता (लब्धि) होने पर उस पदार्थकी ओर सन्मुखता, प्रवृत्ति अथवा दूसरे पदार्थोंकी ओर से हटकर विवक्षित पदार्थकी ओर उत्सुकता प्रगट होती है सो दर्शन है। वह उत्सुकता चेतनामें ही होती है। जबतक विवक्षित पदार्थको थोड़ा भी नहीं जाना जाता तबतकके चेतनाके व्यापारको 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है। जैसे—एक मनुष्यका उपयोग भोजन करनेमें लगा हुआ है और उसे एकदम इच्छा हुई कि बाहर मुझे कोई बुलाता तो नहीं है? मैं यह जान लूं। अथवा किसीकी आवाज कानमें आने पर उसका उपयोग भोजनसे हटकर शब्दकी ओर लग जाता है। इसमें चेतनाके उपयोगका भोजनसे हटना और शब्दकी ओर लगना किन्तु जबतक शब्दकी ओरका कोई भी ज्ञान नहीं होता तबतकका व्यापार 'दर्शनोपयोग' है।

पूर्व विषयसे हटना और बादके विषयकी ओर उत्सुक होना ज्ञानकी पर्याय नहीं है इसलिये उस चेतना पर्यायको 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है।

आत्माके उपयोगका पदार्थोन्मुख होना दर्शन है।

द्रव्यसंग्रहकी ४३ वीं गाथाकी टीकामें 'सामान्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ 'आत्मा' है। सामान्य ग्रहणका मतलब है आत्मग्रहण, और आत्मग्रहण दर्शन है।

३. साकार और निराकार

ज्ञानको साकार और दर्शनको निराकार कहा जाता है। उसमें से 'आकार' का अर्थ लंबाई चौड़ाई और 'मोटाई' नहीं है, किन्तु जिसप्रकारका पदार्थ होता है उसीप्रकार ज्ञानमें ज्ञात हो उसे आकार कहते हैं। अमूर्तित्व आत्माका गुण होनेसे ज्ञान स्वयं वास्तवमें अमूर्त है। जो स्वयं अमूर्त हो और फिर द्रव्य न हो, मात्र गुण हो उसका अपना पृथक् आकार नहीं हो सकता। अपने अपने आश्रयभूत द्रव्यका जो आकार होता है वही आकार गुणोंका होता है। ज्ञान गुणका आधार आत्मद्रव्य है इसलिये आत्माका आकार ही ज्ञानका आकार है। आत्मा चाहे जिस आकारके पदार्थको जाने तथापि

आत्माका आकार जो (समुद्घातको छोड़कर) शरीराकार रहता है, इसलिये वास्तविकतया ज्ञान ज्ञेयपदार्थके आकाररूप नहीं होता किन्तु आत्माके आकाररूप होता है; जैसा ज्ञेय पदार्थ होता है वैसा ही ज्ञान जान लेता है इसलिये ज्ञानका आकार कहा जाता है (तत्वार्थसार पृष्ठ ३०८-३०९) दर्शन एक पदार्थसे दूसरे पदार्थको पृथक् नहीं करता, इसलिये उसे निराकार कहा जाता है।

पंचाध्यायी भाग २ के श्लोक ३९१ में आकारका अर्थ निम्नप्रकार कहा गया है:—

आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥

अर्थ—अर्थ, विकल्पको आकार कहते हैं, स्व-पर पदार्थको अर्थ कहा जाता है, उपयोगावस्थाको विकल्प कहते हैं; और यही ज्ञानका लक्षण है।

भावार्थ—आत्मा अथवा अन्य पदार्थका उपयोगात्मक भेदविज्ञान होना ही आकार है, पदार्थोंके भेदाभेदके लिये होनेवाले निश्चयात्मक बोधको ही आकार कहते हैं अर्थात् पदार्थोंका जानना ही आकार है, और वह ज्ञानका स्वरूप है।

अर्थ = स्व और पर विषय; विकल्प = व्यवसाय; अर्थविकल्प = स्व-पर व्यवसायात्मकज्ञान। इस ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। (पं० देवकीनन्दन कृत पंचाध्यायी टीका भाग १ श्लोक ६६६ का फुटनोट)

आकार संबंधी विशेष स्पष्टीकरण

ज्ञान अमूर्तिक आत्माका गुण है, उसमें ज्ञेय पदार्थका आकार नहीं उतरता। मात्र विशेष पदार्थ उसमें भासने लगते हैं—यही उसकी आकृति माननेका मतलब है। सारांश-ज्ञानमें पर पदार्थकी आकृति वास्तवमें नहीं मानी जा सकती, किन्तु ज्ञान-ज्ञेय संबंधके कारण ज्ञेयका आकृतिधर्म उपचार नयसे ज्ञानमें कल्पित किया जाता है; इस उपचारका फलितार्थ इतना ही सम-

भना चाहिए कि पदार्थोंकी विशेष आकृति निश्चय करानेवाले जो चैतन्य परिणाम हैं वे ज्ञान कहलाते हैं, किन्तु साकारका यह अर्थ नहीं है कि उस पदार्थके विशेष आकार तुल्य ज्ञान स्वयं हो जाता है।

(तत्त्वार्थसार पृष्ठ ५४)

४. दर्शन और ज्ञानके बीच का भेद

अंतर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान कहा जाता है। सामान्य-विशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक आत्मस्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है।

शंका—इसप्रकार दर्शन और ज्ञानका स्वरूप माननेसे शास्त्रके इस वचनके साथ विरोध आता है कि-'वस्तुके सामान्य ग्रहणको दर्शन कहते हैं'।

समाधान—समस्त बाह्य पदार्थोंके साथ साधारणता होनेसे उस वचनमें जहाँ 'सामान्य' संज्ञा दी गई है वहाँ सामान्यपदसे आत्माको ही ग्रहण करना चाहिए।

शंका—यह किस पर से जाना जाय कि सामान्य पदसे आत्मा ही समझना चाहिए?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि "पदार्थके आकार अर्थात् भेद किये बिना" इस शास्त्र वचनसे उसकी पुष्टि हो जाती है। इसीको स्पष्ट कहते हैं—बाह्य पदार्थोंका आकाररूप प्रतिकर्म व्यवस्थाको न करने पर (अर्थात् भेदरूपसे प्रत्येक पदार्थको ग्रहण किये बिना) जो सामान्य ग्रहण होता है उसे 'दर्शन' कहते हैं। और इस अर्थको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं कि—"यह अमुक पदार्थ है" यह कुछ है इत्यादिरूपसे पदार्थोंकी विशेषता किये बिना जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं।

शंका—'यदि दर्शनका लक्षण ऊपर कहे अनुसार मानोगे तो अनध्यवसाय' को दर्शन मानना पड़ेगा।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन बाह्य पदार्थोंका निश्चय न करके भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला है, इसलिये अनध्यवसायरूप नहीं है। विषय और विषयीके योग्यदेशमें होनेसे पूर्वकी अवस्थाको दर्शन कहते हैं।

[श्री धवला भाग १ पृष्ठ १४५ से १४८, ३८० से ३८३ तथा बृहद्द्रव्य-संग्रह हिन्दी टीका पृष्ठ १७० से १७५ गाथा ४४ की टीका]

ऊपर जो दर्शन और ज्ञानके बीच भेद बताया गया है वह किस अपेक्षा से है?

आत्माके ज्ञान और दर्शन दो भिन्न गुण बताकर उस ज्ञान और दर्शन का भिन्न भिन्न कार्य क्या है यह ऊपर बताया है, इसलिये एक गुणसे दूसरे गुणके लक्षण भेदकी अपेक्षासे (भेद नयसे) वह कथन है ऐसा समझना चाहिए।

५. अभेदापेक्षासे दर्शन और ज्ञानका अर्थ

दर्शन और ज्ञान दोनों आत्माके गुण हैं और वे आत्मासे अभिन्न हैं इसलिये अभेदापेक्षासे आत्मा दर्शनज्ञानस्वरूप है अर्थात् दर्शन आत्मा है और ज्ञान आत्मा है ऐसा समझना चाहिए। द्रव्य और गुण एक दूसरेसे अलग नहीं हो सकते और द्रव्यका एक गुण उसके दूसरे गुणसे अलग नहीं हो सकता। यह अपेक्षा लक्षमें रखकर दर्शन स्व-पर दर्शक है और ज्ञान स्व-पर ज्ञायक है। अभेददृष्टिकी अपेक्षासे इसप्रकार अर्थ होता है।

[देखो श्रीनियमसार गाथा १७१ तथा श्रीसमयसारमें दर्शन तथा ज्ञान का निश्चयनयसे अर्थ पृष्ठ ४२० से ४२७]

६. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग केवली भगवान् को युगपत् होता है

केवली भगवान् को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक ही साथ होता है और छद्मस्थको क्रमशः होता है। केवली भगवान्को उपचारसे उपयोग कहा जाता है ॥ ९ ॥

जीवके भेद

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ—जीव [संसारिणः] संसारी [च] और [मुक्ताः] मुक्त ऐसे दो प्रकारके हैं। कर्म सहित जीवोंको संसारी और कर्म रहित जीवोंको मुक्त कहते हैं।

टीका

१ जीवोंकी वर्तमान दशाके ये भेद हैं, वे भेद पर्यायदृष्टिसे हैं। द्रव्यदृष्टि से सब जीव एक समान हैं। पर्यायोंके भेद दिखानेवाला व्यवहार, परमार्थको समझानेके लिये कहा जाता है उसे पकड़ रखनेके लिये नहीं। इससे यह समझना चाहिए कि पर्यायमें चाहे जैसे भेद हो तथापि त्रैकालिक ध्रुवस्वरूपमें कभी भेद नहीं होता। "सर्व जीव हैं सिद्ध सम, जो समझे सो होय।"

[आत्म सिद्धि शास्त्र गाथा १३५]

२ संसारी जीव अनंतानंत हैं। 'मुक्ता' शब्द बहुवचनसूचक है इससे यह समझना चाहिये कि मुक्त जीव अनंत हैं। 'मुक्ता' शब्द यह भी सूचित करता है कि पहिले उन जीवोंकी संसारी अवस्था थी और फिर उन्होंने यथार्थ समझ करके उस अशुद्ध अवस्थाका व्यय करके मुक्तावस्था प्रगट की है।

३. संसारका अर्थ—'सं' = भलीभांति, 'सृ+घम्=खिसक जाना। अपने शुद्ध स्वरूपसे भलीभांति खिसक जाना (हट जाना) सो संसार है। जीवका संसार स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, मकान इत्यादि नहीं हैं ये तो जगत्के स्वतंत्र पदार्थ हैं। जीव उन पदार्थोंमें अपनेपनकी कल्पना करके उन्हें इष्ट अनिष्ट मानता है, सो विकारी भावको संसार कहते हैं।

४ सूत्रमें 'च' शब्द है, च शब्दके समुच्चय और अन्वाचय ऐसे दो अर्थ हैं, उनमेंसे यहाँ अन्वाचयका अर्थ बतानेके लिये च शब्द का प्रयोग किया है। (एक को प्रधानरूपसे और दूसरेको गौणरूपसे बताना 'अन्वाचय' शब्दका अर्थ है) संसारी और मुक्त जीवोंमेंसे संसारी जीव प्रधानतासे उपयोगवान् है और मुक्त जीव गौणरूपसे उपयोगवान् है,—यह बतानेके लिये इस सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग किया है।

(उपयोग का अनुसंधान सू० ८-९ से चला आता है।

५ जीवकी संसारी दशा होनेका कारण आत्मस्वरूप संबंधी भ्रम है। उस भ्रमको मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस मूलरूप मिथ्यादर्शनके कारणसे जीव पाँच प्रकारके परिवर्तन किया करता है—संसार चक्र चलता रहता है।

६. जीव अपनी भूलसे अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है; वह स्वतः अपनी पात्रताका विकाश करके सत्समागमसे सम्यग्दृष्टि होता है। मिथ्यादृष्टिरूप अवस्थाके कारण परिभ्रमण अर्थात् परिवर्तन होता है, उस परिभ्रमणको संसार कहते हैं, जीवको परके प्रति एकत्व बुद्धि होनेसे मिथ्यादृष्टित्व है। जब तक जीवका लक्ष पर पदार्थ पर है अर्थात् वह यह मानता है कि परसे मुझे हानि-लाभ होता है, राग करने लायक है तबतक उसे पर वस्तु रूपकर्म और नोकर्मके साथ निमित्त नैमित्तिक संबंध होता है। उस परिवर्तनके पाँच भेद होते हैं - (१) द्रव्यपरिवर्तन, (२) क्षेत्रपरिवर्तन, (३) कालपरिवर्तन, (४) भवपरिवर्तन, और (५) भावपरिवर्तन। परिवर्तनको संसरण अथवा परिवर्तन भी कहते हैं।

७. द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

यहाँ द्रव्यका अर्थ पुद्गलद्रव्य है। जीवका विकारी अवस्थामें पुद्गलोंके साथ जो संबंध होता है उसे द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और (२) कर्मद्रव्यपरिवर्तन।

(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप—औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलस्कंध एक समय में एक जीवने ग्रहण किये वह जीव पुनः उसीप्रकारके स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श, वर्ण रस, गंध आदिसे तथा तीव्र, मंद या मध्यमभाववाले स्कंधोंको ग्रहण करता है तब एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमें जो अन्य नोकर्मका ग्रहण किया जाता है उन्हें गणनामें नहीं लिया जाता।) उसमें पुद्गलोंकी संख्या और जाति (Quality) बराबर उसीप्रकारके नोकर्मोंकी होनी चाहिये।

२. कर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक समयमें आठप्रकारके कर्मस्वभाववाले जो पुद्गल ग्रहण किये थे वैसे ही कर्मस्वभाववाले पुद्गलोंको पुनः ग्रहण करे तब एक कर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमें उन भावोंमें किंचित् मात्र अन्यप्रकारके

दूसरे जो जो रजकण ग्रहण किये जाते हैं उन्हें गणनामें नहीं लिया जाता) उन आठप्रकारके कर्म पुद्गलोंकी संख्या और जाति बराबर उसीप्रकारके कर्म पुद्गलोंकी होनी चाहिए।

स्पष्टीकरण—आज एक समयमें शरीर धारण करते हुए नोकर्म और द्रव्यकर्मके पुद्गलोंका संबंध एक अज्ञानी जीवको हुआ, तत्पश्चात् नोकर्म और द्रव्यकर्मोंका संबंध उस जीवके बदलता रहता है। इसप्रकार परिवर्तन होने पर वह जीव जब पुनः वैसे ही शरीर धारण करके वैसे ही नोकर्म और द्रव्यकर्मोंको प्राप्त करता है तब एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा किया कहलाता है। (नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल एकसा ही होता है)।

८. क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप

जीवकी विकारी अवस्थामें आकाशके क्षेत्रके साथ होनेवाले संबंधको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। लोकके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके आठ मध्य-प्रदेश बनाकर कोई जीव सूक्ष्मनिगोदमें अपर्याप्त सर्व जघन्य शरीरवाला हुआ और क्षुद्रभव (श्वासके अठारहवें भागकी स्थिति) को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् उपरोक्त आठ प्रदेशोंसे लगे हुए एक एक अधिक प्रदेशको स्पर्श करके समस्त लोकको जब अपने जन्मक्षेत्रके रूपमें प्राप्त करता है तब एक क्षेत्र परिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है। (बीचमें क्षेत्रका क्रम छोड़कर अन्यत्र जहाँ २ जन्म लिया उन क्षेत्रोंको गणनामें नहीं लिया जाता।)

स्पष्टीकरण—मेरुपर्वतके नीचेसे प्रारंभ करके क्रमशः एक २ प्रदेश आगे बढते हुये संपूर्ण लोकमें जन्म धारण करनेमें एक जीवको जितना समय लगे उतने समयमें एक क्षेत्रपरिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है।

९. कालपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक अवसर्पिणीके पहिले समयमें जन्म लिया, तत्पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके दूसरे समयमें जन्म लिया, पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके तीसरे समयमें जन्म लिया, इसप्रकार एक २ समय आगे बढते हुए नई अव

सर्पिणीके अंतिम समयमें जन्म लिया, तथा उसीप्रकार उत्सर्पिणी कालमें उसी भाँति जन्म लिया; और तत्पश्चात् ऊपरकी भाँति ही अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके प्रत्येक समयमें क्रमशः मरण किया। इसप्रकार भ्रमण करते हुए जो काल लगता है उसे कालपरिवर्तन कहते हैं। (इस कालक्रमसे रहित बीचमें जिन २ समयोंमें जन्म-मरण किया जाता है वे समय गणनामें नहीं आते।) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका स्वरूप अध्याय ३ सूत्र २७ में कहा है।

१०. भवपरिवर्तनका स्वरूप

नरकमें सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्षकी है। उतनी आयुवाला एक जीव पहिले नरकके पहिले पटलमें जन्मा, पश्चात् किसी अन्य समयमें उतनी ही आयु प्राप्त करके उसी पटलमें जन्मा; (बीचमें अन्यगतियोंमें भ्रमण किया सो वे भव गणनामें नहीं लिये जाते) इसप्रकार दश हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही वार वह जीव उतनी (दश हजार वर्षकी) ही आयु सहित वहीं जन्मा (बीचमें अन्यस्थानोंमें जो जन्म लिया सो गणनामें नहीं आता,) तत्पश्चात् दश हजार वर्ष और एक समयकी आयुसहित जन्मा, उसके बाद दश हजार वर्ष और दो समय,—यों क्रमशः एक एक समयकी आयु बढ़ते २ अंतमें तेतीस सागरकी आयुसहित नरकमें जन्मा (और मरा), (इस क्रमसे रहित जो जन्म होते हैं वे गणनामें नहीं आते,) नरककी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी है उतनी आयु सहित जन्म ग्रहण करे—इसप्रकार गिनने पर जो काल होता है उतने कालमें एक नारकभवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

और फिर वहाँसे निकलकर तिर्यंचगतिमें अंतर्मुहूर्तकी आयुसहित उत्पन्न होना है अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्तकी आयु प्राप्त करके उसे पूर्ण करके उस अन्तर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनी वार जघन्य आयु धारण करे, फिर क्रमशः एक एक समय अधिक आयु प्राप्त करके तीन पल्यतक सभी स्थितियों (आयु) में जन्म धारण करके उसे पूर्ण करे तब एक तिर्यंचगतिभवपरिवर्तन पूर्ण होता है। (इस क्रमसे रहित जो जन्म होता है वह गणनामें नहीं

लिया जाता) तिर्यंचगतिमें जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी होती है।

मनुष्यगति भव परिवर्तनके सम्बधमें भी तिर्यंचगतिकी भाँति ही समझना चाहिये।

देवगतिमें नरकगतिकी भाँति है किन्तु उसमें इतना अन्तर है कि—देवगतिमें उपरोक्त क्रमानुसार ३१ सागर तक आयु धारण करके उसे पूर्ण करता है। इसप्रकार जब चारों गतियोंमें परिवर्तन पूर्ण करता है तब एक भवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

नोट—३१ सागरसे अधिक आयुके धारक नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर ऐसे १४ विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंके परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं।

भवभ्रमणका कारण मिथ्यादृष्टित्व है

इस सबधमें कहा है कि—

णिरयादि जहण्णादिसु जावदु उवरिल्लिया दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्त ससिदेण हु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वके ससर्गसहित नरकादिकी जघन्य आयुसे लेकर उत्कृष्ट ग्रैवेयक (नवमें ग्रैवेयक) तकके भवोंकी स्थिति (आयु) को यह जीव अनेक बार प्राप्त कर चुका है।

११. भावपरिवर्तनका स्वरूप

(१) *असख्यात योगस्थान एक अनुभागबध (अध्यवसाय) स्थान* को करता है। [कषायके जिसप्रकार (Degree) से कर्मोंके बधमें फलदान-शक्तिकी तीव्रता आती है उसे अनुभागबधस्थान कहा जाता है।]

(२) असख्यात × असख्यात अनुभागबध अध्यवसायस्थान एक कषायभाव (अध्यवसाय) स्थानको करते हैं। [कषायका एक प्रकार (Degree) जो कर्मोंकी स्थितिको निश्चित करता है उसे कषायअध्यवसायस्थान कहते हैं।]

(३) असंख्यात × असंख्यात कषायअध्यवसायस्थान * पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवके कर्मोंकी जघन्यस्थितिबंध करते हैं, यह स्थिति–अंतःकोड़ाकोड़ीसागरकी होती है, अर्थात् कोड़ाकोड़ीसागरसे नीचे और कोड़ीसे ऊपर उसकी स्थिति होती है।

(४) एक जघन्यस्थितिबंध होनेके लिये यह आवश्यक है कि— जीव असंख्यात योगस्थानोंमें से (एक २ योगस्थानमें से) एक अनुभागबंधस्थान होनेके लिये पार हो; और तत्पश्चात एक २ अनुभागबंधस्थानमें से एक कषायस्थान होनेके लिये पार होना चाहिये, और एक जघन्यस्थितिबंध होनेके लिये एक २ कषायस्थानमें से पार होना चाहिये।

(५) तत्पश्चात् उस जघन्यस्थितिबंधमें एक एक समय अधिक करके (छोटेसे छोटे जघन्यबंधसे आगे प्रत्येक अंशसे) बढ़ते जाना चाहिये। इसप्रकार आठों कर्म और (मिथ्यादृष्टिके योग्य) सभी उत्तर कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति पूरी हो तब एक भावपरिवर्तन पूर्ण होता है।

(६) उपरोक्त पैरा ३ में कथित जघन्यस्थितिबंधको तथा पैरा २ में कथित सर्वजघन्य कषायभावस्थानको और पैरा १ में कथित अनुभागबंधस्थानको प्राप्त होनेवाला उसके योग्य सर्वजघन्य योगस्थान होता है। अनुभाग A, कषाय B, और स्थिति C, इन तीनोंका तो जघन्य ही बंध होता है किन्तु योगस्थान बदलकर जघन्य योगस्थानके बाद तीसरा योगस्थान होता है और अनुभागस्थान A, कषायस्थान B, तथा स्थितिस्थान C, जघन्य ही बंधते हैं; पश्चात् चौथा, पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ, आठवाँ, इत्यादि योग-

* जघन्यस्थितिबंधके कारण जो कषायभावस्थान है उनकी संख्या असंख्यात लोकके प्रदेशोंके बराबर है; एक २ स्थानमें अनंतानंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं, जो अनंतभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनंतगुण हानि तथा अनंतभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और अनंतगुण वृद्धि इसप्रकार छह स्थानवाली हानि वृद्धिसहित होता है।

स्थान होते २ क्रमश असख्यात प्रमाणतक बदले फिर भी उन्हें इसी गणनामें नहीं लेना चाहिये, अथवा किसी दो जघन्ययोगस्थानके बीचमें अन्य कषाय-स्थान A अन्य अनुभागस्थान B-या अन्य योगस्थान C आ जाय तो उसे भी गणनामें नहीं लेना चाहिये। ＊

भावपरिवर्तनका कारण मिथ्यात्व है

इस सबधमें कहा है कि—

सव्वा पयडिट्ठिदिओ अणुभाग पदेस बंधठाणाणि।
मिच्छत्त ससिदेण य भमिदा पुण भाव ससारे ॥ १ ॥

अर्थ—समस्त प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभागबध और प्रदेश बधके स्थानरूप मिथ्यात्वके ससर्गसे जीव निश्चयसे (वास्तवमें) भाव ससारमें भ्रमण करता है।

१२—ससारके भेद करने पर भावपरिभ्रमण उपादान अर्थात् निश्चय ससार है और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव परिभ्रमण निमित्तमात्र है अर्थात् व्यवहार ससार है क्योंकि वह परवस्तु है, निश्चयका अर्थ है वास्तविक और व्यवहारका अर्थ है कथनरूप निमित्तमात्र। सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रके प्रगट होने पर भाव ससार दूर हो जाता है और तत्पश्चात् अन्य चार अघाति कर्मरूप निमित्तोंका स्वय अभाव हो जाता है।

१३—मोक्षका उपदेश संसारीके लिये होता है। यदि ससार न हो तो मोक्ष, मोक्षमार्ग, या उसका उपदेश हो नहीं होता, इसलिये इस सूत्रमें पहिले ससारी जीव और फिर मुक्त जीवका क्रम लिया गया है।

१४—असख्यात और अनतसख्याको समझनेके लिये गणित शास्त्र उपयोगी है। उसमें १०/३ अर्थात् दशमें तीनका भाग देने पर = ३ ३ ३ ३

＊ योगस्थानोंमें भी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं, उनमें असख्यातभाग वृद्धि सख्यातभाग वृद्धि, सख्यातगुण वृद्धि और असख्यातगुण वृद्धि इसप्रकार चार स्थानरूप ही होते हैं।

इसप्रकार तीनके अंक चलते ही हैं किन्तु उसका अन्त नहीं आता। यह 'अनन्त' का दृष्टांत है। और असंख्यातकी संख्या समझनेके लिये एक गोलाकारकी परिधि और व्यासका प्रमाण २२/७ होता है [व्यास करने पर परिधि २२/७ गुणी होती है] उसका हिसाब शतांश (Decimal) में करने पर जो संख्या आती है वह असंख्यात है। गणित शास्त्रमें इस संख्याको 'Irrational' कहते हैं।

१५. व्यवहारराशिके जीवोंको यह पाँच परिवर्तन लागू होते हैं। प्रत्येक जीवने ऐसे अनंत परिवर्तन किये हैं। और जो जीव मिथ्यादृष्टित्व बनाये रखेंगे उनके अभी भी वे परिवर्तन चलते रहेंगे। नित्य-निगोदके जीव अनादि निगोदमेंसे निकले ही नहीं हैं, उनमें इन पाँच परिवर्तनोंकी शक्ति विद्यमान है इसलिए उनके भी उपचारसे यह पाँच परिवर्तन लागू होते हैं। व्यवहार राशिके जो जीव अभीतक सभी गतियोंमें नहीं गये, उन्हें भी उपरोक्त प्रकार से उपचारसे यह परिवर्तन लागू होते हैं। नित्यनिगोदको अव्यवहार राशिके (निश्चय राशिके) जीव भी कहते हैं।

१६. मनुष्यभव सफल करनेके लिये विशेष लक्षमें देने योग्य विषयः—

१. अनादिकालसे लेकर पहिले तो इस जीवको नित्य-निगोदरूप शरीरका संबंध होता था, उस शरीरकी आयु पूर्ण होने पर जीव मरकर पुनः पुनः नित्यनिगोद शरीरको ही धारण करता है। इसप्रकार अनंतानंत जीवराशि अनादिकालसे निगोदमें ही जन्म मरण करती है।

२. निगोदमें से ६ महिना और आठ समयमें ६०८ जीव निकलते हैं। वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायोंमें अथवा दो से चार इन्द्रियरूप शरीरोंमें या चार गतिरूप पंचेन्द्रिय शरीरोंमें भ्रमण करते हैं और फिर पुनः निगोद शरीरको प्राप्त करते हैं, (यह इतर निगोद है)

३. जीवको त्रसमें एक ही साथ रहनेका उत्कृष्ट कालमात्र दो हजार सागर है। जीवको अधिकांश एकेन्द्रिय पर्याय और उसमें भी अधिक

समय निगोदमें ही रहना होता है वहाँसे निकलकर त्रसशरीरको प्राप्त करना 'काकतालीयन्यायवत्' होता है। त्रसमें भी मनुष्यभव पाना तो क्वचित् ही होता है।

४ इसप्रकार जीवकी मुख्य दो स्थितियाँ हैं—निगोद और सिद्ध। जीवका त्रस पर्यायका काल तो बहुत ही थोड़ा और उसमें भी मनुष्यत्वका काल तो अत्यन्त स्वल्पातिस्वल्प है।

५ (अ) संसारमें जीवको मनुष्यभवमें रहनेका काल सबसे थोड़ा है। (ब) नारकीके भवोंमें रहनेका काल उससे असंख्यातगुणा है (क) देवके भवोंमें रहनेका काल उससे (नारकी से) असंख्यातगुणा है। और (ड)—तिर्यंचभवोंमें (मुख्यतया निगोदमें) रहनेका काल उससे (देवसे) अनंतगुणा है।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टदशामें शुभ तथा अशुभभाव करता रहता है, उसमें भी जीवने नरकके योग्य तीव्र अशुभभावकी अपेक्षा देवके योग्य शुभभाव असंख्यात गुणे किये हैं। शुभभाव करके यह जीव अनंत बार स्वर्गमें देव होकर नवमें ग्रैवेयक तक जा चुका है,—यह सब पहिले पैरा १० में कहा जा चुका है।

६ नवमें ग्रैवेयकके योग्य शुभभाव करने वाला जीव गृहीत मिथ्यात्व छोड़ देता है, सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाँच समिति आदिके उत्कृष्ट शुभभाव अतिचार रहित पालन करता है। इतना करनेपर ही जीवको नवमें ग्रैवेयकमें जाने के योग्य शुभभाव होते हैं। आत्मप्रतीतिके बिना मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभ भाव जीवने अनन्त बार किये हैं फिर भी मिथ्यात्व नहीं गया। इसलिये शुभभाव—पुण्य करते करते धर्म—सम्यग्दर्शन हो या मिथ्यात्व दूर हो जाय, यह अशक्य है। इसलिये—

७. —इस मनुष्यभवमें ही जीवोंको आत्माका सच्चा स्वरूप समझ कर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए। 'Strike the iron while it is hot' जबतक लोहा गर्म है तबतक उसे पीटलो-गढ़ लो; इस कहावतके अनुसार इसी मनुष्यभवमें जल्दी आत्मस्वरूपको समझ लो, अन्यथा थोड़े ही समयमें त्रस काल पूरा हो जायगा और एकेन्द्रिय-निगोदपर्याय प्राप्त होगी और उसमें अनंतकाल तक रहना होगा ॥ १० ॥

संसारी जीवोंके भेद—

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—संसारी जीव [समनस्काः] मनसहित-सैनी [अमनस्काः] मनरहित असैनी, यों दो प्रकारके हैं।

टीका

१. एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तकके जीव नियमसे असैनी ही होते हैं। पंचेंद्रियोंमें तिर्यंच सैनी और असैनी दो प्रकारके होते हैं; शेष मनुष्य देव और नारकी जीव नियमसे सैनी ही होते हैं।

२. मनवाले सैनीजीव सत्य-असत्यका विवेक कर सकते हैं।

३. मन दो प्रकारके होते हैं—द्रव्यमन और भावमन। पुद्गल द्रव्यके मनोवर्गणा नामक स्कंधोंसे बना हुआ आठ पाँखुड़ीवाले फुल्या कमलके आकाररूप मन हृदयस्थानमें है, वह द्रव्यमन है। वह सूक्ष्मपुद्गल स्कन्ध होनेसे इन्द्रियग्राही नहीं है। आत्माकी विशेष प्रकारकी विशुद्धि भावमन है; उससे जीव शिक्षा ग्रहण करने, क्रिया (कृत्य) को समझने, उपदेश तथा आलाप (Recitation) के योग्य होता है; उसके नामसे बुलाने पर वह निकट आता है।

४ जो हितमें प्रवृत्त होनेकी अथवा अहितसे दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है वह सैनी है, और जो हित-अहितकी शिक्षा, क्रिया, उपदेश इत्यादिको ग्रहण नहीं करता वह असैनी है।

५ सेनी जीवोंके भावमनके योग्य निमित्तरूप वीर्यान्तराय तथा मन-नो इन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम स्वय होता है।

६ द्रव्यमन-जड पुद्गल है, वह पुद्गलविपाकीकर्म-उदयके फलरूप है। जीवकी विचारादि क्रियामें भावमन उपादान है और द्रव्यमन निमित्तमात्र है। भावमनवाले प्राणी मोक्षके उपदेशके लिये योग्य है। तीर्थंकर भगवान या सम्यग्ज्ञानियोंसे उपदेश सुनकर सेनी मनुष्य सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, सैनी तिर्यंच भी तीर्थंकर भगवानका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, देव भी तीर्थङ्कर भगवानका तथा सम्यग्ज्ञानियोंका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं। नरकके किसी जीवके पूर्वभवके मित्रादि सम्यग्ज्ञानी देव होते हैं वे तीसरे नरक तक आते हैं और उनके उपदेशसे तीसरे नरकतकके जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

चौथेसे सातवें नरकतकके जीव पहिलेके सत्समागमके संस्कारोंको याद करके सम्यग्दर्शन प्रगट करते है, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। पहिले सत्समागमके संस्कार प्राप्त मनुष्य सैनीतिर्यंच और देव भी निसर्गज सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकते है ॥ ११ ॥

संसारी जीवोंके अन्य प्रकारसे भेद

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थ—[संसारिणः] संसारीजीव [त्रस] त्रस और [स्थावरा.] स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं।

टीका

१—जीवोंके यह भेद भी अवस्थादृष्टिसे किये गये हैं।

२—जीवविपाकी त्रस नामकर्मके उदयसे जीव त्रस कहलाता है और जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर कहलाता है। त्रस जीवोंके दो से लेकर पाँच इन्द्रियाँ तक होती है और स्थावर जीवोंके मात्र

एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। (यह परिभाषा ठीक नहीं है कि—जो स्थिर रहता है सो स्थावर है और जो चलता फिरता है सो त्रस है)

३—दो इन्द्रियसे अयोग केवली गुणस्थान तकके जीव त्रस हैं, मुक्त-जीव त्रस या स्थावर नहीं हैं क्योंकि यह भेद संसारी जीवोंके हैं।

४—प्रश्न—यह अर्थ क्यों नहीं करते कि–जो डरे–भयभीत हो अथवा हलन चलन करे सो त्रस है और जो स्थिर रहे सो स्थावर है?

उत्तर—यदि हलन चलनकी अपेक्षासे त्रसत्व और स्थिरताकी अपेक्षा से स्थावरत्व हो तो (१) गर्भमें रहनेवाले, अंडेमें रहनेवाले, मूर्छित और सोये हुए जीव हलन चलन रहित होनेसे त्रस नहीं कहलाँयगे, और (२) वायु अग्नि, तथा जल एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाते हुए दिखाई देते हैं तथा भूकंप इत्यादिके समय पृथ्वी काँपती है और वृक्ष भी हिलते हैं, वृक्षके पत्ते हिलते हैं इसलिये उनके स्थावरत्व नहीं रहेगा, और ऐसा होनेसे कोई भी जीव स्थावर नहीं माना जायगा, और कोई भी जीव स्थावर नहीं रहेगा ॥१२॥

स्थावर जीवोंके भेद

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थ–[पृथिवी अप् तेजः वायुः वनस्पतयः] पृथिवीकायिक, जल-कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह पाँच प्रकारके [स्थावराः] स्थावर जीव हैं [इन जीवोंके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

टीका

१—आत्मा ज्ञानस्वभाव है किन्तु जब उसे अपनी वर्तमान योग्यताके कारण एक स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ज्ञान कर सकने योग्य विकास होता है तब पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूपमें परिणमित रजकणों (पुद्गल-स्कंधों) के द्वारा बने हुए जड़ शरीरका संयोग होता है।

२—पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवोंके शरीरका नाप (अवगाहना) अगुलके असख्यातवें भाग प्रमाण है इसलिये वह दिखाई नहीं देता, हम उसके समूह (Mass) को देख सकते हैं। पानीकी प्रत्येक बूदमें बहुतसे जलकायिक जीवोंका समूह है। सूक्ष्मदर्शक यत्रके द्वारा पानीमें जो सूक्ष्म जीव देखे जाते हैं वे जलकायिक नहीं किन्तु त्रसजीव हैं।

३—इन पृथिवी आदिकोंके चार चार भेद कहे गये हैं—

(१) तहाँ अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणामसे रचित अपने कठिनता गुणसहित, जडपनासे पृथिवीकायनामा नामकर्मके उदय न होने पर भी प्रथन (फेलाव) आदिसे युक्त है वह पृथिवी ही है या पृथिवी सामान्य है।

(२) जिस कायमें से पृथिवीकायिक जीव मरकर निकल गया है सो पृथिवीकाय है।

(३) जिनने पृथिवीका शरीर धारण किया है वे पृथिवीकायिक जीव हैं।

(४) पृथिवीके शरीरको धारण करनेसे पूर्व विग्रहगतिमें जो जीव है उसे पृथिवीजीव कहते हैं। इसप्रकार जलकायिक इत्यादि अन्य चार स्थावर जीवोंके सबधमें भी समझ लेना चाहिए।

४—स्थावरजीव उसी भवमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य नहीं होते, क्योंकि सज्ञी पर्याप्तक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य होते हैं।

५—पृथिवीकायिकका शरीर मसूरके दानेके आकारका लब गोल, जलकायिकका शरीर पानीकी बूदके आकारका गोल, अग्निकायिकका शरीर सूइयोंके समूहके आकारका और वायुकायिकका शरीर ध्वजाके आकारका लबा-तिरछा होता है। वनस्पतिकायिक और त्रसजीवोंके शरीर अनेक भिन्न भिन्न आकारके होते हैं।

(गोमट्टसार जीवकाड गाथा २०१) ॥ १३ ॥

त्रस जीवोंके भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—[द्वि इन्द्रिय आदयः] दो इन्द्रियसे लेकर अर्थात् दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीव [त्रसाः] त्रस कहलाते हैं।

टीका

१—एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं और उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। उनके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह चार प्राण होते हैं।

२—दो इन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना यह दो इन्द्रियाँ ही होती हैं। उनके रसना और वचनबल बढ़नेसे कुल छह प्राण होते हैं।

३—तीन इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ ही होती हैं। उनके घ्राण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल सात प्राण होते हैं।

४—चार इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। उनके चक्षु इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल आठ प्राण होते हैं।

५ - पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। उनके कर्ण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल ६ प्राण असैनियोंके होते हैं। इन पाँच इन्द्रियोंका ऊपर जो क्रम बताया है उससे उल्टी सुल्टी इन्द्रियाँ किसी जीवके नहीं होती हैं। जैसे केवल स्पर्शन और चक्षु, यह दो इन्द्रियाँ किसी जीवके नहीं हो सकती किन्तु यदि दो होगी तो वे स्पर्शन और रसना ही होगी। सैनी जीवोंके मनबल होता है इसलिये उनके दश प्राण होते हैं॥ १४ ॥

इन्द्रियोंकी संख्या

पंचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ—[इन्द्रियाणि] इन्द्रियाँ [पंच] पाँच हैं।

टीका

१—इन्द्रियाँ पाँच हैं। अधिक नहीं। 'इन्द्र' अर्थात् आत्माकी अर्थात् संसारी जीवकी पहिचान करानेवाला जो चिह्न है उसे इंद्रिय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्येन्द्रिय अपने अपने विषयका ज्ञान उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण है। कोई एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रियके अधीन नहीं है। भिन्न भिन्न एक एक इन्द्रिय परकी अपेक्षासे रहित है—अर्थात् अहमिन्द्रकी भाँति प्रत्येक अपने अपने आधीन है, ऐसा ऐश्वर्य धारण करती है।

प्रश्न—वचन, हाथ, पैर, गुदा, और लिंगको भी इन्द्रिय क्यों नहीं कहा?

उत्तर—यहाँ उपयोगका प्रकरण है। उपयोगमें स्पर्शादि इन्द्रियाँ निमित्त हैं इसलिए उन्हें इन्द्रिय मानना ठीक है। वचन इत्यादि उपयोगमें निमित्त नहीं है ये मात्र 'जड़' क्रियाके साधन हैं, और यदि क्रियाके कारण होनेसे उन्हें इन्द्रिय कहा जाय तो मस्तक इत्यादि सभी आंगोपांग (क्रियाके साधन) हैं, उन्हें भी इन्द्रिय कहना चाहिये। इसलिये यह मानना ठीक है कि जो उपयोग में निमित्त कारण है वह इन्द्रियका लक्षण है।

२—जड़ इन्द्रियाँ इन्द्रियज्ञानमें निमित्त मात्र हैं किन्तु ज्ञान उन इन्द्रियों से नहीं होता, ज्ञान तो आत्मा स्वयं स्वतः करता है। क्षायोपशमिकज्ञानका स्वरूप ऐसा है कि वह ज्ञान जिस समय जिसप्रकारका उपयोग करनेके योग्य होता है तब उसके योग्य इन्द्रियादि बाह्य निमित्त स्वयं स्वतः उपस्थित होते हैं, निमित्तकी राह नहीं देखनी पड़ती। ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध है। 'इन्द्रियाँ हैं इसलिये ज्ञान हुआ है' ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु ज्ञानी यह मानता है कि ज्ञान स्वतः हुआ है और जड़ इन्द्रियाँ उस समय संयोगरूप (उपस्थित) स्वयं होती ही हैं। [देखो अध्याय १ सूत्र १४ की टीका] ॥१५॥

इन्द्रियोंके मूल भेद

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ—सब इन्द्रियाँ [द्विविधानि] द्रव्येन्द्रिय और भाव इन्द्रियके भेदसे दो दो प्रकारकी हैं।

नोट:—द्रव्येन्द्रिय संबंधी सूत्र १७ वाँ और भावेन्द्रिय संबंधी १८ वाँ है ॥ १६ ॥

द्रव्येन्द्रियका स्वरूप

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थ—[निर्वृति उपकरणं] निर्वृति और उपकरणको [द्रव्येन्द्रियम्] द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

टीका

१. निर्वृति—पुद्गलविपाकी नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत स्थानमें होनेवाली इन्द्रियरूप पुद्गलकी रचना विशेषको बाह्य निर्वृति कहते हैं, और उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण आत्माके विशुद्ध प्रदेशोंका चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकार जो परिणमन होता है उसे आभ्यन्तर निर्वृति कहते हैं। इसप्रकार निर्वृतिके दो भेद हैं। [देखो अध्याय २ सूत्र ४४ की टीका]

जो आत्मप्रदेश नेत्रादि इन्द्रियाकार होते है वह-आभ्यन्तर निर्वृति हैं और उसी आत्मप्रदेशके साथ नेत्रादि आकाररूप जो पुद्गल समूह रहते हैं वह बाह्य निर्वृति हैं कर्णेन्द्रियके आत्मप्रदेश जवकी नलीके समान और नेत्रेन्द्रियके आत्मप्रदेश मसूरके आकारके होते हैं और पुद्गल इन्द्रियाँ भी उसी आकारकी होती है।

२. उपकरण—निर्वृतिका उपकार करनेवाला पुद्गल समूह उपकरण है। उसके बाह्य और अभ्यंतर दो भेद हैं। जैसे नेत्रमे सफेद और काला मंडल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक तथा गट्टा इत्यादि बाह्य उपकरण हैं। उपकरणका अर्थ निमित्तमात्र समझना चाहिये किन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि वह लाभ करता है।

[देखो अर्थप्रकाशिका पृष्ठ २०२-२०३] यह दोनो उपकरण जड़ है ॥ १७ ॥

भावेन्द्रियका स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थ—[लब्धि उपयोगौ] लब्धि और उपयोगको [भावेन्द्रियम्] भावेन्द्रिय कहते हैं।

टीका

१ लब्धि—लब्धिका अर्थ प्राप्ति अथवा लाभ होता है। आत्माके चैतन्यगुणका क्षयोपशम हेतुक विकाश लब्धि है। (देखो सूत्र ४५ की टीका)

उपयोग—चेतन्य के व्यापारको उपयोग कहते हैं। आत्माके चैतन्य गुणका जो क्षयोपशम हेतुक विकाश है उसके व्यापारको उपयोग कहते हैं।

२—आत्मा ज्ञेय पदार्थके सम्मुख होकर अपने चैतन्य व्यापारको उस ओर जोड़े सो उपयोग है। उपयोग चेतन्यका परिणमन है। यह किसी अन्य ज्ञेय पदार्थकी ओर लग रहा हो तो, आत्माकी सुननेकी शक्ति होने पर भी सुनता नहीं है। लब्धि और उपयोग दोनोंके मिलनेसे ज्ञानकी सिद्धि होती है।

३. प्रश्न—उपयोग तो लब्धिरूप भावेन्द्रियका फल (कार्य) है, तब फिर उसे भावेन्द्रिय क्यों कहा है ?

उत्तर—कार्यमें कारणका उपचार करके उपयोगको (उपचार से) भावेन्द्रिय कहा जाता है। घटाकार परिणमित ज्ञानको घट कहा जाता है, इस न्यायसे लोकमें कार्यको भी कारण माना जाता है। आत्माका लिंग इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) है, आत्मा वह इन्द्र अर्थ है उसमें उपयोग मुख्य है और वह जीवका लक्षण है, इसलिये उपयोगको भावेन्द्रियत्व कहा जा सकता है।

४ उपयोग और लब्धि दोनोंको भावेन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि वे द्रव्यपर्याय नहीं किन्तु गुणपर्याय हैं, क्षयोपशमहेतुक लब्धि भी एक पर्याय या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है, क्योंकि वह आत्माका परिणाम है। वह उपयोग दर्शन और ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है।

५ धर्म, स्वभाव, भाव, गुणपर्याय और गुण शब्द एकार्थवाचक हैं।

६ प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानकी क्षयोपशमलब्धि तो सभी सैनी पचेंद्रिय जीवोंके होती है, किन्तु जो जीव परकी ओरसे लक्ष हटाकर निज (आत्मा) की ओर उपयोगको लगाते हैं उन्हें आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होता है। और जो जीव पर की ओर ही उपयोग

लगाये रहते हैं उन्हें मिथ्याज्ञान होता है, और इससे दुःख ही होता है कल्याण नहीं होता।

इस सूत्रका सिद्धांत

जीवको छद्मस्थदशामें ज्ञानका विकाश अर्थात् क्षयोपशमहेतुक लब्धि बहुत कुछ हो तथापि वह सब विकाशका उपयोग एक साथ नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उपयोग रागमिश्रित है इसलिये रागमें अटक जाता है, इसलिये ज्ञानका लब्धिरूप विकाश बहुत कुछ हो फिर भी व्यापार (उपयोग) अल्प ही होता है। ज्ञानगुण तो प्रत्येक जीवके परिपूर्ण है, विकारीदशामें उसकी (ज्ञानगुणकी) पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती' इतना ही नहीं किन्तु पर्यायमें जितना विकाश होता है उतना भी व्यापार एक साथ नहीं कर सकता। जबतक आत्माका लक्ष परकी ओर होता है तबतक उसकी ऐसी दशा होती है। इसलिये जीवको स्व और परका यथार्थ भेदविज्ञान करना चाहिये। भेदविज्ञान होनेपर वह अपने पुरुषार्थको अपनी ओर लगाया ही करता है, और उससे क्रमशः रागको दूर करके बारहवें गुणस्थानमें सर्वथा राग दूर हो जानेपर वीतरागता प्रगट हो जाती है। तत्पश्चात् थोड़े ही समय में पुरुषार्थ बढ़ने पर ज्ञान गुण जितना परिपूर्ण है उतनी परिपूर्ण उसकी पर्याय प्रगट होती है। ज्ञानपर्याय पूर्ण प्रगट (विकसित) हो जानेपर ज्ञानके व्यापार को एक ओरसे दूसरी ओर ले जानेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षुको यथार्थ भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिये; जिसका फल केवलज्ञान है ॥ १८ ॥

पाँच इंद्रियोंके नाम और उनका क्रम

स्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ—[स्पर्शन] स्पर्शन [रसना] रसना [घ्राण] नाक [चक्षुः] चक्षु और [श्रोत्र] कान– यह पाँच इन्द्रियाँ हैं।

टीका

१ यह इन्द्रियाँ भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय यों दोनों प्रकारकी समझना चाहिये। एकेन्द्रिय जीवके पहिली (स्पर्शन) इन्द्रिय, दो इन्द्रिय जीवके पहिली दो क्रमश होती है। इस अध्यायके चौदहवें सूत्रकी टीकामें इस संबंध से सविवरण कहा गया है।

(२) इन पाँच भावेन्द्रियोंमें भावश्रोतेन्द्रियको अति लाभदायक माना गया है, क्योंकि उस भावेन्द्रियके बलसे जीव सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश सुनकर और तत्पश्चात् विचार करके–यथार्थ निर्णय करके हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग कर सकता है। जड इन्द्रिय तो सुननेमें निमित्त मात्र है।

३ (अ) - श्रोतेन्द्रिय (कान) का आकार जव की बीचकी नाली के समान, (ब)—नेत्रका आकार मसूर जैसा, (क)—नाकका आकार तिल के फूल जैसा, (ड)—रसना का आकार अर्धचन्द्र जैसा और (इ)—स्पर्शनेन्द्रियका आकार शरीराकार होता है,–स्पर्शनेन्द्रिय सारे शरीर में होती है ॥ १६ ॥

इन्द्रियोंके विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ—[स्पर्शरसगंधवर्णशब्दाः] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, (रंग) और शब्द यह पाँच क्रमश [तद् अर्थाः] उपरोक्त पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं अर्थात् उपरोक्त पाँच इन्द्रियाँ उन उन विषयोंको जानती हैं।

टीका

१ जाननेका काम भावेन्द्रियका है, पुद्गल इन्द्रिय निमित्त है। प्रत्येक इन्द्रियका विषय क्या है सो यहाँ कहा गया है। यह विषय जड़-पुद्गल है।

२. प्रश्न—यह जीवाधिकार है फिर भी पुद्गलद्रव्यकी बात क्यों ली गई है?

उत्तर—जीवको भावेन्द्रियसे होनेवाले उपयोगरूपज्ञानमें ज्ञेय क्या है यह जाननेके लिये कहा है। ज्ञेय निमित्त मात्र है, ज्ञेयसे ज्ञान नहीं होता किन्तु उपयोगरूप भावेन्द्रियसे ज्ञान होता है अर्थात् ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय, यह बतानेके लिये यह सूत्र कहा है।

३. स्पर्श—आठ प्रकारका है शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, हलका और भारी।

रस–पाँच प्रकारका है खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कषायला, चिरपरा।

गंध–दो प्रकारकी हैं सुगंध और दुर्गन्ध।

वर्ण–पाँच प्रकारका है काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

शब्द–सात प्रकारका है षडज, रिषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाध।

इसप्रकार कुल २७ भेद हैं उनके संयोगसे असंख्यात भेद हो जाते हैं।

४—सैनी जीवोंके इन्द्रिय द्वारा होनेवाले चैतन्य व्यापारमें मन निमित्त रूप होता है।

५—स्पर्श, रस, गंध और शब्द विषयक ज्ञान उस २ विषयको जानने वाली इन्द्रियके साथ उस विषयका संयोग होनेसे ही होता है। आत्मा चक्षुके द्वारा जिस रूपको देखता है उसके योग्य क्षेत्रमें दूर रहकर उसे देख सकता है ॥ २० ॥

मनका विषय

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—[अनिन्द्रियस्य] मनका विषय [श्रुतम्] श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ है अथवा, मनका प्रयोजन श्रुतज्ञान है।

टीका

१—द्रव्यमन आठ पाँखुड़ीवाले खिले हुए कमलके आकार है।

[देखो अध्याय २ सूत्र ११ की टीका]

श्रवण किये गये पदार्थका विचार करनेमें मन द्वारा जीवकी प्रवृत्ति होती है। कर्णेन्द्रियसे श्रवण किये गये शब्दका ज्ञान मतिज्ञान है; उस मतिज्ञानपूर्वक किये गये विचारको श्रुतज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश श्रवण करनेमें कर्णेन्द्रिय निमित्त है और उसका विचार करके यथार्थ निर्णय करनेमें मन निमित्त है। हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग मनके द्वारा होता है। (देखो अध्याय २ सूत्र११ तथा १६ की टीका) पहिले रागसहित मनके द्वारा आत्माका व्यवहार सच्चा ज्ञान किया जा सकता है और फिर (रागको अंशतः अभाव करने पर) मनके अवलम्बन बिना सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, इसलिये संज्ञी जीव ही धर्म प्राप्त करनेके योग्य हैं। (देखो अध्याय २ सूत्र २४ की टीका)

२—मनरहित (असंज्ञी) जीवोंके भी एकप्रकारका श्रुतज्ञान होता है। (देखो अध्याय १ सूत्र ११ तथा २० की टीका)

उन्हें आत्मज्ञान नहीं होता इसलिये उनके ज्ञानको 'कुश्रुत' कहा जाता है।

३—श्रुतज्ञान जिस विषयको जानता है उसमें मन निमित्त है, किसी इन्द्रियके आधीन वह नहीं है। अर्थात् श्रुतज्ञानमें किसी भी इन्द्रियका निमित्त नहीं है ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंके स्वामी

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थ—[वनस्पति अन्तानां] वनस्पतिकाय जिनके अन्तमें है ऐसे जीवोंके अर्थात् पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके [एकम्] एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

टीका

इस सूत्रमें कथित जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही ज्ञान करते हैं। इस सूत्रमें इन्द्रियोंके 'स्वामी' का कथन किया है, उसमें इन्द्रियके दो प्रकार

हैं—जड़ इन्द्रिय और भावेन्द्रिय। जड़इन्द्रियके साथ जीवका निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतानेके लिए व्यवहारसे जीवको स्वामी कहा है, वास्तवमें तो कोई द्रव्य किसी द्रव्यका स्वामी है ही नहीं। और भावेन्द्रिय उस आत्माकी उस समयकी पर्याय है अर्थात् अशुद्धनयसे उसका स्वामी आत्मा है ॥ २२॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ-[कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिनाम्] कृमि इत्यादि, चींटी इत्यादि, भ्रमर इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि के [एकैक वृद्धानि] क्रमसे एक एक इन्द्रिय बढ़ती अधिक अधिक है अर्थात् कृमि इत्यादिके दो, चींटी इत्यादि के तीन, भौंरा इत्यादिके चार और मनुष्य इत्यादिके पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

टीका

प्रश्न—यदि कोई मनुष्य जन्मसे ही अंधा और बहरा हो तो उसे तीन इन्द्रिय जीव कहना चाहिये या पंचेन्द्रिय?

उत्तर-वह पंचेन्द्रिय जीव ही है, क्योंकि उसके पाँचों इन्द्रियाँ हैं किन्तु उपयोगरूप शक्ति न होनेसे वह देख और सुन नहीं सकता।

नोटः—इसप्रकार संसारी जीवोंके इन्द्रियद्वारका वर्णन हुआ, अब उनके मनद्वारका वर्णन २४ वें सूत्रमें किया जाता है ॥ २३ ॥

सैनी किसे कहते हैं?

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ-[समनस्काः] मनसहित जीवोंको [संज्ञिनः] सैनी कहते हैं।

टीका

सैनी जीव पंचेन्द्रिय ही होते हैं (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा २१ की टीका) जीवके हिताहितकी प्रवृत्ति मनके द्वारा होती है। पंचेन्द्रिय जीवोंमें सैनी और असैनी ऐसे दो भेद होते हैं, सैनी अर्थात् संज्ञी = संज्ञावाला

प्राणी समझना चाहिये। 'संज्ञा' के अनेक अर्थ हैं उनमें से यहाँ 'मन' अर्थ लेना चाहिये ॥ २४ ॥

मनके द्वारा हिताहितकी प्रवृत्ति होती है किंतु शरीरके छूट जाने पर विग्रहगतिमें [नये शरीरकी प्राप्ति के लिये गमन करते हुए जीवको] मन नहीं है फिर भी उसे कर्मका आस्रव होता है, इसका क्या कारण है?

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थ– [विग्रहगतौ] विग्रहगतिमें अर्थात् नये शरीरके लिये गमनमें [कर्मयोगः] कार्मणकाययोग होता है।

टीका

(१) विग्रहगति–एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये गमन करना विग्रहगति है। यहाँ विग्रहका अर्थ शरीर है।

कर्मयोग—कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं। आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दनको योग कहते हैं इस परिस्पन्दनके समय कार्मण शरीर निमित्तरूप है इसलिये उसे कर्मयोग अथवा कार्मणकाययोग कहते हैं, और इसलिये विग्रहगतिमें भी नये कर्मोंका आस्रव होता है। [देखो सूत्र ४४ की टीका]

२— मरण होने पर नवीन शरीरको ग्रहण करनेके लिये जीव जब गमन करता है तब मार्गमें एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है। उस समयमें कार्मणयोगके कारण पुद्गलकर्मका तथा तैजसवर्गणाका ग्रहण होता है, किन्तु नोकर्म-पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता ॥ २५ ॥

विग्रहगतिमें जीव और पुद्गलोंका गमन कैसे होता है?

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

अर्थ—[गति] जीव पुद्गलोंका गमन [अनुश्रेणि] श्रेणीके अनुसार ही होता है।

टीका

१. श्रेणि—लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशामें क्रमशः हारबद्ध रचनावाले प्रदेशोंकी पंक्ति (Line) को श्रेणि कहते हैं।

२—विग्रहगतिमें आकाश प्रदेशोंकी सीधी पंक्ति पर ही गमन होता है। विदिशामें गमन नहीं होता। जब पुद्गलका शुद्ध परमाणु अतिशीघ्र गमन करके एक समयमें १४ राजु गमन करता है तब वह श्रेणिबद्ध सीधा ही गमन करता है।

३. उपरोक्त श्रेणिकी छह दिशाएँ होती हैं। (१)-पूर्वसे पश्चिम, (२)-उत्तरसे दक्षिण, (३)-ऊपरसे नीचे, तथा अन्य तीन उससे उल्टेरूपमें अर्थात् (४)-पश्चिमसे पूर्व, (५)-दक्षिणसे उत्तर और (६)-नीचेसे ऊपर।

४. प्रश्न—यह जीवाधिकार है, तब फिर इसमें पुद्गलका विषय क्यों लिया गया है?

उत्तर—जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक संबंध बतानेके लिए तथा यह बतानेके लिए कि जीव और पुद्गल दोनों अपनी स्वतंत्र योग्यतासे गमन करते हैं;—पुद्गलका भी विषय लिया गया है ॥ २६ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कैसी होती है?

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

अर्थः—[जीवस्य] मुक्त जीवकी गति [अविग्रहा] वक्रता रहित सीधी होती है।

टीका

सूत्रमें 'जीवस्य' शब्द कहा गया है किन्तु पिछले सूत्रमें संसारी जीव का विषय था इसलिये यहाँ 'जीवस्य' का अर्थ 'मुक्त जीव' होता है।

इस अध्यायके पच्चीसवें सूत्रमें विग्रह का अर्थ 'शरीर' किया था और यहाँ उसका अर्थ 'वक्रता' किया गया है; विग्रह शब्दके यह दोनों अर्थ होते

है। पचीसवें सूत्रमें श्रेणिका विषय नहीं था इसलिये वहाँ 'वक्रता' अर्थ लागू नहीं होता, किन्तु इस सूत्रमें श्रेणिका विषय होनेसे 'अविग्रहा' का अर्थ वक्रता रहित (मोड़ रहित) होना है ऐसा समझना चाहिये। मुक्त जीव श्रेणि वक्रगति से एक समयमें सीधे सात राजू ऊपर गमन करके सिद्ध क्षेत्रमें जाकर स्थिर होते हैं ॥ २७ ॥

संसारी जीवोंकी गति और उसका समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—[संसारिणः] संसारी जीवकी गति [चतुर्भ्यः प्राक्] चार समयसे पहिले पहिले [विग्रहवती च] वक्रता—मोड़सहित तथा रहित होती है।

टीका

१—संसारी जीवकी गति मोड़ासहित और मोड़ारहित होती है। यदि मोड़ारहित होती है तो उसे एक समय लगता है, एक मोड़ा लेना पड़े तो दो समय, दो मोड़ा लेना पड़े तो तीन समय और तीन मोड़ा लेना पड़े तो चार समय लगते हैं। जीव चौथे समयमें तो कहीं न कहीं नया शरीर नियमसे धारण कर लेता है, इसलिये विग्रहगतिका समय अधिकसे अधिक चार समय तक होता है। उन गतियोंके नाम यह हैं—१-ऋजुगति (इषुगति) २-पाणिमुक्तागति, ३-लांगलिकागति और ४-गोमूत्रिकागति।

२—एक परमाणुको मंदगतिसे एक आकाशप्रदेशसे उसीके निकटके दूसरे आकाश प्रदेश तक जानेमें जो समय लगता है वह एक समय है। यह छोटेसे छोटा काल है।

३-लोकमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ जानेमें जीवको तीनसे अधिक मोड़ा लेना पड़ते हों।

४—विग्रहगतिमें जीवको चैतन्यका उपयोग नहीं होता। जब जीवको उसप्रकारकी योग्यता नहीं होती तब द्रव्येन्द्रियाँ भी नहीं होतीं। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब जीवको भावइन्द्रियके उपयोगरूप परिणमित

होनेकी योग्यता होती है तब द्रव्येन्द्रियाँ अपने कारणसे स्वयं उपस्थित होती हैं। वह यह सिद्ध करता है कि जब जीवकी पात्रता होती है तब उसके अनुसार निमित्त स्वयं उपस्थित होता है, निमित्तके लिये राह नहीं देखनी पड़ती ॥ २८ ॥

अविग्रहगतिका समय

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ—[अविग्रहा] मोड़ारहित गति [एकसमया] एक समय मात्र ही होती है, अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है।

टीका

१–जिस समय जीवका एक शरीरके साथका संयोग छूटता है उसी समय, यदि जीव अविग्रह गतिके योग्य हो तो दूसरे क्षेत्रमें रहनेवाले अन्य शरीरके योग्य पुद्‌गलोंके साथ (शरीरके साथ) संबंध प्रारंभ होता है। मुक्त जीवोंको भी सिद्धगतिमें जानेमें एक ही समय लगता है यह गति सीधी पंक्तिमें ही होती है।

२—एक पुद्‌गलको उत्कृष्ट वेगपूर्वक गति करनेमें चौदह राजूलोक अर्थात् लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक (सीधी पंक्तिमें ऊपर या नीचे) जानेमें एक समय ही लगता है ॥ २९ ॥

विग्रहगतिमें आहारक-अनाहारककी व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ—विग्रहगतिमें [एकं द्वौ वा तीन्] एक दो अथवा तीन समय तक [अनाहारकः] जीव अनाहारक रहता है।

टीका

१. आहार—औदारिक, वैक्रियिक, और आहारकशरीर तथा छह-पर्याप्तिके योग्य पुद्‌गल परमाणुओंके ग्रहणको आहार कहा जाता है।

२—उपरोक्त आहारको जीव जब तक ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। ससारी जीव अविग्रहगतिमें आहारक होता है, परन्तु एक दो या तीन मोडावाली गतिमें एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है, चौथे समयमें नियमसे आहारक हो जाता है।

३—यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इस सूत्रमें नोकर्मकी अपेक्षासे अनाहारकत्व कहा है। कर्मग्रहण तथा तैजस परमाणुओंका ग्रहण तेरहवें गुणस्थानतक होता है। यदि इस कर्म और तैजस परमाणुके ग्रहणको आहारकत्व माना जाय तो वह अयोगी गुणस्थानमें नहीं होता।

४—विग्रहगति से अतिरिक्त समयमें जीव प्रतिसमय नोकर्मरूप आहार ग्रहण करता है।

५—यहाँ आहार-अनाहार और ग्रहण शब्दोंका प्रयोग हुआ है, वह मात्र निमित्त नैमित्तिक संबंध बतानेके लिये है। वास्तवमें (निश्चय दृष्टिसे) आत्माके किसी भी समय किसी भी परद्रव्यका ग्रहण या त्याग नहीं होता, भले ही वह निगोदमें हो या सिद्धमें ॥ ३० ॥

जन्मके भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ—[सम्मूर्च्छनगर्भउपपादा] सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद तीन प्रकारका [जन्म] जन्म होता है।

टीका

१. जन्म—नवीन शरीरको धारण करना जन्म है।

सम्मूर्च्छनजन्म—अपने शरीरके योग्य पुद्‌गल परमाणुओंके द्वारा, माता-पिताके रज और वीर्यके विना ही शरीरकी रचना होना सो सम्मूर्च्छन जन्म है।

गर्भजन्म—स्त्रीके उदरमें रज और वीर्यके मेलसे जो जन्म [Conception] होता है उसे गर्भजन्म कहते हैं।

उपपादजन्म—माता पिताके रज और वीर्यके विना देव और नारकियों के निश्चित स्थान-विशेषमें उत्पन्न होनेको उपपादजन्म कहते हैं। यह उपपाद-जन्मवाला शरीर वैक्रियिक रजकणोंका बनता है।

२– समन्ततः + मूर्च्छनं – से संमूर्च्छन शब्द बनता है। यहाँ समन्ततः का अर्थ चारों ओर अथवा जहाँ-तहाँसे होता है और मूर्च्छनं का अर्थ शरीरका बन जाना है।

३. जीव अनादि अनंत है, इसलिये उसका जन्म-मरण नहीं होता किन्तु जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम (मिथ्यादर्शन) बना हुआ है इसलिये उसका शरीरके साथ एक क्षेत्रावगाह संबंध होता है, और वह अज्ञानसे शरीरको अपना मानता है। और अनादिकालसे जीवकी यह विपरीत मान्यता चली आ रही है कि मैं शरीरकी हलन-चलन आदि क्रिया कर सकता हूँ; शरीरकी क्रियासे धर्म हो सकता है, शरीरसे मुझे सुख-दुःख होते हैं इत्यादि जबतक यह मिथ्यात्वरूप विकारभाव जीव करता रहता है तबतक जीवका नये नये शरीरोंके साथ संबंध होता रहता है। उस नये शरीरके संबंध [संयोग] को जन्म कहते हैं और पुराने शरीरके वियोगको मरण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जब तक चारित्र की पूर्णता नहीं होती तब तक जीवको नया शरीर प्राप्त होता है। उसमें जीवका कषायभाव निमित्त है ॥ ३१ ॥

योनियोंके भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अर्थ—[सचित्त शीत संवृताः] सचित्त, शीत, संवृत [सेतरा] उससे उल्टी तीन-अचित्त, उष्ण, विवृत [च एकशः मिश्राः] और क्रमसे एक एक की मिली हुई तीन अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, और संवृत विवृत [तत् योनयः] ये नव जन्मयोनियाँ हैं।

टीका

१ जीवोंके उत्पत्तिस्थानको योनि कहते हैं; योनि आधार है और जन्म आधेय है।

२ सचित्तयोनि—जीव सहित योनिको सचित्त योनि कहते हैं।

संवृतयोनि—जो किसीके देखनेमें न आवे ऐसे उत्पत्तिस्थानको संवृत (ढकी हुई) योनि कहते हैं।

विवृतयोनि—जो सबके देखनेमें आवे ऐसे उत्पत्ति स्थानको विवृत (खुली) योनि कहते हैं।

१ मनुष्य या अन्य प्राणीके पेटमें जीव (कृमि इत्यादि) उत्पन्न होते हैं उनकी सचित्तयोनि है।

२ दीवालमें, मेज, कुर्सी इत्यादिमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी अचित्तयोनि है।

३ मनुष्यकी पहिनी हुई टोपी इत्यादिमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी सचित्ताचित्तयोनि है।

४ सर्दीमें जीव उत्पन्न होते हैं उनकी शीतयोनि है। ५—गर्मीमें जीव उत्पन्न होते हैं उनकी उष्ण योनि है। ६—पानीके घड़ेमें सूर्यकी गर्मी से पानीके गर्म हो जाने पर जो जीव उत्पन्न होते हैं उनकी शीतोष्णयोनि है। ७-बंद पेटीमें रखे हुए फलोंमें जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी संवृतयोनि है। ८-पानीमें जो काई इत्यादि जीव उत्पन्न होते हैं उनकी विवृतयोनि है और ९-थोड़ा भाग खुला हुआ और थोड़ा ढका हुआ हो ऐसे स्थानमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी संवृतविवृतयोनि होती है।

४—गर्भयोनिके आकारके तीन भेद हैं—१—शंखावर्त २—कूर्मोन्नत और ३—वंशपत्र। शंखावर्तयोनिमें गर्भ नहीं रहता, कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र उत्पन्न होते हैं, उनके अतिरिक्त कोई उत्पन्न नहीं होता। वंशपत्रयोनिमें शेष गर्भज जन्मवाले सब जीव उत्पन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

गर्भजन्म किसे कहते हैं ?

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

अर्थ—[जरायुज अंडज पोतानां] जरायुज, अंडज और पोतज इन तीनप्रकारके जीवोंके [गर्भः] गर्भजन्म ही होता है अर्थात् उन जीवोंके ही गर्भजन्म होता है।

टीका

१. जरायुज—जालीके समान मांस और खूनसे व्याप्त एकप्रकारकी थैलीसे लिपटा हुआ जो जीव जन्म लेता है उसे जरायुज कहते हैं। जैसे-गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि।

अंडज—जो जीव अंडोंमें जन्म लेते हैं उनको अंडज कहते हैं, जैसे-चिड़िया, कबूतर, मोर वगैरह पक्षी।

पोतज—उत्पन्न होते समय जिन जीवोंके शरीरके ऊपर किसीप्रकारका आवरण नहीं होता उन्हें पोतज कहते हैं जैसे—सिंह, बाघ, हाथी, हिरण, बन्दर इत्यादि।

२—असाधारण भाषा और अध्ययनादि जरायुज जीवोंमें ही होता है, चक्रधर, वासुदेवादि, महाप्रभावशाली जीव जरायुज होते हैं, मोक्ष भी जरायुजको ही प्राप्त होता है॥ ३३॥

उपपादजन्म किसे कहते हैं?

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थ—[देवनारकाणां] देव और नारकी जीवोंके [उपपादः] उपपाद जन्म ही होता है अर्थात् उपपाद जन्म उन जीवोंके ही होता है।

टीका

१—देवोंके प्रसूतिस्थानमें शुद्ध सुगंधित कोमल संपुटके आकार शय्या होती है उसमें उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्तमें परिपूर्ण जवान हो जाता है, जैसे कोई जीव शय्यासे सोकर जागता है उसीप्रकार आनन्द सहित वह जीव बैठा होता है। यह देवोंका उपपाद जन्म है।

२—नारकी जीव बिलोंमें उत्पन्न होते हैं। मधु मक्खीके छत्तेकी भाँति औंधा मुख किये हुये इत्यादि आकारके विविध मुखवाले उत्पत्तिस्थान हैं उनमें नारकी जीव उत्पन्न होते हैं और वे उल्टा सिर ऊपर पैर किये हुए अनेक कष्ट कर वेदनाओंसे निकलकर विलाप करते हुए धरती पर गिरते हैं यह नारकीका उपपादजन्म है ॥ २४ ॥

सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ २५ ॥

अर्थ—[शेषाणां] गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोंके अतिरिक्त शेष जीवोंके [सम्मूर्च्छनम्] सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है अर्थात् सम्मूर्छन जन्म शेष जीवोंके ही होता है।

टीका

एकेन्द्रियसे असेनी पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके नियमसे समूर्च्छन जन्म होता है। सनी पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनों प्रकारके जन्म होते हैं अर्थात् कुछ गर्भज होते हैं और कुछ सम्मूर्च्छन होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंके भी सम्मूर्च्छनजन्म होता है ॥ २५ ॥

शरीरके नाम तथा भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ २६ ॥

अर्थ—[औदारिक-वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणाणि] औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्मण [शरीराणि] यह पाँच शरीर हैं।

औदारिक शरीर—मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर जो कि सड़ता है गलता है तथा झरता है वह–औदारिक शरीर है। यह शरीर स्थूल होता है

इसलिये उदार कहलाता है, सूक्ष्म निगोदियोंका शरीर इन्द्रियोंके द्वारा न तो दिखाई देता है न मुड़ता है और न काटनेसे कटता है, फिर भी वह स्थूल है, क्योंकि दूसरे शरीर उससे क्रमशः सूक्ष्म हैं [देखो इसके बादका सूत्र]

वैक्रियिक शरीर—जिसमें हलके भारी तथा अनेक प्रकारके रूप बनानेकी शक्ति हो उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं वह देव और नारकियोंके ही होता है।

नोट - यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि औदारिक शरीरवाले जीवके ऋद्धिके कारण जो विक्रिया होती है वह औदारिक शरीरका ही प्रकार है।

आहारक शरीर—सूक्ष्म पदार्थोंके निर्णयके लिये अथवा संयमकी रक्षा इत्यादिके लिये छट्ठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो एक हाथका पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। (तत्त्वोंमें कोई शंका होने पर केवली अथवा श्रुतकेवलीके पास जानेके लिये ऐसे मुनिके मस्तकसे एक हाथका पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।)

तैजस शरीर—औदारिक और वैक्रियिक शरीरोंको कान्ति देनेवाले तैजस वर्गणासे बने हुए शरीरको तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

नोटः—पहिले तीन शरीर आहार वर्गणामें से बनते हैं।

शरीरोंकी सूक्ष्मताका वर्णन

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पहिले कहे हुए शरीरोंकी अपेक्षा [परं परं] आगे आगेके शरीर [सूक्ष्मम्] सूक्ष्म सूक्ष्म होते हैं अर्थात् औदारिककी अपेक्षा वैक्रियिक सूक्ष्म, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारककी अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजसकी अपेक्षासे कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है ॥ ३७ ॥

पहिले पहिले शरीरकी अपेक्षा आगेके शरीरोंके प्रदेश थोडे होंगे ऐसी विरुद्ध मान्यता दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—[प्रदेशत.] प्रदेशोंकी अपेक्षासे [तैजसात् प्राक्] तैजस शरीर से पहिलेके शरीर [असंख्येयगुण] असंख्यातगुणे हैं।

टीका

औदारिक शरीरके प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश, वैक्रियिक शरीरके हैं, और वैक्रियिक शरीरकी अपेक्षा, असंख्यातगुणे प्रदेश आहारक शरीरके हैं ॥ ३८ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ३६ ॥

अर्थ—[परे] शेष दो शरीर [अनंतगुणे] अनंतगुणे परमाणु (प्रदेश) वाले हैं अर्थात् आहारक शरीर की अपेक्षा अनंतगुणे प्रदेश तैजस शरीरमें होते हैं और तैजस शरीर की अपेक्षा अनंतगुणे प्रदेश कार्मण शरीरमें होते हैं ॥

टीका

आगे आगेके शरीरोंमें प्रदेशोंकी संख्या अधिक होने पर भी उनका मिलाप लोहेके पिंडके समान सघन होता है इसलिये वे अल्परूप होते हैं। यहाँ प्रदेश कहनेका अर्थ परमाणु समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

तैजस और कार्मणशरीर की विशेषता

अप्रतिघाते ॥ ४० ॥

अर्थ तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर [अप्रतिघाते] अप्रतिघात अर्थात् बाधारहित हैं।

टीका

ये दोनों शरीर लोकके अंत तक हर जगह जा सकते हैं और चाहे जहाँसे निकल सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर हर किसीमें प्रवेश कर सकता है, परंतु वैक्रियिक शरीर त्रसनाली तक ही गमन कर सकता है। आहारक शरीरका गमन अधिकसे अधिक अढ़ाई द्वीपपर्यंत जहाँ केवली और श्रुतकेवली होते हैं वहाँ तक होता है। मनुष्यका वैक्रियिक शरीर मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) तक जाता है उससे अधिक नहीं जा सकता ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण शरीर की अन्य विशेषता

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

अर्थ—[च] और यह दोनों शरीर [अनादिसंबंधे] आत्माके साथ अनादिकालसे सम्बन्धवाले हैं।

टीका

१. यह कथन सामान्य तैजस और कार्मणशरीर की अपेक्षासे है। विशेष अपेक्षासे इसप्रकारके पहिले पहिले शरीरोंका संबंध छूटकर नये नये शरीरोंके सम्बन्ध होता रहता है, अर्थात् अयोगी गुणस्थानमें पहिले प्रति समय जीव इस तैजस और कार्मण शरीरके नये नये रजकणोंको ग्रहण करता है और पुरानेको छोड़ता है। (१४ वाँ गुणस्थानके अंतिम समय इन दोनोंका अभाव हो जाता है उस ही समय जीव सीधी श्रेणीसे सिद्धस्थानमें पहुँच जाता है) सूत्रमें 'च' शब्द दिया है उससे यह अर्थ निकलता है।

२ जीवके इन शरीरोंका संबंध प्रवाहरूपसे अनादि नहीं हैं परंतु नया (सादि) है ऐसा मानना गलत है, क्योंकि जो ऐसा होता तो पहिले जीव अशरीरी था अर्थात् शुद्ध था और पीछे वह अशुद्ध हुआ ऐसा सिद्ध होगा; परन्तु शुद्ध जीवके अनन्त पुरुषार्थ होनेसे उसके अशुद्धता आ नहीं सकती और जहाँ अशुद्धता नहीं होती है वहाँ ये शरीर हो ही नहीं सकते। इसकार जीव के इन शरीरोंका संबंध सामान्य अपेक्षासे (–प्रवाहरूपसे) अनादिसे है।

और यदि इन तैजस और कार्मण शरीरोंका सबध अनादिसे प्रवाहरूप नहीं मानकर वहीका वही अनादिसे जीवसे सबधित है ऐसा माना जाय तो उनका सम्बध अनन्तकाल तक रहेगा और तब जीवके विकार न करने पर भी उसे मोक्ष कभी भी नहीं होगा। अवस्थादृष्टिसे जीव अनादिकालसे अशुद्ध है ऐसा इस सूत्रसे सिद्ध होता है। (देखो इसके बादके सूत्र की टीका)

ये शरीर अनादिकालसे सब जीवोंके होते हैं

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—ये तैजस और कार्मण शरीर [सर्वस्य] सब ससारी जीवोंके होते हैं।

टीका

जिन जीवोंके इन शरीरोंका सबध नहीं होता है उनके ससारी अवस्था नहीं होती है - सिद्ध अवस्था होती है। यह बात ध्यानमें रखना चाहिए कि-किसी भी जीवके वास्तवमें (परमार्थ से) शरीर होता नहीं है। यदि जीव के वास्तव शरीर माना जाय तो जीव जड़ शरीररूप हो जायगा, परतु ऐसा होता नहीं है। जीव और शरीर दोनों एक आकाशक्षेत्रमें (एक क्षेत्रावगाह सम्बधरूप) रहते हैं इसलिये अज्ञानी जीव शरीरको अपना मानते हैं; अवस्था दृष्टिसे जीव अनादिकालसे अज्ञानी है इसलिये 'अज्ञानीके इस प्रतिभास' को व्यवहार बतलाकर उसे 'जीवका शरीर' कहा जाता है।

इसप्रकार जीवके विकारीभावका और इस शरीरका निमित्त-नैमित्तिक सम्बध बताया है, किन्तु जीव और शरीर एक द्रव्यरूप, एक क्षेत्ररूप, एक पर्यायरूप या एक भावरूप हो जाते हैं—यह बतानेका शास्त्रोंका हेतु नहीं है, इसलिये आगेके सूत्रमें 'सम्बन्ध' शब्दका प्रयोग किया है, यदि इसप्रकार (-व्यवहार कथनानुसार) जीव और शरीर एकरूप हो जाँय तो दोनों द्रव्योंका सर्वथा नाश हो जायगा ॥ ४२ ॥

एक जीवके एक साथ कितने शरीरोंका सम्बन्ध होता है ?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

अर्थ–[तदादीनि] उन तैजस और कार्मण शरीरोंसे प्रारंभ करके [युगपत्] एक साथ [एकस्मिन्] एक जीवके [आचतुर्भ्यः] चार शरीर तक [भाज्यानि] विभक्त करना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये।

टीका

जीवके यदि दो शरीर हो तो तैजस और कार्मण, तीन हो तो तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस कार्मण और वैक्रियिक, चार हो तो तैजस, कार्मण औदारिक और आहारक, अथवा तैजस कार्मण औदारिक और (लब्धिवाले जीवके) वैक्रियिक शरीर होते हैं। इसमें (लब्धिवाले जीवके) औदारिकके साथ जो वैक्रियिक शरीर होना बतलाया है वह शरीर औदारिक की जातिका है, देवके वैक्रियिक शरीरके रजकणों की जातिका नहीं ॥ ४३ ॥

(देखो सूत्र ३६ तथा ४७ की टीका)

कार्मण शरीर की विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ–[अन्त्यम्] अंतका कार्मण शरीर [निरुपभोगम्] उपभोग रहित होता है ॥

टीका

१. उपभोग—इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिकके ग्रहण करना (–जानना) सो उपभोग है।

२ विग्रहगतिमें जीवके भावेन्द्रियाँ होती हैं (देखो सूत्र १८) वहाँ जड़ इन्द्रियोंकी रचनाका अभाव है। [देखो सूत्र १७] उस स्थितिमें शब्द, रूप, रस, गंध या स्पर्शका अनुभव (–ज्ञान) नहीं होता, इसलिये कार्मण शरीरको निरुपभोग ही कहा है।

३. प्रश्न—तैजस शरीर भी निरुपभोग ही है तथापि उसे यहाँ क्यों नहीं गिना है?

उत्तर—तैजसशरीर तो किसी योगका भी कारण नहीं है इसलिये निरुपभोगके प्रकरणमें उसे स्थान नहीं है। विग्रहगतिमें कार्मण शरीर कार्मण योगका कारण है (देखो सूत्र २५) इसलिये वह उपभोगके योग्य है या नहीं—यह प्रश्न उठ सकता है। उसका निराकरण करनेके लिये यह सूत्र कहा है। तैजसशरीर उपभोगके योग्य है या नहीं यह प्रश्नही नहीं उठ सकता, क्योंकि वह तो निरुपभोग ही है, इसलिये यहाँ उसे नहीं लिया गया है।

४ जीवकी अपनी पात्रता-योग्यता (-उपादान) के अनुसार बाह्य निमित्त संयोगरूप (उपस्थितरूप) होते हैं, और जब अपनी पात्रता नहीं होती तब वे उपस्थित नहीं होते, यह बात इस सूत्रमें बतलाई गई है। जब जीव शब्दादिकका ज्ञान करने योग्य नहीं होता तब जड़ शरीररूप इन्द्रियाँ उपस्थित नहीं होती, और जब जीव वह ज्ञान करने योग्य होता है तब जड़ शरीररूप इन्द्रियाँ स्वयं उपस्थित होती हैं ऐसा समझना चाहिये।

५ पचीसवाँ सूत्र और यह सूत्र बतलाता है कि-परवस्तु जीवको विकार भाव नहीं कराती, क्योंकि विग्रहगतिमें स्थूल शरीर स्त्री पुत्र इत्यादि कोई नहीं होते, द्रव्यकर्म जड़ हैं उनके ज्ञान नहीं होता, और वे अपना-स्वक्षेत्र छोड़कर जीवके क्षेत्रमें नहीं आ सकते इसलिये वे कर्म जीवमें विकारभाव नहीं करा सकते। जब जीव अपने दोषसे अज्ञान दशामें प्रतिक्षण नया विकार भाव किया करता है तब जो कर्म अलग होते हैं उनपर उदयका आरोप होता है, और जीव जब विकारभाव नहीं करता तब प्रथक् होनेवाले कर्मोंपर निर्जरा का आरोप होता है अर्थात् उसे 'निर्जरा' नाम दिया जाता है॥ ४४॥

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—[गर्भ] गर्भ [सम्मूर्च्छनजम्] और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाला शरीर [आद्य] पहिला-औदारिक शरीर कहलाता है।

टीका

प्रश्न—शरीर तो जड़ पुद्गल द्रव्य है और यह जीवका अधिकार है फिर भी उसमें यह विषय क्यों लिया गया है ?

उत्तर—जीवके भिन्न भिन्न प्रकारके विकारीभाव होते हैं तब उसका किस किस प्रकारके शरीरोंके साथ एक क्षेत्रावगाह संबंध होता है, यह बतानेके लिये शरीरोंका विषय यहाँ (इस सूत्रमें तथा इस अध्यायके अन्य कई सूत्रोंमें) लिया गया है ॥ ४५ ॥

वैक्रियिक शरीरका लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—[औपपादिकम्] उपपाद जन्मवाले अर्थात् देव और नारकियोंके शरीर [वैक्रियिकं] वैक्रियिक होते हैं।

नोट:—उपपाद जन्मका विषय ३४ वें सूत्रमें और वैक्रियिक शरीरका विषय ३६ वें सूत्रमें आ चुका है, उन सूत्रोंको और उनकी टीकाको यहाँ भी पढ़ लेना चाहिये।

देव और नारकियोंके अतिरिक्त दूसरोंके वैक्रियिक शरीर होता है या नहीं ?

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ–वैक्रियिकशरीर [लब्धिप्रत्ययं च] लब्धिनैमित्तिक भी होता है।

टीका

वैक्रियिक शरीरके उत्पन्न होनेमें ऋद्धिका निमित्त है, साधुको तपकी विशेषतासे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको 'लब्धि' कहा जाता है। प्रत्ययका अर्थ निमित्त है। किसी तिर्यंचको भी विक्रिया होती है। विक्रिया शुभभावका फल है, धर्मका नहीं। धर्मका फल तो शुद्ध असंगभाव है और शुभभावका फल बाह्य संयोग है। मनुष्य तथा तिर्यंचोंका वैक्रियिक शरीर देव तथा नारकियोंके शरीरसे भिन्न जातिका होता है, वह औदारिक शरीरका ही एक प्रकार है।

[देखो सूत्र ३६ तथा ४३ की टीका] ॥ ४७ ॥

वैक्रियिकके अतिरिक्त किसी अन्य शरीरको भी लब्धिका निमित्त है ?

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थ—[तैजसम्] तेजसशरीर [अपि] भी लब्धिनिमित्तक है।

टीका

१—तैजसशरीरके दो भेद हैं—अनि सरण और नि सरण। अनि सरण सर्व ससारी जीवोंके शरीरकी दीप्तिका कारण है, वह लब्धिप्रत्यय नहीं है। उसका स्वरूप सू० ३६ की टीकामें आ चुका है।

२—नि सरण-तेजस शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। यदि किसी क्षेत्रमें रोग, अकाल आदि पड़े तो उससे लोगोंको दु खी देखकर तपस्या के धारी मुनिके अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाय तो उनके दाहिने कधेमें से एक तैजसपिंड निकलकर १२ योजन तक जीवोंका दु ख मिटाकर मूलशरीरमें प्रवेश करता है उसे नि सरणशुभतेजसशरीर कहते हैं। और किसी क्षेत्रमें मुनि अत्यन्त क्रोधित हो जाय तो ऋद्धिके प्रभावसे उनके बायें कधेसे सिंदूरके समान लाल अग्निरूप कान्तिवाला बिलावके आकार एक शरीर निकलकर (यह शरीर बढ़कर १२ योजन लबा और ९ योजन विस्तारवाला होकर) १२ योजन तकके सब जीवोंके शरीरको तथा अन्य पुद्गलोंको जलाकर भस्म करके मूल शरीरमें प्रवेश करके उस मुनिको भी भस्म कर देता है, वह मुनि नरकको प्राप्त होता है।) उसे नि सरणअशुभतेजसशरीर कहते हैं ॥ ४८ ॥

आहारक शरीरका स्वामी तथा उसका लक्षण

शुभ विशुद्धमव्याघाति चाहारक प्रमत्तसयतस्यैव ॥ ४९ ॥

अर्थ—[आहारकं] आहारक शरीर [शुभम्] शुभ है अर्थात् यह शुभ कार्य करता है [विशुद्धम्] विशुद्ध है अर्थात् यह विशुद्धकर्म (मद कषाय से बधनेवाले कर्म) का कार्य है। [च अव्याघाति] और व्याघात-बाधारहित

है तथा [प्रमत्तसंयतस्यैव] प्रमत्तसंयत (छट्ठवें गुणस्थानवर्ती) मुनिके ही वह शरीर होता है।

टीका

१—यह शरीर चन्द्रकान्तमणिके समान सफेद रंगका एक हाथ प्रमाणका होता है, वह पर्वत वज्र इत्यादिसे नहीं रुकता इसलिये अव्याघाति है। यह शरीर प्रमत्तसंयमी मुनिके मस्तकमें से निकलता है, प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही यह शरीर होता है अन्यत्र नहीं होता; और यह शरीर सभी प्रमत्तसंयत मुनियोंके भी नहीं होता।

२—यह आहारकशरीर (१) कदाचित लब्धि विशेषके सद्भाव जाननेके लिये, (२) कदाचित सूक्ष्मपदार्थके निर्णयके लिये तथा (३) कदाचित् तीर्थगमनके या संयमकी रक्षाके निमित्त उसका प्रयोजन है, केवली-भगवान् अथवा श्रुतकेवली भगवान्के पास जाते ही स्वयं निर्णय करके अंतर्मूहूर्तमें वापिस आकर संयमी मुनिके शरीरमें प्रवेश करता है।

३—जिससमय भरत–ऐरावत क्षेत्रोंमें तीर्थंकर भगवानकी, केवलीकी, या श्रुतकेवलीकी उपस्थिति नहीं होती और उनके बिना मुनिका समाधान नहीं हो पाता तब महाविदेह क्षेत्रमें जहाँ तीर्थंकर भगवान इत्यादि विराजमान होते हैं वहाँ उन (भरत या ऐरावत क्षेत्रके) मुनिका आहारक शरीर जाता है और भरत–ऐरावत क्षेत्रमें तीर्थंकरादि होते हैं तब वह निकटके क्षेत्रमें जाता है। महाविदेहमें तीर्थंकर त्रिकाल होते हैं इसलिये वहाँके मुनिके ऐसा प्रसंग आये तो उनका आहारक शरीर उस क्षेत्रके तीर्थंकरादिके पास जाता है।

४—(१) देव अनेक वैक्रियिक शरीर कर सकते हैं. मूलशरीर सहित देव स्वर्गलोकमें विद्यमान रहते हैं और विक्रियाके द्वारा अनेक शरीर करके दूसरे क्षेत्रमें जाते हैं। जैसे कोई सामर्थ्यका धारक देव अपना एक हजार रूप किये परन्तु उन हजारों शरीरोंमें उस देवकी आत्माके प्रदेश होते हैं। मूल वैक्रियिक शरीर जघन्य दश हजार वर्ष तक रहता है अर्थात् अधिक

जितनी आयु होती है उतने समय तक रहता है। उत्तर वैक्रियिक शरीरका काल जघन्य तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है। तीर्थंकर भगवानके जन्मके समय और नंदीश्वरादिके जिनमंदिरोंकी पूजाके लिये देव जाते हैं तब वारवार विक्रिया करते हैं।

(२) प्रमत्तसंयत मुनिका आहारक शरीर दूर क्षेत्र-विदेहादिमें जाता है।

(३) तैजसशरीर १२ योजन (४८ कोस) तक जाता है।

(४) आत्मा अखंड है उसके खंड नहीं होते। आत्माके असंख्यात प्रदेश हैं वे कार्मण शरीरके साथ निकलते हैं मूलशरीर ज्योंका त्यों बना रहता है, और उसमें भी प्रत्येक स्थलमें आत्माके प्रदेश अखंड रहते हैं।

५—जैसे अन्नको प्राण कहना उपचार है उसीप्रकार इस सूत्रमें आहारक शरीरको उपचारसे ही 'शुभ' कहा है। दोनों स्थानोंमें कारणमें कार्य का उपचार (व्यवहार) किया गया है। जैसे अन्नका फल प्राण है उसीप्रकार शुभका फल आहारक शरीर है, इसलिये यह उपचार है ॥ ४९ ॥

लिंग अर्थात् वेदके स्वामी

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थ—[नारकसम्मूर्च्छिनो] नारकी और सम्मूर्च्छन जन्मवाले [नपुंसकानि] नपुंसक होते हैं।

टीका

१—लिंग अर्थात् वेद दो प्रकारके हैं—(१) द्रव्यलिंग=पुरुष स्त्री या नपुंसकत्व बतानेवाला शरीरका चिह्न और (२) भावलिंग=स्त्री, पुरुष अथवा स्त्री पुरुष दोनोंके भोगनेकी अभिलाषारूप आत्माके विकारी परिणाम। नारकी और सम्मूर्च्छन जीवोंके द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों नपुंसक होते हैं।

२—नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक ही होते हैं, क्योंकि उन जीवोंके स्त्री-पुरुष सम्बन्धी मनोज्ञ शब्दका सुनना, मनोज्ञगंधका सूंघना,

मनोग्यरूपका देखना, मनोग्यरसका चखना, या मनोग्यस्पर्शका स्पर्शन करना इत्यादि कुछ नहीं होता इसलिये थोड़ासा कल्पित सुख भी उन जीवोंके नहीं होता, अतः निश्चय किया जाता है कि वे जीव नपुंसक ही हैं ॥ ५० ॥

देवोंके लिंग

न देवाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—[देवाः] देव [न] नपुंसक नहीं होते अर्थात् देवोंके पुरुषलिंग और देवियोंके स्त्रीलिंग होता है।

टीका

१—देवगतिमें द्रव्यलिंग तथा भावलिंग एकसे होते हैं। २–भोगभूमि म्लेच्छखंडके मनुष्य स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनोंको धारण करते हैं, वहाँ नपुंसक उत्पन्न नहीं होते ॥ ५१ ॥

अन्य कितने लिंगवाले हैं ?

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—[शेषाः] शेषके गर्भज मनुष्य और तिर्यंच [त्रिवेदाः] तीनों वेदवाले होते हैं।

टीका

भाववेदके भी तीनप्रकार हैं—(१) पुरुषवेदकी कामाग्नि तृणकी अग्निके समान जल्दी शान्त हो जाती है, (२) स्त्रीवेदकी कामाग्नि अंगारके समान गुप्त और कुछ समयके बाद शान्त होती है, और (३) नपुंसकवेदकी कामाग्नि ईंटकी आगके समान बहुत समय तक बनी रहती है ॥५२॥

किनकी आयु अपवर्तन (-अकालमृत्यु) रहित है ?

औपपादिकचरमोत्तमऽदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपव-
र्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

अर्थ–[औपपादिक] उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, [चरम उत्तम देहाः] चरम उत्तम देहवाले अर्थात् उसी भवमें मोक्ष जानेवाले तथा [असंख्येयवर्ष आयुषः] असंख्यात वर्ष आयुवाले भोगभूमिके जीवोंकी [आयुषः अनपवर्ति] आयु अपवर्तन रहित होती है।

टीका

१—आठ कर्मोंमें आयुनामका एक कर्म है। भोग्यमान (भोगी जाने वाली) आयु कर्मके रजकण दो प्रकारके होते हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। उनमें से आयुके प्रमाणमें प्रतिसमय समान निषेक निर्जरित होते हैं, उस प्रकारका आयु निरुपक्रम अर्थात् अपवर्तन रहित है, और जिस आयुकर्मके भोगनेमें पहिले तो समय समयमें समान निषेक निर्जरित होते हैं परन्तु उसके अंतिमभागमें बहुतसे निषेक एकसाथ निर्जरित हो जाये उसप्रकारकी आयु सोपक्रम कहलाती है। आयुकर्मके बंधमें ऐसी विचित्रता है कि जिसके निरुपक्रम आयुका उदय हो उसके समय समय समान निर्जरा होती है इस लिये वह उदय कहलाता है, और सोपक्रम आयुवालेके पहिले अमुक समय तो उपरोक्त प्रकारसे ही निर्जरा होती है तब उसे उदय कहते हैं, परन्तु अन्तिम अतर्मुहूर्तमें सभी निषेक एक साथ निर्जरित हो जाते हैं इसलिये उसे उदीरणा कहते हैं वास्तवमें किसी की आयु बढ़ती या घटती नहीं है परन्तु निरुपक्रम आयुका सोपक्रम आयुसे भेद बतानेके लिये सोपक्रम आयुवाले जीवकी 'अकाल मृत्यु हुई' ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

२—उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट, चरमदेह उत्कृष्ट होती है, क्योंकि जो जो जीव केवलज्ञान पाते हैं उनका शरीर केवलज्ञान प्रगट होने पर परमौदारिक हो जाता है। जिस शरीरसे जीवको केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता वह शरीर चरम नहीं होता, और परमौदारिक भी नहीं होता। मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव का शरीरके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध केवलज्ञानप्राप्त होने पर कैसा होता है यह बतानेके लिये इस सूत्रमें चरम और उत्तम, ऐसे दो विशेषण दिये गये हैं, जब केवलज्ञान प्रगट होता है तब उस शरीरको 'चरम' संज्ञा प्राप्त

होती है; और वह परमौदारिकरूप हो जाता है इसलिये उसे 'उत्तम' संज्ञा प्राप्त होती है; परन्तु वज्रवृषभनाराचसंहनन तथा समचतुरस्रसंस्थान के कारण शरीरको 'उत्तम' संज्ञा नहीं दी जाती।

३—सोपक्रम-कदलीघात अर्थात् वर्तमानके लिये अपवर्तन होनेवाली आयुवालेके वाह्यमें विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, श्वासावरोध, अग्नि, जल, सर्प, अजीर्णभोजन, वज्रपात, शूली, हिंसकजीव, तीव्रभूख या प्यास आदि कोई निमित्त होते हैं। (कदलीघातके अर्थके लिये देखो अ० ४ सूत्र २६ की टीका)

४—कुछ अंतःकृत केवली ऐसे होते हैं कि जिनका शरीर उपसर्गसे विदीर्ण हो जाता है परंतु उनकी आयु अपवर्तनरहित है। चरमदेहधारी, गुरुदत्त, पांडव इत्यादिको उपसर्ग हुआ था परंतु उनकी आयु अपर्वतन-रहित थी।

५—'उत्तम' शब्दका अर्थ त्रेसठ शलाका पुरुष, अथवा कामदेवादि ऋद्धियुक्त पुरुष ऐसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि सुभौमचक्रवर्ती अंतिम ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तथा अंतिम अर्धचक्रवर्ती वासुदेव आयुके अपवर्तन होने पर मरणको प्राप्त हुये थे।

६—भरत और वाहुवली तद्भवमोक्षगामी जीव हुये हैं, इसलिये परस्परमें लड़ने पर भी उनकी आयु विगड़ सकती नहीं-ऐसा कहा है वह वताता है कि 'उत्तम' शब्दका तद्भवमोक्षगामी जीवोंके लिये ही प्रयोग किया गया है।

७—सभी सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती, अनपवर्तन आयुवाले होते हैं ऐसा नियम नहीं है।

८—सर्वार्थसिद्धि टीकामें श्री पूज्यपाद आचार्य देवने 'उत्तम' शब्दका अर्थ किया है; इसलिये मूल सूत्रमें वह शब्द है यह सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने तत्त्वार्थसारके दूसरे अध्यायकी १३५ वीं गाथामें उत्तम शब्द का प्रयोग किया है, वह गाथा निम्नप्रकार है—

असंख्येय समायुक्ताश्चरमोत्तममूर्तयः
देवाश्च नारकाश्चैषाम् अपमृत्युर्नविद्यते ॥ १३५ ॥

उपसंहार

(१) इस अध्यायमें जीवतत्त्वका निरूपण है, उसमें प्रथम ही जीव के औपशमिकादि पाँच भावोंका वर्णन किया है [सूत्र १] पाँच भावोंके ५३ भेद सात सूत्रोंमें कहे हैं [सूत्र ७ तक] तत्पश्चात् जीवका प्रसिद्ध लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेद कहे हैं [सूत्र ९] जीवके संसारी और मुक्त दो भेद कहे हैं [सूत्र १०] उनमेंसे संसारी जीवोंके भेद सैनी असैनी तथा त्रस स्थावर कहे हैं, और त्रसके भेद दो इन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक बतलाये हैं, पाँच इन्द्रियोंके द्रव्येन्द्रिय, और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं, और उसके विषय बतलाये हैं [सूत्र २१ तक] एकेन्द्रियादि जीवोंके कितनी इन्द्रियाँ होती हैं इसका निरूपण किया है [सूत्र २३ तक] और फिर सेनी जीवोंका तथा जीव परभवगमन करता है। उसका (गमनका) स्वरूप कहा है [सूत्र ३० तक] तत्पश्चात् जन्मके भेद, योनिके भेद, तथा गर्भज, देव, नारकी, और सम्मूर्च्छन जीव कैसे उत्पन्न होते हैं इसका निर्णय किया है। [सूत्र ३५ तक] पाँच शरीरोंके नाम बतलाकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलताका स्वरूप कहा है, और वे कैसे उत्पन्न होते हैं इसका निरूपण किया है [सूत्र ४९ तक] फिर किस जीवके कौनसा वेद होता है यह कहा है [सूत्र ५२ तक] फिर उदयमरण और उदीरणामरणका नियम बताया है [सूत्र ५३]

जबतक जीवकी अवस्था विकारी होती है तबतक ऐसे परवस्तुके संयोग होते हैं, यहाँ उनका ज्ञान कराया है, और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागता प्राप्त करके संसारी जीव मिटकर मुक्त जीव होनेके लिये बतलाया है।

२. पारिणामिकभावके सम्बन्धमें

जीव और उसके अनन्तगुण त्रिकाल अखण्ड अभेद हैं इसलिये वे पारिणामिकभावसे हैं। प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येकगुणका प्रतिक्षण परिणमन होता है, और जीव भी द्रव्य है इसलिये तथा उसमें द्रव्यत्व नामका गुण है इसलिये प्रतिसमय उसके अनन्तगुणोंका परिणमन होता रहता है, उस परिणमनको

पर्याय कहते हैं। उसमें जो पर्यायें अनादिकालसे शुद्ध हैं वे भी पारिणामिक भावसे हैं।

जीवकी अनादिकालसे संसारी अवस्था है यह बात इस अध्यायके १० वें सूत्रमें कही है; क्योंकि जीव अपनी अवस्थामें अनादिकालसे प्रतिक्षण नया विकार करता आ रहा है, किन्तु यह ध्यान रहे कि उसके सभी गुणोंकी पर्यायोंमें विकार नहीं होता किन्तु अनन्त गुणोंमेंसे बहुतसे कम गुणोंकी अवस्थामें विकार होता है। जितने गुणोंकी अवस्थामें विकार नहीं होता उतनी पर्यायें शुद्ध हैं।

प्रत्येक द्रव्य सत् है इसलिये उसकी पर्यायमें प्रतिसमय उत्पाद व्यय और ध्रौव्यत्वको पर्याय अवलंबन करती हैं। उन तीन अंशोंमेंसे जो सदृशतारूप ध्रौव्य अंश है वह अंश अनादि अनंत एक प्रवाहरूप है, ध्रौव्य पर्याय भी पारिणामिकभावसे है।

इससे निम्नप्रकार पारिणामिकभाव सिद्ध हुआ—

द्रव्यका त्रिकालत्व तथा अनन्तगुण और उनकी पर्यायोंका एक प्रवाहरूपसे रहनेवाला अनादि अनन्त ध्रौव्यांश यह तीनों अभेदरूपसे पारिणामिक भाव है, और उसे द्रव्यदृष्टिसे परम पारिणामिक भाव कहा जाता है।

जो अनादि अनन्त ध्रौव्यांश है उसे एक प्रवाहरूपसे ऊपर लिया है, किंतु वह प्रतिसमय है इसलिये प्रतिसमयका ध्रौव्यांश पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है।

३. उत्पाद और व्यय पर्याय—

अब उत्पाद और व्ययपर्यायके संबंधमें कहते हैं:—व्ययपर्याय अभावरूप है इसलिये उसे इस अध्यायके पहिले सूत्रमें कहे गये पाँच भावोंमेंसे कोई भी भाव लागू नहीं हो सकता।

द्रव्यके अनन्त गुणोंकी प्रतिसमय उत्पादपर्याय होती रहती है, उसमें जिन गुणोंकी पर्याय अनादिकालसे अविकारी है वह पारिणामिकभावसे है और वह पर्याय है इसलिये पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है।

परकी अपेक्षा रखनेवाले जीवके भावोंके चार विभाग होते हैं—१—औपशमिकभाव, २—क्षायोपशमिकभाव, ३—क्षायिकभाव और ४—औदयिकभाव। इन चार भावोंका स्वरूप पहिले इस अध्यायके सूत्र १ की टीकामें कहा है।

४. धर्म करनेके लिये पाँच भावोंका ज्ञान कैसे उपयोगी है ?

यदि जीव इन पाँच भावोंके स्वरूपको जान ले तो वह स्वयं यह समझ सकता है कि—किस भावके आधारसे धर्म होता है। पाँच भावोंमेंसे पारिणामिकभावके अतिरिक्त शेष चार भावोंमेंसे किसीके लक्ष्यसे धर्म नहीं होता, और जो पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है उसके आश्रयसे भी धर्म नहीं होता—यह वह समझ सकता है।

जब कि अपने पर्यायार्थिकनयसे वर्तनेवाले पारिणामिकभावके आश्रयसे भी धर्म नहीं होता तब फिर निमित्त जो कि परद्रव्य है—उसके आश्रयसे या लक्ष्यसे तो धर्म हो ही नहीं सकता, यह भी वह समझता है। और परमपारिणामिकभावके आश्रयसे ही धर्म होता है ऐसा वह समझता है।

५ उपादानकारण और निमित्तकारणके संबंधमें—

प्रश्न—जैनधर्मने वस्तुका स्वरूप अनेकान्त कहा है, इसलिये किसी समय उपादान (परमपारिणामिकभाव) की मुख्यतासे धर्म हो और किसी समय निमित्त (परद्रव्य) की मुख्यतासे धर्म हो, ऐसा होना चाहिये। उपरोक्त प्रकारसे मात्र उपादान (परमपारिणामिकभाव) से धर्म होता है ऐसा कहनेसे एकान्त हो जायगा।

उत्तर—यह प्रश्न सम्यक्अनेकान्त, मिथ्याअनेकान्त, और सम्यक् और मिथ्या एकान्तके स्वरूपकी अज्ञानता बतलाता है। परमपारिणामिकभावके आश्रयसे धर्म हो और दूसरे किसी भावके आश्रयसे धर्म न हो इस प्रकार अस्तिनास्ति स्वरूप सम्यक् अनेकान्त है। प्रश्नमें बतलाया गया अनेकान्त मिथ्याअनेकान्त है। और यदि इस प्रश्नमें बतलाया गया सिद्धान्त स्वीकार किया जाय तो वह मिथ्याएकान्त होता है, क्योंकि यदि किसी

समय निमित्तकी मुख्यतासे (अर्थात् परद्रव्यकी मुख्यतासे) धर्म हो तो परद्रव्य और स्वद्रव्य दोनों एक हो जाँय, जिससे मिथ्याएकान्त होता है ?

जिस समय उपादान कार्य परिणत होता है उसी कार्यके समय निमित्त कारण भी स्वयं उपस्थित होता है, लेकिन निमित्तकी मुख्यतासे किसी भी कार्य किसी भी समय नहीं होता, ऐसा नियम दिखानेके लिये श्री बनारसीदासजीने कहा है किः—

"उपादान निज गुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय,
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझै कोय,
उपादान बल जहँ तहाँ, नहीं निमित्तको दाव,
एक चक्रसों रथ चलै, रविको यहै स्वभाव,
सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन,
ज्यों जहाज परवाहमें, तिरै सहज विन पौन,"

प्रश्न—तब फिर शास्त्रमें यह तो कहा है कि सच्चे देव गुरु शास्त्र और भगवानकी दिव्य ध्वनिके आश्रयसे धर्म होता है, इसलिये, कभी उन निमित्तोंकी मुख्यतासे धर्म होता है ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

उत्तर—शास्त्रमे ऐसा ही कहा है कि—परमशुद्धनिश्चयनयग्राहक परमपारिणामिकभावके आश्रयसे (अर्थात् निज त्रिकाल शुद्ध चैतन्य परमात्मभाव-ज्ञायकभावसे) धर्म होता है; जीव अशुभभाव टालकर शुभभावरूप रागका अवलंबन लेता है उसमे सत्‌देव, सत्‌गुरु, सत्‌शास्त्र तथा भगवानकी दिव्यध्वनि निमित्तमात्र है; तथा उस ओरका रागविकल्पको भी टाल करके जीव जब परमपारिणामिकभावका (ज्ञायकभावका) आश्रय लेता है तब उसके धर्म प्रगट होता है और उस समय रागका अवलंबन छूट जाता है। धर्म प्रगट होनेके पूर्व राग किस दिशामें ढला था यह बतानेके लिए देवगुरुशास्त्र या दिव्यध्वनि इत्यादिकको निमित्त कहनेमें आते हैं, परन्तु निमित्तकी मुख्यतासे किसी भी समय धर्म होता है यह बतानेके लिये निमित्तका ज्ञान नहीं कराया जाता।

किसी समय उपादान कारणकी मुख्यतासे धर्म होता है और किसी समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे धर्म होता है–अगर ऐसा मान लिया जाय तो धर्मकरनेके लिये कोई त्रिकालवर्ती अबाधित नियम नहीं रहेगा, और यदि कोई नियमरूप सिद्धान्त न हो तो धर्म किस समय उपादान कारणकी मुख्यतासे होगा और किस समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे होगा यह निश्चित् न होनेसे जीव कभी धर्म नहीं कर सकेगा।

धर्म करनेके लिये त्रैकालिक एकरूप नियम न हो ऐसा नहीं हो सकता, इसलिये यह समझना चाहिये कि जो जीव पहिले धर्मको प्राप्त हुए हैं, वर्तमानमें धर्मको प्राप्त हो रहे हैं और भविष्यमें धर्मको प्राप्त करेंगे उन सबके पारिणामिकभावका ही आश्रय है, किसी अन्यका नहीं।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव ही सम्यग्दर्शन होनेके बाद सच्चे देव गुरु शास्त्रका अवलंबन लेते हैं और उसके आश्रयसे उन्हें धर्म प्राप्त होता है तो वहाँ निमित्तकी मुख्यतासे धर्मका कार्य हुआ या नहीं?

उत्तर—नहीं, निमित्तकी मुख्यतासे कहीं भी कोई कार्य होता ही नहीं है। सम्यग्दृष्टिके जो राग और रागका अवलंबन है उसका भी खेद रहता है, सच्चे देवगुरु या शास्त्रका भी कोई जीव अवलंबन ले ही नहीं सकता, क्योंकि वह भी परद्रव्य है, फिर भी जो यह कहा जाता है कि–ज्ञानीजन सच्चे देवगुरु शास्त्रका अवलंबन लेते हैं सो यह उपचार कथनमात्र है, वास्तवमें परद्रव्यका अवलंबन नहीं, किन्तु वहाँ अपनी अशुद्ध अवस्थारूप रागका ही अवलंबन है।

अब जो उस शुभभावके समय सम्यग्दृष्टिके शुद्ध भाव बढ़ता है वह अभिप्रायमें परमपारिणामिकभावका आश्रय है उसीके बलसे बढ़ता है। अन्य प्रकारसे कहा जाय तो सम्यग्दर्शनके बलसे वह शुद्धभाव बढ़ते हैं किन्तु शुभराग या परद्रव्यके अवलंबनसे शुद्धता नहीं बढ़ती।

प्रश्न–देव गुरु शास्त्रको निमित्तमात्र कहा है और उनके अवलंबनको उपचारमात्र कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तरः—इस विश्वमें अनन्त द्रव्य हैं, उनमेंसे रागके समय छद्मस्थ जीवका झुकाव किस द्रव्यकी ओर हुआ यह बतानेके लिये उस द्रव्यको 'निमित्त' कहा जाता है। जीव अपनी योग्यतानुसार जैसा परिणाम (-कार्य) करता है वैसा अनुकूल निमित्तपनेका परद्रव्यमें उपचार किया जाता है इस-प्रकार जीव शुभरागका आलंबन करे तो देव-गुरु शास्त्र निमित्तमात्र है और उसका आलंबन उपचारमात्र है।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध जीवको सच्चा ज्ञान करनेके लिये है, ऐसी मिथ्या मान्यता करनेके लिये नहीं कि—'धर्म करनेमें किसीसमय निमित्त की मुख्यता होती है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहते हैं उन्हें स्वतंत्रता-रूप निमित्त नैमित्तिक संबंधके स्वरूपका यथार्थज्ञान कर लेना चाहिये। उस ज्ञानकी आवश्यकता इसलिये है कि—यदि वह ज्ञान न हो तो जीवका ऐसा अन्यथा झुकाव बना रह सकता है कि-किसीसमय निमित्तकी मुख्यता से भी कार्य होता है, और इससे उसका अज्ञानपना दूर नहीं होगा। और इस निमित्ताधीनदृष्टि; पराधीनता स्वीकार करनेवाली संयोगदृष्टि है जो संसारका मूल है इससे उसके अपार संसार भ्रमण चलता रहेगा।

६. इन पाँच भावोंके साथ इस अध्यायके सूत्र कैसे संबंध रखते हैं, इसका स्पष्टीकरण

सूत्र–१. यह सूत्र पाँचों भाव बतलाता है, उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके विषयरूप अपने पारिणामिक भावके आश्रयसे ही धर्म होता है।

सूत्र २–६. यह सूत्र पहिले चार भावोंके भेद बतलाते हैं। उनमेंसे तीसरे सूत्रमें औपशमिकभावके भेदोंका वर्णन करते हुए पहिले सम्यक्त्व लिया है, क्योंकि धर्मका प्रारंभ औपशमिक सम्यक्त्वसे होता है; सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद आगे बढने पर कुछ जीवोंके औपशमिक चारित्र होता है इसलिये दूसरा औपशमिक चारित्र कहा है। इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई औपशमिक भाव नहीं है। [सूत्र ३]

जो जो जीव धर्मके प्रारम्भमें प्रगट होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्वको पारिणामिकभावके आश्रयसे प्राप्त करते हैं वे अपनेमें शुद्धिको बढ़ाते बढ़ाते अन्तमें संपूर्ण शुद्धता प्राप्त कर लेते हैं, इसलिये उन्हें सम्यक्त्व और चारित्र की पूर्णता होनेके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—गुणोंकी पूर्णता प्रगट होती है। इन नौ भावोंकी प्राप्ति क्षायिकभावसे पर्यायमें होती है, इसलिये फिर कभी विकार नहीं होता और वे जीव अनन्त काल तक प्रतिसमय संपूर्ण आनन्द भोगते हैं, इसलिये चौथे सूत्रमें वह नौ भाव बतलाये हैं। उन्हें नव लब्धि भी कहते हैं।

सम्यक्ज्ञानका विकास कम होनेपर भी सम्यग्दर्शन-सम्यग्चारित्रके बलसे वीतरागता प्रगट होती है, इसलिये उन दो शुद्ध पर्यायोंके प्रगट होनेके बाद शेष सात क्षायिक पर्यायें एक साथ प्रगट होती हैं, तब सम्यग्ज्ञानके पूर्ण होनेपर केवलज्ञान भी प्रगट होता है। [सूत्र ४]

जीवमें अनादिकालसे विकार बना हुआ है फिर भी उसके ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुण सर्वथा नष्ट नहीं होते, उनका विकाश कम बढ़ अंशत रहता है। उपशम सम्यक्त्व द्वारा अनादिकालीन अज्ञानको दूर करनेके बाद साधक जीवको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, और उन्हें क्रमश चारित्र प्रकट होता है, वे सब क्षायोपशमिकभाव हैं। [सूत्र ५]

जीव अनेक प्रकारका विकार करता है और उसके फलस्वरूप चतु र्गतिमें भ्रमण करता है, उसमें उसे स्वस्वरूपकी विपरीत श्रद्धा, विपरीतज्ञान और विपरीत प्रवृत्ति होती है, और इसीसे उसे कषाय भी होती है। और फिर सम्यग्ज्ञान होनेके बाद पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व आंशिक कषाय होती है जिससे उसकी मिश्र २ लेश्याएँ होती हैं। जीव स्वलक्ष्यको छोड़कर परलक्ष करता है इसलिये यह विकार होते हैं; उसे औदयिकभाव कहते हैं। मोह संबंधी यह भाव ही संसार है। [सूत्र ६]

सूत्र ७—जीवमें शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो प्रकारके पारिणामिकभाव हैं। [सूत्र ७ तथा उसके नीचेकी टीका]

सूत्र—८-९— जीवका लक्षण उपयोग है छद्मस्थ जीवका ज्ञानदर्शन का उपयोग क्षायोपशमिक होनेसे अनेकरूप और कम बढ़ होता है, और केवलज्ञान क्षायिकभावसे प्रगट होनेसे एकरूप और पूर्ण होता है। [सूत्र ८-९]

सूत्र १०—जीवके दो भेद हैं संसारी और मुक्त। उनमेंसे अनादि अज्ञानी संसारी जीवके तीन भाव (औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक) होते हैं। प्रथम धर्म प्राप्त करने पर चार (औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक) भाव होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेके बाद उपशमश्रेणी मांडनेवाले जीवके पाँचों भाव होते हैं और मुक्त जीवोंके क्षायिक तथा पारिणामिक दो ही भाव होते हैं। [सूत्र १०]

सूत्र ११—जीवने स्वयं जिसप्रकारके ज्ञान, वीर्यादिके विकाश की योग्यता प्राप्त की होती है उस क्षायोपशमिकभावके अनुकूल जड़ मनका सद्भाव या अभाव होता है। जब जीव मनकी ओर अपना उपयोग लगाते हैं तब उन्हें विकार होता है, क्योंकि मन पर वस्तु है। और जब जीव अपना पुरुषार्थ मनकी ओर लगाकर ज्ञान या दर्शन का व्यापार करते हैं तब द्रव्यमन पर निमितत्वका आरोप आता है। वैसे द्रव्यमन कोई हानि या लाभ नहीं करता क्योंकि वह परद्रव्य है। [सूत्र ११]

सूत्र १२-२०—अपने क्षायोपशमिक ज्ञानादिके अनुसार और नामकर्मके उदयानुसार ही जीव संसारमें त्रस या स्थावर दशाको प्राप्त होता है। इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके अनुसार जीवकी दशा होती है। पहिले जो नामकर्म बँधा था उसका उदय होनेपर त्रस या स्थावरत्वका तथा जड़ इन्द्रियों और मनका संयोग होता है। [सूत्र १२ से १७ तथा १९ से २०]

ज्ञानके क्षायोपशमिकभावके लब्धि और उपयोग दो प्रकार हैं। [सूत्र १८]

सूत्र २१ से ५३—संसारी जीवोंके औदयिकभाव होने पर जो कर्म एक क्षेत्रावगाहरूपसे बँधते हैं उनके उदयका निमित्त-नैमित्तिक संबंध— जीवके

क्षायोपशमिक तथा औदयिकभावके साथ तथा मन, इन्द्रिय, शरीर, कर्म, नये भवके लिये क्षेत्रान्तर, आकाशकी श्रेणी, गति, नो कर्मका समय समय ग्रहण, तथा उनका अभाव, जन्म, योनि, तथा आयुके साथ– कैसा होता है यह बताया है। [सूत्र २१ से २६ तथा २८ से ५३]

सिद्धदशाके होनेपर जीवका आकाशकी किसी श्रेणीके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है यह २७ वें सूत्रमें बताया है। [सूत्र २७]

इससे यह समझना चाहिये कि जीवको विकारी या अविकारी अवस्थामें जिन परवस्तुओंके साथ संबंध होता है उन्हें जगतकी अन्य परवस्तुओंसे पृथक् समझनेके लिये उतने ही समयके लिये उन्हें 'निमित्त' नाम देकर संबोधित किया जाता है, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि निमित्तकी मुख्यतासे किसी भी समय कार्य होता है। इस अध्यायका २७ वाँ सूत्र इस सिद्धान्तको स्पष्टतया सिद्ध करता है। मुक्त जीव स्वयं लोकाकाशके अग्रभागमें जानेकी योग्यता रखते हैं और तब आकाशकी जिस श्रेणीमेंसे वे जीव पार होते हैं उस श्रेणीको आकाशके अन्य भागोंसे तथा जगतके दूसरे समस्त पदार्थोंसे पृथक् करके पहिचाननेके लिये 'निमित्त' नाम (आरोपित करके) दिया जाता है।

७ निमित्त-नैमित्तिक संबंध

यह संबंध २६—२७ वें सूत्रमें चमत्कारिक ढंगसे अत्यल्प शब्दोंमें कहा गया है। वह यहाँ बतलाया जाता है—

१—जीवकी सिद्धावस्थाके प्रथम समयमें वह लोकके अग्रभागमें सीधी आकाश श्रेणीसे मोड़ा लिये बिना ही जाता है यह सूत्र २६—२७ में प्रतिपादन किया गया है। जिस समय जीव लोकाग्रमें जाता है उस समय वह जिस आकाश श्रेणीमें से जाता है उसी क्षेत्रमें धर्मास्तिकायके और अधर्मास्तिकायके प्रदेश हैं, अनेक प्रकारकी पुद्गल वर्गणाएं हैं, पृथक् परमाणु हैं, सूक्ष्म स्कंध हैं, कालाणुद्रव्य हैं, महास्कंधके प्रदेश हैं, निगोदके जीवों के तथा उनके शरीरके प्रदेश हैं तथा लोकान्तमें (सिद्धशिलासे ऊपर)

पहिले मुक्त हुए जीवोंके कितने ही प्रदेश हैं, उन सबमें से पार होकर जीव लोकके अग्रभागमें जाता है। इसलिये अब उसमें उस आकाश श्रेणीमें निमित्तत्वका आरोप आया और दूसरोंमें नहीं आया इसके कारणकी जाँच करने पर मालूम होता है कि वह मुक्त होनेवाला जीव किस आकाशश्रेणीमें से होकर जाता है इसका ज्ञान करानेके लिये उस 'आकाशश्रेणी' को निमित्त संज्ञा दी गई है; क्योंकि पहिले समयकी सिद्धदशाको आकाशके साथका संबंध बतानेके लिये उस श्रेणीका भाग ही अनुकूल है, अन्य द्रव्य, गुण या पर्याय उसके लिये अनुकूल नहीं है।

२—सिद्धभगवानके उस समयके ज्ञानके व्यापारमें सम्पूर्ण-आकाश तथा दूसरे सब द्रव्य, उसके गुण तथा उसकी त्रिकालवर्ती पर्यायें ज्ञेय होती हैं इसलिये उसी समय ज्ञानमात्रके लिये वे सब ज्ञेय 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

३—सिद्धभगवानके उससमयके परिणमनको काल द्रव्यकी वही समय की पर्याय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होती है, क्योंकि परिणमनमें वह अनुकूल है, दूसरे अनुकूल नहीं हैं।

४—सिद्धभगवानकी उस समयकी क्रियावतीशक्तिके गति परिणाम को तथा ऊर्ध्वगमन स्वभावको धर्मास्तिकायके किसी आकाश क्षेत्रमें रहने वाले प्रदेश उसी समय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं, क्योंकि गतिमें वही अनुकूल हैं, दूसरे नहीं।

५-सिद्धभगवानके ऊर्ध्वगमनके समय दूसरे द्रव्य (जो कि आकाश क्षेत्रमें हैं वे तथा शेष द्रव्य) भी 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं, क्योंकि उन सब द्रव्योंका यद्यपि सिद्धावस्थाके साथ कोई संबंध नहीं है तथापि विश्वको सदा शाश्वत रखता है इतना बतानेके लिए वह अनुकूल निमित्त है।

६—सिद्धभगवानकी संपूर्ण शुद्धताके साथ कर्मोंका अभावसंबंध है, इतनी अनुकूलता बतानेके लिये कर्मोंका अभाव भी 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होता है, इसप्रकार अस्ति और नास्ति दोनों प्रकारसे निमित्तत्वका आरोप

किया जाता है। किन्तु निमित्तको किसी भी प्रकारसे मुख्य रूपसे या गौणरूप से कार्यसाधक मानना गंभीर भूल है। शास्त्रीय परिभाषामें उसे मिथ्यात्व और अज्ञान कहा जाता है।

७—निमित्त जनक और नैमित्तिक-जन्य है, इसप्रकार जीव अज्ञान दशामें मानता है, इसलिये अज्ञानियोंकी कैसी मान्यता होती है यह बतानेके लिये व्यवहारसे निमित्तको जनक और नैमित्तिकको जन्य कहा जाता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानते। उनका यह ज्ञान सच्चा है यह उपरोक्त पाँचवाँ पैरा बतलाते हैं, क्योंकि उसमें बताये गये अनंत निमित्त या उनमेंका कोई अंश भी सिद्ध दशाका जनक नहीं हुआ। और वे निमित्त या उनमेंसे किसीके अनंतवें अंशसे भी नैमित्तिक सिद्धदशा जन्य नहीं हुई।

८—संसारी जीव भिन्न २ गतिके क्षेत्रोंमें जाते हैं वे भी अपनी क्रियावतीशक्तिके उस उस समयके परिणमनके कारणसे जाते हैं, उसमें भी उपरोक्त पैरा १ से ५ में बताये गये अनुसार निमित्त होते हैं। किन्तु क्षेत्रान्तरमें धर्मास्तिकायके प्रदेशोंकी उस समयकी पर्यायके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य, गुण या पर्याय निमित्त संज्ञाको प्राप्त नहीं होता। उस समय अनेक कर्मोंका उदय होने पर भी एक विहायोगति नामकर्मका उदय ही 'निमित्त' संज्ञा पाता है। गत्यानुपूर्वी कर्मके उदयको जीवके प्रदेशोंके उस समयके आकारके साथ क्षेत्रान्तरके समय निमित्तत्व है और जब जीव जिस क्षेत्रमें स्थिर हो जाता है उस समय अधर्मास्तिकायके उस क्षेत्रके प्रदेशोंकी उस समयकी पर्याय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होती है।

सूत्र २७ बतलाता है कि क्रियावती शक्तिके उस समयके परिणमनके समय योग गुणकी जो पर्याय पाई जाती है उसमें कार्मण शरीर निमित्त है, क्योंकि कार्मण शरीरका उदय उसके अनुकूल है। कार्मण शरीर और तैजस शरीर अपनी क्रियावतीशक्तिके उस समयके परिणमनके कारण जाता है, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है।

९—इस शास्त्रमें निमित्तको किसी स्थान पर 'निमित्त,' नामसे ही कहा गया है। [देखो अ० १ सू० १४] और किसी स्थान पर उपकार, उपग्रह, इत्यादि नामसे कहा गया है, [देखो अ० ५ सू० १७-से २०], भाव अपेक्षामें उसका एक ही अर्थ होता है, किन्तु अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका भला-बुरा होना है; यह बतानेके लिए उसे 'उपकार' सहायक, बलाधान, बहिरंगसाधन; बहिरंगकारण, निमित्त और निमित्तकारण इत्यादि नामसे संबोधित करते हैं; किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि वे वास्तविक कारण या साधन हैं। एक द्रव्यको, उसके गुणोंको या उसकी पर्यायोंको दूसरेसे पृथक् करके दूसरेके साथका उसका संयोगमात्र संबंध बतानेके लिये उपरोक्त नामोंसे संबोधित किया जाता है। इन्द्रियोंको धर्मास्तिकायको, अधर्मास्तिकाय इत्यादिको, बलाधानकारणके नामसे भी पहिचाना जाता है; किन्तु वह कोई भी सच्चा कारण नहीं है; फिर भी 'किसी भी समय उनकी मुख्यतासे कोई कार्य होता है' ऐसा मानना निमित्तको ही उपादान माननेके बराबर अथवा व्यवहारको ही निश्चय माननेके बराबर है।

१०—उपादानकारणके योग्य निमित्त संयोगरूपसे उस उस समय अवश्य होते हैं। ऐसा संबंध उपादान कारणकी उस समयकी परिणमन शक्तिको, जिस पर निमित्तत्वका आरोप आता है उसके साथ हैं। उपादानको अपने परिणमनके समय उन उन निमित्तोंके आनेके लिये राह देखनी पड़े और वे न आयें तबतक उपादान नहीं परिणमता, ऐसी मान्यता उपादान और निमित्त इन दो द्रव्योंको एकरूप माननेके बराबर है।

११—इसीप्रकार घड़ेका कुम्भकारके साथ और रोटीका अग्नि, रसोइया इत्यादिके साथका निमित्त नैमित्तिक संबंध समझ लेना चाहिये। सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये जीवने स्वयं अपने पुरुषार्थसे पात्रता प्राप्त की हो फिर भी उसे सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये सद्गुरुकी राह देखनी पड़े ऐसा नहीं होता, किन्तु वह संयोगरूपसे उपस्थित होता ही है; इसीलिये जब बहुत

से जीव धर्म प्राप्त करनेके लिये तैयार होते हैं तब तीर्थंकर भगवानका जन्म होता है और वे योग्य समयमें केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं तथा उनकी दिव्य ध्वनि स्वयं प्रगट होती है, ऐसा समझना चाहिये।

८. तात्पर्य

तात्पर्य यह है कि–इस अध्यायमें कहे गये पाँच भाव तथा उनके दूसरे द्रव्योंके साथके निमित्त नैमित्तिक सम्बंधका ज्ञान करके अन्य सब परसे लक्ष हटाकर परमपारिणामिकभावकी ओर अपनी पर्यायको उन्मुख करने पर सम्यग्दर्शन होता है और फिर उस ओर बल बढ़ाने पर सम्यक्चारित्र होता है, यही धर्ममार्ग (मोक्षमार्ग) है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित
मोक्षशास्त्रके दूसरे अध्यायकी
टीका समाप्त हुई।



❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्षशास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका



तृतीय अध्याय



टीका समाहक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

अध्याय तीसरा

भूमिका

इस शास्त्रके पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है' यह बतलाया है,—दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इससे यहाँ यह भी बतलाया है कि पुण्यसे, शुभभावसे अथवा परवस्तु अनुकूल हो तो धर्म हो सकता है ऐसा मानना भूल है। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र आत्माकी शुद्ध पर्याय है। यदि उसे एक शब्दमें कहा जाय तो 'सत्य पुरुषार्थ' मोक्षमार्ग है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माकी अपनी शुद्ध परिणति ही धर्म है, यह बतलाकर अनेकान्त स्वरूप बतलाया है। प्रथम सूत्रमें जो पहिला शब्द 'सम्यग्दर्शन' कहा है वह सूचित करता है कि धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे ही होता है। उस अध्यायमें सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्वार्थ श्रद्धान कहा है। तत्पश्चात् तत्त्वार्थका स्वरूप समझाया है और सम्यग्ज्ञानके अनेक प्रकार बतलाकर मिथ्याज्ञानका स्वरूप भी समझाया है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता (–एक ही) मोक्षमार्ग है,–इसप्रकार पहिले सूत्रमें स्पष्टतया बतलाकर घोषित किया है कि—किसी समय उपादानकी परिणतिकी मुख्यता से कार्य होता है और किसीसमय संयोगरूप बाह्य अनुकूल निमित्तकी (जिसे उपचार कारण कहा जाता है उसकी) मुख्यतासे कार्य होता है—ऐसा अनेकान्तका स्वरूप नहीं है।

दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका अधिकार प्रारम्भ किया है, उसमें जीव के स्वतत्त्वरूप-निजतत्त्वरूप पाँचभाव बतलाये हैं। उन पाँच भावोंमेंसे सकल-निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिकपरम भाव, (ज्ञायकभाव) के आश्रयसे धर्म होता है यह बतलानेके लिये, औपश मिकभाव जो कि धर्मका प्रारम्भ है उसे पहिलेभावके रूपमें वर्णन किया है।

तत्पश्चात् जीवका लक्षण उपयोग है यह बतलाकर उसके भेद बतलाये हैं; और यह बतलाया है कि पांचभावोंके साथ परद्रव्योंका—इन्द्रिय इत्यादिका कैसा संबंध होता है।

जीवका औदयिकभाव ही संसार है। शुभभावका फल देवत्व है, अशुभभावकी तीव्रताका फल नारकीपन है, शुभाशुभभावोंकी मिश्रताका फल मनुष्यत्व है, और मायाका फल तिर्यंचपना है, जीव अनादिकालसे अज्ञानी है इसलिये अशुद्धभावोंके कारण उसका भ्रमण हुआ करता है वह भ्रमण कैसा होता है यह तीसरे और चौथे अध्यायमें बतलाया है। उस भ्रमणमें (भवोंमें) शरीरके साथ तथा क्षेत्रके साथ जीवका किस प्रकारका संयोग होता है वह यहाँ बताया जारहा है। मांस, शराब, इत्यादिके खानपानके भाव, कठोर झूंठ, चोरी, कुशील, तथा लोभ इत्यादिके तीव्र अशुभभावके कारण जीव नरकगतिको प्राप्त करता है उसका इस अध्यायमें पहिले वर्णन किया है और तत्पश्चात् मनुष्य तथा तिर्यंचोंके क्षेत्रका वर्णन किया है।

चौथे अध्यायमें देवगतिसे संबंध रखनेवाले विवरण बताये गये हैं।

इन दो अध्यायोंका सार यह है कि—जीवके शुभाशुभ विकारीभावोंके कारण जीवका अनादिकालसे परिभ्रमण होरहा है उसका, मूलकारण मिथ्यादर्शन है, इसलिये भव्यजीवोंको मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। सम्यग्दर्शनका बल ऐसा है कि उससे क्रमशः सम्यक्चारित्र बढ़ता जाता है और चारित्रकी पूर्णता करके परम यथाख्यातचारित्रकी पूर्णता करके, जीव सिद्ध गतिको प्राप्त करता है। अपनी भूलके कारण जीवकी कैसी कैसी गति हुई तथा उसने कैसे कैसे दुःख पाये और बाह्य संयोग कैसे तथा कितने समय तक रहे यह बतानेके लिये अध्याय २-३-४ कहे गये हैं। और उस भूलको दूर करनेका उपाय पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें बतलाया गया है।

अधोलोकका वर्णन

सात नरक-पृथिवियाँ

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥

* अर्थः—अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा ये सात भूमियाँ हैं और क्रमसे नीचे २ घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय तथा आकाशका आधार है।

टीका

१ रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। उनमें से ऊपरके पहिले दो भागोंमें व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं, और नीचेके अब्बहुलभागमें नारकी रहते हैं। इस पृथ्वीका कुल विस्तार एक लाख अस्सी हजार योजन है। [२००० कोषका एक योजन होता है।]

२ इन पृथ्वियोंके रूढ़िगत नाम ये हैं—१-घम्मा, २-वंशा, ३-मेघा, ४-अंजना, ५-अरिष्टा, ६-मघवी और ७-माघवी है।

३ अम्बु (घनोदधि) वातवलय = वाष्पका घना वातावरण,
घनवातवलय = घनी हवाका वातावरण।
तनुवातवलय = पतली हवाका वातावरण।
वातवलय = वातावरण।

'आकाश' कहने से यहां अलोकाकाश समझना चाहिए ॥ १ ॥

---

* इस अध्यायमें भूगोल सबधी वर्णन होने से, पहिले दो अध्यायोंकी भांति सूत्रके शब्द पृथक् करके अर्थ नहीं दिया गया है किन्तु पूरे सूत्रका सीधा अर्थ दिया गया है।

सात पृथ्वियोंके बिलोंकी संख्या

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरक-शतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उन पृथ्वियोंमें क्रमसे पहिली पृथ्वीमें तीस लाख, दूसरीमें २५ लाख, तीसरीमें १५ लाख, चौथीमें १० लाख, पाँचवींमें ३ लाख, छट्ठीमें पांच कम एक लाख (९९९९५) और सातवींमें ५ ही नरक बिले हैं। कुल ८४ लाख नरकवास बिल हैं।

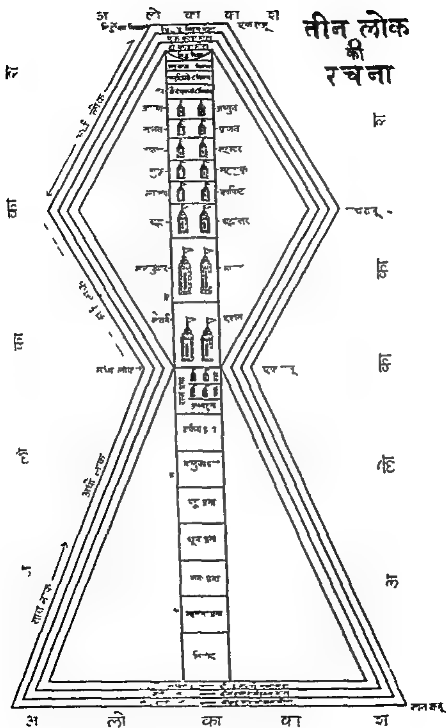
टीका

कुछ लोग मनुष्यगति और तिर्यंचगति यह दो ही गतियाँ मानते हैं क्योंकि वे दो प्रकारके जीवोंको ही देखते हैं। उनका ज्ञान संकुचित होनेसे वे ऐसा मानते हैं कि मनुष्य और तिर्यंचगतिमें जो तीव्र दुःख है वही नरकगति है दूसरी कोई नरकगति वे लोग नहीं मानते। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि मनुष्य और तिर्यंचगतिसे जुदी ऐसी नरकगति उन जीवों के अशुभभावका फल है। उसके अस्तित्वका प्रमाण निम्नप्रकार हैः—

नरकगतिका प्रमाण

जो जीव अति कठोर भयंकर दुष्कृत्य करते हैं और यह देखने की आवश्यकता नहीं समझते कि स्वयं पाप कार्य करते समय दूसरे जीवोंको क्या दुःख होता है तथा जो अपनी अनुकूलतावाली एक पक्षकी दुष्ट बुद्धिमें एकाग्र रहते हैं उन जीवोंको उन क्रूर परिणामोंके फलरूप निरंतर अनंत प्रतिकूलताएँ भोगनेके स्थान अधोलोकमें हैं, उसे नरकगति कहते हैं।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक, यह चार गतियाँ सदा विद्यमान हैं, वे कल्पित नहीं किन्तु जीवोंके परिणामका फल हैं। जिसने दूसरेको मारडालनेके क्रूरभाव किये उसके भावमें, अपनी अनुकूलताके सिद्ध करनेमें बाधा डालनेवाले कितने जीव मार डाले जायें जिनकी संख्याकी कोई मर्यादा नहीं है, तथा कितने काल तक मारे जायें उसकी भी मर्यादा नहीं है इसलिये


तीन लोक
की
रचना
अ लो का का श
अ लो का का श

उसका फल भी अपार अनत दु ख भोगनेका ही है, ऐसा स्थान नरक है, मनुष्यलोकमें ऐसा कोई स्थान नहीं है।

जो दूसरोंको मारकर प्रतिकूलताको दूर करना चाहते है वे जितने विरोधी मालूम होते हैं उन सबको मारना चाहते है, फिर चाहे प्रतिकूलता करनेवाले दो चार हो या बहुत हो उन सबका नाश करनेकी भावनाका सेवन निरतर करता है। उसके अभिप्रायमें अनतकाल तक अनन्तभव धारण करने के भाव भरे पडे है। उस भवकी अनन्तसख्याके कारणमें अनन्त जीवोंको मारनेका ~ सहार करनेका अमर्यादित पाप भाव है। जिस जीवने कारणमें अनन्तकाल तक अनन्त जीवोंको मारनेके, बाधा डालनेके भाव सेये है उसके फलमें उस जीवको तीव्र दु खोंके सयोगमें जाना पडता है, और वह नरकगति है। लाखों खून (~हत्या) करनेवालेको लाखों बार फॉसी मिलती हो ऐसा इस लोकमें नहीं होता, इसलिये उसे अपने क्रूरभावोंके अनुसार पूरा फल नहीं मिलता, उसे अपने भावोंका पूरा फल मिलनेका स्थान—बहुतकालतक अनन्त दु ख भोगनेका क्षेत्र नरक है, वह नीचे शाश्वत है ॥ २ ॥

नारकियोंके दुःखोंका वर्णन

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम-देहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

अर्थ—नारकी जीव सदेव ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना, और विक्रियाको धारण करते है।

टीका

१. लेश्या—यह द्रव्यलेश्याका स्वरूप है जो कि आयु पर्यन्त रहती है। यहाँ शरीरके रगको द्रव्यलेश्या कहा है। भावलेश्या अतर्मुहूर्तमें बदल जाती है उसका वर्णन यहाँ नहीं है। अशुभलेश्याके भी तीन प्रकार हैं कापोत, नील और कृष्ण। पहिली और दूसरी पृथ्वीमें, कापोतलेश्या, तीसरी पृथ्वीमें ऊपरके भागमें कापोत और नीचेके भागमें नील, चौथीमें

नील, पांचवींमें ऊपरके भागमें नील और नीचेके भागमें कृष्ण और छट्टवीं तथा सातवीं पृथ्वीमें कृष्णलेश्या होती है।

२. परिणाम—यहाँ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दको परिणाम कहा है।

३. शरीर—पहिली पृथ्वीमें शरीरकी ऊँचाई ७ धनुष्य ३ हाथ और ६ अंगुल है, वह हुंडक आकारमें होता है। तत्पश्चात् नीचे २ की पृथ्वीके नारकियोंके शरीर की ऊँचाई क्रमशः दुनी दूनी है।

४. वेदना—पहिलेसे चौथे नरक तक उष्ण वेदना है, पांचवेंके ऊपरी भागमें उष्ण और नीचले भागमें शीत है, तथा छट्टे और सातवेंमें महाशीत वेदना है। नारकियों का शरीर वैक्रियिक होनेपर भी उसके शरीरके वैक्रियिक पुद्गल मल, मूत्र, कफ, वमन, सड़ा हुआ मांस, हाड़ और चमड़ी वाले औदारिक शरीरसे भी अत्यन्त अशुभ होता है।

५. विक्रिया—उन नारकियोंके क्रूर सिंह व्याघ्रादिरूप अनेक प्रकारके रूप धारण करनेकी विक्रिया होती है॥ ३॥

नारकी जीव एक दूसरेको दुःख देते हैं

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

अर्थ—नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दुःख उत्पन्न करते हैं (—वे कुत्तेकी भाँति परस्पर लड़ते हैं)॥ ४॥

विशेष दुःख

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

अर्थ—और उन नारकियोंके चौथी पृथ्वीसे पहिले पहिले (अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यंत) अत्यन्त्य संक्लिष्ट परिणामके धारक अंब अम्बरिष आदि जातिके असुरकुमार देवोंके द्वारा दुःख पाते हैं अर्थात् अंब—अंबरिष असुर-कुमारदेव तीसरे नरक तक जाकर नारकी जीवोंको दुःख देते हैं तथा उनके

पूर्वके वैरका स्मरण करा कराके परस्परमें लडाते हैं। और दुःखी देख राजी होते हैं।

सूत्र ३४५ में नारकियोंके दुःखोंका वर्णन करते हुए उनके शरीर, उनका रंग, स्पर्श इत्यादि तथा दूसरे नारकियों और देवोंके दुःखका कारण कहा है यह उपचार कथन है, वास्तवमें वे कोई परपदार्थ दुःखोंके कारण नहीं हैं तथा उनका संयोगसे दुःख नहीं होता। परपदार्थोंके प्रति जीवकी एकत्वबुद्धि ही वास्तवमें दुःख है उस दुःखके समय, नरकगतिमें निमित्तरूप बाह्य संयोग कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिए यहाँ तीन सूत्र कहे हैं, परंतु यह नहीं समझना चाहिये कि–वे शरीरादि वास्तवमें दुःखके कारण हैं।

नारकोंकी उत्कृष्ट आयु का प्रमाण

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रय- स्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ—उन नरकोंके नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रमसे पहिलेमें एक सागर, दूसरेमें तीन सागर, तीसरेमें सात सागर, चौथेमें दश-सागर, पांचवेंमें सत्रह सागर, छट्ठेमें बावीस सागर और सातवेंमें तेतीस सागर है।

टीका

१ नारक गतिमें भयानक दुःख होनेपर भी नारकियों की आयु निरुपक्रम है उनकी अकालमृत्यु नहीं होती।

२ आयु का यह काल वर्तमान मनुष्योंकी आयुकी अपेक्षा लम्बा लगता है परन्तु जीव अनादिकालसे है और मिथ्यादृष्टिपनके कारण यह नारकीपणा जीवने अनन्तवार भोगा है। अध्याय २ सूत्र १० की टीकामें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावपरिभ्रमण (परावर्तन) का जो स्वरूप दिया गया है उसके देखनेसे मालूम होगा कि यह काल तो महासागर की एक बूंदसे भी बहुत कम है।

३. नारकी जीवोंको जो भयानक दुःख होने हैं उसके वास्तविक कारण, भयानक शरीर, वेदना, मारपीट, तीव्र उष्णता तीव्र शीतलता इत्यादि नहीं हैं; परन्तु मिथ्यात्व के कारण उन संयोगोंके प्रति अनिष्टपनेकी खोटी कल्पना करके जीव तीव्र आकुलता करता है उसका दुःख है। पर-संयोग अनुकूल-प्रतिकूल होता ही नहीं, परन्तु वास्तवमें जीवके ज्ञानके क्षयोपशम उपयोगके अनुसार ज्ञेय (-ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य) पदार्थ हैं; उन पदार्थोंको देखकर जब अज्ञानी जीव दुःखकी कल्पना करता है तब परद्रव्योंपर यह आरोप होता है कि—वे दुःखमें निमित्त हैं।

४ शरीर चाहे जितना खराब हो, खानेको भी न मिलता हो, पीनेको पानी भी न मिलता हो, तीव्र गर्मी या ठंड हो, और बाह्य संयोग (अज्ञानदृष्टिसे) चाहे जितने प्रतिकूल हों परन्तु वे संयोग जीवको सम्यग्दर्शन (धर्म) करनेमें बाधक नहीं होते, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कभी बाधा नहीं डाल सकता, नरकगतिमें भी पहिलेसे सातवें नरकतक ज्ञानी पुरुषके सत्समागमसे पूर्वभवमें सुने गये आत्मस्वरूपके संस्कार ताजे करके नारकी जीव सम्यग्दर्शन प्रकट करते हैं। तीसरे नरकतकके नारकी जीवोंको पूर्वभव का कोई सम्यग्ज्ञानी मित्र आत्मस्वरूप समझाता है तो उसके उपदेशको सुनकर यथार्थ निर्णय करके वे जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

५. इससे सिद्ध होता है कि--"जीवोंका शरीर अच्छा हो, खाना पीना ठीक मिलता हो और बाह्य संयोग अनुकूल हो, तो धर्म हो सकता है और उनकी, प्रतिकूलता होने पर जीव धर्म नहीं कर सकता"—यह मान्यता ठीक नहीं है। परको अनुकूल करनेमें प्रथम लक्ष रोकना और उसके अनुकूल होनेपर धर्मको समझना चाहिये,—इस मान्यता में भूल है, क्योंकि धर्म पराधीन नहीं किन्तु स्वाधीन है और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रगट किया जा सकता है।

६. प्रश्न — यदि बाह्य संयोग और कर्मोंका उदय धर्ममें बाधक नहीं है तो नारकी जीव चौथे गुणस्थानसे ऊपर क्यों नहीं जाते ?

उत्तर—पहिले उन जीवोंने अपने पुरुषार्थ की बहुत बहुत विपरीतता की है और वे वर्तमानमें अपनी भूमिकाके अनुसार मंद पुरुषार्थ करते हैं इसलिये उन्हें ऊपर चढ़नेमें विलम्ब होता है।

७. प्रश्न—सम्यग्दृष्टिको नरकमें कैसा दुःख होता है?

उत्तर—नरक या किसी क्षेत्रके कारण किसी भी जीवको सुख दुःख नहीं होता किन्तु अपनी नासमझीके कारण दुःख और अपनी सच्ची समझके कारण सुख होता है किसी को पर वस्तुके कारण सुखदुःख या हानि लाभ हो ही नहीं सकता। अज्ञानी नारकी जीवको जो दुःख होता है वह अपनी विपरीत मान्यतारूप दोषके कारण होता है, बाह्य संयोगके अनुसार या संयोगके कारण दुःख नहीं होता। अज्ञानी जीव परवस्तुको कभी प्रतिकूल मानते हैं और इसलिये वे अपनी अज्ञानताके कारण दुःखी होते हैं, और कभी पर वस्तुएँ अनुकूल हैं ऐसा मानकर सुखकी कल्पना करते हैं, इसलिये अज्ञानी जीव परद्रव्योंके प्रति इष्टत्व अनिष्टत्वकी कल्पना करते हैं।

सम्यग्दृष्टि नारकी जीवोंके अनंत संसारका बंधन करनेवाली कषाय दूर होगई है स्वरूपाचरणकी आंशिक शान्ति निरंतर है इसलिये उतना सच्चा सुख उन्हें नरकमें भी निरन्तर मिलता है। जितनी कषाय है उतना अल्प दुःख होता है किन्तु वह कुछ भवोंके बाद ही उस अल्प दुःखका भी नाश कर देंगे। वे परको दुःखदायक नहीं मानते, किन्तु अपनी असावधानी को दुःखका कारण मानते हैं इसलिये वे अपनी असावधानीको दूर करते जाते हैं। असावधानी दो प्रकार की है—स्वरूपकी मान्यताकी और स्वरूप के आचरण की। उसमें से पहिले प्रकार की असावधानी सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर दूर हो जाती है और दूसरे प्रकार की असावधानीको वे टालते जाते हैं।

८. सम्यग्दर्शन प्रगट करके—सम्यग्दृष्टि होने के बाद जीव नरक आयुका बंध नहीं करता, किन्तु सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेसे पूर्व उस जीवने

नरकायुका वंध किया हो तो वह पहिले नरकमें जाता है, किन्तु वहाँ उसकी अवस्था पैरा ७ में बताये गये अनुसार होती है।

९. पहिले से चौथे नरक तक से निकलकर मनुष्य हुए जीवोंमें से योग्य जीव उसी भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। पांचवें नरकसे निकलकर मनुष्य हुए पात्रजीव सच्चा मुनित्व धारण कर सकते हैं, छट्ठे नरकसे निकलकर मनुष्य हुए पात्रजीव पांचवे गुणस्थानतक जा सकते हैं और सातवें नरकसे निकले हुए जीव क्रूरतिर्यंचगतिमें ही जाते हैं। यह भेद जीवोंके पुरुषार्थकी तारतम्यताके कारण होते हैं।

१०. प्रश्न——सम्यग्दृष्टि जीवोंका अभिप्राय नरकमें जानेका नहीं होता फिर भी यदि कोई सम्यग्दृष्टि नरकमें पहुँच जाय तो वहाँ तो जड़ कर्म का जोर है और जड़कर्म जीवको नरकमें ले जाता है इसलिये जाना पड़ता है,—यह बात ठीक है या नहीं ?

उत्तर——यह बात ठीक नहीं है; एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, इसलिये जड़कर्म जीवको नरकमे ले जाता हो ऐसा नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि कोई जीव नरकमें जाना नहीं चाहता तो भी जो जो जीव नरकमे जाने लायक होते हैं वे वे जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनके कारण वहां जाते हैं, उस समय कार्मण और तैजसशरीर भी उनकी अपनी (पुद्गल परमाणुओंकी) क्रियावती शक्तिके परिणमनके कारण उस क्षेत्रमें जीवके साथ जाते हैं।

और अभिप्राय तो श्रद्धागुणकी पर्याय है और इच्छा चारित्रगुणकी विकारी पर्याय है। द्रव्यका हरएक गुण स्वतंत्र और असहाय है। इसलिये जीवकी इच्छा अथवा अभिप्राय चाहे जैसा हो फिर भी जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन उससे (अभिप्राय और इच्छासे) स्वतंत्ररूपसे और उस समयकी उस पर्यायके धर्मानुसार होता है। वह क्रियावती शक्ति ऐसी है कि-जीवको किस क्षेत्रमें ले जाना चाहिये इसका ज्ञान होने को उसे आवश्यकता नहीं है। नरकमे जानेवाले वे जीव उनकी आयु पर्यंत उस क्षेत्रके संयोग

के योग्य होते हैं, और तब उन जीवोंके ज्ञानका विकाश भी उस उस क्षेत्रमें रहनेवाले जीवों तथा पदार्थोंके जाननेके योग्य होता है। नरकगतिका भव अपने पुरुषार्थके दोषसे बँधा था इसलिये योग्य समयमें उसके फलरूपसे जीवकी अपनी योग्यताके कारण नारकीका क्षेत्र सयोगरूपसे होता है, कर्म उसे नरकमें नहीं ले जाता। कर्मके कारण जीव नरकमें जाता है यह कहना मात्र उपचार कथन है, जीवका कर्मके साथका निमित्त नैमित्तिक सबध बताने के लिये शास्त्रोंमें यह कथन किया गया है, नहीं कि वास्तवमें जड़कर्म जीवको नरकमें ले जाते हैं। वास्तवमें कर्म जीवको नरकमें ले जाते हैं यह मानना मिथ्या है।

११. सागर-काल का परिमाण

१—सागर = दश × करोड़ × करोड़ = अद्धापल्य।

१ अद्धापल्य = एक गोल खड्डा जिसका व्यास (Diametre) एक योजन (= २००० कोस) और गहराई भी उतनी ही हो उसमें उत्तम भोग भूमिके सात दिन के मेंढे के बच्चे के बालोंसे ठसाठस भरकर के उसमें से प्रति सौ वर्षमें एक बाल निकालने पर जितने समयमें गड्ढा खाली हो जाय, उतने समयका एक व्यवहारकल्प है, ऐसे असख्यात व्यवहारकल्प = एक उद्धारपल्य। असख्यात उद्धारपल्य = एक अद्धापल्य।

इसप्रकार अधोलोकका वर्णन पूरा हुआ ॥ ६ ॥

मध्यलोकका वर्णन

कुछ द्वीप समुद्रों के नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

अर्थ—इस मध्यलोकमें अच्छे अच्छे नाम वाले जम्बूद्वीप इत्यादि द्वीप, और लवणसमुद्र इत्यादि समुद्र हैं।

टीका

सबसे बीचमें थालीके आकार जम्बूद्वीप है जिसमें हम लोग और श्री सीमंधरप्रभु इत्यादि रहते हैं। उसके बाद लवणसमुद्र है। उसके चारों ओर धातकीखंड द्वीप है उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र है उसके चारों ओर पुष्करवर द्वीप है और उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है इस तरह एक दूसरेको घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, सबसे अंतिम द्वीप स्वयंभूरमणद्वीप है और अंतिम समुद्र स्वयंभूरमणसमुद्र है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अर्थ—प्रत्येक द्वीप-समुद्र दूने दूने विस्तारवाले और पहिले पहिलेके द्वीप समुद्रोंको घेरे हुए चूड़ीके आकार वाले हैं ॥ ८ ॥

जम्बूद्वीप का विस्तार तथा आकार

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशत-
सहस्रविष्कम्भो जम्बुद्वीपः ॥ ९ ॥

अर्थ—उन सब द्वीप-समुद्रोंके बीचमें जम्बूद्वीप है उसकी नाभिके समान सुदर्शनमेरु है; तथा जम्बूद्वीप थालीके समान गोल है और एक लाख योजन उसका विस्तार है।

टीका

१. सुदर्शनमेरुकी ऊंचाई एक लाख योजनकी है, उसमें से वह एक हजार योजन नीचे जमीनमें और निन्यानवें हजार योजन जमीनके ऊपर है। इसके अतिरिक्त ४० योजनकी चूलिका है [सभी अकृत्रिम वस्तुओंके मापमें २००० कोसका योजन लिया जाता है उसके अनुसार यहां समझना चाहिये।

२. कोई भी गोल वस्तुकी परिधि उसके व्याससे तिगुनेसे कुछ अधिक (२२/७) होती है। जम्बूद्वीपकी परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोस १२८ धनुष १३॥ अंगुलसे कुछ अधिक है।

२—इस द्वीपके विदेह क्षेत्रमें विद्यमान उत्तरकुरु भोगभूमिमें अनादि निधन पृथ्वीकायरूप अकृत्रिम परिवार सहित जम्बू वृक्ष है इसलिये इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है ॥ ९ ॥

सात क्षेत्रोंके नाम

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यव-
तैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

अर्थः—इस जम्बूद्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्य वत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

टीका

जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें हम लोग रहते हैं, विदेहक्षेत्रमें बीस विहर- मान तीर्थंकरमें से श्री सीमंधरादि चार तीर्थंकर जम्बूद्वीपके विदेहमें विच रते हैं ॥ १० ॥

क्षेत्रोंके सात विभाग करनेवाले छह पर्वतोंके नाम

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमव-
न्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

अर्थ—उन सात क्षेत्रोंका विभाग करने वाले पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे १—हिमवत् २—महाहिमवत्, ३—निषध, ४—नील, ५—रुक्मि, और ६—शिखरिन् ये छह वर्षधर—कुलाचल—पर्वत हैं [वर्ष=क्षेत्र] ॥ ११ ॥

कुलाचलों का रंग

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

अर्थ—ऊपर कहे गये पर्वत क्रमसे १- स्वर्ण, २—चांदी, ३—तपाया सोना, ४—वैडूर्य (नील) मणि, ५—चांदी और ६ स्वर्ण जैसे रंगके हैं ॥१२॥

कुलाचलों का विशेष स्वरूप

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अर्थ—इन पर्वतोंका तट चित्र-विचित्र मणियोंका है और ऊपर नीचे तथा मध्यमें एक समान विस्तारवाला है ॥ १३ ॥

कुलाचलोंके ऊपर स्थित सरोवरोंके नाम

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीक-
पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

अर्थ—इन पर्वतोंके ऊपर क्रमसे १–पद्म, २—महापद्म, ३—तिगिञ्छ, ४—केशरि, ५—महापुंडरीक और ६ – पुंडरीक नामके ह्रद-सरोवर हैं ॥ १४ ॥

प्रथम सरोवर की लम्बाई-चौड़ाई

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

अर्थ—पहिला पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा और लम्बाईसे आधा अर्थात् पाँचसौ योजन चौड़ा है ॥ १५ ॥

प्रथम सरोवर की गहराई (ऊँडाई)

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थ—पहिला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई-ऊँडाई) वाला है ॥ १६ ॥

उसके मध्यमें क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थ—उसके बीचमें एक योजन विस्तारवाला कमल है ॥ १७ ॥

महापद्मादि सरोवरों तथा उनमें रहनेवाले कमलोंका प्रमाण

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थ—आगेके सरोवर तथा कमल पहिले के सरोवर तथा कमलोंसे क्रमसे दूने २ विस्तारवाले हैं।

टीका

यह दूना दूना क्रम तिगिंछनामके तीसरे सरोवर तक है, बादमें उसके आगेके तीन सरोवर तथा उनके तीन कमल दक्षिणके सरोवर और कमलोंके समान विस्तारवाले हैं ॥ १८ ॥

ह्रदोंका विस्तार आदि

नं०	ह्रद नाम	स्थान	लम्बाई योजन	चौड़ाई योजन	गहराई योजन	कमल योजन	देवी
१	पद्म	हिमवन्	१०००	५००	१०	१	श्री
२	महापद्म	महाहिमवन्	२०००	१०००	२०	२	ह्री
३	तिगिञ्छ	निषध	४०००	२०००	४०	४	धृति
४	केशरी (केशरिन्)	नील	४०००	२०००	४०	४	कीर्ति
५	महापुण्डरीक	रुक्मिन्	२०००	१०००	२०	२	बुद्धि
६	पुण्डरीक	शिखरिन्	१०००	५००	१०	१	लक्ष्मी

छह कमलोंमें रहनेवाली छह देवियाँ

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥

अर्थ—एक पल्योपम आयुवाली और सामानिक तथा पारिषद जाति के देवों सहित श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, और लक्ष्मी नामकी देवियाँ क्रमसे उन सरोवरोंके कमलों पर निवास करती हैं।

टीका

ऊपर कहे हुए कमलोंकी कर्णिकाके मध्यभागमें एक कोस लम्बे, आध कोस चौड़े और एक कोससे कुछ कम ऊंचे सफेद रंगके भवन हैं उसमें वे देवियाँ रहती हैं और उन तालावोंमें जो अन्य परिवार कमल हैं उनके ऊपर सामानिक तथा पारिषद देव रहते हैं॥ १९॥

चौदह महा नदियोंके नाम

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदा नारीनरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरित-स्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

अर्थ—(भरतमें) गंगा, सिन्धु, (हैमवतमें) रोहित, रोहितास्या, (हरिक्षेत्रमें) हरित्, हरिकान्ता, (विदेहमें) सीता, सीतोदा, (रम्यक्में) नारी, नरकान्ता, (हैरण्यवतमें) स्वर्णकूला, रूप्यकूला और (ऐरावतमें) रक्ता-रक्तोदा इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात क्षेत्रोंमें चौदह नदियाँ बीचमें बहती हैं।

टीका

पहिले पद्म सरोवरमेंसे पहिली तीन, छट्ठे पुंडरीक नामक सरोवरसे अंतिम तीन तथा बाकीके सरोवरोंमेंसे दो दो नदियाँ निकलती हैं॥ २०॥

नदियोंके वहनेका क्रम—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ—(ये चौदह नदियाँ दो के समूहमें लेना चाहिये) हरएक दो के समूहमें से पहिली नदी पूर्वकी ओर वहती है (और उस दिशाके समुद्र में मिलती है।) ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

अर्थ—बाकी रही सात नदियाँ पश्चिम की ओर जाती हैं (और उस तरफ के समुद्रमें मिलती हैं।) ॥ २२ ॥

इन चौदह महा नदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

अर्थः—गंगा-सिन्धु आदि नदियोंके युगल चौदह हजार सहायक नदियोंसे घिरे हुए हैं।

टीका

सहायक नदियोंकी संख्याका क्रम भी विदेह क्षेत्रतक आगे आगे के युगलोंमें पहिले पहिले युगलोंसे दूना २ है, और उत्तरके तीन क्षेत्रोंमें दक्षिण के तीन क्षेत्रोंके समान है।

नदी युगल	सहायक नदियोंकी संख्या
गंगा सिंधु	१४ हजार
रोहित रोहितास्या	२८ हजार
हरित् हरिकान्ता	५६ हजार
सीता सीतोदा	१ लाख १२ हजार
नारी-नरकान्ता	५६ हजार
स्वर्णकूला रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता-रक्तोदा	१४ हजार

भरतक्षेत्रका विस्तार

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थ – भरतक्षेत्र का विस्तार, पाँचसौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें से ६ भाग अधिक है।

टीका

१. भरत क्षेत्रका विस्तार ५२६,६ १६ योजन है। (देखो सूत्र ३२)

२. भरत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमें पूर्व पश्चिम तक लंबा विजयार्ध पर्वत है जिनसे गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियोंके कारण दोनों क्षेत्रोंके छह छह खंड हो जाते हैं उनमे बीचका आर्यखंड और बाकी के पाँच म्लेच्छ खंड हैं। तीर्थंकरादि पदवीधारी पुरुष भरत–ऐरावत के आर्यखंडमें, तथा विदेह क्षेत्रोंमें ही जन्म लेते हैं ॥ २४ ॥

आगे के क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥

अर्थ—विदेहक्षेत्र तकके पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्रसे दूने दूने विस्तारवाले हैं ॥ २५ ॥

विदेह क्षेत्रके आगे के पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रसे उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिणके पर्वत और क्षेत्रोंके समान विस्तारवाले हैं।

टीका

क्षेत्रों और पर्वतोंका प्रकार नीचे प्रमाण है–

क्षेत्र और पर्वत	विस्तार-योजन	ऊंचाई	ऊंडाई
१. भरतक्षेत्र	५२६ $\frac{६}{१९}$,,	×	×
२. हिमवत् कुलाचल	१०५२ $\frac{१२}{१९}$,,	१०० यो०	२५ यो०

३	हैमवत्क्षेत्र	$2105\frac{5}{19}$,,	×	×
४	महा हिमवत कुलाचल	$4210\frac{10}{19}$,,	२०० यो०	५० यो०
५	हरिक्षेत्र	$8421\frac{1}{19}$,,	×	×
६	निषध कुलाचल	$16842\frac{2}{19}$,,	४०० यो०	१०० यो०
७	विदेहक्षेत्र	$33684\frac{4}{19}$,,	×	×
८	नील कुलाचल	$16842\frac{2}{19}$,,	४०० यो०	१०० यो०
९	रम्यक क्षेत्र	$8421\frac{1}{19}$,,	×	×
१०	रुक्मिकुलाचल	$4210\frac{10}{19}$,,	२०० यो०	५० यो०
११	हैरण्यवत्क्षेत्र	$2105\frac{5}{19}$,,	×	×
१२	शिखरीकुलाचल	$1052\frac{12}{19}$,,	१०० यो०	२५ यो०
१३	ऐरावतक्षेत्र	$526\frac{6}{19}$,,	×	×

[कुलाचलका अर्थ पर्वत समझना चाहिये]

भरत और ऐरावतक्षेत्र में कालचक्रका परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थ—छह कालोंसे युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रमें जीवोंके अनुभवादि की वृद्धि-हानि होती रहती है।

टीका

१. बीस कोडा कोडी सागरका एक कल्पकाल होता है उसके दो भेद हैं; (१)-उत्सर्पिणी—जिसमें जीवोंके ज्ञानादि की वृद्धि होती है, और

(२)–अवसर्पिणी—जिसमें जीवोंके ज्ञानादिका ह्रास होता है।

अवसर्पिणीके छह भेद हैं—(१) सुषमसुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषम-दुःषमा, (४) दुःषमसुषमा, (५) दुःषमा, और (६) दुःषमदुःषमा, इसी तरह उत्सर्पिणीके भी दुःषमदुःषमासे प्रारंभ करके सुषमसुषमा तक छह भेद समझना चाहिये।

२. (१) सुषमसुषमा का काल चार कोड़ाकोड़ीसागर, (२) सुषमा तीन कोड़ाकोड़ीसागर, (३) सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ीसागर, (४) दुःषमसुषमा एक कोड़ाकोड़ी सागरमें ४२ हजार वर्ष कम, (५) दुःषमा २१ हजार वर्ष और (६) दुःषमदुःषमा (-अतिदुःषमा) २१ हजार वर्ष का है।

भरत–ऐरावत क्षेत्रमें यह छह भेद सहित परिवर्तन हुआ करता है। असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने के बाद एक हुंडावसर्पिणीकाल आता है। इस समय हुंडावसर्पिणीकाल चल रहा है।

३. भरत-ऐरावत क्षेत्रके म्लेच्छखंडों तथा विजयार्धपर्वतकी श्रेणियोंमें अवसर्पिणीकाल के चतुर्थ (दुःषमसुषमा) कालके प्रारंभसे अव-सर्पिणी कालके अंततक परिवर्तन हुआ करता है और उत्सर्पिणीकालके तीसरे (दुःषमसुषमा) कालके अंतसे उत्सर्पिणीके अंततक परिवर्तन हुआ करता है, इनमें आर्यखंडोंकी तरह छहों कालोंका परिवर्तन नहीं होता और उनमें प्रलयकाल भी नहीं होता।

४. भरत-ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु तथा ऊंचाई।

आरा (काल)	आयु		ऊँचाई	
	प्रारंभमें	अन्तमें	प्रारंभमें	अन्तमें
१	३ पल्य	२ पल्य	३ कोस	२ कोस
२	२ पल्य	१ पल्य	२ कोस	१ कोस
३	१ पल्य	१ कोटी पूर्व	१ कोस	५०० धनुष
४	१ कोटी पूर्व	१२० वर्ष	५०० धनुष	७ हाथ

५	१२० वर्ष	२० वर्ष	७ हाथ	२ हाथ
६	२० वर्ष	१५ वर्ष	२ हाथ	१ हाथ

मनुष्यों का आहार

काल	आहार	
१	चौथे दिन बेर के बराबर	तीसरे काल तक भरत ऐरावत क्षेत्रमें भोगभूमि रहती है।
२	एक दिनके अंतरसे बहेड़ा (फल) के बराबर	
३	एक दिनके अंतरसे आंवला बराबर	
४	रोज एक बार	
५	कई बार	
६	अति प्रचुरवृत्ति, मनुष्य नग्न, मछली इत्यादिके आहार, मुनि श्रावकोंका अभाव, धर्मका नाश ॥ २७ ॥	

अन्य भूमियोंकी काल व्यवस्था

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रोंमें एक ही अवस्था रहती है-उनमें कालका परिवर्तन नहीं होता ॥ २८ ॥

हैमवतक इत्यादि क्षेत्रोंमें आयु

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेव-कुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थ—हैमवतक, हारिवर्षक और देवकुरु (विदेहक्षेत्रके अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के मनुष्य, तिर्यंच क्रमसे एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयुवाले होते हैं।

टीका

इन तीन क्षेत्रोंके मनुष्योंकी ऊँचाई क्रमसे एक, दो और तीन कोसकी होती है। शरीरका रंग नील, शुक्ल और पीत होता है ॥ २९ ॥

हैरण्यवतकादि क्षेत्रोंमें आयु

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

अर्थ—उत्तरके क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्य भी हैमवतकादिकके मनुष्यों के समान आयुवाले होते हैं।

टीका

१. हैरण्यवतक क्षेत्रकी रचना हैमवतकके समान, रम्यक्क्षेत्रकी रचना हरिक्षेत्रके समान और उत्तरकुरु (विदेहक्षेत्रके अंतर्गत स्थान विशेष) की रचना देवकुरुके समान है।

२. भोगभूमि—इस तरह उत्तम, मध्यम, और जघन्यरूप तीन भोग-भूमिके दो दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीपमें छह भोगभूमियाँ और अढ़ाई द्वीपमें कुल ३० भोगभूमियाँ हैं जहाँ सर्वप्रकारकी सामग्री कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होती है उन्हें भोगभूमि कहते हैं ॥ ३० ॥

विदेहक्षेत्रमें आयु की व्यवस्था

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थः—विदेहक्षेत्रोंमें मनुष्य और तिर्यंचोंकी आयु संख्यात वर्षकी होती है।

टीका

विदेहक्षेत्रमें ऊँचाई पाँचसौ धनुष और आयु एक करोड़ वर्ष पूर्वकी होती है ॥ ३१ ॥

भरतक्षेत्रका दूसरी तरहसे विस्तार

भरतस्य विष्कंभो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

अर्थः—भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपके एक सौ नब्बेवाँ (१९०) भागके बराबर है।

टीका

२४ वें सूत्रमें भरतक्षेत्रका विस्तार बताया है उसमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है मात्र कहनेका प्रकार भिन्न है। जो एक लाखके १९० हिस्से किये जाँय तो हरएक हिस्से का प्रमाण ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन होता है ॥ ३२ ॥

धातकीखण्डका वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥

अर्थ—धातकीखण्ड नामके दूसरे द्वीपमें क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी इत्यादि सब पदार्थोंकी रचना जम्बूद्वीपसे दूनी दूनी है।

टीका

धातकीखण्ड लवणसमुद्रको घेरे हुए है। उसका विस्तार चार लाख योजन है। उसके उत्तरकुरु प्रान्तमें धातकी (आँवले) के वृक्ष हैं इसलिये उसे धातकीखण्ड कहते हैं ॥ ३३ ॥

पुष्करार्ध द्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च ॥ ॥ ३४ ॥

अर्थ—पुष्करार्द्ध द्वीपमें भी सब रचना जम्बू द्वीप की रचनासे दूनी दूनी है।

टीका

पुष्करवरद्वीपका विस्तार १६ लाख योजन है, उसके बीचमें चूड़ीके आकार मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। जिससे उस द्वीपके दो हिस्से होगये

हैं। पूर्वार्धमें सारी रचना घातकी खंडके समान है और जम्बूद्वीपसे दूनी है। इस द्वीपके उत्तरकुरुप्रान्तमें एक पुष्कर (-कमल) है। इसलिये उसे पुष्करवरद्वीप कहते हैं॥ ३४॥

मनुष्य क्षेत्र—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थः-मानुषोत्तर पर्वत तक अर्थात् अढ़ाई द्वीपमें ही मनुष्य होते हैं,-मानुषोत्तर पर्वतसे परे ऋद्धिधारी मुनि या विद्याधर भी नहीं जा सकते।

टीका

१. जंबूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखंड, कालोदधि और पुष्करार्ध, इतना क्षेत्र अढ़ाई द्वीप है, इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।

२. केवल समुद्घात और मारणांतिक समुद्घातके प्रसंगके अति-मनुष्यके आत्मप्रदेश ढाई द्वीपके बाहर नहीं जा सकते।

३. आगे चलकर आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है उसकी चारों दिशामें चार अंजनगिरि पर्वत, सोलह दधिमुखपर्वत और बत्तीस रतिकर पर्वत हैं। उनके ऊपर मध्यभागमें जिन मंदिर हैं। नन्दीश्वर द्वीपमें इसप्रकार बावन जिन मंदिर हैं। बारहवाँ कुन्डलवर द्वीप है उसमें चार दिशाके मिलाकर चार जिन मंदिर हैं। तेरहवाँ रुचकवर नामका द्वीप है उसके बीचमें रुचकनाम का पर्वत है, उस पर्वतके ऊपर चारों दिशामें चार जिन मंदिर हैं वहां पर देव जिन पूजनके लिये जाते हैं इस पर्वतके ऊपर अनेक कूट हैं उनमें अनेक देवियोंके निवास हैं। वे देवियां तीर्थंकरप्रभुके गर्भ और जन्म कल्याणकमें प्रभुकी माताकी अनेक प्रकारसे सेवा करती हैं॥ ३५॥

मनुष्योंके भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थः— आर्य और म्लेच्छ के भेदसे मनुष्य दो प्रकार के हैं।

टीका

१. आर्यों के दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और अनऋद्धिप्राप्त आर्य।

ऋद्धिप्राप्तआर्य=जिन आर्य जीवोंको विशेष शक्ति प्राप्त हो।

अनऋद्धिप्राप्तआर्य=जिन आर्य जीवोंको विशेष शक्ति प्राप्त नहीं हो।

ऋद्धिप्राप्त आर्य

२. ऋद्धिप्राप्तआर्यके आठ भेद हैं—(१) बुद्धि, (२) क्रिया, (३) विक्रिया, (४) तप, (५) बल, (६) औषध, (७) रस, और (८) क्षेत्र इन आठ ऋद्धियोंका स्वरूप कहते हैं।

३. बुद्धिऋद्धि—बुद्धिऋद्धिके अठारह भेद हैं—(१) केवलज्ञान, (२) अवधिज्ञान, (३) मन पर्ययज्ञान, (४) बीजबुद्धि, (५) कोष्ठबुद्धि, (६) पदानुसारिणी, (७) संभिन्न श्रोतृत्व, (८) दूरास्वादनसमर्थता, (९) दूरदर्शनसमर्थता, (१०) दूरस्पर्शनसमर्थता, (११) दूरघ्राणसमर्थता, (१२) दूरश्रोत्रसमर्थता, (१३) दशपूर्वित्व, (१४) चतुर्दशपूर्वित्व, (१५) अष्टागनिमित्तता, (१६) प्रज्ञाश्रमणत्व, (१७) प्रत्येकबुद्धता, और (१८) वादीत्व इनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

(१-३) केवलज्ञान,—अवधिज्ञान,—मनःपर्ययज्ञान इन तीनोंका स्वरूप अध्याय १, सूत्र २१ से २५ तथा २७ से ३० तक में आ गया है।

(४) बीजबुद्धि—एक बीजपदके (मूलपदके) ग्रहण करनेसे अनेकपद, और अनेक अर्थोंका जानना सो बीजबुद्धि है।

(५) कोष्ठबुद्धि—जैसे कोठारमें रखे हुए धान्य, बीज इत्यादि बहुत समय तक जैसेके तैसे बने रहते हैं घटते बढते नहीं हैं परस्परमें मिलते नहीं

हैं, उसीप्रकार दूसरेके उपदेशसे ग्रहण किये हुए बहुतसे शब्द, अर्थ, बीज जिस बुद्धिमें जैसेके तैसे रहते हैं एक अक्षर तथा अर्थ घट बढ़ नहीं होते आगे पीछे अक्षर नहीं होते वह कोष्ठबुद्धि है।

(६) पदानुसारिणीबुद्धि—ग्रन्थके प्रारम्भ मध्य और अन्तका एक पद श्रवण करके समस्त ग्रन्थ तथा उसके अर्थका निश्चय करना सो पदानुसारिणीबुद्धि है।

(७) संभिन्नश्रोतृत्वबुद्धि—चक्रवर्ती की छावनी चार योजन लम्बी और नवयोजन चौड़ी पड़ी होती है उसमें हाथी, घोड़ा, ऊँट, मनुष्यादिके जुदे जुदे प्रकारके अक्षर–अनक्षरात्मक शब्द एक समय एक साथ उत्पन्न होते हैं उसे तपविशेषके कारण (आत्माके सभी प्रदेशोंसे श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर) एक कालमें जुदे जुदे श्रवण करना सो संभिन्नश्रोतृत्वबुद्धि है।

(८) दूरास्वादनसमर्थताबुद्धि—तपविशेषके कारण (प्रगट होनेवाले असाधारण रसनेन्द्रिय श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम और आंगोपांग नामकर्मके उदयसे) मुनिको रसका जो विषय नवयोजन प्रमाण होता है उसके रसस्वादनकी (रस जाननेकी) सामर्थ्य होना सो दूरास्वादनसमर्थताबुद्धि है।

(९-१२) दूरदर्शन-स्पर्शन-घ्राण-श्रोतृसमर्थताबुद्धि—ऊपर लिखे अनुसार चक्षुरिन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रियके विषयके क्षेत्रसे बाहर बहुतसे क्षेत्रोंके रूप, स्पर्श, गंध और शब्द को जानने की सामर्थ्यका होना सो उस उस नामकी चार प्रकारकी बुद्धि है।

(१३) दशपूर्वित्वबुद्धि—महारोहिणी इत्यादि विद्या-देवता तीन चार आवें और हर एक अपना २ स्वरूप सामर्थ्य प्रगट करें ऐसे वेगवान विद्या-देवताओंके लोभादिसे जिनका चारित्र चलायमान नहीं होता उसे दशपूर्वित्वबुद्धि कहते हैं।

(१४) चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि—सम्पूर्ण श्रुतकेवलित्वका होना चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि है।

(१५) अष्टांगनिमित्तताबुद्धि—अन्तरिक्ष, भौम, अङ्ग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न यह आठ प्रकारका निमित्तज्ञान है, उसका स्वरूप निम्नप्रकार है —

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रके उदय,-अस्तादिको देखकर अतीत अनागतफलको जानना सो अन्तरिक्षनिमित्तज्ञान है ॥ १ ॥

पृथ्वीकी कठोरता, कोमलता, चिकनाहट या रूखापन देखकर विचार करके अथवा पूर्वादि दिशामें सूत्र पड़ते हुए देखकर हानि-वृद्धि, जय पराजय इत्यादि को जानना तथा भूमिगत स्वर्ण चांदी इत्यादिको प्रगट जानना सो भौमनिमित्तज्ञान है ॥ २ ॥

अङ्गोपांगादिके दर्शन स्पर्शनादिसे त्रिकालभावी सुख दुःखादि को जानना सो अङ्गनिमित्तज्ञान है ॥ ३ ॥

अक्षर-अनक्षररूप तथा शुभाशुभको सुनकर इष्टानिष्टफलको जानना सो स्वरनिमित्तज्ञान है ॥ ४ ॥

मस्तक, मुख, गर्दन इत्यादिमें तल, मूसल, लाख इत्यादि लक्षण देखकर त्रिकाल संबंधी-हित-अहित को जान लेना सो व्यंजननिमित्तज्ञान है ॥ ५ ॥

शरीरके ऊपर श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश इत्यादि चिह्न देखकर त्रिकाल संबंधी पुरुषोंके स्थान, मान, ऐश्वर्यादि विशेषका जानना सो लक्षण निमित्तज्ञान है ॥ ६ ॥

वस्त्र शस्त्र आसन शयनादिसे, देव मनुष्य राक्षसादिसे तथा शस्त्र-कंट-कादिसे छिदे हुएको देखकर त्रिकाल संबंधी लाभ अलाभ, सुख दुःखका जानना सो छिन्ननिमित्तज्ञान है ॥ ७ ॥

वात, पित्त, कफ रहित पुरुषके मुखमें पिछली रात्रिमें चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत या समुद्रका प्रवेशादिका स्वप्न होना सो शुभस्वप्न है, घी तेलसे अपनी देह लिप्त और गधा ऊँट पर चढ़कर दक्षिण दिशामें गमन इत्यादि स्वप्न अशुभ स्वप्न हैं, उसके दर्शनसे आगामीकालमें जीवन मरण, सुख दुःखादिका

ज्ञान होना सो स्वप्ननिमित्तज्ञान है। इन आठ प्रकारके निमित्तज्ञानका जो ज्ञाता हो उसके अष्टांगनिमित्तबुद्धिऋद्धि है।

(१६) प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धि—किसी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थके स्वरूपका विचार जैसा का तैसा, चौदहपूर्वधारी ही निरूपण कर सकते हैं दूसरे नहीं कर सकते, ऐसे सूक्ष्म अर्थका जो संदेहरहित निरूपण करे ऐसी प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाली प्रज्ञाशक्ति प्रज्ञाश्रवणत्वबुद्धि है।

(१७) प्रत्येकबुद्धिताबुद्धि—परके उपदेशके बिना अपनी शक्ति-विशेषसे ज्ञान-संयमके विधानमें निपुण होना प्रत्येकबुद्धताबुद्धि है।

(१८) वादित्वबुद्धि—इन्द्र इत्यादि आकर वाद-विवाद करे उसे निरुत्तर करदे, स्वयं रुके नहीं और सामनेवाले वादीके छिद्रको जान लेना ऐसी शक्ति वादित्वबुद्धि है।

इसप्रकार ८ ऋद्धियोंमेंसे पहिली बुद्धिरिद्धिके अठारह प्रकार हैं। यह बुद्धिरिद्धि सम्यग्ज्ञान की महान् महिमाको बताती है।

४. दूसरी क्रियाऋद्धिका स्वरूप

१. क्रियाऋद्धि दो प्रकारकी है आकाशगामित्व और चारण।

(१) चारणऋद्धि अनेक प्रकार की है—जलके ऊपर पैर रखने या उठाने पर जलकायिक जीवोंको बाधा न उत्पन्न हो सो जलचारणरिद्धि है। भूमिसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें शीघ्रतासे सैकड़ों योजन गमन करनेमें समर्थ होना सो जंघाचारणरिद्धि है। उसीप्रकार तंतुचारण, पुष्पचारण, पत्र-चारण, श्रेणिचारण, अग्निशिखाचारण इत्यादि चारण रिद्धियाँ हैं। पुष्प, फल इत्यादिके ऊपर गमन करनेसे उन पुष्प फल इत्यादिके जीवोंको बाधा नहीं होना सो समस्तचारणरिद्धि है।

(२) आकाशगामित्व विक्रियाऋद्धि—पर्यंकासन अथवा कायो-त्सर्गासन करके पगके उठाये धरे बिना ही जो आकाशमें गमन करनेमें निपुण होना सो आकाशगामित्वक्रियाऋद्धि है।

५. तीसरी विक्रियाऋद्धिका स्वरूप

विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकारकी है—(१) अणिमा, (२) महिमा, (३) लघिमा, (४) गरिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व, (८) वशित्व, (९) अप्रतिघात, (१०) अतर्धान, (११) कामरूपित्व इत्यादि अनेक भेद हैं। उनका स्वरूप निम्नप्रकार है।

अणुमात्र शरीर करने की सामर्थ्यको अणिमाऋद्धि कहते हैं, वह कमलके छिद्रमें प्रवेश करके वहाँ बैठकर चक्रवर्ती की विभूति रचता है। १। मेरुसे भी महान शरीर करने की सामर्थ्यको महिमाऋद्धि कहते हैं। २। पवनसे भी हलका शरीर बनाने की सामर्थ्यको लघिमाऋद्धि कहते हैं। ३। वज्रसे भी अतिभारी शरीर करने की सामर्थ्यको गरिमाऋद्धि कहते हैं। ४। भूमिमें बैठकर उँगलीको आगे करके मेरुपर्वतके शिखर तथा सूर्य-विमानादिको स्पर्श करने की शक्तिको प्राप्तिऋद्धि कहते हैं। ५। जलमें जमीनको उन्मज्जन (ऊपर लाना) तथा निमज्जन (डुबा देना) करने की शक्तिको प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं। ६। त्रिलोकका प्रभुत्व रचने की सामर्थ्यको ईशित्व ऋद्धि कहते हैं। ७। देव, दानव मनुष्य इत्यादिको वशीकरण करने की सामर्थ्यको वशित्वऋद्धि कहते हैं। ८। पर्वतादिकके अंदर आकाशकी भांति गमन आगमन करने की सामर्थ्यको अप्रतिघातऋद्धि कहते हैं। ९। अदृश्य होने की सामर्थ्य को अतर्धानऋद्धि कहते हैं। १०। एक साथ अनेक आकाररूप शरीर करने की सामर्थ्यको कामरूपित्वऋद्धि कहते हैं। ११। इत्यादि अनेक प्रकार की विक्रिया ऋद्धि हैं।

नोट—यहाँ निमित्तनैमित्तिकसंबंध समझाया है किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जीव शरीरका या अन्य किसी द्रव्यका कुछ करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता। शरीरादि परद्रव्यकी जब उस प्रकारकी होने योग्य अवस्था होती है तब जीवके भाव तदनुकूल अपने कारण होते हैं। इतना निमित्त नैमित्तिक संबंध यहाँ बतलाया गया है।

६. चौथी तप ऋद्धि

तपऋद्धि सातप्रकार की है—(१) उग्रतप, (२) दीप्तितप, (३) निहारतप, (४) महानतप, (५) घोरतप, (६) घोरपराक्रमतप और (७) घोर ब्रह्मचर्यतप। उसका स्वरूप निम्नप्रकार है।

एक उपवास या दो-तीन-चार-पाँच इत्यादि उपवास के निमित्तसे किसी योगका आरंभ हुआ तो मरणपर्यंत उपवासके उन दिनोंसे कम दिनोंमें पारणा नहीं करता, किसी कारणसे अधिक उपवास हो जाय तो मरणपर्यंत उससे कम उपवास करके पारणा नहीं करता, ऐसी सामर्थ्य प्रगट होना सो उग्रतप ऋद्धि है॥ १ ॥ महान उपवासादिक करते हुए मन-वचन-कायका बल बढ़ता ही रहे, मुख दुर्गंध रहित रहे, कमलादिककी सुगंध जैसी सुगंधित श्वास निकले और शरीर को महान् दीप्ति प्रगट हो जाय सो दीप्तितपऋद्धि है ॥ २ ॥ तपे हुए लोहेकी कढ़ाईमें पानी की बूंदें पड़ते ही जैसे सूख जाय, तैसे आहार पच जाय सूख जाय और मल रुधिरादिरूप न परिणमे तथा निहार भी न हो सो निहारतपऋद्धि है ॥ ३ ॥ सिंहक्रीड़ितादि महान तप करनेमें तत्पर होना सो महानतपऋद्धि है ॥ ४ ॥ वात, पित्त, श्लेष्म इत्यादि से उत्पन्न हुए ज्वर, खांसी, श्वास, शूल, कोढ़, प्रमेहादिक अनेक प्रकार के रोग वाला शरीर होने पर भी अनशन, कायक्लेशादि न छूटें और भयानक स्मशान, पर्वतका शिखर, गुफा, खंडहर, ऊजड़ ग्राम इत्यादि में दुष्ट राक्षस, पिशाचादि प्रवर्तित हों और बुरे विकार धारण करें तथा गीदड़ोंका कठोर रुदन, सिंह-व्याघ्र इत्यादि दुष्ट जीवोंका भयानक शब्द जहाँ निरंतर होता हो ऐसे भयंकर स्थानमें भी निर्भय होकर रहे सो घोरतपऋद्धि है ॥ ५ ॥ पूर्वोक्त रोगसहित शरीर होने पर भी अति भयंकर स्थानमें रहकर योग (स्वरूप की एकाग्रता) बढ़ाने की तत्परताका होना सो घोरपराक्रमतपऋद्धि है ॥ ६ ॥ बहुत समय से ब्रह्मचर्यके धारक मुनिके अतिशय चारित्रके बलसे (मोहनीय-कर्मके क्षयोपशम होने पर) खोटे स्वप्नोंका नाश होना सो घोरब्रह्मचर्यतप-ऋद्धि है ॥ ७ ॥ इसप्रकार सातप्रकार की तप ऋद्धि है।

नोट —सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्रधारी जीवोंके कैसा उग्र पुरुषार्थ होता है सो यहाँ बताया है। तपऋद्धिके पाँचवें और छट्ठे भेदोंमें अनेक प्रकारके रोगोंवाला शरीर कहा है उससे यह सिद्ध होता है कि-शरीर परवस्तु है, चाहे जैसा खराब हो फिर भी वह आत्माको पुरुषार्थ करनेमें बाधक नहीं होता। 'शरीर निरोग हो और बाह्य अनुकूलता हो तो धर्म हो सकता है' ऐसी मान्यता मिथ्या है ऐसा सिद्ध होता है।

७. पाँचवी बलऋद्धिका स्वरूप

बल ऋद्धि तीन प्रकार की है—(१) मनोबलऋद्धि (२) वचन बलिऋद्ध और (३) कायबलऋद्धि, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है। प्रकर्ष पुरुषार्थसे मन श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतरायके क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्तमें सम्पूर्ण श्रुत अर्थके चिंतवन करने की सामर्थ्य सो मनोबलऋद्धि है ॥ १ ॥ अतिशय पुरुषार्थसे मन इन्द्रिय श्रुतावरण तथा जिह्वा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्तमें सकल श्रुतको उच्चारण करने की सामर्थ्य होना तथा निरंतर उच्च स्वरसे बोलने पर खेद नहीं उत्पन्न हो, कंठ या स्वरभंग नहीं हो सो वचनबलऋद्धि है ॥ २ ॥ वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे असाधारण कायबल प्रगट हो और एक मास, चार मास या बारह मास प्रतिमायोग धारण करने पर भी खेदरूप नहीं होना सो कायबलऋद्धि है ॥ ३ ॥

८. छट्ठी औषधिऋद्धिका स्वरूप

औषधिऋद्धि आठ प्रकार की है—(१) आमर्ष (२) क्ष्वेल (३) जल (४) मल (५) विट् (६) सर्व (७) आस्याविष (८) दृष्टिविष उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

असाध्य रोग हो तो भी जिनके हाथ-चरणादिके स्पर्श होने से ही सब रोग नष्ट हो जाँय सो आमर्षऔषधऋद्धि है ॥ १ ॥ जिनके थूक लार कफादिकके स्पर्श होने से ही रोग नष्ट हो जाय सो क्ष्वेलऔषधऋद्धि है ॥२॥ जिनके देहके पसीनाका स्पर्श होने से रोग मिट जाय सो जलऔषधिऋद्धि

६. चौथी तप ऋद्धि

तपऋद्धि सातप्रकार की है—(१) उग्रतप, (२) दीप्तितप, (३) निहारतप, (४) महानतप, (५) घोरतप, (६) घोरपराक्रमतप और (७) घोर ब्रह्मचर्यतप। उसका स्वरूप निम्नप्रकार है।

एक उपवास या दो-तीन-चार-पाँच इत्यादि उपवास के निमित्तसे किसी योगका आरंभ हुआ तो मरणपर्यंत उपवासके उन दिनोंसे कम दिनोंमें पारणा नहीं करता, किसी कारणसे अधिक उपवास हो जाय तो मरणपर्यंत उससे कम उपवास करके पारणा नहीं करता, ऐसी सामर्थ्य प्रगट होना सो उग्रतप ऋद्धि है ॥ १ ॥ महान उपवासादिक करते हुए मन-वचन-कायका बल बढ़ता ही रहे, मुख दुर्गंध रहित रहे, कमलादिककी सुगंध जैसी सुगंधित श्वास निकले और शरीर को महान् दीप्ति प्रगट हो जाय सो दीप्तितपऋद्धि है ॥ २ ॥ तपे हुए लोहेकी कढ़ाईमें पानी की बूंदें पड़ते ही जैसे सूख जाय, तैसे आहार पच जाय सूख जाय और मल रुधिरादिरूप न परिणमे तथा निहार भी न हो सो निहारतपऋद्धि है ॥ ३ ॥ सिंहक्रीड़ितादि महान तप करनेमें तत्पर होना सो महानतपऋद्धि है ॥ ४ ॥ वात, पित्त, श्लेष्म इत्यादि से उत्पन्न हुए ज्वर, खांसी, श्वास, शूल, कोढ़, प्रमेहादिक अनेक प्रकार के रोग वाला शरीर होने पर भी अनशन, कायक्लेशादि न छूटें और भयानक स्मशान, पर्वतका शिखर, गुफा, खंडहर, ऊजड़ ग्राम इत्यादि में दुष्ट राक्षस, पिशाचादि प्रवर्तित हों और बुरे विकार धारण करें तथा गीदड़ोंका कठोर रुदन, सिंह-व्याघ्र इत्यादि दुष्ट जीवोंका भयानक शब्द जहाँ निरंतर होता हो ऐसे भयंकर स्थानमें भी निर्भय होकर रहे सो घोरतपऋद्धि है ॥ ५ ॥ पूर्वोक्त रोगसहित शरीर होने पर भी अति भयंकर स्थानमें रहकर योग (स्वरूप की एकाग्रता) बढ़ाने की तत्परताका होना सो घोरपराक्रमतपऋद्धि है ॥ ६ ॥ बहुत समय से ब्रह्मचर्यके धारक मुनिके अतिशय चारित्रके बलसे (मोहनीय-कर्मके क्षयोपशम होने पर) खोटे स्वप्नोंका नाश होना सो घोरब्रह्मचर्यतप-ऋद्धि है ॥ ७ ॥ इसप्रकार सातप्रकार की तप ऋद्धि है।

नोट —सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्रधारी जीवोंके कैसा उग्र पुरुषार्थ होता है सो यहाँ बताया है। तपऋद्धिके पाँचवें और छट्ठे भेदोंमें अनेक प्रकारके रोगोंवाला शरीर कहा है उससे यह सिद्ध होता है कि-शरीर परवस्तु है, चाहे जैसा खराब हो फिर भी वह आत्माको पुरुपार्थ करनेमें बाधक नहीं होता। 'शरीर निरोग हो और बाह्य अनुकूलता हो तो धर्म हो सकता है' ऐसी मान्यता मिथ्या है ऐसा सिद्ध होता है।

७. पाँचवीं बलऋद्धिका स्वरूप

बल ऋद्धि तीन प्रकार की है—(१) मनोबलऋद्धि (२) वचनबलिऋद्धि और (३) कायबलऋद्धि, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है। प्रकर्ष पुरुपार्थसे मन श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतरायके क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्तमें सम्पूर्ण श्रुत अर्थके चिंतवन करने की सामर्थ्य सो मनोबलऋद्धि है ॥ १ ॥ अतिशय पुरुपार्थसे मन इन्द्रिय श्रुतावरण तथा जिह्वा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्तमें सकल श्रुतको उच्चारण करने की सामर्थ्य होना तथा निरंतर उच्च स्वरसे बोलने पर खेद नहीं उत्पन्न हो, कंठ या स्वरभंग नहीं हो सो वचनबलऋद्धि है ॥ २ ॥ वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे असाधारण कायबल प्रगट हो और एक मास, चार मास या बारह मास प्रतिमायोग धारण करने पर भी खेदरूप नहीं होना सो कायबलऋद्धि है ॥ ३ ॥

८. छट्ठी औषधिऋद्धिका स्वरूप

औषधिऋद्धि आठ प्रकार की है—(१) आमर्ष (२) क्ष्वेल (३) जल (४) मल (५) विट (६) सर्व (७) आस्याविष (८) दृष्टिविष उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

असाध्य रोग हो तो भी जिनके हाथ-चरणादिके स्पर्श होने से ही सब रोग नष्ट हो जाँय सो आमर्षऔषधऋद्धि है ॥ १ ॥ जिनके थूक लार कफादिकके स्पर्श होने से ही रोग नष्ट हो जाय सो क्ष्वेलऔषधऋद्धि है ॥२॥ जिनके देहके पसीनाका स्पर्श होने से रोग मिट जाय सो जलऔषधिऋद्धि

है ॥ ३ ॥ जिनके कान दाँत, नाक और नेत्रका मल ही सब रोगोंके निराकरण करने में समर्थ हो सो मलऔषधिऋद्धि है ॥ ४ ॥ जिनकी वीट—टट्टी तथा मूत्र ही औषधिरूप हो सो वीटऔषधिऋद्धि है ॥ ५ ॥ जिनका अंग उपांग नख, दाँत, केशादिक के स्पर्श होने से ही सब रोगोंको दूर कर देता है सो सर्वौषधिऋद्धि है ॥ ६ ॥ तीव्र जहरसे मिला हुआ आहार भी जिनके मुखमें जाते ही विष रहित हो जाय तथा विषसे व्याप्त जीवका जहर जिनके वचनसे ही उतर जाय सो आस्याविषऔषधिऋद्धि है ॥ ७ ॥ जिनके देखने से महान विषधारी जीवका विष जाता रहे तथा किसी के विष चढ़ा हो तो उतर जाय ऐसी ऋद्धि सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥ ८ ॥

९. सातवीं रसऋद्धिका स्वरूप

रसऋद्धि ६ प्रकार की है। (१) आस्यविष (२) दृष्टिविष (३) क्षीर (४) मधुस्रावी (५) घृतस्रावी और (६) अमृतस्रावी उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

प्रकृष्ट तपवाले योगी कदाचित् क्रोधी होकर कहें कि 'तू मर जा' तो उसी समय विष चढ़ने से मर जाय सो आस्यविषरसऋद्धि है ॥ १ ॥ कदाचित् क्रोधरूपी दृष्टिके देखने से मर जावे सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥ २ ॥ वीतरागी मुनिके ऐसी सामर्थ्य होय कि उनके क्रोधादिक उत्पन्न न हो और उनके हाथमें प्राप्त हुआ नीरस भोजन क्षीररसरूप हो जाय तथा जिनके वचन दुर्बलको क्षीरके समान पुष्ट करे सो क्षीररसऋद्धि है ॥ ३ ॥ ऊपर कहा हुआ भोजन, मिष्ट रसरूप परिणमित हो जाय सो मधुस्रावीरसऋद्धि है ॥ ४ ॥ तथा वह भोजन घृतरसरूप परिणमित हो जाय सो घृतस्राविरसऋद्धि है ॥ ५ ॥ भोजन अमृत रसरूप परिणमित हो जाय सो अमृतस्रावीरसऋद्धि है ॥ ६ ॥ इसप्रकार ६ प्रकार की रसऋद्धि है।

१०. आठवीं क्षेत्रऋद्धिका स्वरूप

क्षेत्रऋद्धि दो प्रकार की है। (१) अक्षीणमहान और (२) अक्षीणमहालय। उनका स्वरूप निम्नप्रकार है।

लाभांतरायके उत्कृष्ट क्षयोपशमसे अति संयमवान मुनिको जिस भाजनमेंसे जो भोजन दे उस भाजनमेंसे चक्रवर्ती का समस्त सैन्य भोजन करले तो भी उस दिन भोजन सामग्री न घटे सो अक्षीणमहानसक्षेत्रऋद्धि है ॥ १ ॥ ऋद्धिसहितमुनि जिस स्थानमें बैठे वहाँ देव, राजा, मनुष्यादिक बहुतसे आकर बैठें तो भी क्षेत्रमें कमी न पड़े, आपसमें बाधा न होय सो अक्षीणमहालयक्षेत्रऋद्धि है ॥ २ ॥ इसप्रकार दो प्रकारकी क्षेत्रऋद्धि है।

इसप्रकार, पहिले आर्य और म्लेच्छ ऐसे मनुष्योंके दो भेद किये थे उनमें से आर्यके ऋद्धिप्राप्त और अनऋद्धिप्राप्त ऐसे दो भेद किये। उनमेंसे ऋद्धिप्राप्त आर्योंके ऋद्धिके भेदोंका स्वरूप वर्णन किया, अब अनऋद्धिप्राप्त आर्योंका भेद वर्णन करते हैं।

११. अनऋद्धिप्राप्त आर्य

अनऋद्धिप्राप्त आर्योंके पाँच भेद हैं—(१) क्षेत्रआर्य, (२) जातिआर्य, (३) कर्मआर्य, (४) चारित्रआर्य और (५) दर्शनआर्य, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है।

(१) क्षेत्रआर्य—जो मनुष्य आर्य देशमें उत्पन्न हों उन्हें क्षेत्रआर्य कहते हैं।

(२) जातिआर्य—जो मनुष्य इक्ष्वाकुवंश, भोजवंशादिकमें उत्पन्न हों उन्हें जातिआर्य कहते हैं।

(३) कर्मआर्य—उसके तीन भेद हैं—सावद्यकर्मआर्य, अल्पसावद्यकर्मआर्य और असावद्यकर्मआर्य। उनमेंसे सावद्यकर्मआर्योंके ६ भेद हैं—असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य।

जो तलवार इत्यादि आयुध धारण करके आजीविका करते हैं उन्हें असिकर्मआर्य कहते हैं। जो द्रव्य की आय तथा खर्च लिखनेमें निपुण हों उन्हें मसिकर्मआर्य कहते हैं। जो हल बखर इत्यादि खेतीके साधनोंसे खूब खेती करके आजीविकामें प्रवीण हों उन्हें कृषिकर्मआर्य कहते हैं। आलेख्य, गणितादि बहत्तर कलामें प्रवीण हों उन्हें विद्याकर्मआर्य कहते हैं।

धोबी हजाम, कुम्भार, लुहार, सुनार इत्यादिके कार्यमें प्रवीण हों उन्हें शिल्पकर्मआर्य कहते हैं। जो चन्दनादि गंध, घी इत्यादि रस, धान्य, कपास, वस्त्र, मोती-माणिक इत्यादि अनेकप्रकारकी वस्तुओंका संग्रह करके व्यापार करते हैं उन्हें वाणिज्यकर्मआर्य कहते हैं।

ये ६ प्रकारके कर्म जीवकी अविरतदशामें (पहिलेसे चौथे गुणस्थान तक) होते हैं इसलिये उन्हें सावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

विरताविरतरूप परिणत जो श्रावक (पांचवें गुणस्थानवर्ती) हैं उन्हें अल्पसावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

जो सकलसंयमी साधु हैं उन्हें असावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

(असावद्यकर्मआर्य और चारित्रआर्यके वीच क्या भेद है सो वताया जायगा)

(४) चारित्रआर्य--के दो भेद हैं—अभिगतचारित्रआर्य और अनभिगतचारित्रआर्य।

जो उपदेशके विना ही चारित्रमोहके उपशम तथा क्षयसे आत्माकी उज्ज्वलतारूप चारित्रपरिणामको धारण करें, ऐसे उपशांतकषाय और क्षीणकषायगुणस्थानधारकमुनि अभिगतचारित्रआर्य हैं। और जो अंतरंगमें चारित्रमोहके क्षयोपशमसे तथा वाह्यमें उपदेशके निमित्तसे संयमरूप परिणाम धारण करें वे अनभिगतचारित्रआर्य हैं।

असावद्यआर्य और चारित्रआर्य ये दोनों साधु ही होते हैं, परन्तु वे साधु जब पुण्यकर्मका वंध करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानमें) उन्हें असावद्यकर्मआर्य कहते हैं, और जब कर्मकी निर्जरा करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानसे ऊपर) उन्हें चारित्रआर्य कहते हैं।

(५) दर्शनआर्य--के दश भेद हैं—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, वीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ [इन दश भेद संबंधी विशेष खुलासा मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ६ में से जानना चाहिये]

इसप्रकार अनऋद्धिप्राप्तआर्यके भेदोंका स्वरूप कहा। इसप्रकार आर्य मनुष्योंका वर्णन पूरा हुआ।

अब म्लेच्छ मनुष्योंका वर्णन करते हैं।

१२. म्लेच्छ

म्लेच्छ मनुष्य दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज, (१) पाँच भरतके पाँच खण्ड, पाँच ऐरावतके पाँच खण्ड और विदेहके आठसौ खण्ड, इसप्रकार (२५ + २५ + ८००) आठसौ पचास म्लेच्छ क्षेत्र हैं, उनमें उत्पन्न हुए मनुष्य कर्मभूमिज हैं, (२) लवणसमुद्रमें अड़तालीस द्वीप तथा कालोदधि समुद्रमें अड़तालीस द्वीप, दोनों मिलकर छियानवे द्वीपोंमें कुभोगभूमियाँ मनुष्य हैं उन्हें अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहते हैं। उन अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ मनुष्योंके चेहरे विचित्र प्रकारके होते हैं, उनके मनुष्योंके शरीर (धड़) और उनके ऊपर हाथी, रीछ, मछली इत्यादिकोंका सिर, बहुत लम्बे कान, एक पग, पूँछ इत्यादि होती है। उनकी आयु एक पल्यकी होती है और वृक्षोंके फल मिट्टी इत्यादि उनका भोजन है ॥ ३६ ॥

कर्मभूमिका वर्णन

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थ—पाँच मेरु सबधी पाँच भरत, पाँच ऐरावत, देवकुरु तथा उत्तरकुरु ये दोनों छोड़कर पाँच विदेह, इसप्रकार अढ़ाईद्वीपमें कुल पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

टीका

१ जहाँ असि मसि, कृषि, वाणिज्य विद्या और शिल्प इन छह कर्म की प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। विदेहके एक मेरु सबंधी बत्तीस भेद हैं, और पाँच विदेह हैं उनके ३२ × ५ = १६० क्षेत्र पाँच विदेहके हुए और पाँच भरत तथा पाँच ऐरावत ये दश मिलकर कुल पन्द्रह कर्मभूमियोंके १७० क्षेत्र हैं। ये पवित्रताके धर्मके क्षेत्र हैं और मुक्ति प्राप्त करनेवाले मनुष्य यहाँ ही जन्म लेते हैं।

एक मेरुसंबंधी हिमवत्, हरिक्षेत्र, रम्यक्, हिरण्यवत्, देवकुरु और उत्तरकुरु ऐसी छह भोगभूमियाँ हैं। इसप्रकार पाँच मेरु संबंधी तीस भोगभूमियाँ हैं। उनमेंसे दश जघन्य, दश मध्यम, और दश उत्कृष्ट हैं। उनमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं। उनके भोग भोगकर जीव संक्लेश रहित—सातारूप रहते हैं।

२. प्रश्न—कर्मके आश्रय तो तीनलोकका क्षेत्र है तो कर्मभूमिके एकसौ सत्तर क्षेत्र ही क्यों कहते हो, तीनलोक को कर्मभूमि क्यों नहीं कहते?

उत्तरः—सर्वार्थसिद्धि पहुँचनेका शुभकर्म और सातवें नरक पहुँचने का पापकर्म इन क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य उपार्जन करते हैं। असि, मसि, कृषि आदि छहकर्म भी इन क्षेत्रोंमें ही होते हैं, तथा देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह प्रकार के शुभ (प्रशस्त) कर्म भी इन क्षेत्रोंमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य करते हैं; इसीलिये इन क्षेत्रोंको ही कर्मभूमि कहते हैं॥ ३७॥

मनुष्यों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

नृस्थिती पराऽवरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते॥ ३८॥

अर्थः—मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त की है।

टीका

यह ध्यान रखना चाहिये कि-मनुष्यभव एक प्रकार की त्रसगति है, दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक त्रसगति है। उसका एक साथ उत्कृष्टकाल दो हजार सागरोपमसे कुछ अधिक है। उसमें संज्ञी पर्याप्तक मनुष्यत्वका काल तो बहुत ही थोड़ा है। मनुष्यभवमें जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करके धर्मका प्रारंभ न करे तो मनुष्यत्व मिटने के बाद कदाचित् त्रसमें ही रहे तो भी नारकी-देव-तिर्यंच और बहुत थोड़े मनुष्यभव करके अंतमें त्रस पर्यायका

काल पूरा करके एकेन्द्रियत्व पावेगा। वहाँ अधिक से अधिक काल (उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल) तक रहकर एकेन्द्रियपर्याय (शरीर) धारण करेगा ॥ ३८ ॥

तिर्यंचो की आयुस्थिति

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

अर्थ—तिर्यंचोंकी आयु की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति उतनी ही (मनुष्यों जितनी) है।

टीका

तिर्यंचोंकी आयुके उपविभाग निम्नप्रकार हैं—

जीवकी जाति	उत्कृष्ट आयु
(१) पृथ्वीकाय	२२००० वर्ष
(२) वनस्पतिकाय	१०००० वर्ष
(३) अपकाय	७००० वर्ष
(४) वायुकाय	३००० वर्ष
(५) अग्निकाय	३ दिवस
(६) दो इन्द्रिय	१२ वर्ष
(७) तीन इन्द्रिय	४९ दिवस
(८) चतुरिन्द्रिय	६ मास
(९) पचेन्द्रिय	
१ कर्मभूमिके पशु असंज्ञी पचेन्द्रिय मछली इत्यादि	१ करोड पूर्व वर्ष
२ परिसर्प जातिके सर्प	९ पूर्वांग वर्ष
३ सर्प	४२००० वर्ष
४ पक्षी	७२००० वर्ष
५ भोगभूमिके चौपाये प्राणी	३

भोगभूमियोंको छोड़कर इन सब की जघन्य आयु एक अंतर्मुहूर्तकी है ॥ ३६ ॥

क्षेत्रके नापका कोष्टक

—अ—

(१) अनंत पुद्गल × अनन्त पुद्गल =	१ उत्संज्ञासंज्ञा,
(२) ८ उत्संज्ञासंज्ञा =	१ संज्ञासंज्ञा,
(३) ८ संज्ञासंज्ञा =	१ त्रुटरेणु,
(४) ८ त्रुटरेणु =	१ त्रसरेणु,
(५) ८ त्रसरेणु =	१ रथरेणु,
(६) ८ रथरेणु =	१ उत्तम भोगभूमियांके वालका अग्रभाग,
(७) ८ वैसे (वालके) अग्रभाग =	१ मध्यम भोगभूमियांके वालका अग्रभाग,
(८) ८ वैसे (वालके) अग्रभाग =	१ जघन्य भोगभूमियांके वालका अग्रभाग,
(९) ८ वैसे (वालके) अग्रभाग =	१ कर्म भूमियांके वालका अग्रभाग,
(१०) ८ वैसे (वालके) अग्रभाग =	१ लीख,
(११) ८ लीख =	१ जूं (यूक) सरसों,
(१२) ८ यूक =	१ यव (जवके बीजका व्यास)
(१३) ८ यव =	१ उत्सेध अंगुल (छोटी अंगुलीकी चौड़ाई)
(१४) ५०० उत्सेध अंगुल =	१ प्रमाणअंगुल अर्थात् अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीकी अँगुलीकी चौड़ाई,

—ब—

(१) ६ अंगुल	=	१ पाद
(२) २ पाद (१२ अंगुल)	=	१ विलस्त
(३) २ विलस्त	=	१ हाथ
(४) २ हाथ	=	१ गज (ईषु)

(५) २ गज	=	१ धनुष (Bow)
(६) २००० धनुष	=	१ कोस
(७) ४ कोस	=	१ योजन

जहाँ जो अंगुल लागू पड़ता हो वहाँ उस प्रमाण माप समझना चाहिये।

नोट—१ प्रमाणअंगुल उत्सेधांगुलसे ५०० गुणा है, उससे द्वीप, समुद्र, पर्वत, द्वीप समुद्रकी वेदी विमान नरकोंका प्रस्तार इत्यादि अकृत्रिम वस्तुओं की लम्बाई चौड़ाई मापी जाती है।

२ उत्सेध अंगुलसे देव-मनुष्य तिर्यंच और नारकियोंका शरीर तथा अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंके देहका माप किया जाता है। देवोंके नगर तथा मंदिर भी इस ही मापसे मापे जाते हैं।

३ जिस कालमें जैसा मनुष्य हो उस कालमें उसका अंगुल आत्मांगुल कहलाता है। पल्यके अर्धच्छेदका असंख्यातमें भागप्रमाण घनांगुल मांडकर गुणा करने से एक जगतश्रेणी होती है।

जगतश्रेणी=७ राजू लोककी लम्बाई जो उसके अंतमें नीचे है वह।

जगतप्रतर= ७ राजु × ७ राजू = ४९ राजुक्षेत्र उस लोकके नीचे भागका क्षेत्रफल (लम्बाई×चौड़ाई) है।

जगतघन (लोक) = $७^३$ राजु अर्थात् ७ राजु × ७ राजु × ७ राजु=३४३ राजु यह सम्पूर्णलोकका माप (लम्बाई चौड़ाई मोटाई) है ॥३६॥

मध्यलोकके वर्णनका संक्षिप्त अवलोकन

जम्बूद्वीप

(१) मध्यलोकके अत्यन्त बीचमें एक लाख* योजन चौड़ा, गोल (थाली

* एक योजन=दो हजार कोस

जैसा) जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपके बीचमें एक लाख योजन सुमेरुपर्वत है, जिसकी एक हजार योजन जमीन के अन्दर जड़ है नव्वे हजार योजन जमीन के ऊपर है, और उसकी चालीस योजनकी चूलिका (चोटी) है।

जम्बूद्वीपके बीचमें पश्चिम पूर्व लम्बे छह कुलाचल (पर्वत) हैं उनसे जम्बूद्वीपके सात खंड होगये हैं, उन सातखंडोंके नाम भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् और ऐरावत हैं।

(२) उत्तरकुरु-देवकुरु

विदेहक्षेत्रमें मेरुके उत्तरदिशामें उत्तरकुरु तथा दक्षिणदिशामें देवकुरु-क्षेत्र है।

(३) लवणसमुद्र

जम्बूद्वीपके चारों तरफ खाईके माफक घेरे हुए दो लाख योजन चौड़ा लवणसमुद्र है।

(४) धातकीखंडद्वीप

लवणसमुद्रके चारों ओर घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ा धातकी-खंडद्वीप है। इस द्वीपमें दो मेरु पर्वत हैं, इसलिये क्षेत्र तथा कुलाचल (पर्वत) इत्यादि की सभी रचना जम्बूद्वीपसे दूनी है।

(५) कालोदधिसमुद्र

धातकीखंडके चारों ओर घेरे हुए आठ लाख योजन चौड़ा कालोदधि-समुद्र है।

(६) पुष्करद्वीप

कालोदधिसमुद्रके चारों ओर घेरे हुए सोलहलाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस द्वीपके बीचोबीच वलय (चूड़ीके) के आकार, पृथ्वी पर एक हजार बावीस (१०२२) योजन चौड़ा, सत्रहसौ इक्कीस योजन (१७२१) ऊँचा और चारसौ सत्तावीस (४२७) योजन जमीनके अन्दर जड़वाला, मानुषोत्तर पर्वत है और उससे पुष्करद्वीपके दो खंड होगये हैं।

पुष्करद्वीपके पहिले अर्धभागमें जम्बूद्वीपसे दूनी अर्थात् धातकीखंड बराबर सब रचना है।

(७) नरलोक (मनुष्यक्षेत्र)

जम्बूद्वीप, धातकीखंड, पुष्करार्ध (पुष्करद्वीपका आधाभाग) लवणसमुद्र और कालोदधिसमुद्र इतना क्षेत्र नरलोक कहलाता है।

(८) दूसरे द्वीप तथा समुद्र

पुष्करद्वीपसे आगे परस्पर एक दूसरेसे घिरे हुए दूने दूने विस्तार वाले मध्यलोकके अंततक द्वीप और समुद्र हैं।

(९) कर्मभूमि और भोगभूमिकी व्याख्या

जहाँ असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, और वाणिज्य, इन छह कर्मों की प्रवृत्ति हो वे कर्मभूमियाँ हैं। जहाँपर उनकी प्रवृत्ति न हो वे भोगभूमियाँ कहलाती हैं।

(१०) पन्द्रह कर्मभूमियाँ

पाँच मेरुसंबंधी पाँच भारत, पाँच ऐरावत और (देवकुरु उत्तरकुरु को छोड़कर) पाँच विदेह इसप्रकार कुल पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

(११) भोगभूमियाँ

पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत् ये दश क्षेत्र जघन्य भोगभूमियाँ हैं। पाँच हरि और पाँच रम्यक् ये दश क्षेत्र मध्यम भोगभूमियाँ हैं, और पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु ये दश क्षेत्र उत्कृष्ट भोगभूमियाँ हैं।

(१२) भोगभूमि और कर्मभूमि जैसी रचना

मनुष्य क्षेत्रसे बाहरके सभी द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमि जैसी रचना है, परन्तु स्वयंभूरमणद्वीपके उत्तरार्धमें तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें और चारों कोनेकी पृथ्वियोंमें कर्मभूमि जैसी रचना है। लवणसमुद्र और कालोदधिसमुद्रमें ९६ अंतर्द्वीप हैं। वहाँ कुभोगभूमिकी रचना है, और वहाँ पर मनुष्य ही रहते हैं। उन मनुष्योंकी आकृतियाँ अनेकप्रकारकी कुत्सित हैं।

स्वयंभूरमणद्वीपके उत्तरार्धकी, स्वयंभूरमणसमुद्रकी और चारों कोनों की रचना कर्मभूमि जैसी कही जाती है; क्योंकि कर्मभूमिमें और वहाँ विकलत्रय (दो इन्द्रियसे चार इन्द्रिय) जीव हैं, और भोगभूमिमें विकलत्रय जीव नहीं हैं। तिर्यक्लोकमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच रहते हैं, किन्तु जलचर तिर्यंच लवणसमुद्र, कालोदधिसमुद्र, और स्वयंभूरमणसमुद्रको छोड़कर अन्य समुद्रोंमें नहीं हैं।

स्वयंभूरमणसमुद्रके चारों ओर के कोनेके अतिरिक्त भागको तिर्यक्लोक कहा जाता है।

उपसंहार

लोकके इन क्षेत्रोंको किसीने बनाये नहीं हैं, किन्तु अनादि अनंत हैं। स्वर्ग-नरक और द्वीपसमुद्र आदि जो हैं वे अनादिसे इसीप्रकार हैं, और सदा ऐसे ही रहेंगे। जैसे जीवादिक पदार्थ इस लोकमें अनादिनिधन हैं उसी प्रकार यह भी अनादिनिधन समझना चाहिये।

इसप्रकार यथार्थ श्रद्धानके द्वारा लोकमें सभी पदार्थ अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादिनिधन समझना चाहिये। जो कुछ कृत्रिम घरबार-इन्द्रियगम्यवस्तुएँ नवीन दिखाई देती हैं वे सब अनादि निधन पुद्गलद्रव्यकी संयोगी पर्यायें हैं। वे पुद्गल कुछ नये नहीं बने हैं। इसलिये यदि जीव निरर्थक भ्रमसे सच्चे-झूठेका ही निश्चय न करे तो वह सच्चा स्वरूप नहीं जान सकता। प्रत्येक जीव अपनी श्रद्धाका फल प्राप्त करता है इसलिये योग्य जीवोंको सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिये।

सात नरकभूमियों, बिल, लेश्या, आयु, द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर, नदी, मनुष्य-तिर्यंचकी आयु इत्यादिका वर्णन करके श्री आचार्यदेवने तीसरा अध्याय पूर्ण किया है।

इसप्रकार तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन किया है, अब ऊर्ध्वलोकका वर्णन चौथे अध्यायमें किया जायगा। इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके तीसरे अध्यायकी टीका समाप्त हुई।

❁ श्री उमास्वामिविरचित ❁

मोक्ष शास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका





चतुर्थ अध्याय



टीका सग्राहक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

अध्याय चौथा



भूमिका

इस शास्त्रके पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें यह बताया गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है। तत्पश्चात् दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनका लक्षण 'तत्वार्थ श्रद्धान' कहा गया है। पश्चात् जिन तत्वोंके यथार्थ श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है उनके नाम देकर चौथे सूत्रमें सात तत्त्व बताये गये हैं। उन सात तत्त्वोंमें पहिला जीवतत्त्व है। उस जीवका स्वरूप समझानेके लिए दूसरे अध्यायमें यह बतलाया गया है कि जीवके भाव, जीवका लक्षण, इन्द्रियाँ—जन्म शरीर इत्यादिके साथ संसारी जीवोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है। तीसरे अध्यायमें चार प्रकारके संसारी जीवोंमेंसे नारकी जीवोंका वर्णन किया है तथा जीवोंके निवासस्थान बतलाये हैं, और यह बतलाया है कि मनुष्य तथा अन्य जीवोंके रहनेके क्षेत्र कौनसे हैं। तथा मनुष्य और तिर्यंचोंकी आयु इत्यादिके सम्बन्धमें कुछ बातें बताई गई हैं।

इसप्रकार संसारकी चार गतियोंके जीवोंमेंसे मनुष्य, तिर्यंच और नरक इन तीनका वर्णन तीसरे अध्यायमें हो चुका है, अब देवाधिकार शेष रहता है, जो कि इस चौथे अध्यायमें मुख्यतासे निरूपित किया गया है। इस प्रकार अध्याय २ सूत्र १० में जीवके दो भेद (संसारी और मुक्त) बतलाये थे उनमेंसे संसारी जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाला अधिकार वर्णित हो जाने पर मुक्त जीवका अधिकार शेष रह जाता है जो कि दशवें अध्यायमें वर्णित किया जायगा।

ऊर्ध्वलोक वर्णन

देवोंके भेद

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थ—देव चार समूहवाले हैं अर्थात् देवोंके चार भेद हैं—१. भवनवासी, २. व्यन्तर, ३. ज्योतिषी और ४. वैमानिक।

टीका

देव—जो जीव देवगतिनामकर्मके उदयसे अनेक द्वीप, समुद्र तथा पर्वतादि रमणीक स्थानोंमें क्रीड़ा करें उन्हें देव कहते हैं ॥ १ ॥

भवनत्रिक देवोंमें लेश्याका विभाग

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ—पहिलेके तीन निकायोंमें पीत तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

टीका

(१) कृष्ण=काली, नील=नीले रंगकी, कापोत=चितकबरी—कबूतरके रंग जैसी, पीत=पीली।

(२) यह वर्णन भावलेश्याका है। वैमानिक देवोंकी भावलेश्याका वर्णन इस अध्यायके २२ वें सूत्रमें दिया है ॥ २ ॥

चार निकायके देवोंके प्रभेद

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

अर्थ—कल्पोपपन्न (सोलहवें स्वर्गतकके देव) पर्यन्त इन चारप्रकारके देवोंके क्रमसे दश, आठ, पाँच और बारह भेद हैं।

टीका

भवनवासियोंके दश, व्यन्तरोंके आठ, ज्योतिषियोंके पाँच, और कल्पोपपन्नोंके बारह भेद हैं [कल्पोपपन्न देव वैमानिक जातिके ही हैं] ॥ ३ ॥

चार प्रकारके देवोंके सामान्य भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए चार प्रकारके देवोंमें हरएकके दश भेद हैं—१—इन्द्र, २—सामानिक, ३—त्रायस्त्रिंश, ४—पारिषद, ५—आत्मरक्ष, ६—लोकपाल, ७—अनीक, ८—प्रकीर्णक, ९—आभियोग्य, और १०—किल्विषिक।

टीका

१. इन्द्र—जो देव दूसरे देवोंमें नहीं रहनेवाली अणिमादिक ऋद्धियों से सहित हों उन्हें इन्द्र कहते हैं। ये देव राजाके समान होते हैं। [Like a King]

२. सामानिक—जिन देवोंके आयु, वीर्य, भोग उपभोग इत्यादि इन्द्र समान होते हैं, तो भी आज्ञारूपी ऐश्वर्यसे रहित होते हैं वे सामानिक देव कहलाते हैं। ये देव पिता या गुरुके समान होते हैं [Like father, teacher]

३. त्रायस्त्रिंश—जो देव मंत्री-पुरोहितके स्थान योग्य होते हैं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्रकी सभामें ऐसे देव तेतीस ही होते हैं [Ministers]

४ पारिषद—जो देव इन्द्रकी सभामें बैठनेवाले होते हैं उन्हें पारिषद कहते हैं। [Courtiers]

५ आत्मरक्ष—जो देव अंगरक्षकके समान होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। [Body guards]

नोट—क्योंकि देवोंमें घात इत्यादि नहीं होता तो भी ऋद्धिमहिमाके प्रदर्शक आत्मरक्ष देव होते हैं।

६. लोकपाल—जो देव कोतवाल (फौजदार) की समान लोगोंका पालन करें उन्हें लोकपाल कहते हैं। [Police]

७. अनीक—जो देव पैदल इत्यादि सात प्रकारकी सेनामें विभक्त रहते हैं उन्हें अनीक कहते हैं। [Army]

८. प्रकीर्णक—जो देव नगरवासियोंके समान होते हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। [People]

९. आभियोग्य—जो देव दासों की तरह सवारी आदिके काम आते हैं उन्हें आभियोग्य कहते हैं। इसप्रकारके देव घोड़ा, सिंह हंस इत्यादि प्रकार के वाहनरूप (दूसरे देवोंके उपयोगके लिये) अपना रूप बनाते हैं। [Conveyances]

१०. किल्विषिक—जो देव चांडालादिकी भांति हलका काम करते हैं उन्हें किल्विषिक कहा जाता है [Servile grade] ॥ ४ ॥

व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें इन्द्र आदि भेदों की विशेषता

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

अर्थः—ऊपर जो दश भेद कहे हैं उनमेंसे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये भेद व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें नहीं होते अर्थात् उनमें दो भेदोंको छोड़ कर बाकीके आठ भेद होते हैं ॥ ५ ॥

देवोंमें इन्द्रोंकी व्यवस्था

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

अर्थः—भवनवासी और व्यन्तरोंमें प्रत्येक भेदमें दो दो इन्द्र होते हैं।

टीका

१. भवनवासियोंके दश भेद हैं इसलिये उनमें बीस इंद्र होते हैं। व्यन्तरोंके आठ भेद हैं इसलिये उनमें सोलह इन्द्र होते हैं; और दोनोंमें इतने ही (इन्द्र जितने ही) प्रतीन्द्र होते हैं।

२ जो देव युवराजसमान अथवा इन्द्र समान होते हैं अर्थात् जो देव इन्द्र जैसा कार्य करते हैं उन्हें प्रतीन्द्र कहते हैं।

[त्रिलोकप्रज्ञप्ति, पृष्ठ ११८-११६]

३ श्री तीर्थंकरभगवान सौ इन्द्रोंसे पूज्य होते हैं वे सौ इन्द्र निम्नलिखित हैं।

४० भवनवासियोंके—बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र।
३२ व्यन्तरोंके—सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र।
२४ सोलह स्वर्गोंमें से प्रथमके चार देवलोकोंके चार, मध्यमके आठ देवलोकोंके चार और अंतके चार देवलोकोंके चार इस प्रकार बारह इन्द्र और बारह प्रतीन्द्र।
२ ज्योतिषी देवोंके—चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र।
१ मनुष्योंके—चक्रवर्ती इन्द्र।
१ तिर्यंचोंके—अष्टापद सिंह इन्द्र।

१००

देवोंका काम सेवन संबंधी वर्णन

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—ऐशानस्वर्गतकके देव (अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, और पहिले तथा दूसरे स्वर्गके देव) मनुष्योंकी भांति शरीरसे काम सेवन करते हैं।

टीका

देवोंमें मनुष्यकी उत्पत्ति गर्भद्वारा नहीं होती, तथा वीर्य और दूसरी धातुओंसे बना हुआ शरीर उनके नहीं होता, उनका शरीर वैक्रियिक होता है। केवल मनकी कामभोगरूप वासना तृप्त करनेके लिये वे यह उपाय करते हैं। उनका वेग उत्तरोत्तर मंद होता है इसलिये थोड़े ही साधनोंसे यह वेग मिट जाता है। नीचेके देवोंकी वासना तीव्र होती है इसलिये वीर्य

स्खलनका संबंध नहीं होने पर भी शरीर संबंध हुए बिना उनकी वासना दूर नहीं होती। उनसे भी आगे के देवोंकी वासना कुछ मंद होती है इसलिये वे आलिंगनमात्रसे ही संतोष मानते हैं। आगे आगेके देवोंकी वासना उनसे भी मंद होती है इसलिये वे रूप देखनेसे तथा शब्द सुननेसे ही उनके मनकी वासना शांत हो जाती है। उनसे भी आगेके देवोंके चिंतवनमात्रसे कामशांति हो जाती है। कामेच्छा सोलहवें स्वर्गतक है उसके आगेके देवोंके कामेच्छा उत्पन्न ही नहीं होती ॥ ७ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थः—शेष स्वर्गके देव, देवियोंके स्पर्शसे, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मनके विचारोंसे काम सेवन करते हैं।

टीका

तीसरे और चौथे स्वर्गके देव, देवियोंके स्पर्शसे, पाँचवें से आठवें स्वर्ग तकके देव, देवियोंके रूप देखनेसे, नवमें से बारहवें स्वर्ग तकके देव, देवियोंके शब्द सुननेसे, और तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तकके देव, देवियों संबंधी मनके विचारमात्रसे तृप्त हो जाते हैं–उनकी कामेच्छा शांत हो जाती है ॥ ८ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

अर्थः—सोलहवें स्वर्गसे आगेके देव कामसेवन रहित हैं (उनके कामेच्छा उत्पन्न ही नहीं होती तो फिर उसके प्रतिकारसे क्या प्रयोजन?)

टीका

१. इस सूत्रमें 'परे' शब्दसे कल्पातीत (सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके) सब देवोंका संग्रह किया गया है; इसलिये यह समझना चाहिये कि अच्युत (सोलहवें) स्वर्गके ऊपर नवग्रैवेयिकके ३०९ विमान, नव अनुदिश विमान

और पाँच अनुत्तर विमानोंमें वसनेवाले अहमिन्द्र हैं, उनके कामसेवनके भाव नहीं हैं वहाँ देवांगनाएँ नहीं हैं। (सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके देवोंमें भेद नहीं है, सभी समान होते हैं इसलिये उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं)

२ नवग्रैवेयिकके देवोंमेंसे कुछ सम्यग्दृष्टि होते हैं और कुछ मिथ्यादृष्टि होते हैं। यथाजात द्रव्यलिंगी जैन मुनिके रूपमें अतिचार रहित पाँच महाव्रत इत्यादि पालन किये हों ऐसे मिथ्यादृष्टि भी नवमें ग्रैवेयिक तक उत्पन्न होते हैं, मिथ्यादृष्टियोंके ऐसा उत्कृष्ट शुभभाव है। ऐसा शुभभाव प्रत्येक मिथ्यादृष्टि जीवने अनन्तवार किया [देखो अध्याय २ सूत्र १० की टीका पैरा १०] फिर भी यह जीव धर्मके अंशको या प्रारंभको प्राप्त नहीं कर सका। आत्मप्रतीति हुए विना समस्त व्रत और तप बालव्रत और बालतप कहलाते हैं। जीव ऐसे बालव्रत और बालतप चाहे जितने वार (अनन्तानंत वार) करे तो भी उससे सम्यग्दर्शन अथवा धर्मका प्रारंभ नहीं हो सकता इसलिये जीवोंको पहिले आत्म भानके द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी विशेष आवश्यकता है। मिथ्यादृष्टिके उत्कृष्ट शुभभावके द्वारा अंशमात्र धर्म नहीं हो सकता। शुभभाव विकार है और सम्यग्दर्शन आत्माकी अविकारी अवस्था है। विकारसे या विकारभावके बढ़नेसे अविकारी अवस्था नहीं प्रगट होती परन्तु विकारके दूर होनेसे ही प्रगट होती है। शुभभावसे धर्म कभी भी नहीं होता ऐसी मान्यता पहिले करना चाहिये, इसप्रकार जीव पहिले मान्यताकी भूलको दूर करता है और पीछे क्रमक्रमसे चारित्रके दोष दूर करके संपूर्ण शुद्धताको प्राप्त करता है।

३ नवग्रैवेयिकके सम्यग्दृष्टि देव और उससे ऊपरके देव (सबके सब सम्यग्दृष्टि ही हैं) उनके चौथा गुणस्थान ही होता है। उनके देवांगनाओंका संयोग नहीं होता फिर भी पाँचवें गुणस्थानवर्ती स्त्रीवाले मनुष्य और तिर्यंचोंकी अपेक्षा उनके अधिक कषाय होती है ऐसा समझना चाहिये।

४ किसी जीवके कषायकी बाह्य प्रवृत्ति तो बहुत होती है और अंतरंग कषायशक्ति कम होती है—(१) तथा किसीके अंतरंग कषायशक्ति

तो बहुत हो और बाह्य प्रवृत्ति थोड़ी हो उसे तीव्र कषायवान् कहा जाता है।
(२) दृष्टांत—

(१) पहिले भागका दृष्टांत इसप्रकार है—व्यन्तरादि देव कषायसे नगर नाशादि कार्य करते हैं तो भी उनके कषाय शक्ति थोड़ी होनेसे पीतलेश्या कही गई है। एकेन्द्रियादि जीव (बाह्यमें) कषाय-कार्य करते हुए मालुम नहीं होते फिर भी उनके तीव्रकषायशक्ति होनेसे कृष्णादि लेश्याएँ कही गई हैं।

(२) दूसरे भागका दृष्टांत यह सूत्र ही है. जो यह बतलाता है कि सर्वार्थसिद्धिके देव कषायरूप अल्प प्रवृत्त होते हैं। वे अब्रह्मचर्यका सेवन नहीं करते, उनके देवांगनाएँ नहीं होतीं, फिर भी पंचमगुणस्थानवर्ती (देश-संयमी) की अपेक्षा उनके कषायशक्ति अधिक होनेसे वे चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयमी हैं। पंचमगुणस्थानवर्ती जीव व्यापार और अब्रह्मचर्यादि कषाय-कार्यरूप बहुत प्रवृत्ति करते हैं फिर भी उनको मंदकषायशक्ति होनेसे देश-संयमी कहा है, और यह सूत्र यह भी बतलाता है कि नवग्रैवेयकके मिथ्या-दृष्टि जीवोंके बाह्यब्रह्मचर्य है फिर भी वे पहिले गुणस्थानमें हैं, और पंचम-गुणस्थानवर्ती जीव विवाहादि करते हैं तथा अब्रह्मचर्यादिकार्यरूप प्रवृत्ति करते हैं फिर भी वे देशसंयमी सम्यग्दृष्टि हैं।

५. इस सूत्रका सिद्धांत

बाह्य संयोगोंके सद्भाव या असद्भावका और बाह्य प्रवृत्ति या निवृत्तिको देख करके बाह्य स्वांगके अनुसार जीवकी अपवित्रता या पवित्रता का निर्णय करना न्यायविरुद्ध है; और अंतरंग मान्यता तथा कषायशक्ति परसे ही जीव की पवित्रता या अपवित्रता का निर्णय करना न्यायपूर्ण है। मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा (बाहरसे आत्माका माप करनेवाला) होता है इसलिये वह यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता, क्योंकि उसका लक्ष बाह्य संयोगोंके सद्भाव या असद्भाव पर तथा बाह्य-प्रवृत्ति या निवृत्ति पर होता है इसलिये उसका निर्णय बाह्य स्थितिके आधारसे होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा

अन्तर्दृष्टिसे आत्माका माप करनेवाला) होता है इसलिये उसका निर्णय अंतरंग स्थिति पर अवलंबित होता है, इसलिये वह अन्तरंगमान्यता और कषायशक्ति कैसी है इसपरसे निर्णय करता है, इसलिये उसका निर्णय यथार्थ होता है ॥ ९ ॥

भवनवासी देवोंके दश भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंके दश भेद हैं—१—असुरकुमार, २—नागकुमार, ३—विद्युत्कुमार, ४—सुपर्णकुमार, ५—अग्निकुमार, ६—वातकुमार, ७—स्तनितकुमार, ८—उदधिकुमार, ९—द्वीपकुमार और १०—दिक्कुमार।

टीका

१ २० वर्षके नीचेके युवकके जैसा जीवन और आदत होती है वैसा ही जीवन और आदत इन देवोंके भी होती है इसलिये उन्हें कुमार कहते हैं।

२ उनके रहनेका स्थान निम्नप्रकार है—

प्रथम पृथ्वी-रत्नप्रभामें तीन भूमियाँ (Strata) हैं उसमें पहिली भूमिको 'खरभाग' कहते हैं उसमें असुरकुमारको छोड़कर नवप्रकारके भवनवासी देव रहते हैं।

जिस भूमिमें असुरकुमार रहते हैं उस भागको 'पंकभाग' कहते हैं, उसमें राक्षस भी रहते हैं। 'पंकभाग' रत्नप्रभा पृथ्वीका दूसरा भाग है।

रत्नप्रभाका तीसरा (सबसे नीचा) भाग 'अब्बहुल' कहलाता है वह पहिला नरक है।

३ भवनवासी देवोंकी यह असुरकुमारादि दश प्रकारकी संज्ञा उन उन प्रकारके नामकर्मके उदयसे होती है ऐसा जानना चाहिये। 'जो देव युद्ध करें, प्रहार करें वे असुर हैं' ऐसा कहना ठीक नहीं है अर्थात् वह देवोंका अवर्णवाद है और उससे मिथ्यात्वका बंध होता है।

४ दश जातिके भवनवासी देवोंके सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं; ये भवन महासुगन्धित, अत्यंत रमणीक, और अत्यंत उद्योतरूप हैं; और उतनी ही संख्या (७,७२,००,०००) जिन चैत्यालयोंकी है। दश-प्रकारके चैत्यवृक्ष जिनप्रतिमासे विराजित होते हैं ।

५. भवनवासी देवोंका आहार और श्वासका काल

१—असुरकुमार देवोंके एक हजार वर्ष बाद आहारकी इच्छा उत्पन्न होती है और मनमें उसका विचार आते ही कंठसे अमृत झरता है, वेदना व्याप्त नहीं होती, पन्द्रह दिन बीत जाने पर श्वास लेते हैं।

२-४—नागकुमार, सुपर्णकुमार और द्वीपकुमार ये तीनप्रकारके देवों के साढ़े बारह दिन बाद आहारकी इच्छा होती है और साढ़े बारह मुहूर्त बीत जाने पर श्वास लेते हैं।

५-७—उदधिकुमार, विद्युतकुमार और स्तनितकुमार इन तीनप्रकारके देवोंके बारह दिन बाद आहारकी इच्छा होती है और बारह मुहूर्त बाद श्वास लेते हैं।

८-१०—दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार इन तीनप्रकारके देवोंके साढ़े सात दिन बाद आहारकी इच्छा होती है और साढ़े सात मुहूर्त बाद श्वास लेते हैं ।

देवोंके कवलाहार नहीं होता उनके कंठमें से अमृत झरता है, और उनके वेदना व्यापती नहीं है ।

इस अध्यायके अंतमें देवोंकी व्यवस्था बतानेवाला कोष्टक है उससे दूसरी बातें जान लेना चाहिये ॥ १० ॥

व्यन्तर देवोंके आठ भेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षस-भूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थः—व्यन्तर देवोंके आठ भेद हैं—१-किन्नर, २-किंपुरुष, ३-महोरग, ४-गन्धर्व, ५-यक्ष, ६-राक्षस, ७-भूत और ८-पिशाच ।

टीका

१ कुछ व्यन्तरदेव जम्बूद्वीप तथा दूसरे असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें रहते हैं। राक्षस रत्नप्रभा पृथ्वीके 'पंकभागमें' रहते हैं और राक्षसोंको छोड़ कर दूसरे सातप्रकारके व्यन्तरदेव खरभागमें' रहते हैं।

२ जुदी जुदी दिशाओंमें इन देवोंका निवास है इसलिये उन्हें व्यन्तर कहते हैं, उपरोक्त आठ संज्ञाएं जुदे जुदे नामकर्मके उदयसे होती हैं। उन संज्ञाओंका कुछ लोग व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ करते हैं किन्तु ऐसा अर्थ गलत है अर्थात् ऐसा कहनेसे देवोंका अवर्णवाद होता है और मिथ्यात्वके बंधका कारण है।

३. पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारी देव कभी भी मनुष्योंके अपवित्र औदारिक शरीरके साथ कामसेवन करते ही नहीं, देवोंके मांसभक्षण कभी होता ही नहीं, देवोंको कंठसे झरनेवाला अमृतका आहार होता है, किन्तु कवलाहार नहीं होता।

४ व्यन्तर देवोंके स्थानमें जिनप्रतिमासहित आठप्रकारके चैत्य वृक्ष होते हैं और वे मानस्थंभादिक सहित होते हैं।

५ व्यन्तर देवोंका आवास द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, तिराहा, चौराहा, घर, आंगन, रास्ता, गली, पानीका घाट, बाग, वन, देवकुल इत्यादि असंख्यात स्थान हैं ॥ ११ ॥

ज्योतिषी देवोंके पाँच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्र-प्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके पाँच भेद हैं—१-सूर्य, २-चन्द्रमा, ३-ग्रह, ४-नक्षत्र और ५, प्रकीर्णक तारे।

टीका

ज्योतिषी देवोंका निवास मध्यलोकमें समधरातलसे ७९० योजनकी ऊंचाईसे लेकर ९०० योजनकी ऊंचाई तक आकाशमें है। सबसे नीचे तारे हैं, उनसे १० योजन ऊपर सूर्य हैं; सूर्यसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा हैं; चन्द्रमासे चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र हैं; नक्षत्रोंसे ४ योजन ऊपर बुधका ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर बृहस्पति, उससे ३ योजन ऊपर मंगल, और उससे ३ योजन ऊपर शनि है; इसप्रकार पृथ्वीसे ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिषी मंडल है। उनका आवास मध्यलोकमें है। [यहाँ २००० कोसका योजन जानना चाहिये] ॥ १२ ॥

ज्योतिषी देवोंका विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए ज्योतिषी देव मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्यलोकमें हमेशा गमन करते हैं।

(अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंको मनुष्यलोक कहते हैं) ॥ १३ ॥

उनसे होनेवाला कालविभाग

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थः—घड़ी, घंटा, दिवस, रात, इत्यादि व्यवहारकालका विभाग है वह गतिशील ज्योतिषीदेवोंके द्वारा किया जाता है।

टीका

काल दो प्रकारका है—निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चयकाल का स्वरूप पाँचवें अध्यायके २२ वें सूत्रमें किया जायगा। यह व्यवहारकाल निश्चयकालका बतानेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थः—मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहरके ज्योतिषीदेव स्थिर हैं।

टीका

अढ़ाईद्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप समुद्र हैं उनके ऊपर (सबसे अंतिम स्वयंभूरमण समुद्रतक) ज्योतिषीदेव स्थिर हैं ॥ १५ ॥

इसप्रकार भवनवासी, व्यंतर, और ज्योतिषी इन तीनप्रकारके देवोंका वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकारके—वैमानिक देवोंका स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवोंका वर्णन

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थः—अब वैमानिक देवोंका वर्णन शुरू करते हैं।

टीका

विमान—जिन स्थानोंमें रहनेवाले देव अपनेको विशेष पुण्यात्मा समझें उन स्थानोंको विमान कहते हैं।

वैमानिक—उन विमानोंमें पैदा होनेवाले देव वैमानिक कहे जाते हैं।

यहाँ सब चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेवीस विमान हैं। उनमें उत्तम मंदिर, कल्पवृक्ष, वन बाग बावड़ी, नगर इत्यादि अनेक प्रकारकी रचना होती है। उनके मध्यमें जो विमान हैं वे इन्द्रक विमान कहे जाते हैं उनकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें पंक्तिरूप (सीधी लाइनमें) जो विमान हैं उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। चारों दिशाओंके बीच अंतरालमें—विदिशाओंमें जहाँ तहाँ बिखरे हुए फूलोंकी तरह जो विमान हैं उन्हें प्रकीर्णक विमान कहते हैं। इसप्रकार इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक ये तीनप्रकारके विमान हैं ॥ १६ ॥

वैमानिक देवोंके भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—वैमानिक देवोंके दो भेद हैं–१ कल्पोपपन्न और २ कल्पातीत।

टीका

जिनमें इन्द्रादि दशप्रकारके भेदोंकी कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं, और उन कल्पोंमें जो देव पैदा होते हैं उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं; तथा सोलहवें स्वर्गसे ऊपर जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं ॥ १७ ॥

कल्पोंकी स्थिति का क्रम

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थ—सोलह स्वर्गके आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर ये सब विमान क्रमसे ऊपर ऊपर हैं ॥ १८ ॥

वैमानिक देवोंके रहनेका स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठ-शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युत-योर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

अर्थ—सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, सतार-सहस्रार इन छह युगलोंके बारह स्वर्गोंमें, आनत-प्राणत ये दो स्वर्गोंमें, आरण-अच्युत ये दो स्वर्गोंमे, नव ग्रैवेयक विमानोंमें, नव अनुदिश विमानोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थ-सिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानोंमें वैमानिक देव रहते हैं।

टीका

१. नव ग्रैवेयकोंके नाम—(१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) विशाल (७) सुमन, (८) सौमन और (९) प्रीतिंकर।

२ नव अनुदिशोंके नाम—(१) आदित्य, (२) अर्चि, (३) अर्चिमाली, (४) वैरोचन, (५) प्रभास, (६) अर्चिप्रभ, (७) अर्चिर्मध्य, (८) अर्चिरावर्त और (९) अर्चिविशिष्ट।

सूत्रमें अनुदिश नाम नहीं है परन्तु 'नवसु' पदसे उसका ग्रहण हो जाता है। नव और ग्रैवेयक इन दोनोंमें सातवीं विभक्ति लगाई गई है वह बताती है कि ग्रैवेयकसे नव ये जुदे स्वर्ग है।

३ सौधर्मादिक एक एक विमानमें एक एक जिनमंदिर अनेक विभूति सहित होते हैं। और इन्द्रके नगरके बाहर अशोकवन, आम्रवन इत्यादि होते हैं। उन वनमें एक हजार योजन ऊँचा और पाँचसौ योजन चौड़ा एक चैत्यवृक्ष है उसकी चारों दिशामें पल्यकासन जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा है।

४ इन्द्रके इस स्थानमंडपके अग्रभागमें मानस्थंभ होता है उस मानस्थंभमें तीर्थंकर देव जब गृहस्थदशामें होते है, उनके पहिनने योग्य आभरणोंका रत्नमई पिटारा होता है। उसमेंसे इन्द्र आभरण काढ़कर तीर्थंकर देव को पहुँचाता है। सौधर्मके मानस्थंभके रत्नमई पिटारेमें भरतक्षेत्रके तीर्थंकरों के आभरण होते हैं। ऐशान स्वर्गके मानस्थंभके पिटारेमें ऐरावतक्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते है। सानत्कुमारके मानस्थंभके पिटारेमें पूर्वविदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते है। माहेन्द्रके मानस्थंभके पिटारेमें पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते है। इसलिये ये मानस्थंभ देवोंसे पूज्यनीय हैं। इन मानस्थंभोंके पास ही आठ योजन चौड़ा, आठ योजन लम्बा, तथा ऊंचा उपपाद गृह है। उन उपपादगृहोंमें एक रत्नमई शय्या होती है, वह इन्द्रका जन्म स्थान है। उस उपपादगृहके पासमें ही अनेक शिखरवाले जिनमंदिर हैं। उनका विशेष वर्णन त्रिलोकसारादि ग्रन्थोंमें से जानना चाहिये॥ १९॥

वैमानिकदेवोंमें उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-
विषयतोऽधिकाः॥ २०॥

अर्थ—आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रियोंका विषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब ऊपर ऊपरके विमानोंमें (वैमानिक देवोंके) अधिक हैं।

टीका

स्थिति—आयुकर्मके उदयसे जो भवमें रहना होता है उसे स्थिति कहते हैं।

प्रभाव—परका उपकार तथा निग्रह करनेवाली शक्ति प्रभाव है।

सुख—सातावेदनीयके उदयसे इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंकी अनुकूलता सो सुख है। यहाँ पर 'सुख' का अर्थ बाहरके संयोगकी अनुकूलता किया है, निश्चयसुख (आत्मीक सुख) यहाँ नहीं समझना चाहिये। निश्चयसुखका प्रारंभ सम्यग्दर्शनसे होता है; यहाँ सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टिके भेदकी अपेक्षा से कथन नहीं है किन्तु सामान्य कथन है ऐसा समझना चाहिये।

द्युति—शरीरकी तथा वस्त्र आभूषण आदिकी दीप्ति सो द्युति है।

लेश्याविशुद्धि—लेश्या की उज्ज्वलता सो विशुद्धि है; यहाँ भावलेश्या समझना चाहिये।

इन्द्रियविषय—इन्द्रियद्वारा (मतिज्ञानसे) जानने योग्य पदार्थोंको इन्द्रियविषय कहते हैं।

अवधिविषय—अवधिज्ञानसे जानने योग्य पदार्थ सो अवधिविषय है॥ २०॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर हीनता

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः॥ २१॥

अर्थ—गति, शरीर, परिग्रह, और अभिमान की अपेक्षासे ऊपर ऊपर के वैमानिक देव हीन हीन हैं।

टीका

१. गति—यहाँ 'गति' का अर्थ गमन है, एक क्षेत्रको छोड़कर अन्य क्षेत्रमें जाना सो गमन (गति) है। सोलहवें स्वर्गसे आगेके देव अपने विमानोंको छोड़ दूसरी जगह नहीं जाते।

शरीर—शरीरका विस्तार सो शरीर है।

परिग्रह—लोभ कषायके कारण ममतापरिणाम सो परिग्रह है।

अभिमान—मानकषायके कारण अहंकार सो अभिमान है।

२. प्रश्न—ऊपर ऊपर के देवोंके विक्रिया आदि की अधिकताके कारण गमन इत्यादि विशेष रूपसे होना चाहिये फिर भी उसकी हीनता कैसे कही ?

उत्तर—गमनकी शक्ति तो ऊपर ऊपरके देवोंमें अधिक है किन्तु अन्य क्षेत्रमें गमन करने के परिणाम अधिक नहीं हैं इसलिये गमनहीन हैं ऐसा कहा है। सौधर्म ऐशानके देव क्रीडादिकके निमित्तसे महान् विषयानुराग से बारम्बार अनेक क्षेत्रोंमें गमन करते हैं। ऊपर के देवोंके विषयकी उत्कट (तीव्र) वाञ्छाका अभाव है इसलिये उनकी गति हीन है।

३ शरीरका प्रमाण चालू अध्यायके अंतिम कोष्टकमें बताया है वहाँ से जानना चाहिये।

४ विमान—परिवारादिकरूप परिग्रह ऊपर ऊपरके देवोंमें थोड़ा २ होता है। कषायकी मंदतासे अवधिज्ञानादिमें विशुद्धता बढ़ती है और अभिमान कमती होता है। जिनके मंद कषाय होती है वे ऊपर ऊपर उत्पन्न होते हैं।

५ शुभ परिणामके कारण कौन जीव किस स्वर्गमें उत्पन्न होता है उसका स्पष्टीकरण

कौन उपजे ?	कहाँ उपजे ?
(१) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच —	भवनवासी तथा व्यन्तर ......
(२) कर्मभूमिके संज्ञी पर्याप्त तिर्यंच मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले,	बारहवें स्वर्ग पर्यंत
(३) ऊपरके तिर्यंच-सम्यग्दृष्टि (स्वयंप्रभाचलसे बाहरके भागमें रहनेवाले)	सौधर्मादिसे अच्युत स्वर्ग पर्यंत
(४) भोगभूमिके मनुष्य, तिर्यंच-मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले	ज्योतिषियोंमें
(५) तापसी	ज्योतिषियोंमें
(६) भोगभूमिके सम्यग्दृष्टि-मनुष्य या तिर्यंच	सौधर्म और ऐशानमें
(७) कर्मभूमिके मनुष्य-मिथ्यादृष्टि अथवा सासादन	भवनवासीसे उपरिम ग्रैवेयक तक
(८) कर्मभूमिके मनुष्य— जिनके द्रव्य (बाह्य) जिनलिंग और भाव मिथ्यात्व या सासादन होते हैं ऐसे—	ग्रैवेयक पर्यन्त
(९) जो अभव्यमिथ्यादृष्टि निर्ग्रन्थलिंग धारण करके महान् शुभभाव और तप सहित हो वे	उपरिम (नवमें) ग्रैवेयकमें ।

(१०) परिव्राजक तापसियोंका उत्कृष्ट उपपाद	ब्रह्म (पंचम) स्वर्गपर्यंत
(११) आजीवक (कांजीके आहारी) का उपपाद	बारहवें स्वर्ग पर्यंत
(१२) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रकर्षतावाले श्रावक	सौधर्मादिसे अच्युत तक (उससे नीचे या ऊपर नहीं)
(१३) भावलिंगी निर्ग्रन्थ साधु	सर्वार्थसिद्धि पर्यंत
(१४) अढ़ाईद्वीपके अणुव्रतधारी तिर्यंच	सौधर्मसे लेकर बारहवें स्वर्ग पर्यंत।
(१५) पांच मेरु सम्बन्धी तीस भोगभूमिके मनुष्य तिर्यंच मिथ्यादृष्टि	भवनत्रिकमें
(१६) ,, ,, सम्यग्दृष्टि	सौधर्म ऐशानमें
(१७) छ्यानवें अंतर्द्वीप कुभोगभूमिके म्लेच्छ मनुष्य और मानुषोत्तर स्वयंप्रभाचल पर्वतके बीचके असंख्यात द्वीपोंमें उत्पन्न हुए तिर्यंच	भवनत्रिकमें

नोट—एकेन्द्रिय, विकलत्रय, देव तथा नारकी ये देवोंमें उत्पन्न नहीं होते क्योंकि उनके देवोंमें उत्पन्न होने के योग्य शुभभाव होते ही नहीं।

६. देव पर्यायसे च्युत होकर कौनसी पर्याय धारण करता है उसकी विगत

कहाँ से आता है ?	कौनसी पर्याय धारण करे ?
(१) भवनत्रिक देव और सौधर्म ऐशानसे	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त पृथ्वी काय, अपकाय, प्रत्येकवनस्पति, मनुष्य तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचमें उपजे (विकलत्रयमें नहीं आता)

(२) सनत्कुमारादिकसे	स्थावर नहीं होता।
(३) बारहवें स्वर्ग पर्यंतसे	पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य होता है।
(४) आनत-प्राणतादिकसे (बारहवें स्वर्ग के ऊपरसे)	नियमसे मनुष्यमें ही उत्पन्न होता है तिर्यंचोंमे नहीं होता।
(५) सौधर्मसे प्रारंभ करके नव ग्रैवेयक पर्यंतके देवों में से कोई	त्रेसठ शलाका पुरुष भी हो सकते हैं।
(६) अनुदिश और अनुत्तरसे आये हुये।	तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र इत्यादि में उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु अर्धचक्री नहीं हो सकते।
(७) भवनत्रिकसे	त्रेसठ शलाका पुरुषोंमे नहीं उत्पन्न होते।
(८) देव पर्यायसे (समुच्चयसे)	समस्त सूक्ष्मोंमें, तैजसकायोंमें, वातकायोंमें उत्पन्न नहीं होते। तथा विकलत्रयोंमें, असंज्ञियों या लब्धिअपर्याप्तकोंमें नहीं उत्पन्न होते और भोगभूमियोंमें, देवोंमे तथा नारकियोंमें भी उत्पन्न नहीं होते।

७. इस सूत्रका सिद्धांत

(१) जब जीव मिथ्यादृष्टिके रूपमें उत्कृष्ट शुभभाव करता है तब नवमें ग्रैवेयक तक जाता है, परन्तु वे शुभभाव सम्यग्दर्शनके या धर्मके कारण नहीं हैं; मिथ्यात्वके कारण अनंत संसारमें परिभ्रमण करता है इसलिये शुभ भावको धर्म या धर्मका कारण नहीं मानना चाहिये।

(२) मिथ्यादृष्टिको उत्कृष्ट शुभभाव होते हैं तब उसके गृहीत-मिथ्यात्व छूट जाता है अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की रागमिश्रित व्यवहार श्रद्धा तो ठीक

होती है, उसके विना उत्कृष्ट शुभभाव हो ही नहीं सकते। नवमें ग्रैवेयक जाने वाला मिथ्यादृष्टि जीव देव गुरु शास्त्रके व्यवहारसे (रागमिश्रित विचार से) सच्चा निर्णय करता है किन्तु निश्चयसे अर्थात् रागसे पर हो सच्चा निर्णय नहीं करता है तथा उसके 'शुभ भावसे धर्म होता है' ऐसी सूक्ष्म मिथ्या मान्यता रह जाती है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

(३) सच्चे देव गुरु शास्त्रकी व्यवहार श्रद्धाके विना उच्च शुभ भाव भी नहीं हो सकते, इसलिये जिन जीवोंको सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका सयोग प्राप्त हो जाता है फिर भी यदि वे उसका रागमिश्रित व्यवहारिक यथार्थ निर्णय नहीं करते तो गृहीतमिथ्यात्व बना रहता है, और जिसे कुगुरु कुदेव-कुशास्त्रकी मान्यता होती है उसके भी गृहीतमिथ्यात्व होता ही है, और जहाँ गृहीतमिथ्यात्व होता है वहाँ अगृहीतमिथ्यात्व भी अवश्य होता है, इसलिए ऐसे जीवको सम्यग्दर्शनादि धर्म तो होता नहीं, प्रत्युत मिथ्यादृष्टिके होनेवाला उत्कृष्ट शुभभाव भी उसके नहीं होता, ऐसे जीवोंके जैन धर्मकी श्रद्धा व्यवहारसे भी नहीं मानी जा सकती।

(४) इसी कारणसे अन्यधर्मकी मान्यतावालोंके सच्चे धर्मका प्रारम्भ अर्थात् सम्यग्दर्शन तो होता ही नहीं है और मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभभाव भी वे नहीं कर सकते, वे अधिकसे अधिक बारहवें देवलोक की प्राप्तिके योग्य शुभभाव कर सकते हैं।

(५) बहुतसे अज्ञानी लोगोंकी यह मान्यता है कि 'देवगतिमें सुख है' किन्तु यह उनकी भूल है। बहुतसे देव तो मिथ्यात्वके कारण अतत्त्व-श्रद्धानयुक्त ही हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके अति मंद कषाय नहीं होती, उपयोग भी बहुत चंचल होता है तथा कुछ शक्ति है इसलिये कौतूहल तथा विषयादि कार्योंमें ही वे लगे रहते हैं और इसलिये वे अपनी उस व्याकुलतासे दुखी ही हैं। वहाँ माया-लोभ कषायके कारण होनेसे वैसे कार्योंकी मुख्यता है। वहाँ विषयसामग्रीकी इच्छा करना, छल करना इत्यादि कार्य विशेष होते हैं किन्तु वैमानिक देवोंमें ऊपर ऊपरके देवोंके वे कार्य अल्प

होते हैं। वहाँ हास्य और रति कषायके कारण होनेसे वैसे कार्योंकी मुख्यता होती है। इसप्रकार देवोंको कषायभाव होता है और कषायभाव दुःख ही है। ऊपरके देवोंके उत्कृष्ट पुण्यका उदय है और कषाय अति मंद है, तथापि उनके भी इच्छाका अभाव नहीं है इसलिये वास्तवमें वे दुःखी ही हैं। जो देव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए हैं वे ही जितने दरजेमें वीतरागभावरूप रहते हैं उतने दरजेमें सच्चे सुखी हैं। सम्यग्दर्शनके विना कहीं भी सुखका अंश प्रारंभ नहीं होता, और इसीलिये ही इस शास्त्रके पहिले ही सूत्रमें मोक्षका उपाय बतलाते हुए उसमें सम्यग्दर्शन पहिला बताया है। इसलिये जीवोंको प्रथम ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय करना आवश्यक है।

(६)—उत्कृष्ट देवत्वके योग्य सर्वोत्कृष्ट शुभभाव सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं। अर्थात् शुभभावके स्वामित्वके निषेधकी भूमिकामें ही वैसे उत्कृष्ट शुभभाव होते हैं, मिथ्यादृष्टिके वैसे उच्च शुभभाव नहीं होते ॥ २१ ॥

वैमानिक देवोंमें लेश्या का वर्णन

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थ—दो युगलोंमें पीत; तीन युगलोंमें पद्म और बाकीके सब विमानोंमें शुक्ललेश्या होती है।

टीका

१. पहिले और दूसरे स्वर्गमें पीतलेश्या, तीसरे और चौथेमें पीत तथा पद्मलेश्या, पांचवेंसे आठवें तक पद्मलेश्या, नववेंसे बारहवें तक पद्म और शुक्ललेश्या और बाकीके सब वैमानिक देवोंके शुक्ललेश्या होती है, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर इन चौदह विमानोंके देवोंके परमशुक्ललेश्या होती है। भवनत्रिक देवोंकी लेश्याका वर्णन इस अध्यायके दूसरे सूत्रमें आगया है। यहाँ भावलेश्या समझना चाहिये।

२. प्रश्न—सूत्रमें मिश्रलेश्याओंका वर्णन क्यों नहीं किया?

उत्तर—जो मुख्य लेश्याएँ हैं उन्हें सूत्रमें बतलाया है जो गौण लेश्याएँ हैं उन्हें नहीं कहा है, गौण लेश्याओंका वर्णन उसीमें गर्भित है। इसलिये वे उसमें अविवक्षितरूपसे हैं। इस शास्त्रमें संक्षिप्त सूत्ररूपसे मुख्य वर्णन किया है, दूसरा उसमें गर्भित है। इसलिये यह गर्भित कथन परम्पराके अनुसार समझ लेना चाहिये ॥ २२ ॥

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

अर्थ—ग्रैवेयकोंसे पहिलेके सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते हैं। उनसे आगेके विमान कल्पातीत हैं।

टीका

सोलह स्वर्गोंके बाद नवग्रैवेयक इत्यादिके देव एक समान वैभवके धारी होते हैं इसलिये उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं, वहाँ इन्द्र इत्यादि भेद नहीं हैं, सभी समान हैं ॥ २३ ॥

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

अर्थः—जिनका निवास स्थान पाँचवाँ स्वर्ग (ब्रह्मलोक) है उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।

टीका

ये देव ब्रह्मलोकके अंतमें रहते हैं तथा एक भवावतारी (एकाव तारी) हैं तथा लोकका अन्त (संसारका नाश) करनेवाले हैं इसलिये उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। ये द्वादशांगके पाठी होते हैं। चौदह पूर्वके धारक होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थंकर प्रभुके मात्र तप कल्याणकमें आते हैं। ये देवर्षि भी कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

लौकान्तिक देवोंके नाम

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधा-रिष्टाश्च ॥ २५ ॥

अर्थः--लौकान्तिक देवोंके आठ भेद हैंः—१-सारस्वत, २-आदित्य, ३-वह्नि, ४-अरुण, ५-गर्दतोय, ६-तुषित, ७-अव्याबाध और ८-अरिष्ट ये देव ब्रह्मलोककी ईशान इत्यादि आठ दिशाओंमें रहते हैं।

टीका

इन देवोंके ये आठ मूल भेद हैं और उन आठोंके रहनेके स्थानके बीच के भागमें रहनेवाले देवोंके दूसरे सोलह भेद हैं; इसप्रकार कुल २४ भेद हैं इन देवोंके स्वर्गके नाम उनके नामके अनुसार ही हैं। उनमें सभी समान हैं, उनमें कोई छोटा बड़ा नहीं है सभी स्वतन्त्र हैं उनकी कुल संख्या ४०७८२० है। सूत्रमें आठ नाम बतलाकर अंतमें 'च' शब्द दिया है उससे यह मालूम होता है कि इन आठके अतिरिक्त दूसरे भेद भी हैं ॥ २५ ॥

अनुदिश और अनुत्तरवासी देवोंके अवतारका नियम

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

अर्थः—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र द्विचरमा होते हैं अर्थात् मनुष्यके दो जन्म (भव) धारण करके अवश्य ही मोक्ष जाते हैं (ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।)

टीका

१. सर्वार्थसिद्धिके देव उनके नामके अनुसार एकावतारी ही होते हैं विजयादिकमें रहनेवाले जीव एक मनुष्यभव अथवा दो भव भी धारण करते हैं।

२ सर्वार्थसिद्धिके देव, दक्षिण इन्द्र, सौधर्मके लोकपाल, सौधर्मकी 'शचि' नामकी इन्द्राणी और लौकान्तिक देव–ये सभी एक मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं ॥ २६ ॥

[तीसरे अध्यायमें नारकी और मनुष्य संबंधी वर्णन किया था और इस चौथे अध्यायमें यहाँ तक देवोंका वर्णन किया। अब एक सूत्र द्वारा तिर्यंचोंकी व्याख्या बतानेके बाद देवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु कितनी है यह बतायेंगे तथा नारकियोंकी जघन्य आयु कितनी है यह बतायेंगे। मनुष्य तथा तिर्यंचोंकी आयुकी स्थितिका वर्णन तीसरे अध्यायके सूत्र ३८—३९ में कहा गया है।

इसप्रकार, दूसरे अध्यायके दशवें सूत्रमें जीवोंके संसारी और मुक्त ऐसे जो दो भेद कहे थे उनमें से संसारी जीवोंका वर्णन चौथे अध्याय तक पूरा हुआ। तत्पश्चात् पाँचवें अध्यायमें अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे। छठवें तथा सातवें अध्यायमें आस्रव तथा आठवें अध्यायमें बंध तत्त्वका वर्णन करेंगे तथा नवमें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन करेंगे और मुक्त जीवों का (मोक्ष तत्त्वका) वर्णन दशवें अध्यायमें करके ग्रंथ पूर्ण करेंगे।]

तिर्यंच कौन हैं ?

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

अर्थ—उपपाद जन्मवाले (देव तथा नारकी) और मनुष्योंके अतिरिक्त बाकी बचे हुए जीव तिर्यंच योनिवाले ही हैं।

टीका

देव नारकी और मनुष्योंके अतिरिक्त सभी जीव तिर्यंच हैं उनमें से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तो समस्त लोकमें व्याप्त हैं। लोकका एक भी प्रदेश सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंसे रहित नहीं है। बादर एकेन्द्रिय जीवोंको पृथ्वी इत्यादि का आधार होता है।

विकलत्रय (दो तीन और चार इन्द्रिय) और संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव त्रसनालीमें कहीं कहीं होते हैं त्रसनालीके बाहर त्रसजीव नहीं होते। तिर्यंच जीव समस्त लोकमें होनेसे उनका क्षेत्र विभाग नहीं है ॥ २७ ॥

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥

अर्थः—भवनवासी देवोंमें असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और बाकी के छह कुमारों की आयु क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्य है ॥ २८ ॥

वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

अर्थः—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंकी आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

टीका

१. भवनवासी देवोंके बाद व्यंतर और ज्योतिषी देवोंकी आयु बताने का क्रम है तथापि वैमानिक देवोंकी आयु बतानेका कारण यह है कि ऐसा करने से बादके सूत्रोंमें लघुता (संक्षेपता) आ सकती है।

२. 'सागरोपमे' यह शब्द द्विवचनरूप है उसका अर्थ 'दो सागर' होता है।

३. 'अधिके' यह शब्द घातायुष्क जीवोंकी अपेक्षासे है; उसका खुलासा यह है कि कोई सम्यग्दृष्टि मनुष्यने शुभ परिणामोंसे दश सागर प्रमाण ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गकी आयु बांधली तत्पश्चात् उसने ही मनुष्यभवमें संक्लेश परिणामसे उस आयुकी स्थितिका घात किया और सौधर्म-ईशानमें उत्पन्न हुआ तो वह जीव घातायुष्क कहलाता है; सौधर्म ईशानके दूसरे देवों की अपेक्षा उसकी आधा सागरमें एक अंतर्मुहूर्त कम आयु अधिक होती है। ऐसा घातायुष्कपना पूर्वमें मनुष्य तथा तिर्यंच भवमें होता है।

४ आयुका घात दो प्रकारका है—एक अपवर्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयुका घटना सो अपवर्तनघात है। और भुज्यमान (भोगनेमें आनेवाली) आयुका घटना सो कदलीघात है। देवोंमें कदलीघात आयु नहीं होती।

५ घातायुष्क जीवका उत्पाद बारहवें देवलोक पर्यंत ही होता है॥ २९॥

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थः—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

नोट—इस सूत्रमें 'अधिक' शब्दकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे आयी है॥ ३०॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानितु ॥ ३१ ॥

अर्थः—पूर्व सूत्रमें कहे हुए युगलों की आयु (सात सागर) से क्रमपूर्वक, तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अधिक आयु (उसके बादके स्वर्गोंमें) है।

१. ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें दशसागरसे कुछ अधिक, लांतव और कापिष्ट स्वर्गमें चौदह सागरसे कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें सोलह सागरसे कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्गमें अठारह सागरसे कुछ अधिक, आनत और प्राणत स्वर्गमें बीस सागर तथा आरण और अच्युत-स्वर्गमें बावीस सागर उत्कृष्ट आयु है।

२ 'तु' शब्द होनेके कारण 'अधिक' शब्दका सबंध बारहवें स्वर्गतक ही होता है क्योंकि घातायुष्क जीवोंकी उत्पत्ति वहाँ तक ही होती है॥३१॥

कल्पोपपन्न देवोंकी आयु कह करके अब कल्पातीत देवोंकी आयु कहते हैं।

कल्पातीत देवोंकी आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजया-दिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

अर्थ—आरण और अच्युत स्वर्गसे ऊपरके नव ग्रैवेयकोंमें, नव अनुदिशोंमें, विजय इत्यादि विमानोंमें और सर्वार्थसिद्धि विमानमें देवोंकी आयु-एक एक सागर अधिक है।

टीका

१. पहिले ग्रैवेयकमें २३, दूसरेमें २४, तीसरेमें २५, चौथेमें २६, पाँचवें में २७, छठवेंमें २८, सातवेंमें २९, आठवेंमें ३०, नववेंमें ३१, नव अनुदिशोंमें ३२, विजय आदिमें ३३ सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धिके सभी देवोंकी ३३ सागर की ही स्थिति होती है; इससे कम किसी की नहीं होती।

२. मूल सूत्रमें 'अनुदिश' शब्द नहीं है किन्तु 'आदि' शब्दसे अनुदिशों का भी ग्रहण हो जाता है॥ ३२ ॥

स्वर्गोंकी जघन्य आयु

अपरा पल्योपमधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गमें जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

टीका

सागर और पल्यका माप तीसरे अध्यायके छठवें सूत्रकी टीकामें दिया है। वहाँ अद्धापल्य लिखा है उसे ही पल्य समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो पहिले पहिलेके युगलोंकी उत्कृष्ट आयु है वह पीछे पीछेके युगलोंकी जघन्य आयु होती है।

टीका

सौधर्म और ईशानस्वर्गकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है; उतनी ही सानत्कुमार और माहेन्द्रकी जघन्य आयु है। इसी क्रमके अनुसार आगेके देवोंकी जघन्य आयु समझना चाहिये। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं होती ॥ ३४ ॥

नारकियों की जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थः—दूसरे इत्यादि नरकके नारकियोंकी जघन्य आयु भी देवोंकी जघन्य आयुके समान है—अर्थात् जो पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु है वही दूसरे नरककी जघन्य आयु है। इसप्रकार आगे के नरकोंमें भी जघन्य आयु जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

पहिले नरककी जघन्य आयु

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

अर्थः—पहिले नरकके नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

(नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन तीसरे अध्यायके छठवें सूत्रमें किया है।) ॥ ३६ ॥

भवनवासी देवोंकी जघन्य आयु

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

अर्थः— भवनवासी देवोंकी भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है ॥ ३७ ॥

व्यन्तर देवोंकी जघन्य आयु

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

अर्थः— व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है ॥३८॥

व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

अर्थः—व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपमसे कुछ अधिक है ॥ ३९ ॥

ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपमसे कुछ अधिक है ॥ ४० ॥

ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु एक पल्योपमके आठवें भाग है ॥ ४१ ॥

लौकान्तिक देवोंकी आयु

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

अर्थः—समस्त लौकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु आठ सागरकी है ॥ ४२ ॥

उपसंहार

इस चौथे अध्याय तक सात तत्त्वोंमें से जीव तत्त्वका अधिकार पूर्ण हुआ।

पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें मोक्षमार्गकी व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारंभ होता है ऐसा बतलाया है। दूसरे ही सूत्रमें सम्यग्दर्शनकी व्याख्या करते हुए बताया है कि—तत्त्वार्थश्रद्धा सो सम्यग्दर्शन है। तत्पश्चात् चौथे सूत्रमें तत्त्वोंके नाम बतलाये और तत्त्व सात हैं यह

बताया। सात नाम होने पर भी बहुवचनका प्रयोग नहीं करते हुए 'तत्त्व' इसप्रकार एक वचनका प्रयोग किया है उससे यह मालूम होता है कि इन सातों तत्त्वोंके राग मिश्रित विचारसे ज्ञान करने के बाद भेदका आश्रय दूर करके जीवके त्रिकालिक अभेद ज्ञायक भावका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

सूत्र ५ तथा ६ में यह बताया है कि इन तत्त्वोंको निक्षेप, प्रमाण तथा नयोंके द्वारा जानना चाहिये, इसमें सप्तभंगीका समावेश हो जाता है। इन सबको संक्षेपमें सामान्यरूपसे कहना हो तो तत्त्वोंका स्वरूप जो अनेकान्त-रूप है, और जिसका द्योतक स्याद्वाद है उसका स्वरूप भलीभांति समझ लेना चाहिये।

जीवका यथार्थज्ञान करने के लिये स्याद्वाद पद्धतिसे अर्थात् निक्षेप, प्रमाण, नय और सप्तभंगीसे जीवका स्वरूप संक्षेपमें कहा जाता है, उसमें पहिले सप्तभंगीके द्वारा जीवका स्वरूप कहा जाता है—सप्तभंगीका स्वरूप जीवमें निम्नप्रकारसे लगाया जाता है।

सप्तभंगी

[स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति]

'जीव है' यह कहते ही जीव जीवस्वरूपसे है और जीव जड़स्वरूप से (अजीवस्वरूपसे) नहीं है-यदि यह समझा जा सके तो ही जीवको जाना कहलाता है, अर्थात् 'जीव है,' यह कहते ही यह निश्चित् हुआ कि 'जीव जीवस्वरूपसे है' और उसमें यह गर्भित होगया कि 'जीव परस्वरूपसे नहीं है'। वस्तुके इस धर्मको 'स्यात् अस्ति' कहा जाता है' उसमें 'स्यात्' का अर्थ 'एक अपेक्षासे' है, और अस्तिका अर्थ 'है' होता है। इसप्रकार 'स्यात् अस्ति' का अर्थ 'अपनी अपेक्षासे है' यह होता है, उसमें 'स्यात् नास्ति' अर्थात् 'परकी अपेक्षासे नहीं है' ऐसा गर्भितरूपसे आ जाता है; जो इसप्रकार जानता है वही जीवका 'स्यात् अस्ति' भंग अर्थात् 'जीव है' इसप्रकार यथार्थ जानता है, किन्तु यदि 'परकी अपेक्षासे नहीं है' ऐसा उसके लक्षमें

गर्भितरूपसे न आये तो जीवका 'स्यात् अस्ति' स्वरूपको भी वह जीव भलीभाँति नहीं समझा है और इसलिये वह अन्य छह भंगोंको भी नहीं समझा है; इसलिये उसने जीवका यथार्थ स्वरूप नहीं समझा है। यह ध्यान रखना चाहिये कि-'हर समय बोलनेमें 'स्यात' शब्द बोलना ही चाहिये' ऐसी आवश्यकता नहीं है; किन्तु 'जीव है' ऐसा कहनेवालेके 'स्यात्' पदके भावका यथार्थ ख्याल होना चाहिये; यदि ऐसा न हो तो 'जीव है' इस पदका यथार्थ ज्ञान उस जीवके है ही नहीं।

'जीवका अस्तित्व पर स्वरूपसे नहीं है' यह पहिले 'स्यात् अस्ति' भंगमें गर्भित था; वह दूसरे 'स्यात् नास्ति' भंगमें प्रगटरूपसे बतलाया जाता है। स्यात् नास्तिका अर्थ ऐसा है कि पर अपेक्षासे जीव नहीं है। 'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षासे और 'नास्ति' अर्थात् न होना। जीवका पर अपेक्षासे नास्तित्व है अर्थात् जीव परके स्वरूपसे नहीं है इसलिये पर-अपेक्षासे जीवका नास्तित्व है अर्थात् जीव और पर एक दूसरे के प्रति अवस्तु है-ऐसा 'स्यात् नास्ति' भंगका अर्थ समझना चाहिये।

इससे यह समझना चाहिये कि—जैसे 'जीव' शब्द कहने से जीवका अस्तित्व (जीवकी सत्ता) भासित होता है वह जीवका स्वरूप है उसी प्रकार उसीसमय उस जीवको छोड़कर दूसरेका निषेध भासित होता है वह भी जीवका स्वरूप है।

इससे सिद्ध हुआ कि स्वरूपसे जीवका स्वरूप है और पररूपसे न होना भी जीवका स्वरूप है। यह जीवमें स्यात् अस्ति तथा स्यात् नास्ति का स्वरूप बतलाया है।

इसीप्रकार परवस्तुओंका स्वरूप उन वस्तुरूपसे है और परवस्तुओं का स्वरूप जीवरूपसे नहीं है;—इसप्रकार सभी वस्तुओंमें अस्ति-नास्ति स्वरूप समझना चाहिये। शेष पाँच भंग इन दो भंगोंके ही विस्तार हैं।

"आप्तमीमांसाकी १११ वीं कारिका की व्याख्यामें अकलंकदेव कहते हैं कि-वचनका ऐसा स्वभाव है कि स्वविषयका अस्तित्व दिखानेसे वह

उससे इतरका (परवस्तुका) निराकरण करता है इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व—इन दो मूल धर्मोंके आश्रयसे सप्तभंगीरूप स्याद्वाद की सिद्धि होता है।" [तत्वार्थसार पृष्ठ १२५ का फुट नोट]

साधक जीवको अस्ति-नास्तिके ज्ञानसे होनेवाला फल

जीव अनादि अविद्याके कारण शरीरको अपना मानता है और इस लिये वह शरीरके उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति तथा शरीरका नाश होने पर अपना नाश होना मानता है पहिली भूल 'जीवतत्व' की विपरीत श्रद्धा है और दूसरी भूल 'अजीवतत्व' की विपरीत श्रद्धा है। [जहाँ एक तत्वकी विपरीत श्रद्धा होती है वहाँ दूसरे तत्वोंकी भी विपरीत श्रद्धा होती ही है।]

इस विपरीत श्रद्धाके कारण जीव यह मानता रहता है कि वह शारीरिक क्रिया कर सकता है, उसे हिला डुला सकता है, उठा बैठा सकता है, सुला सकता है और शरीरकी सम्हाल कर सकता है इत्यादि। जीवतत्व संबंधी यह विपरीत श्रद्धा अस्ति नास्ति भंगके यथार्थ ज्ञानसे दूर होती है।

यदि शरीर अच्छा हो तो जीवको लाभ होता है, और खराब हो तो हानि होती है, शरीर अच्छा हो तो जीव धर्म कर सकता है और खराब हो तो धर्म नहीं कर सकता, इत्यादि प्रकारसे अजीवतत्व संबंधी विपरीत श्रद्धा किया करता है। यह भूल भी अस्ति नास्ति भंगके यथार्थज्ञानसे दूर होती है।

जीव जीवसे अस्तिरूपसे है और परसे अस्तिरूपसे नहीं है—किन्तु नास्तिरूपसे है, इसप्रकार जब यथार्थतया ज्ञानमें निश्चय करता है तब प्रत्येक तत्व यथार्थतया भासित होता है, इसीप्रकार जीव परद्रव्योंके प्रति संपूर्णतया अकिंचित्कर है तथा परद्रव्य जीवके प्रति संपूर्णतया अकिंचित्कर है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूपसे नास्ति है, ऐसा विश्वास होता है और इससे जीव पराश्रयी-परावलंबित्वको मिटा कर स्वाश्रयी-स्वावलम्बी हो जाता है, यही धर्मका प्रारम्भ है।

जीवका परके साथ निमित्त नैमित्तिक संबंध कैसा है इसका स्पष्ट रूप से भंगोंसे किया जा सकता है। निमित्त परद्रव्य है इसलिये वह नैमि

त्तिक जीवका कुछ नहीं कर सकता, वह मात्र आकाश प्रदेशमें एक क्षेत्रावगाह-रूपसे या संयोग-अवस्थारूपसे उपस्थित होता है; किन्तु नैमित्तिक-निमित्तसे पर है और निमित्त-नैमित्तिकसे पर है इसलिये एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकता। निमित्त तो परज्ञेयरूपसे ज्ञानमें ज्ञात होता है।

दूसरेसे चौथे अध्याय तक यह अस्ति-नास्ति स्वरूप कहाँ कहाँ बताया है उसका वर्णन

अध्याय २ सूत्र १ से ७--जीवके पाँचभाव अपने अस्तिरूपसे हैं और परसे नास्तिरूप हैं ऐसा बताया है।

अ० २ सू० ८-९ जीवका लक्षण अस्तिरूपसे क्या है यह बताया है; उपयोग जीवका लक्षण है ऐसा कहनेसे दूसरा कोई लक्षण जीवका नहीं है ऐसा प्रतिपादित हुआ। जीव अपने लक्षणसे अस्तिरूप है और इसीलिये उसमें परकी नास्ति आगई ऐसा बताया है।

अ० २ सू० १०--जीवकी विकारी तथा शुद्ध पर्याय जीवसे अस्तिरूपसे है और परसे नास्तिरूपसे अर्थात् परसे नहीं है ऐसा बताया है।

अ० २ सू० १४ से १७—जीवके विकारीभावोंका पर वस्तुओंसे कर्म, मन, शरीर, इन्द्रिय, परक्षेत्र इत्यादिके साथ—कैसा निमित्त-नैमित्तिकभाव है यह बतलाकर यह बताया है कि - जीव पराश्रयसे जीवके विकारीभाव करता है किन्तु पर निमित्तसे विकारीभाव नहीं होते अर्थात् परनिमित्त विकारीभाव नहीं कराता यह अस्ति-नास्तिपन बतलाता है।

अ० २ सू० १८—जीवकी क्षयोपशमरूप पर्याय अपने अस्तिरूपसे है, परसे नहीं है (नास्तिरूपसे है) अर्थात् परसे—कर्मसे जीवकी पर्याय नहीं होती यह बताया है।

अ० २ सू० २७ जीवका सिद्धक्षेत्रके साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है उसे बताते हैं।

अ० २ सू० ५० से ५२--जीवकी वेदरूप (भाववेदरूप) विकारी पर्याय अपनी योग्यतासे-अस्तिरूपसे है परसे नहीं है यह बताया है।

अ० २ सू० ५३–जीवका आयुकर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया है, उसमें जीवका नैमित्तिकभाव जीव की अपनी योग्यतासे है और आयुकर्मसे अथवा परसे नहीं है ऐसा बताया है तथा निमित्त आयुकर्मका संबंध जीव या किसी दूसरे परके साथ नहीं है ऐसा अस्ति नास्ति भंगसे सिद्ध होता है।

अ० ३ सू० १ से ६ नारकीभावके भोगनेके योग्य होनेवाले जीवके किस प्रकारके क्षेत्रोंका संबंध निमित्तरूपसे होता है तथा उत्कृष्ट आयुका निमित्तपना किसप्रकारसे होता है यह बताकर, निमित्तरूप, क्षेत्र या आयु यह जीव नहीं है किन्तु जीवसे भिन्न है ऐसा सिद्ध होता है।

अ० ३ सू० ७ से ३९ मनुष्यभाव या तिर्यंचभावको भोगनेके योग्य जीव के किसप्रकारके क्षेत्रोंका तथा आयु का संबंध निमित्तरूपसे होता है यह बताकर जीव स्व है और निमित्त पर है ऐसा अस्ति-नास्ति स्वरूप बतलाया है।

अ० ४ सू० १ से ४२ देवभाव और तिर्यंचभाव होनेपर तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिरूप अवस्थामें जीवके कैसे परक्षेत्रोंका तथा आयुका निमित्त नैमित्तिक संबंध होता है यह बताकर अस्ति नास्ति स्वरूप बताया है।

सप्तभंगीके शेष पाँच भंगोंका विवेचन

१-२—अस्ति और नास्ति यह दो जीवके स्वभाव सिद्ध कर दिया।

३—जीवके अस्ति और नास्ति इन दोनों स्वभावोंको क्रमसे कहना हो तो 'जीव अस्ति नास्ति दोनों धर्ममय है' ऐसा कहा जाता है इसलिए जीव 'स्यात् अस्ति-नास्ति' है, यह तीसरा भंग हुआ।

४—अस्ति और नास्ति ये दोनों जीवके स्वभाव हैं तो भी ये दोनों एक साथ नहीं कहे जा सकते हैं, इस अपेक्षासे जीव 'स्यात् अवक्तव्य' है यह चौथा भंग हुआ।

५—जीवका स्वरूप जिस समय अस्तिरूपसे कहा जाता है उसी समय नास्ति तथा दूसरे गुण आदि नहीं कहे जा सकते अवक्तव्य है, इस लिये जीव 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य' है, यह पाँचवा भंग हुआ।

६—जीवका स्वरूप जिस समय नास्ति से कहा जाता है उस समय अस्ति तथा अन्यगुण इत्यादि नहीं कहे जा सकते—अवक्तव्य हैं; इसलिये जीव 'स्यात् नास्ति-अवक्तव्य' है; यह छट्ठा भंग हुआ।

७—स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति यह दोनों भंग क्रमशः वक्तव्य हैं किन्तु युगपत् वक्तव्य नहीं हैं; इसलिये जीव 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' है; यह सातवाँ भंग हुआ।

जीवमें अवतरित सप्तभंगी

१-जीव स्यात् अस्ति है। २-जीव स्यात् नास्ति है। ३-जीव स्यात् अस्ति-नास्ति है। ४-जीव स्यात् अवक्तव्य है। ५-जीव स्यात् अस्ति-अवक्तव्य है। ६-जीव स्यात् नास्ति-अवक्तव्य है। ७-जीव स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है।

स्यात्का अर्थ कुछ लोग 'संशय' करते हैं किन्तु यह उनकी भूल है; 'कथंचित्, किसी अपेक्षासे' ऐसा उसका अर्थ होता है। स्यात् कथनसे (स्याद्वादसे) वस्तु स्वरूपके ज्ञानकी विशेष दृढ़ता होती है।

सप्तभंगीमें लागू होनेवाले नय

'अस्ति' स्व रूपसे है इसलिये निश्चयनयका विषय है, और नास्ति पर रूपसे है इसलिये व्यवहार नयका विषय है। शेष पाँच भंग व्यवहारनयसे हैं क्योंकि वे कुछ या अधिक अंशमें परकी अपेक्षा रखते हैं।

अस्तिमें लागू पड़नेवाले नय

अस्तिके निश्चय अस्ति और व्यवहार अस्ति ये दो भेद हो सकते हैं। जीवकी शुद्ध पर्याय निश्चयनयसे अस्ति है क्योंकि वह जीवका स्वरूप है। और विकारी पर्याय व्यवहारनयसे अस्तिरूप है क्योंकि वह जीवका स्वरूप नहीं है। विकारी पर्याय अस्तिरूप है अवश्य किन्तु वह टालने योग्य है; व्यवहारनयसे वह जीवका है और निश्चयनयसे जीवका नहीं है।

अस्तिमें दूसरे प्रकारसे लागू पड़नेवाले नय

अस्तिका अर्थ 'सत्' होता है, सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त होता है

उसमें ध्रौव्य निश्चयनयसे अस्ति है और उत्पाद-व्यय व्यवहारनयसे हैं। जीवका ध्रौव्य स्वरूप त्रिकाल अखंड शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र है, वह कभी विकारको प्राप्त नहीं हो सकता मात्र उत्पादरूप पर्यायमें पराश्रयसे क्षणिक विकार होता है। जीव जब अपना स्वरूप समझने के लिये अपने ध्रौव्य स्वरूपकी ओर उन्मुख होता है तब शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

प्रमाण

श्रुतप्रमाणका एक अंश नय है। जहाँ श्रुतप्रमाण नहीं होता वहाँ नय नहीं होता, जहाँ नय होता है वहाँ श्रुतप्रमाण होता ही है। प्रमाण उन दोनों नयोंके विषयका यथार्थ ज्ञान करता है इसलिये अस्तिनास्तिका एक साथ ज्ञान प्रमाण ज्ञान है।

निक्षेप

यहाँ जीव ज्ञेय है ज्ञेयका अंश निक्षेप है। अस्ति, नास्ति इत्यादि धर्म जीवके अंश हैं। जीव स्वज्ञेय है और अस्तिनास्ति इत्यादि स्वज्ञेयके अंशरूप निक्षेप हैं, यह भाव निक्षेप है। उसका यथार्थ ज्ञान नय है। निक्षेप विषय है और नय उसका विषय करनेवाला (विषयी) है।

स्वज्ञेय

जीव स्वज्ञेय है तथा स्वयं ज्ञान स्वरूप है। द्रव्य गुण पर्याय ज्ञेय है और उनका त्रिकाल जाननेका स्वभाव गुण है, तथा ज्ञानकी वर्तमान पर्याय स्वज्ञेयको जानती है। स्वज्ञेयके ज्ञान में यदि स्व पर का भेद किया हो तब ही ज्ञानकी सच्ची पर्याय है।

अनेकान्त

[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११-२[illegible] पृष्ठ ११८ से १२० के आधार से]

१—वस्तुका स्वरूप अनेकान्त है। जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म हो उसे अनेकान्त कहते हैं। उन धर्मों (अस्तित्व नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, अपेक्षत्व, अनपेक्षत्व, दैवसाध्यत्व,

पौरुषसाध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अंतरंगत्व, बहिरंगत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व इत्यादि सामान्य धर्म हैं। और जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गंधत्व, वर्णत्व,-शब्दत्व, शुद्धत्व,-अशुद्धत्व मूर्तत्व अमूर्तत्व, संसारीत्व, सिद्धत्व, अवगाहहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं। वस्तुको समझने के लिये प्रश्न उठने पर प्रश्नके वशसे उन धर्मोंके सम्बन्धमें विधि=निषेधरूप वचनोंके सात भङ्ग होते हैं। उन सात भङ्गोंमें 'स्यात्' यह पद लगाया है। 'कथंचित्' किसीप्रकार इस अर्थमें 'स्यात्' शब्द है उसके द्वारा वस्तुका अनेकान्त स्वरूप सिद्ध करना चाहिये।

सप्तभंगी और अनेकान्त

(१) १. वस्तु स्यात् अस्तिरूप है अर्थात् किसीप्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूपसे अस्तिरूप कही जाती है। २. वस्तु स्यात नास्तिरूप है अर्थात् परवस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल,भावरूपसे नास्तित्वरूप कही जाती है। ३ वस्तु स्यात् अस्तित्व-नास्तित्वरूप है—यह वस्तुमें अस्ति-नास्ति-दोनों धर्म रहते हैं, उसे वचनके द्वारा क्रमसे कह सकते हैं। ४. और वस्तु स्यात् अवक्तव्य है; क्योंकि वस्तुमें अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक ही समय रहते हैं किन्तु वचनके द्वारा एक साथ दोनों धर्म कहे नहीं जा सकते; इसलिये किसी प्रकारसे वस्तु अवक्तव्य है। ५. अस्तित्वरूपसे वस्तु स्वरूप कहा जा सकता है, किन्तु अस्ति-नास्ति दोनों धर्म वस्तुमें एक साथ रहते हैं, इसलिये वस्तु कही नहीं जा सकती इसप्रकार वस्तु वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है; इसलिये स्यात् अस्ति-अवक्तव्य है। ६. इस ही प्रकार (अस्तित्वकी भांति) वस्तुके स्यात् नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिये। ७ और दोनों धर्मोंको क्रमसे कह सकते हैं किन्तु एक साथ नहीं कह सकते इसलिये वस्तु स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिये। ऊपर कहे अनुसार सात भंग वस्तुमें संभव हैं।

(२) इसीप्रकार एकत्व, अनेकत्व इत्यादि सामान्य धर्म पर सात भंग विधि-निषेधसे लगाना चाहिये। जहाँ जो अपेक्षा संभव हो उसे लगाना

चाहिये। और उसीप्रकारसे जीवत्व, अजीवत्व आदि विशेष धर्मोंमें वे भग लगाना चाहिये। जैसे कि--जीव नाम की वस्तु है वह स्यात् जीवत्व है स्यात् अजीवत्व है इत्यादि प्रकारसे लगाना चाहिये। वहाँ पर इसप्रकार अपेक्षा पूर्वक समझना कि जीवका अपना जीव वधर्म जीवमें है इसलिये जीवत्व है, पर-अजीवका अजीवत्वधर्म जीवमें नहीं है तो भी जीवके दूसरे (ज्ञानको छोड कर) धर्मोंकी मुख्यता करके कहा जावे तो उन धर्मोंकी अपेक्षासे अजीवत्व है, इत्यादि सात भग लगाना चाहिये। तथा जीव अनत हैं उसकी अपेक्षासे अर्थात् अपना जीवत्व अपनेमें है परका जीवत्व अपनेमें नहीं है इसलिये पर जीवोंकी अपेक्षासे अजीवत्व है, इस प्रकार से भी अजीवत्व धर्म प्रत्येक जीव में सिद्ध हो सकता है—कह सकते हैं। इसप्रकार अनादिनिधन अनत जीव अजीव वस्तुएं हैं। उनमें प्रत्येकमें अपना अपना द्रव्यत्व, पर्यायत्व इत्यादि अनत धर्म हैं। उन धर्मों सहित सात भगोंसे वस्तु की सिद्धि करना चाहिये।

(३) वस्तुकी स्थूल पर्याय है वह भी चिरकाल स्थाई अनेक धर्म रूप होती है। जैसे कि जीवमें ससारी पर्याय और सिद्धपर्याय। और ससारी में त्रस, स्थावर, उसमें मनुष्य, तिर्यञ्च इत्यादि। पुद्गलमें अणु, स्कन्ध तथा घट, पट इत्यादि। वे पर्यायें भी कथचित् वस्तुपना सिद्ध करती हैं। उन्हें भी उपरोक्त प्रकारसे ही सात भगसे सिद्ध करना चाहिये, तथा जीव और पुद्गल के सयोगसे होनेवाले आश्रव, बंध, सवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, मोक्ष इत्यादि भावोंमें भी, बहुतसे धर्मपनाकी अपेक्षासे तथा परस्पर विधि=निषेधसे, अनेक धर्मरूप कथचित् वस्तुपना सभवित है, उसे सप्त भगसे सिद्ध करना चाहिये।

(४) यह नियमपूर्वक जानना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है उन सबको अनेकान्त स्वरूप जानकर जो श्रद्धा करता है और उसी प्रमाणसे ही ससारमें व्यवहारकी प्रवृत्ति करता है सो सम्यग्दृष्टि है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, पुण्य, पाप सवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ हैं

(अभेदनयकी मुख्यता में) ही भेद कहा है वह असत्यार्थ है । वहाँ भी उपचार की सिद्धि गौणरूपसे होती है ।

सम्यग्दृष्टिका और मिथ्यादृष्टिका ज्ञान

(१)—इस मुख्य-गौणके भेदको सम्यग्दृष्टि जानता है; मिथ्यादृष्टि अनेकांत वस्तुको नहीं जानता और जब सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है तब उस एक धर्मको ही सर्वथा वस्तु मानकर वस्तुके अन्य धर्मोंको सर्वथा गौण करके असत्यार्थ मानता है अथवा अन्य धर्मोंका सर्वथा अभाव ही मानता है। ऐसा माननेसे मिथ्यात्व दृढ़ होता है जहाँ तक जीव यथार्थ वस्तुस्वरूपको जाननेका पुरुषार्थ नहीं करता तब तक यथार्थश्रद्धा नहीं होती। इस अनेकान्त वस्तुको प्रमाण - नय द्वारा सातभंगोंसे सिद्ध करना सम्यक्त्वका कार्य है, इसलिये उसे भी सम्यक्त्व ही कहते हैं ऐसा जानना चाहिये । जिनमत की कथनी अनेक प्रकारसे है, उसे अनेकांतरूपसे समझना चाहिये ।

(२) इस सप्तभंगीके अस्ति और नास्ति ऐसे दो प्रथमभेद विशेष लक्षमें लेने योग्य हैं. वे दो भेद यह सूचित करते हैं कि जीव अपनेमें उल्टे या सीधे भाव कर सकता है किन्तु परका कुछ नहीं कर सकता, तथा परद्रव्यरूप अन्य जीव या जड़ कर्म इत्यादि सब अपने अपनेमें कार्य कर सकते हैं; किन्तु वे कोई इस जीवका भला बुरा कुछ नहीं कर सकते, इसलिये परवस्तुओंकी ओरसे लक्ष हटाकर और अपनेमें होनेवाले भेदोंको गौण करनेके लिये उन भेदोंपरसे भी लक्ष हटाकर अपने त्रिकाल अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि डालनेसे—उसके आश्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है । उसका फल अज्ञानका नाश होकर उपादेय की बुद्धि और वीतरागता की प्राप्ति है ।

अनेकांत क्या बतलाता है ?

(१) अनेकांत वस्तुको परसे असंग (भिन्न) बतलाता है । असंगत्वकी स्वतंत्र श्रद्धा असंगत्वके विकाशका उपाय है; परसे भिन्नत्व वस्तुका स्वभाव है ।

(२) अनेकांत वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है' इस प्रकार बतलाता है। पररूप आत्मा नहीं है इसलिये वह परवस्तुका कुछ भी करनेके लिये समर्थ नहीं है। और किसीका संयोग वियोगसे मेरा कुछ भी इष्ट अनिष्ट नहीं हो सकता ऐसे सच्चे ज्ञानसे आत्मा सुखी होता है।

'तू निजरूपसे है' अतः पररूपसे नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल उसे बदलनेमें तू समर्थ नहीं है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शांति तेरे पास ही है।

(३) अनेकान्त वस्तुको निजरूपसे सत् बतलाता है। सत् को पर सामग्री की आवश्यकता नहीं है, संयोग की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सत्को सत्के निर्णयकी आवश्यकता है कि 'मैं स्वरूपसे हूँ और पररूपसे नहीं।'

(४) अनेकान्त वस्तुको एक अनेक स्वरूप बतलाता है। 'एक' कहने कहने पर ही 'अनेक' की अपेक्षा आती है। तू अपनेमें एक है और अपनेमें ही अनेक है। तू अपने गुण पर्याय से अनेक है और वस्तुसे एक है।

(५) अनेकांत वस्तुको नित्य अनित्यस्वरूप बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वयं ही पर्यायसे अनित्य है। उनमें जिस ओरकी रुचि होती है उसी ओर परिणमन होता है। नित्यवस्तुकी रुचि करनेपर नित्य रहनेवाली वीतरागता होती है और अनित्य पर्यायकी रुचि हो तो क्षणिक रागद्वेष होते हैं।

(६) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुकी स्वतंत्रताको घोषित करता है। वस्तु परसे नहीं है और स्व से है ऐसा जो कहा है उसमें 'स्व अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह आ जाता है। वस्तुको परकी आवश्यकता नहीं है वह स्वतः स्वयं स्वाधीन– परिपूर्ण है।

(७) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुमें अस्ति नास्ति आदि दो विरुद्ध शक्तियोंको बतलाता है। एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उत्पादक दो विरुद्ध शक्तियोंका

एक साथ रहना ही तत्त्व की पूर्णता है: ऐसी दो विरुद्ध शक्तियोंका होना वस्तुका स्वभाव है।

शास्त्रोंके अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको या उसके भावोंको अथवा कारण-कार्यादिको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है अतः उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, अतः ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें जो दोनों नयोंका ग्रहण करनेको कहा है उसका क्या कारण है?

उत्तरः—जिनमार्गमें कहीं कहीं निश्चयनयकी मुख्यतासे जो कथन है उसे यह समझना चाहिये कि—'सत्यार्थ ऐसा ही है', तथा कहीं कहीं व्यवहार-नयकी मुख्यतासे जो कथन है उसे यह समझना चाहिये कि 'ऐसा नहीं है किंतु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है'। और इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके कथनको समान सत्यार्थ जानकर 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे दोनों नयोंका ग्रहण करने को नहीं कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो फिर जिनमार्गमें उसका उपदेश क्यों दिया गया है? एक निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिये था।

उत्तरः—यही तर्क श्री समयसारमें भी किया गया है, वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जैसे कोई अनार्य-म्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके विना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है उसीप्रकार व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और इसी सूत्रकी व्याख्या

में यह कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार कराने के लिये व्यवहारसे उपदेश देते हैं किन्तु व्यवहारनय अंगीकार करने योग्य नहीं है।

— मोक्षमार्ग प्रकाशक।

मुमुक्षुओंका कर्तव्य

आजकल इस पंचमकालमें इस कथनको समझनेवाले सम्यग्ज्ञानी गुरुका निमित्त सुलभ नहीं है, किन्तु जहाँ व मिल सकें वहाँ उनके निकटसे मुमुक्षुओंको यह स्वरूप समझना चाहिये और जहा वे न मिल सकें वहा शास्त्रोंके समझनेका निरंतर उद्यम करके इसे समझना चाहिये। इसके आश्रय से सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है इसलिये इसे यथार्थ समझना चाहिये, सत् शास्त्रोंका श्रवण, पठन, चिंतवन करना, भावना करना, धारण करना, हेतु युक्तिके द्वारा नय विवक्षाको समझना, उपादन निमित्तका स्वरूप समझना और वस्तुके अनेकान्त स्वरूपका निश्चय करना चाहिये। यह सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका मुख्य कारण है, इसलिये मुमुक्षु जीवोंको उसका निरंतर उपाय करना चाहिये।

इसप्रकार उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र
के चौथे अध्यायकी टीका
समाप्त हुई।



देवगति की व्यवस्था [भवनत्रिक]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
भवनवासी		१०	४०	कृष्ण, नील कापोत तथा जघन्य पीत				काय प्रवीचार
१ असुरकुमार	रत्नप्रभाके पंक भागमें			"	२५ धनुष	१ सागर	१० हजार वर्ष	"
२ नागकुमार	रत्नप्रभा पृथ्वीके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर खर भागमें			"	१० धनुष	३ पल्य	"	"
३. विद्युतकुमार				"	१० धनुष	१॥ पल्य	"	"
४ सुपर्णकुमार				"	१० धनुष	२॥ पल्य	"	"
५. अग्निकुमार				"	१० धनुष	१॥ पल्य	"	"
६ वातकुमार				"	१० धनुष	॥ पल्य	"	"
७ स्तनितकुमार				"	१० धनुष	१॥ पल्य	"	"
८. उदधिकुमार				"	१० धनुष	१॥ पल्य	"	"
९. द्वीपकुमार				"	१० धनुष	२ पल्य	"	"
१० दिक्कुमार				"	१० धनुष	१॥ पल्य	"	"

व्यन्तर		८	३२			एक पल्यसे कुछ अधिक	१० हजार वर्ष	काय प्रवीचार
१ किन्नर	ऊपरके खरभागमें			"	१० धनुष			"
२ किंपुरुष	"			"	"			"
३ महोरग	"			"	"			"
४ गन्धर्व	"			"	"			"
५ यक्ष	"			"	"			"
६ राक्षस	पंकभागमें			"	"			"
७ भूत	ऊपरके खरभागमें			"	"			"
८ पिशाच	"			"	"			"
ज्योतिषी		५	२			एक पल्यसे कुछ अधिक	$\frac{1}{8}$ पल्य	काय प्रवीचार
१ सूर्य	समान धरातलसे ७९० योजन की ऊंचाईसे प्रारम्भ करके ९०० योजन ऊंचाई तकके मध्य-लोकमें			"	७ धनुष			"
२ चन्द्रमा				"	"			"
३ ग्रह				"	"			"
४ नक्षत्र				"	"			"
५ प्रकीर्णक				"	"			"

देवगति की व्यवस्था [वैमानिक देव]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
कल्प								
सौधर्म-ईशान	ऊर्ध्वलोक	१२	२४	पीत	७ हाथ	२ सागरसे अधिक	१ पल्यसे अधिक	काय
सानत्कुमारमाहेंद्र	,,			पीत-पद्म	६ हाथ	७ ,, ,,	२ सागर ,,	स्पर्श
ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	,,			पद्म	५ हाथ	१० ,, ,,	७ सागर ,,	रूप
लान्तव-कापिष्ट	,			पद्म	५ हाथ	११ सागरसे कुछ अधिक	१० सागरसे कुछ अधिक	रूप
शुक्र-महाशुक्र	,,			पद्म-शुक्ल	४ हाथ	१६ सागर ,,	१४ ,, ,,	शब्द
सतार-सहस्रार	,,			,,	४ हाथ	१८ सागर ,,	१६ ,, ,,	शब्द
आनत-प्राणत	,,			शुक्ल	३॥ हाथ	२० सागर	१८ ,, ,,	मन
आरण-अच्युत	,,			,,	३ हाथ	२२ सागर	२० ,, ,,	मन
ग्रैवेयक								
सुदर्शन	,,		अहमिन्द्र	शुक्ल	२॥ हाथ	२३ सागर	२२ सागर	१६ स्वर्गसे
अमोघ	,,			,,	२॥ हाथ	२४ सागर	२३ सागर	ऊपरके सभी
सुप्रबुद्ध	,,			,,	२॥ हाथ	२५ सागर	२४ सागर	देव अप्रवी-
यशोधर	,,			,,	२ हाथ	२६ सागर	२५ सागर	चारी हैं क्यों
सुभद्र	,,			,,	२ हाथ	२७ सागर	२६ सागर	कि उनके काम
विशाल	,,			,,	२ हाथ	२८ सागर	२७ सागर	वासना ही

सुमन	"			"	१॥ हाथ	२९ सागर	२८ सागर	उत्पन्न नहीं होती
सौमन	"			"	१॥ हाथ	३० सागर	२९ सागर	
प्रीतिंकर	"			"	१॥ हाथ	३१ सागर	३० सागर	
अनुदिश			अह मिंद्र	परमशुक्ल	१॥ हाथ	३२ सागर	३१ सागर	"
आदित्य	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
अर्चि	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
अर्चिमाली	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
वैरोचन	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
प्रभास	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
अर्चिप्रभ	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
अर्चिमध्य	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
अर्चिरावर्त	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
अर्चिविशिष्ट	"			"	१॥ हाथ	"	"	"
अनुत्तर								
विजय	"			"	१ हाथ	३३ सागर	३२ सागर	"
वैजयन्त	"			"	"	"	"	"
जयन्त	"			"	"	"	"	"
अपराजित	"			"	"	"	"	"
सर्वार्थसिद्धि	"			"	"	"	जघन्य आयु नहीं होती	"

नोट —[1] वैमानिक देवोंके स्वर्ग १६ हैं, परन्तु उनके इन्द्र १२ हैं। यहाँ इन्द्रोंकी अपेक्षा से १२ भेद कहे हैं। पहिले के चार तथा अतके चार स्वर्गोंमें प्रत्येक के एक इन्द्र है और बीचके आठ स्वर्गोंमें दो दो स्वर्गोंके एक इन्द्र हैं।

२ पाँचवें स्वर्गमें जो लौकान्तिक देव रहते हैं उनके आयु ८ सागर की होती है।

❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्ष शास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका





पंचम अध्याय

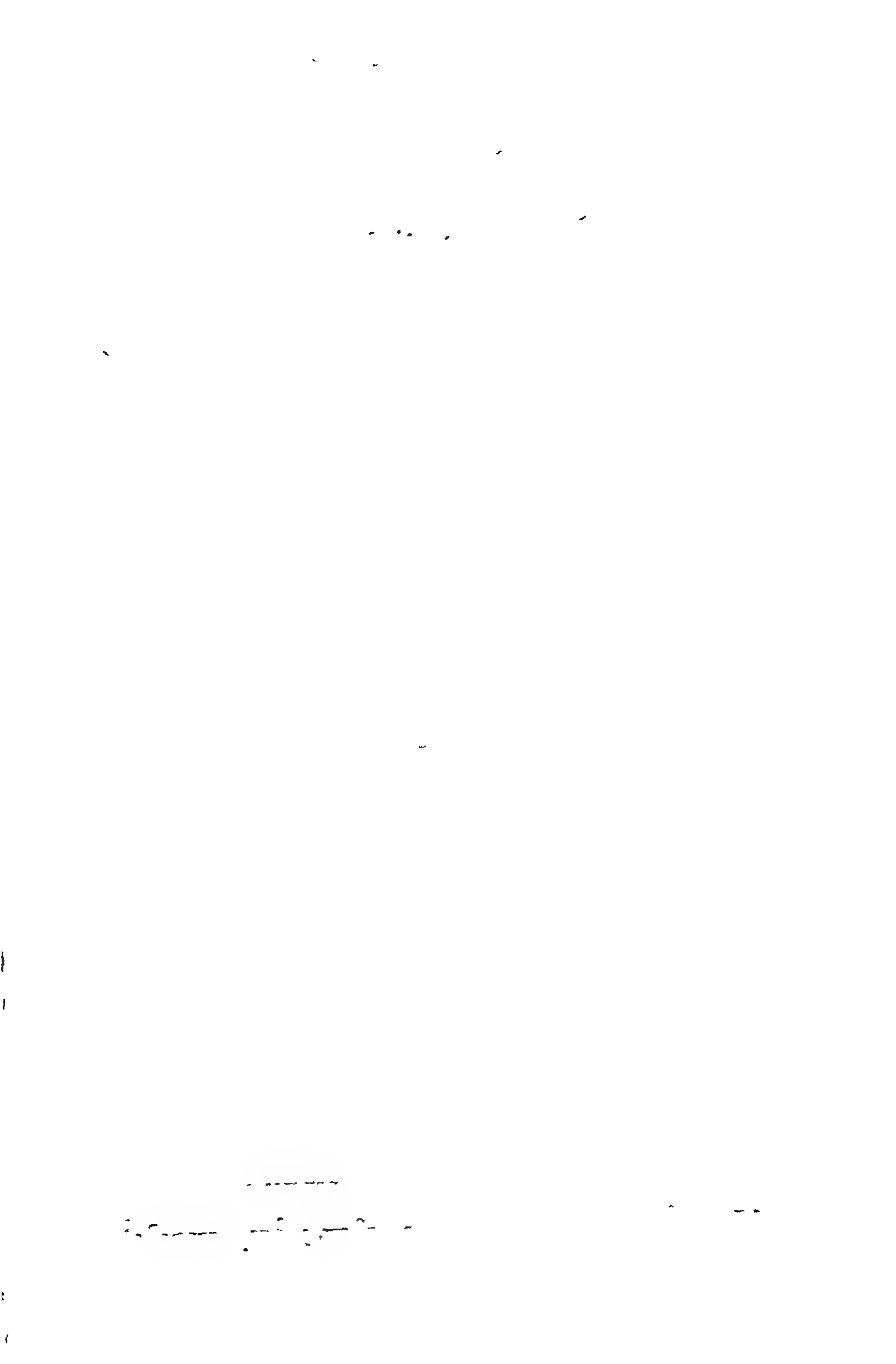




टीका सम्पादक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ





मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका
अध्याय पाँचवाँ



भूमिका

इस शास्त्रके प्रारंभ करते ही आचार्य भगवानने प्रथम अध्यायके पहले ही सूत्रमें बतलाया है कि सच्चे सुखका एक ही मार्ग है और वह मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है। इसके बाद यह बताया है कि जो तत्त्वार्थ का श्रद्धान है सो सम्यग्दर्शन है। फिर सात तत्त्व बताये हैं। उन तत्त्वोंमें पहला जीव तत्त्व है, उसका निरूपण पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायमें किया है।

दूसरा अजीव तत्त्व है—उसका ज्ञान इस पाँचवें अध्यायमें कराया गया है। पुद्गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये पाँच अजीव द्रव्य हैं, ऐसा निरूपण करनेके बाद उनकी पहचान करनेके लिए उनके खास लक्षण तथा उनका क्षेत्र बताया है। जीव सहित छह द्रव्य हैं यह कहकर द्रव्य, गुण, पर्याय, नित्य, अवस्थित तथा अनेकांत आदिका स्वरूप बतलाया है।

यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर इस जगत्का कर्ता है। जगत्के सभी द्रव्य स्व की अपेक्षा सत् हैं, उन्हें किसीने नहीं बनाया, ऐसा बतानेके लिए 'सत् द्रव्य लक्षणं' द्रव्यका लक्षण सत् है इसप्रकार २९ वें सूत्रमें कहा है। जगत्के सभी पदार्थ क्षण-क्षणमें स्व में ही स्व की अवस्था स्व से बदलती रहती है, इसप्रकार सत्का स्वरूप निरूपण करनेके लिए ३० वाँ सूत्र कहा है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य और पर्याय की अपेक्षासे अनित्य है, ऐसा निरूपण करनेके लिए गुण—पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा द्रव्यका दूसरा लक्षण

३८ वें सूत्रमें कहा है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्व से परिणमन करता है, इसी-लिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए ४२ वाँ सूत्र कहा है। वस्तुका स्वरूप अनेकांतात्मक है, किन्तु वह एक साथ नहीं कहा जा सकता, इसलिए कथनमें मुख्य और गौणपनेकी अपेक्षा होती है, इसप्रकार ३२ वें सूत्रमें बताया है। इसतरह बहुतसे उपयोगी सिद्धांत इस अध्यायमें लिए गए हैं।

इस अध्यायमें 'सद्द्रव्यलक्षणं,' 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्,' 'गुण पर्ययवद्द्रव्यं,' 'अर्पितानर्पित सिद्धेः' और 'तद्भावः परिणामः' ये पाँच (२९, ३०, ३८, ३२ और ४२) सूत्र वस्तु स्वरूपके नींवरूप हैं—विश्वधर्मके नींवरूप हैं। यह अध्याय सिद्ध करता है कि सर्वज्ञके बिना दूसरा कोई, जीव और अजीवका सत्य स्वरूप नहीं कह सकता। जीव और दूसरे पाँच अजीव (पुद्-गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल) द्रव्योंका स्वरूप जैसा इस शास्त्रमें निरूपित है वैसा ही दूसरे जैन शास्त्रोंमें बताया है। वह अद्वितीय है। इससे विरुद्ध मान्यता यदि जगतके किसी भी जीव की हो तो वह असत्य-मिथ्या है। इसलिए जिज्ञासुओं को यथार्थ समझकर सत्य स्वरूप को ग्रहण करना और झूठी मान्यता तथा अज्ञान छोड़ना चाहिए।

धर्मके नाम पर संसारमें जैन के अतिरिक्त दूसरी भी अनेक मान्य-तायें प्रचलित हैं, किन्तु उनमें वस्तुका यथार्थ कथन नहीं मिलता, वे जीव अजीव आदि तत्त्वोंका स्वरूप अन्य प्रकार से कहते हैं; आकाश और कालका जैसा स्वरूप वे कहते हैं वह स्थूल और अन्यथा है और धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकायके स्वरूपसे तो वे बिल्कुल अज्ञात हैं। इस उपरोक्त कथनसे सिद्ध होता है कि वस्तुके सत्य स्वरूपसे विरुद्ध चलती हुई वे सभी मान्य-ताएँ मिथ्या हैं, तत्त्वसे विरुद्ध हैं।

अजीव तत्त्वका वर्णन

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

अर्थ—[धर्माधर्माकाश पुद्गलाः] धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश और पुद्गल ये चार [अजीवकायाः] अजीव तथा बहु प्रदेशी हैं।

टीका

(१) सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ऐसा प्रथम अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है, फिर तीसरे सूत्रमें तत्त्वोंके नाम बताये हैं, उनमें से जीव का अधिकार पूर्ण होने पर अजीव तत्त्वका कथन करना चाहिये, इसलिये इस अध्यायमें मुख्य रूपसे अजीवका स्वरूप कहा है।

(२) जीव अनादि से स्व स्वरूप नहीं जानता और इसीलिए उसे सात तत्त्व सम्बन्धी अज्ञान रहता है। शरीर जो पुद्गल पिंड है उसे वह अपना मानता है, इसीलिए यहाँ यह बताया है कि यह पुद्गल तत्त्व जीवसे बिल्कुल भिन्न है और जीव रहित है अर्थात् अजीव है।

(३) जीव अनादि से यह मान रहा है कि शरीर के जन्म होने पर मैं उत्पन्न हुआ और शरीर के वियोग होने पर मेरा नाश हुआ, यह उसकी मुख्य रूपसे अजीव तत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा है। आकाश के स्वरूपका भी उसे भ्रम है और स्वयं उसका स्वामी है ऐसा भी यह जीव मानता है। यह विपरीत श्रद्धा दूर करने के लिये इस सूत्रमें यह कहा गया है कि ये द्रव्य अजीव हैं। धर्म और अधर्म द्रव्यको भी वह नहीं जानता, इसीलिए वस्तुके होते हुए भी उसका निषेध है, यह दोष भी इस सूत्रसे दूर होता है। आकाश का स्वरूप ४, ६ ७, ९, १८ वें सूत्रोंमें बताया है, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का स्वरूप १, ६-७-८, १२ और १७ वें सूत्रोंमें बताया गया है। दिशा आकाशका भाग है।

(४) प्रश्नः—'काय' का अर्थ तो शरीर है तथापि यहाँ धर्मादि द्रव्यको काय क्यों कहा है?

उत्तरः—यहाँ उपचारसे उन्हें (धर्मादि द्रव्योंको) काय कहा है। जैसे शरीर पुद्गल द्रव्यका समूहरूप है उसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंको भी प्रदेशोंके समूहरूप कायके समान व्यवहार है। यहाँ कायका अर्थ बहुप्रदेशी समझना चाहिये।

(५) प्रश्नः—पुद्गल द्रव्य तो एक प्रदेशी हैं, उसे काय शब्द कैसे लागू होगा?

उत्तरः—उसमें दूसरे पुद्गलोंके साथ मिलने की और इसलिये बहुप्रदेशी होने की शक्ति है, इसी अपेक्षासे उसे काय कहा जाता है।

(६) धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रोंमें हैं। ये नाम शास्त्र रूढ़िसे दिए गए हैं ॥ १ ॥

ये अजीवकाय क्या हैं?

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थः—ये चार पदार्थ [द्रव्याणि] द्रव्य हैं, (द्रव्यका लक्षण २९, ३०, ३८, वें सूत्रोंमें आयगा)

टीका

(१) जो त्रिकाल अपने गुण पर्यायको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं।

(२) द्रव्य अपने गुण पर्यायको प्राप्त होता है, अर्थात् परके गुण पर्यायको कोई प्राप्त नहीं होता, ऐसा (अस्ति-नास्तिरूप) अनेकान्त दृष्टिसे अर्थ होता है। पुद्गल अपने पर्यायरूप शरीरको प्राप्त होता है, किन्तु जीव या दूसरा कोई द्रव्य शरीरको प्राप्त नहीं होता। यदि जीव शरीरको प्राप्त हो तो शरीर जीव की पर्याय हो जाय; इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव और शरीर

अत्यन्त भिन्न पदार्थ है और इसीलिए जीव शरीरको प्राप्त न होने से त्रिकाल में भी शरीरका कुछ कर नहीं सकता ॥ २ ॥

द्रव्यमें जीव की गिनती

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थः—[जीवाः] जीव [च] भी द्रव्य है।

टीका

(१) यहाँ 'जीवा' शब्द बहुवचन है, यह यह बतलाता है कि जीव अनेक हैं। जीवका व्याख्यान पहले (पहले चार अध्यायोंमें) हो चुका है, इसके अतिरिक्त ३९ वें सूत्रमें 'काल' द्रव्य बतलाया है, अतः सब मिलकर छह द्रव्य हुए।

(२) जीव बहुत से हैं और प्रत्येक जीव 'द्रव्य' है ऐसा इस सूत्रमें प्रतिपादन किया है इसका क्या अर्थ है, यह विचार करते हैं। जीव अपने ही गुण पर्यायको प्राप्त होता है इसलिये उसे भी द्रव्य कहा जाता है। शरीर तो जीव द्रव्यकी पर्याय नहीं, किन्तु पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, क्योंकि उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जाता है और चेतन नहीं। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुण पर्यायको प्राप्त ही नहीं होता, इसलिये पुद्गल द्रव्य या उसकी शरीरादि पर्याय चेतन रूपको (जीवत्वको या जीवके किसी गुण पर्यायको) कभी भी प्राप्त नहीं होता। इस नियमके अनुसार जीव वास्तवमें शरीरको प्राप्त होता है यह बनता ही नहीं। जीव प्रत्येक समय अपनी पर्यायको प्राप्त होता है और शरीरको प्राप्त नहीं होता। इसलिये जीव शरीरका कुछ कर नहीं सकता, यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तको समझे बिना जीव अजीव तत्त्वकी अनादिसे चली आई भूल कभी दूर नहीं हो सकती।

(३) जीवका शरीरके साथ जो सम्बन्ध दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायोंमें बताया है वह एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध मात्र बताया है,

तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बताया, अतः यह व्यवहार कथन है। जो व्यवहार के वचनोंको वास्तवमें निश्चयके वचन मानते हैं वे 'घी का घड़ा' ऐसा कहने से घड़ेको वास्तवमें घी का बना हुआ मानते हैं, मिट्टी या धातुका बना हुआ नहीं मानते, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं। शास्त्रोंमें ऐसे जीवोंको 'व्यवहार मिथ्यादृष्टि' कहा है। जिज्ञासुओंके अतिरिक्त जीव इस व्यवहार मूढ़ताको नहीं छोड़ेंगे और व्यवहार विमूढ़ जीवों की संख्या त्रिकाल बहुत ज्यादा रहेगी। इसलिये धर्म प्रेमी जीव (दुःखको दूर करनेवाले सच्चे उम्मेदवार) इस अध्याय के १-२-३ सूत्रोंकी टीकामें जो स्वरूप बताया है उसे लक्ष्यमें लेकर इस स्वरूपको यथार्थ समझकर जीव और अजीव तत्त्वके स्वरूपकी अनादिसे चली आई भ्रांति दूर करें।

पुद्गल द्रव्यसे अतिरिक्त द्रव्योंकी विशेषता

नित्यावस्थितान्य रूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थः—ऊपर कहे गये द्रव्योंमें से चार द्रव्य [अरूपाणि] रूप रहित [नित्यावस्थितानि] नित्य और अवस्थित हैं।

टीका

(१) नित्यः—जो कभी नष्ट न हो उसे नित्य कहते हैं। (देखो सूत्र ३१ और उसकी टीका)

अवस्थितः—जो अपनी संख्याको उल्लंघन न करे उसे अवस्थित कहते हैं।

अरूपी—ःजिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण न पाया जाय उसे अरूपी कहते हैं।

(२) पहले दो स्वभाव समस्त द्रव्योंमें होते हैं। ऊपर जो आसमानी रंग दिखाई देता है उसे लोग आकाश कहते हैं किन्तु यह तो पुद्गलका रंग है; आकाश तो सर्व व्यापक, अरूपी, अजीव एक द्रव्य है।

'नित्य' और 'अवस्थित' का विशेष स्पष्टीकरण

(३) 'अवस्थित' शब्द यह बतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन करता है। परिणाम और परिणामित्व अन्य किसी तरह नहीं बन सकता। यदि एक द्रव्य, उसका गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यका कुछ भी करे या कराये तो वह तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाय। किन्तु कोई द्रव्य परद्रव्यमय तो नहीं होता। यदि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाये तो उस द्रव्य का नाश हो जाय और द्रव्योंका 'अवस्थितपन' न रहेगा। और फिर द्रव्योंका नाश होने पर उनका नित्यत्व' भी न रहेगा।

(४) प्रत्येक द्रव्य अनंत गुणोंका पिण्ड है। द्रव्यकी नित्यतासे उसका प्रत्येक गुण नित्य रहता है पुनरपि एक गुण उसी गुणरूप रहता है, दूसरे गुणरूप नहीं होता। इस तरह प्रत्येक गुणका अवस्थितत्व है, यदि ऐसा न हो तो गुणका नाश हो जायगा, और गुणके नाश होने से सम्पूर्ण द्रव्य का नाश हो जायगा और ऐसा होने पर द्रव्यका 'नित्यत्व' नहीं रहेगा।

(५) जो द्रव्य एक प्रदेशी हैं उसका भी प्रत्येक प्रदेश नित्य और अवस्थित रहता है। उनमें से एक भी प्रदेश अन्य प्रदेश रूप नहीं होता। यदि एक प्रदेशका स्थान अन्य प्रदेशरूप हो तो प्रदेशोंका अवस्थितपन न रहे। यदि एक प्रदेशका नाश हो तो सम्पूर्ण द्रव्यका नाश हो और ऐसा हो तो उसका नित्यत्व न रहे।

(६) प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने अपने समय पर प्रगट होती है और फिर तत्पश्चात् अपने अपने समय पर बाद की पर्यायें प्रगट होती हैं, और पहले पहले की पर्याय प्रगट नहीं होती, इस तरह पर्यायका अवस्थितपन सिद्ध होता है। यदि पर्याय अपने अपने समय पर प्रगट न हो और दूसरी पर्यायके समय प्रगट हो तो पर्यायका प्रवाह अवस्थित न रहे और ऐसा होने से द्रव्यका अवस्थितपन भी न रहे।

एक पुद्गल द्रव्यका ही रूपित्व बतलाते हैं

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

अर्थः—[पुद्गलाः] पुद्गल द्रव्य [रूपिणः] रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

टीका

(१) 'रूपी' का अर्थ स्पर्श, रस, गंध और वर्ण सहित है। (देखो सूत्र २३) पुद्×गल ये दो पद मिलकर पुद्गल शब्द बना है। पुद् अर्थात् इकट्ठे होना—मिलजाना और गल अर्थात् बिछुड़ जाना। स्पर्श गुणकी पर्याय की विचित्रताके कारण मिलना और बिछुड़ना पुद्गलमें ही होता है इसीलिए जब उसमें स्थूलता आती है तब पुद्गल द्रव्य इन्द्रियोंका विषय बनता है। रूप, रस, गंध, स्पर्शका गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बे इत्यादि रूपसे जो परिणमन है सो मूर्ति है।

(२) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और द्रव्यमन ये वर्ण, गंध, रस और स्पर्शवाले हैं, इसी से ये पाँचों पुद्गल द्रव्य हैं। द्रव्यमन सूक्ष्म पुद्गल के प्रचय रूप आठ पाँखुड़ीके खिले हुए कमलके आकारमें हृदय स्थान में रहता है, वह रूपी अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाला होने से पुद्गल द्रव्य है।

(देखो इस अध्याय के १९ वें सूत्रकी टीका)

(३) नेत्रादि इन्द्रिय सदृश मन स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाला होने से रूपी है, मूर्तिक है, ज्ञानोपयोगमें वह निमित्त कारण है।

शंकाः—शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगमें निमित्त है इसलिए जो ज्ञानोपयोगका निमित्त हो सो पुद्गल है ऐसा कहनेमें हेतु व्यभिचारित होता है (अर्थात् शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगका निमित्त देखा जाता है इसलिये यह हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहने से व्यभिचारी हुआ) सो मन मूर्तिक है ऐसा किस कारण से मानना?

समाधान—शब्द अमूर्तिक नहीं है। शब्द पुद्गल जन्य है अत उसमें मूर्तिकपन है, इसलिए ऊपर दिया हुआ हेतु व्यभिचारी नहीं है किन्तु सपक्षमें ही रहनेवाला है, इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्य मन पुद्गल है।

(४) उपरोक्त कथनसे यह नहीं समझना कि इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ तो पुद्गल हैं, इसलिये ज्ञान रहित हैं, यदि इन्द्रियों से ज्ञान हो तो जीव चेतन न रहकर जड़-पुद्गल हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं है। जीवके ज्ञानोपयोगकी जिस प्रकार की योग्यता होती है उसीप्रकार पुद्गल इन्द्रियों का सयोग होता है, ऐसा उनका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु निमित्त परद्रव्य होनेसे उनका आत्मामें अत्यत अभाव है और उससे वह-आत्मामें कुछ कर सकता है या सहायता कर सकता है ऐसा मानना सो विपरीतता है।

(५) सूत्रमें पुद्गला बहुवचन है वह यह बतलाता है कि पुद्गलों की सख्या बहुत है तथा पुद्गलके अणु, स्कधादि भेद के कारण कई भेद हैं।

(६) मन तथा सूक्ष्म पुद्गल इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते किन्तु जब वह सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण करते हैं तब इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकते हैं और तभी उनमें स्पर्श, रस, गध और वर्णकी अवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है इसलिए यह निश्चित होता है कि सूक्ष्म अवस्थामें भी वह स्पर्श, रस, गध और वर्णवाले हैं।

(७) पुद्गल परमाणुओंका एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मिट्टी के परमाणुओंमें से जल होता है, पानी से बिजली-अग्नि होती है वायुके मिश्रणसे जल होता है। इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन इत्यादि के परमाणु भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि पृथ्वी आदि समस्त पुद्गल के ही विकार हैं।

अब धर्मादि द्रव्यों की सख्या बतलाते हैं

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थः—[आ आकाशात्] आकाश पर्यन्त [एक द्रव्याणि] एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक एक हैं।

टीका

जीव द्रव्य अनन्त है पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं; और काल द्रव्य असंख्यात अणुरूप हैं। पुद्गल द्रव्य एक नहीं है यह बताने के लिए, इस सूत्र में पहले सूत्रकी संधि करने के लिये 'आ' शब्दका प्रयोग किया है।

अब इनका गमन रहितत्त्व सिद्ध करते हैं

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थः—[च] और फिर यह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य [निष्क्रियाणि] क्रिया रहित हैं अर्थात् ये एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्राप्त नहीं होते।

टीका

(१) क्रिया शब्दके कई अर्थ हैं—जैसे,–गुणकी परिणति, पर्याय, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन। इन अर्थोंमें से अंतिम अर्थ यहाँ लागू होता है। काल द्रव्य भी क्षेत्रके गमनागमन से रहित है, किन्तु यहाँ उसके बतलाने का प्रकरण नहीं है, क्योंकि पहले सूत्रमें कहे गए चार द्रव्योंका प्रकरण चल रहा है, जीव और कालका विषय नहीं चल रहा है। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कंध दोनों दशाओंमें गमन करता है अर्थात् एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन करता है इसलिये उसे यहाँ छोड़ दिया है। इस सूत्रमें तीन द्रव्योंमें क्रियाका अभाव बताया। और बाकी रहे पुद्गल द्रव्यमें क्रिया—हलन चलनका अस्तित्व बताने को अनेकांत सिद्धांतके अनुसार क्रियाका स्वरूप सिद्ध किया है।

(२) उत्पाद व्ययरूप क्रिया प्रत्येक द्रव्यमें समय समय पर होती है, वह इन द्रव्योंमें भी है ऐसा समझना चाहिये।

(३) द्रव्योंमें दो तरह की शक्ति होती है एक भाववती और दूसरी क्रियावती, उनमें से भाववती शक्ति समस्त द्रव्योंमें है और उससे उस शक्ति का परिणमन—उत्पाद व्यय प्रत्येक द्रव्यमें द्रव्यत्वको कायम रखकर होता है। क्रियावती शक्ति जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंमें होती है। यह दोनों द्रव्य एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्र में जाते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि जीव अधिकारी हो तब और सिद्धगतिमें जाते समय क्रियावान होता है और सिद्ध गतिमें वह स्थिररूपसे रहता है। (सिद्धगतिमें जाते समय जीव एक समय में सात राजू जाता है) सूक्ष्म पुद्गल भी शीघ्रगतिसे एक समयमें १४ राजू जाता है अर्थात् पुद्गलमें मुख्य रूपसे हलन चलन रूप क्रिया है, जब कि जीव द्रव्यमें संसारी अवस्थामें किसी किसी समय हलन चलन रूप क्रिया होती है।

अब धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य के प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

असंख्येयाः प्रदेशा. धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थः—[धर्माधर्मैकजीवानाम्] धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य के [असंख्येया.] असंख्यात [प्रदेशा.] प्रदेश हैं।

टीका

(१) प्रदेश—आकाशके जितने क्षेत्रको एक पुद्गल परमाणु रोके उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं।

(२) ये प्रत्येक द्रव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अखण्ड, एक, निरंश हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे असंख्यात प्रदेशी है। उसके असंख्यात प्रदेश हैं इससे कुछ उसके असंख्य खण्ड या टुकड़े नहीं हो जाते। और पृथक् २ एक २ प्रदेश जितने टुकड़ोंके मिलने से बना हुआ भी यह द्रव्य नहीं है।

(३) आकाश भी द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अखंड, निरंश, सर्वगत, एक और भिन्नता रहित है। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जितने अंशको परमाणु रोके उतने अंशको प्रदेश कहते हैं। आकाशमें कोई टुकड़े नहीं हैं या उसके टुकड़े नहीं हो जाते। टुकड़ा तो संयोगी पदार्थका होता है; पुद्गलका स्कंध संयोगी है इसलिये जब वह खण्ड होने योग्य हो तब वह खण्ड टुकड़े रूपमें परिणमन करता है।

(४) आकाशको इस सूत्रमें नहीं लिया, क्योंकि उसके अनन्त प्रदेश हैं, इसलिए वह नवमें सूत्रमें कहा जायगा।

(५) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और जीवके प्रदेश असंख्यात हैं और वे संख्याकी अपेक्षासे लोक प्रमाण असंख्यात हैं तथापि उनके प्रदेशों की व्यापक अवस्थामें अन्तर है। धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं। यह बारहवें और तेरहवें सूत्रोंमें कहा है और जीवके प्रदेश उस उस समय के जीवके शरीरके प्रमाणसे चौड़े या छोटे होते हैं (यह सोलहवें सूत्रमें कहा है) जीव जब केवलि-समुद्घात अवस्था धारण करता है तब उसके प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त होते हैं तथा दूसरे समुद्घातके समय उस उस शरीरमें प्रदेश रहकर कितने ही प्रदेश बाहर निकलते हैं।

(६) समुद्घातका स्वरूप प्रथम अध्यायके ११ वें सूत्रकी टीकामें कहा जा चुका है।

अब आकाशके प्रदेश बतलाते हैं

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अर्थः—[आकाशस्य] आकाशके [अनंताः] अनन्त प्रदेश हैं।

टीका

(१) आकाशके दो विभाग हैं—अलोकाकाश और लोकाकाश। उसमें से लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं। जितने प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके हैं उतने ही प्रदेश लोकाकाशके हैं, फिर भी उनका विस्तार

एक सरीखा है। लोकाकाश छहों द्रव्योंका स्थान है। इस बारेमें बारहवें सूत्र में कहा है।

(२) दिशा, कौना, ऊपर, नीचे ये सब आकाशके विभाग हैं।

अब पुद्गलके प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—[पुद्गलानाम्] पुद्गलोंके [संख्येयाऽसंख्येयाः च] संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

टीका

(१) इसमें पुद्गलोंकी संयोगी पर्याय (स्कंध) के प्रदेश बताये हैं। प्रत्येक अणु स्वतंत्र पुद्गल है। उसके एक ही प्रदेश होता है ऐसा ११ वें सूत्रमें कहा है।

(२) स्कंध दो परमाणुओंसे लेकर अनन्त परमाणुओंका होता है, इसका कारण ३३ वें सूत्रमें दिया गया है (बताया गया है)

(३) शंका—जब कि लोकाकाशके असंख्यात ही प्रदेश हैं तो उसमें अनन्त प्रदेश वाला पुद्गल द्रव्य तथा दूसरे द्रव्य कैसे रह सकते हैं?

समाधान—पुद्गल द्रव्यमें दो तरहका परिणमन होता है, एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसका सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल स्कंध रह सकता है। और फिर सब द्रव्योंमें एक दूसरेको अवगाहन देनेकी शक्ति है, इसलिये अल्पक्षेत्रमें ही समस्त द्रव्योंके रहनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। आकाशमें सब द्रव्योंको एक साथ स्थान देनेकी सामर्थ्य है इसलिए एक प्रदेशमें अनन्तानन्त परमाणु रह सकते हैं, जैसे एक कमरेमें एक दीपकका प्रकाश रह सकता है और उसी कमरेमें उतने ही विस्तारमें पचास दीपकोंका प्रकाश रह सकता है।

अब अणुको एक प्रदेशी बतलाते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थः—[अणोः] पुद्गल परमाणुके [न] दो इत्यादि प्रदेश नहीं हैं अर्थात् एक प्रदेशी है।

टीका

१. अणु एक द्रव्य है, उसके एक ही प्रदेश है, क्योंकि परमाणुओं का खंड नहीं होता।

२. द्रव्योंके अनेकांत स्वरूप का वर्णन

(१) द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकारके हैं।

(२) अमूर्तिक द्रव्य चेतन और जड़के भेदसे दो प्रकारके हैं।

(३) मूर्तिक द्रव्य दो तरहके हैं, एक अणु और दूसरा स्कंध।

(४) मूर्तिक द्रव्यके सूक्ष्म और बादर इसतरह दो भेद हैं।

(५) सूक्ष्म मूर्तिक द्रव्य दो तरहका है एक सूक्ष्मसूक्ष्म और दूसरा सूक्ष्म।

(६) स्कंध, सूक्ष्म और बादरके भेदसे दो प्रकार का है।

(७) सूक्ष्म अणु दो तरहके हैं—१—पुद्गल अणु २—कालाणु।

(८) अक्रिय (गमनागमनसे रहित चार द्रव्य) और सक्रिय (गमनागमन सहित जीव और पुद्गल) के भेदसे द्रव्य दो तरहके हैं।

(९) द्रव्य दो तरहके हैं—१—एक प्रदेशी और २—बहुप्रदेशी।

(१०) बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं संख्यात प्रदेशवाला और संख्यासे भिन्न प्रदेशवाला।

(११) संख्यातीत बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप है, असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी।

(१२) अनन्त प्रदेशी द्रव्य दो तरहका है १—अखंड आकाश और २—अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कंध।

(१३) लोकके असंख्यात प्रदेशोंको रोकनेवाले द्रव्य दो तरहके हैं—अखण्ड द्रव्य (धर्म, अधर्म तथा केवल समुद्घात करनेवाला जीव) और पुद्गल महा स्कन्ध यह संयोगी द्रव्य है।

(१४) अखण्ड लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी द्रव्य दो प्रकारका है, १—धर्म तथा अधर्म (लोक व्यापक) और २—जीव (लोक प्रमाण) संख्यासे असंख्यात प्रदेशी और विस्तारमें शरीरके प्रमाणसे व्यापक है।

(१५) अमूर्त बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं—संकोच—विस्तार रहित (आकाश, धर्म द्रव्य अधर्मद्रव्य तथा सिद्ध जीव) और संकोच विस्तार सहित (संसारी जीवके प्रदेश संकोच—विस्तार सहित हैं)

[सिद्ध जीव चरम शरीरसे किंचित् न्यून होते हैं]

(१६) द्रव्य दो तरहके हैं—सर्वगत (आकाश) और देशगत (अवशिष्ट पाँच द्रव्य)

(१७) सर्वगत दो प्रकारसे है—क्षेत्र सर्वगत (आकाश) और भावसे सर्वगत (ज्ञानशक्ति)

(१८) देशगत दो भेदरूप है—एक प्रदेशगत (परमाणु, कालाणु तथा एक प्रदेश स्थित सूक्ष्म स्कंध) और अनेक देशगत (धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल स्कंध)

(१९) द्रव्योंमें अस्ति दो प्रकारसे हैं—अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म, जीव तथा पुद्गल) और काय रहित अस्ति (कालाणु)

(२०) अस्तिकाय दो तरहसे है—अखण्ड अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म तथा जीव) और उपचरित अस्तिकाय (संयोगी पुद्गल स्कंध, पुद्गलमें समूहरूप—स्कंधरूप होनेकी शक्ति है)

(२१) प्रत्येक द्रव्यके गुण तथा पर्यायमें अस्तित्व दो तरहसे है—स्व से अस्तित्व और परकी अपेक्षासे नास्तिरूपका अस्तित्व।

(२२) प्रत्येक द्रव्यमें अस्तित्व दो तरहसे है—ध्रुव और उत्पाद-व्यय।

(२३) द्रव्योंमें दो तरहकी शक्ति है एक भाववती दूसरी क्रियावती।

(२४) द्रव्योंमें विभावका सम्बन्ध दो तरहका है—विभाव सहित (जीव और पुद्गलके अशुद्ध दशामें विभाव होता है) और विभाव रहित (दूसरे द्रव्य त्रिकाल विभाव रहित हैं)

(२५) द्रव्योंमें विभाव दो तरहसे है—१—जीवके विजातीय पुद्गलके साथ २ - पुद्गलके सजातीय एक दूसरेके साथ तथा सजातीय पुद्गल और विजातीय जीव इन दोनोंके साथ।

नोट—स्याद्वाद समस्त वस्तुओंके स्वरूपका साधनेवाला, अर्हंत सर्वज्ञका एक अस्खलित शासन है। वह यह बतलाता है कि 'सभी 'अनेकान्तात्मक है'। स्याद्वाद वस्तुके यथार्थ स्वरूपका निर्णय कराता है। यह संशयवाद नहीं है। कितने ही लोग कहते हैं कि स्याद्वाद वस्तुको नित्य और अनित्य आदि दो तरहसे बतलाता है, इसलिए संशयका कारण है, किन्तु उनका यह कथन मिथ्या है। अनेकांतमें दोनों पक्ष निश्चित हैं, इसलिए वह संशयका कारण नहीं है।

३ द्रव्य परमाणु तथा भाव परमाणुका दूसरा अर्थ, जो यहाँ उपयुक्त नहीं है।

प्रश्न—'चारित्रसार' इत्यादि शास्त्रोंमें कहा है कि यदि द्रव्य परमाणु और भाव परमाणुका ध्यान करे तो केवलज्ञान हो, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर- वहाँ द्रव्य परमाणुसे आत्म द्रव्यकी सूक्ष्मता और भाव परमाणुसे भावकी सूक्ष्मता बतलाई है। वहाँ पुद्गल परमाणुका कथन नहीं है। रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित आत्म द्रव्यको सूक्ष्म कहा जाता है। क्योंकि निर्विकल्प समाधिका विषय आत्म द्रव्य मन और इन्द्रियोंके द्वारा नहीं जाना जाता। भाव शब्दका अर्थ स्व संवेदन परिणाम है। परमाणु शब्द से भावकी सूक्ष्म अवस्था समझना चाहिए क्योंकि वीतराग, निर्विकल्प, समरसीभाव पाँचों इन्द्रियों और मनके विषयसे परे है। (देखो परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा ३३ की टीका, पृष्ठ १६८-१६६) यह अर्थ यहाँ लागू नहीं होता है?

प्रश्नः—द्रव्य परमाणुका यह अर्थ यहाँ क्यों लागू (उपयुक्त) नहीं है।

उत्तरः— इस सूत्रमें जिस परमाणुका वर्णन है वह पुद्गल परमाणु है, इसलिये द्रव्य परमाणुका उपरोक्त अर्थ यहाँ लागू नहीं होता।

अब समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान बतलाते हैं

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अर्थः—[अवगाहः] उपरोक्त समस्त द्रव्योंका अवगाह (स्थान) [लोकाकाशे] लोकाकाशमें है।

(१) आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य हैं उतने हिस्सेको लोकाकाश कहते हैं और अवशिष्ट आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

(२) आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। उसमें कोई भाग नहीं होते, किन्तु परद्रव्यके अवगाह की अपेक्षासे यह भेद होता है;—अर्थात् निश्चय से आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, व्यवहार से परद्रव्यके निमित्त की अपेक्षासे ज्ञानमें उसके दो भाग होते हैं-लोकाकाश और अलोकाकाश।

(३) प्रत्येक द्रव्य वास्तवमें अपने अपने क्षेत्रमें रहता है; लोकाकाश में रहता है, यह परद्रव्यकी अपेक्षासे निमित्तका कथन है; उसमें पर क्षेत्रकी अपेक्षा आती है, इसलिए यह व्यवहार है ऐसा नहीं है कि आकाश पहले हुआ हो तथा दूसरे द्रव्य उसमें बादमें उत्पन्न हुए हों क्योंकि सभी द्रव्य अनादि अनन्त हैं।

(४) आकाश स्वयं अपने को अवगाह देता है, यह अपने को निश्चय अवगाह रूप है। दूसरे द्रव्य आकाश से बड़े नहीं हैं और न हो ही सकते हैं, इसलिए उसमें व्यवहार अवगाह की कल्पना नहीं हो सकती।

(५) सभी द्रव्योंमें अनादि पारिणामिक, युगपद्‌रूप हैं, आगे पीछे का भेद नहीं है। जैसे युतसिद्धके व्यवहारसे आधार-आधेयत्व होता है उसीप्रकार अयुतसिद्धके भी व्यवहारसे आधार-आधेयत्व होता है।

युतसिद्ध=बादमें मिले हुए, अयुतसिद्ध=मूलमें एकमेक। दृष्टान्त- 'टोकरीमें बेर' बादमें मिले हुए का दृष्टान्त है, और 'खम्भेमें सार' मूलमें एकत्वका दृष्टान्त है।

(६) एवंभूत नयकी अपेक्षासे अर्थात् जिस स्वरूपसे पदार्थ है उस स्वरूपके द्वारा निश्चय करनेवाले नयकी अपेक्षासे सभी द्रव्योंके निज निजका आधार है। जैसे—किसी से प्रश्न किया कि तुम कहाँ हो ? तो वह कहता है कि मैं निजमें हूँ। इसी तरह निश्चय नयसे प्रत्येक द्रव्यको स्व स्व का आधार है। आकाशसे दूसरे कोई द्रव्य बड़े नहीं हैं। आकाश सभी ओर से अनंत है इसलिए व्यवहार नयसे यह कहा जा सकता है कि वह धर्मादिका आधार है। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं हैं यही सिद्ध करने के लिये यह आधार—आधेय सम्बन्ध माना जाता है।

(७) जहाँ धर्मादिक द्रव्य देखे जाते हैं उस आकाशका भाग लोक कहलाता है और जहाँ धर्मादिक द्रव्य नहीं देखे जाते उस भागको अलोक कहते हैं। यह भेद—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, पुद्गल और कालके कारण होता है, क्योंकि धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हैं। समस्त लोकाकाशमें ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है (एक भी प्रदेश नहीं है) जहाँ जीव न हो। तथापि जीव जब केवल समुद्घात करता है तब समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो जाता है। पुद्गलका अनादि अनन्त एक महा स्कन्ध है, जो लोकाकाशव्यापी है और सारा ही लोक भिन्न २ पुद्गलोंसे भी भरा हुआ है। कालाणु एक एक अलग अलग हीरेके ढेर की तरह समस्त लोकाकाशमें भरे हुए हैं।

अब धर्म अधर्म द्रव्यका अवगाहन बतलाते हैं

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

अर्थः—[धर्माधर्मयोः] धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह [कृत्स्ने] तिलमें तेलकी तरह समस्त लोकाकाशमें है।

टीका

(१) लोकाकाशमें द्रव्यके अवगाहके प्रकार पृथक् पृथक् हैं, ऐसा यह सूत्र बतलाता है। इस सूत्रमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके अवगाहका

प्रकार बतलाया है। पुद्गलके अवगाहका प्रकार १४ वें सूत्रमें और जीवके अवगाहका प्रकार १५ वें तथा १६ वें सूत्रमें दिया गया है। काल द्रव्य असंख्यात अलग अलग हैं, इसलिए उसका प्रकार स्पष्ट है अर्थात् कहने में नहीं आया, किन्तु इसी सूत्र पर से उसका गर्भित कथन समझ लेना चाहिए।

(२) यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशका अधर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्याघात रहित (बे रोक टोक) प्रवेश है और अधर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशका धर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्याघात रहित प्रवेश है। यह परस्परमें प्रवेशपना धर्म-अधर्म की अवगाहन शक्तिके निमित्त से है।

(३) भेद-संघातपूर्वक आदि सहित जिसका सम्बंध है, ऐसे अति स्थूल स्कंधमें जैसे किसी के स्थूल प्रदेश रहने में विरोध है और धर्मादिक द्रव्योंके आदि मान सम्बन्ध नहीं है किन्तु पारिणामिक अनादि सम्बन्ध है इसलिए परस्परमें विरोध नहीं हो सकता। जल, भस्म, शक्कर आदि मूर्तिक संयोगी द्रव्य भी एक क्षेत्रमें विरोध रहित रहते हैं तो फिर अमूर्तिक धर्म, अधर्म और आकाशके साथ रहने में विरोध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

अब पुद्गलका अवगाहन बतलाते हैं

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—[पुद्गलानाम्] पुद्गल द्रव्यका अवगाह [एक प्रदेशादिषु] लोकाकाशके एक प्रदेशसे लेकर संख्यात और असंख्यात प्रदेश पर्यंत [भाज्य] विभाग करने योग्य है—जानने योग्य है।

टीका

समस्त लोक सूक्ष्म और सूक्ष्म और बादर अनेक प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गलोंसे अगाढ रूपसे भरा हुआ है। इसप्रकार सम्पूर्ण पुद्गलोंका अवगाहन सम्पूर्ण लोकमें है। अनन्तानन्त पुद्गल लोकाकाशमें कैसे रह सकते हैं, इसका

टीका

(१) उपकार, सहायकता, उपग्रहका विषय १७ से २२ तकके सूत्रोंमें दिया गया है। वे भिन्न भिन्न द्रव्योंका भिन्न भिन्न प्रकारका निमितत्व बतलाते हैं। उपकार, सहायकता या उपग्रहका अर्थ ऐसा नहीं होता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भला करता है, क्योंकि २० वें सूत्रमें यह बताया है कि जीवको दुःख और मरण होनेमें पुद्गल द्रव्यका उपकार है, यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि लोक व्यवहारमें जब किसीके द्वारा किसीको कोई सुविधा दी जाती है तब व्यवहार भाषामें यह कहा जाता है कि एक जीवने दूसरेका उपकार किया–भला किया। किन्तु यह मात्र निमित्त सूचक भाषा है। एक द्रव्य न तो अपने गुण पर्यायको छोड़ सकता है और न दूसरे द्रव्यको दे सकता है। प्रत्येकके प्रदेश दूसरे द्रव्योंके प्रदेशोंसे अत्यन्त भिन्न है, परमार्थसे–निश्चयसे एक दूसरेके क्षेत्रमें प्रवेश नहीं कर सकते; एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें त्रिकाल अभाव है, इसलिये कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यका वास्तवमें लाभ या हानि नहीं कर सकता। एक द्रव्यको अपने कारणसे लाभ या हानि हुई तब उस समय दूसरे कौन द्रव्य निमित्तरूपमें मौजूद हुए, यह बतलानेके लिए १७ से २२ वें तकके सूत्रोंमें 'उपकार' शब्दका प्रयोग किया है (इस सम्बन्धमें प्रथम अध्यायके १४ वें सूत्रकी जो टीका दी गई है वह तथा इस अध्यायके २२ वें सूत्रकी टीका यहाँ देखना चाहिए।)

(२) यह सूत्र धर्म और अधर्म द्रव्यका लक्षण बतलाता है।

(३) उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण हेतु ये सभी निमित्त बताने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। "उपकार शब्दका अर्थ भला करना नहीं कार्यको निमित्त होय तिसको उपकारी कहिये है"–लेना कछु अर्थात् किसी कार्यमें जो निमित्त हो उसे उपकार कहते हैं।

(देखो पं० जयचन्दजीकृत सर्वार्थसिद्धि वचनिका पृष्ठ ४३४ अर्थप्रकाशिका सूत्र १६ की टीका प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३०६ और सूरतसे प्रकाशित द्वितीयावृत्ति पृष्ठ २०२)

(४) प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्य किसीके देखनेमें नहीं आते, इसलिये वे हैं ही नहीं?

उत्तर—सर्वज्ञ वीतरागने प्रत्यक्ष देखकर कहा है इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि धर्म और अधर्म द्रव्य किसीको दिखाई नहीं देते। जो नेत्रसे न देखा जाय उसका अभाव बतलाना ठीक नहीं है। जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न किया जाय यदि उसका अभाव मानेंगे तो बहुत सी वस्तुओंका अभाव मानना पड़ेगा। जैसे अमुक पीढ़ीके बुजुर्ग, दूरवर्ती देश, भूतकालमें हुए पुरुष, भविष्यमें होनेवाले पुरुष ये कोई आंखसे नहीं देखे जाते, इसलिए उनका भी अभाव मानना पड़ेगा, अतः यह तर्क यथार्थ नहीं है। अमूर्तिक पदार्थोंका सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ अनुमान प्रमाणसे निश्चय कर सकता है और इसीलिए उनका यहाँ लक्षण कहा है।

अब आकाश और दूसरे द्रव्योंके साथका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थः—[अवगाहः] समस्त द्रव्योंको अवकाश-स्थान देना यह [आकाशस्य] आकाशका उपकार है।

टीका

(१) जो समस्त द्रव्योंको रहनेको स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं। 'उपकार' शब्दका अध्याहार पहले सूत्रसे होता है।

(२) यद्यपि अवगाह गुण समस्त द्रव्योंमें है तथापि आकाशमें यह गुण सबसे बड़ा है, क्योंकि यह समस्त पदार्थोंको साधारण एक साथ अवकाश देता है। अलोकाकाशमें अवगाह हेतु है किन्तु वहाँ अवगाह लेनेवाले कोई द्रव्य नहीं हैं इसमें आकाश का क्या दोष है? आकाशका अवगाह

देनेका गुण इससे बिगड़ या नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता।

(३) प्रश्न—जीव और पुद्गल क्रियावाले हैं और क्रियापूर्वक अवगाह करनेवालोंको अवकाश देना ठीक है, किन्तु यह कैसे कहते हो कि धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और कालाणु तो क्षेत्रांतर की क्रिया रहित हैं और आकाशके साथ नित्य संबंधरूप हैं फिर भी उन्हें अवकाश दान देता है ?

उत्तर—उपचारसे अवकाश दान देता है ऐसा कहा जाता है। जैसे-आकाश गति रहित है तो भी उसे सर्वगत कहा जाता है। उसीप्रकार ऊपर कहे गये द्रव्य गति रहित हैं तो भी लोकाकाशमें उनकी व्याप्ति है इसलिए यह उपचार किया जाता है कि आकाश उन्हें अवकाश देता है।

(४) प्रश्न - आकाशमें अवगाहन हेतुत्व है तथापि वज्र इत्यादिसे गोले आदिका और भीत (दीवाल) आदिसे गाय आदिका रुकना क्यों होता है ?

उत्तर—स्थूल पदार्थोंका पारस्परिक व्याघात हो ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसीलिए आकाशके गुणमें कोई दूषण नहीं आता।

अब पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—[शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः] शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास ये [पुद्गलानाम्] पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं अर्थात् शरीरादि की रचना पुद्गलसे ही होती है।

टीका

(१) यहाँ 'उपकार' शब्दका अर्थ भला करना नहीं, किन्तु किसी कार्यमें निमित्त होय तिसको उपकारी कहिये है। (देखो १७ वें सूत्र की टीका)

(२) शरीरमें कार्माण शरीरका समास होता है। वचन तथा मन पुद्गल हैं, यह पाँचवें सूत्रकी टीकामें बताया गया है। प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) पुद्गल है।

(३) भाव मन लब्धि तथा उपयोग रूप है। यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीव की अवस्था है। यह भाव मन जब पौद्गलिक मनकी ओर झुकाव करता है तब कार्य करता है इसलिए निश्चय (परमार्थ, शुद्ध) नयसे यह जीवका स्वरूप नहीं है, निश्चय नयसे यह पौद्गलिक है।

(४) भाव वचन भी जीव की अवस्था है। यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवकी अवस्था है। उसके कार्यमें पुद्गलका निमित्त होता है इसलिए निश्चय नयसे यह जीव की अवस्था नहीं है। यह निश्चय नयसे जीवका स्वरूप नहीं है इसलिए पौद्गलिक है। यदि यह जीवका त्रिकाली स्वभाव हो तो वह दूर न हो, किन्तु यह भाव वचनरूप अवस्था जीवमें से दूर हो सकती है – अलग हो सकती है-इसी अपेक्षाको लक्षमें रखकर उसे पौद्गलिक कहा जाता है।

(५) भाव मन सम्बन्धी अध्याय २ सूत्र ११ की टीका पढ़े। वहाँ जीवकी विशुद्धिको भाव मन कहा है सो वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे कहा है ऐसा समझना।

अब पुद्गलका जीवकी भावका निमित्त नैमित्तिक सम्बध बताते हैं

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थ —[सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च] इन्द्रिय जन्य सुख दुःख, जीवन, मरण ये भी पुद्गलके उपकार हैं।

टीका

(१) उपकार (–उपग्रह) शब्दका अर्थ किसी का भला करना नहीं किन्तु निमित्त मात्र ही समझना चाहिये, नहीं तो यह नहीं कहा जा सकता कि "जीवोंको दुःख मरणादिक उपकार" पुद्गल द्रव्य के हैं।

(२) सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग यह बतलाता है कि जैसे शरीरादिक निमित्त हैं वैसे ही पुद्गल कृत इन्द्रियाँ भी जीवको अन्य उपकार रूप से हैं।

(३) सुख दुःखका संवेदन जीवको है, पुद्गल अचेतन-जड़ है, उसे सुख दुःखका संवेदन नहीं हो सकता।

(४) निमित्त उपादानका कुछ कर नहीं सकता। निमित्त अपने में पूरा पूरा कार्य करता है और उपादान अपने में पूरा पूरा कार्य करता है। यह मानना कि निमित्त पर द्रव्यका वास्तवमें कुछ असर करता है सो दो द्रव्योंको एक मानने रूप असत् निर्णय है।

(५) प्रश्नः—निमित्त उपादानका कुछ भी कर नहीं सकता तो सूई शरीरमें घुस जाने से जीवको दुःख क्यों होता है?

समाधान—१. अज्ञानी जीवको शरीरमें एकत्व बुद्धि होने से शरीर की अवस्थाको अपनी मानता है और अपने को प्रतिकूलता हुई ऐसा मानता है, और ऐसी ममत्व बुद्धिके कारण दुःख होता है. परन्तु सूईके प्रवेशके कारण दुःख नहीं हुआ है।

२ मुनिओंको उपसर्ग आने पर भी निर्मोही पुरुषार्थकी वृद्धि करता है; दुःखी नहीं होता है और।

३ केवलि-तीर्थंकरोंको कभी और किसी प्रकार उपसर्ग नहीं होता [त्रिलोक प्रज्ञप्ति भाग—१—पृ० ८ श्लो० ५६-६४]

४. ज्ञानीको निम्न भूमिकामें अल्प राग है वह शरीरके साथ एकत्व बुद्धिका राग नहीं है, परन्तु अपनी सहन शक्तिकी कमजोरी से जितना राग हो उतना ही दुःख होता है;—सूईसे किंचित भी दुःख होना मानता नहीं है।

५. विशेष ऐसा समझना चाहिये कि सूई और शरीर भिन्न भिन्न द्रव्य हैं, सूईका शरीरके परमाणुओंमें प्रवेश नहीं हो सकता 'एक परमाणु दूसरे को परस्पर चुंबन भी नहीं करते' तो सूईका प्रवेश शरीरमें कैसे हो

सकता है ? सचमुच तो सूईका शरीरके परमाणुओंमें प्रवेश नहीं हुआ है, दोनों की सत्ता और क्षेत्र भिन्न २ होने से, आकाश क्षेत्रमें दोनोंका संयोग हुआ कहना यह व्यवहारमात्र है।

जीवका उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—[जीवानाम्] जीवोंके [परस्परोपग्रहः] परस्परमें उपकार हैं।

टीका

(१) एक जीव दूसरे को सुखका निमित्त, दुःखका निमित्त, जीवन का निमित्त, मरणका निमित्त, सेवा सुश्रूषा आदिका निमित्त होता है।

(२) यहाँ 'उपग्रह' शब्द है। दुःख और मरणके साथ भी उसका सम्बन्ध है, किन्तु उसका अर्थ 'भला करना' नहीं होता किन्तु निमित्तमात्र है ऐसा समझना चाहिये।

(३) बीसवें सूत्रमें कहे गये सुख, दुःख, जीवन, मरणके साथ इसका संबंध बताने के लिये 'उपग्रह' शब्दका प्रयोग इस सूत्रमें किया है।

(४) जहाँ 'सहायक' शब्दका प्रयोग हुआ है वहाँ भी निमित्त मात्र अर्थ है। प्रेरक या अप्रेरक चाहे जैसा निमित्त हो किन्तु वह परमें कुछ करता नहीं है ऐसा समझना चाहिए और वह भेद निमित्तकी ओर से निमित्तके है, किन्तु उपादानकी अपेक्षा दोनों प्रकारके निमित्त उदासीन (अप्रेरक) माना है, श्री पूज्यपादाचार्य ने इष्टोपदेशकी गाथा ३४ में भी कहा है कि 'जो सत् कल्याणका वाञ्छक है, वह आप ही मोक्ष सुखका बतलानेवाला तथा मोक्ष सुखके उपायोंमें अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है इसलिये अपना (आत्मा का) गुरु आप ही (आत्मा ही) है" इसपर शिष्य ने आक्षेप सहित प्रश्न किया कि "अगर आत्मा ही आत्माका गुरु है तो गुरु शिष्यके उपकार, सेवा आदि व्यर्थ ठहरेंगे" उसको आचार्य्य गाथा ३५ से जवाब देते हैं कि—

"नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञोनाज्ञत्व मृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थः—अज्ञानी किसी द्वारा ज्ञानी नहीं हो सकता, तथा ज्ञानी किसी के द्वारा अज्ञानी नहीं किया जा सकता, अन्य सब कोई तो गति (गमन) में धर्मास्तिकायके समान निमित्त मात्र हैं अर्थात् जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करे उस समय धर्मास्तिकायको निमित्तमात्र कारण कहा जाता है उसी प्रकार जिस समय शिष्य स्वयं अपनी योग्यतासे ज्ञानी होता है तो उस समय गुरुको निमित्तमात्र कहा जाता है उसीप्रकार जीव जिस समय मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमता है उस समय द्रव्यकर्म और नोकर्म (–कुदेवादिको) आदिको निमित्तमात्र कहा जाता है जो कि उपचार कारण है. (–अभूतार्थ कारण है) उपादान स्वयं अपनी योग्यतासे जिस समय कार्यरूप परिणमता है तो ही उपस्थित क्षेत्र-काल-संयोग आदि में निमित्तकारणपनेका उपचार किया जाता है अन्यथा निमित्त किसका ? ऐसा किसी को कभी नहीं हो सकता कि द्रव्यकी जिस समय जैसा परिणमन करने की योग्यता हो उस समय उसके अनुकूल निमित्त न हो और उसका उसरूप परिणमन होना रुक जावे, अथवा किसी क्षेत्र, काल, संयोगकी वाट (–राह) देखनी पड़े अथवा निमित्तको जुटाना पड़े ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबन्धका स्वरूप नहीं है ।

उपादानके परिणमनमें सर्व प्रकारका निमित्त अप्रेरक है ऐसा समयसार नाटक सर्व विशुद्ध द्वार काव्य ६१ में कहा है देखो इस अध्याय के सू० ३० की टीका ।

अब काल द्रव्यका उपकार बतलाते हैं

वर्तनापरिणामक्रियाःपरत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अर्थः—[वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च] वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व [कालस्य] काल द्रव्यके उपकार हैं ।

(१) सत् अवश्य उपकार सहित होने योग्य है और काल सत्ता स्वरूप है इसलिए उसका क्या उपकार (निमित्तत्व) है सो इस सूत्रमें बताते हैं। (यहाँ भी उपकारका अर्थ निमित्तमात्र होता है।)

(२) वर्तना:—सर्व द्रव्य अपने अपने उपादान कारण से अपनी पर्यायके उत्पाद रूप वर्तना है, उसमें बाह्य निमित्त कारण काल द्रव्य है इसलिए वर्तना कालका लक्षण या उपकार कहा जाता है।

परिणाम—जो द्रव्य अपने स्वभावको छोड़े बिना पर्यायरूपसे पलटे (बदले) सो परिणाम है। धर्मादि सर्व द्रव्योंके अगुरुलघुत्व गुणके अविभाग प्रतिच्छेदरूप अनन्त परिणाम (षट्गुण हानि वृद्धि सहित) है, यह अति सूक्ष्म स्वरूप है। जीवके उपशमादि पांच भावरूप परिणाम हैं और पुद्गलके वर्णादिक परिणाम हैं तथा घटादिक अनेकरूप परिणाम हैं। द्रव्यकी पर्याय—परिणतिको परिणाम कहते हैं।

क्रिया—एक क्षेत्रसे अन्य क्षेत्रको गमन करना क्रिया है। यह क्रिया जीव और पुद्गल दोनोंके होती है, दूसरे चार द्रव्योंके क्रिया नहीं होती।

परत्व—जिसे बहुत समय लगे उसे परत्व कहते हैं।

अपरत्व—जिसे थोड़ा समय लगे उसे अपरत्व कहते हैं।

इन सभी कार्योंका निमित्त कारण काल द्रव्य है। वे कार्यकालको बताते हैं।

(३) प्रश्न—परिणाम आदि चार भेद वर्तनाके ही हैं इसलिए एक वर्तना कहना चाहिए?

उत्तर—काल दो तरहका है, निश्चयकाल और व्यवहारकाल। उनमें जो वर्तना है सो तो निश्चयकालका लक्षण है और जो परिणाम आदि चार भेद हैं सो व्यवहारकालके लक्षण हैं। यह दोनों प्रकारके काल इस सूत्रमें बताए हैं।

(४) व्यवहारकाल—जीव पुद्गलके परिणामसे प्रगट होता है। व्यवहारकालके तीन भेद हैं भूत, भविष्यत और वर्तमान। लोकाकाशके एक

एक प्रदेशमें एक एक भिन्न भिन्न असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं, वह परमार्थ काल—निश्चयकाल है। वह कालाणु परिणति सहित रहता है।

(५) उपकारके सूत्र १७ से २२ तकका सिद्धांत

कोई द्रव्य परद्रव्यकी परिणतिरूप नहीं वर्तता, स्वयं अपनी परिणतिरूप ही प्रत्येक द्रव्य वर्तता है। परद्रव्य तो बाह्य निमित्तमात्र है, कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमें प्रवेश नहीं करता (अर्थात् निमित्त परका कुछ कर नहीं सकता) ये सूत्र निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और कालके परके साथके निमित्त सम्बन्ध बतानेवाले लक्षण यहाँ पर कहे हैं।

(६) प्रश्न—"काल वर्तानेवाला है" ऐसा कहनेसे उसमें क्रियावानपना प्राप्त होता है? (अर्थात् काल पर द्रव्यको परिणमाता है, क्या ऐसा उसका अर्थ हो जाता है?)

उत्तर—वह दूषण नहीं आता। निमित्तमात्रमें सहकारी हेतुका कथन (व्यपदेश) किया जाता है, (उपादान कारणमें नहीं) जैसे यह कथन किया जाता है कि जाड़ोंमें कंडोंकी अग्नि शिष्यको पढ़ाती है; वहाँ शिष्य स्वयं पढ़ता है किन्तु अग्नि (ताप) उपस्थित रहती है इसलिए उपचारसे यह कथन किया जाता है कि 'अग्नि पढ़ाती है।' इसी तरह पदार्थोंके वर्तने में कालका प्रेरक हेतुत्व कहा है वह उपचारसे हेतु कहा जाता है। और अन्य पाँचों द्रव्य भी वहाँ उपस्थित हैं किन्तु उनको वर्तनामें निमित्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें उसतरहका हेतुत्व नहीं है।

अब पुद्गल द्रव्यका लक्षण कहते हैं

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

अर्थः—[स्पर्श रस गंध वर्णवंतः] स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले [पुद्गलाः] पुद्गल द्रव्य हैं।

टीका

(१) सूत्रमें 'पुद्गला' यह शब्द बहुवचनमें है इससे यह कहा है कि बहुतसे पुद्गल हैं और प्रत्येक पुद्गलमें चार लक्षण हैं, किसीमें भी चारसे कम नहीं है, ऐसा समझाया गया है।

(२) सूत्र १९ वें, २० वें में पुद्गलोंका जीवके साथका निमित्तत्व बताया था और यहाँ पुद्गलका तद्भूत (उपादान) लक्षण बताते हैं। जीवका तद्भूत लक्षण उपयोग अध्याय २ सूत्र आठमें बताया गया था और यहाँ पुद्गलके तद्भूत लक्षण कहे हैं।

(३) इन चार गुणोंकी पर्यायोंके भेद निम्नप्रकार हैं—स्पर्श गुण की आठ पर्यायें हैं १—स्निग्ध, २—रूक्ष, ३—शीत, ४—उष्ण, ५—हल्का ६—भारी, ७—मृदु और ८—कर्कश।

रस गुणकी पाँच पर्यायें हैं १—खट्टा, २—मीठा, ३—कडुवा, ४—कषायला और ५—चर्परा। इन पाँचोंमेंसे परमाणुमें एक कालमें एक रस पर्याय प्रगट होती है।

गंध गुणकी दो पर्यायें हैं—१—सुगंध और २—दुर्गंध। इन दोनोंमें से एक कालमें एक गंध पर्याय प्रगट होती है।

वर्ण गुणकी पाँच पर्यायें हैं—१—काला, २—नीला, ३—पीला, ४—लाल और ५—सफेद। इन पाँचोंमेंसे परमाणुके एक कालमें एक वर्ण पर्याय प्रगट होती है।

इस तरह चार गुणके कुल २० भेद-पर्याय हैं। प्रत्येक पर्यायके दो, तीन, चारसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

(४) कोई कहता है कि 'पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्निके परमाणुओं में जाति भेद है' किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है। पुद्गल सब एक जातिका है। चारों गुण प्रत्येकमें होते हैं और पृथ्वी आदि अनेकरूपसे उसका परिणाम है। पाषाण और लकड़ी रूपसे जो पृथ्वी है वह अग्निरूपसे परिणमन करती है। अग्नि, काजल, रास्रादि पृथ्वीरूपमें परिणमते हैं। चन्द्रकांत मणि पृथ्वी

है उसे चन्द्रमाके सामने रखने पर वह जलरूपमें परिणमन करती है। जल, मोती, नमक आदि पृथ्वीरूपसे उत्पन्न होते हैं। जौ नामका अनाज (जो पृथ्वी की जातिका है) खानेसे वायु उत्पन्न होती है, क्योंकि पृथ्वी, जल अग्नि और वायु पुद्गल द्रव्यके ही विकार हैं (पर्याय हैं)।

(५) प्रश्न—इस अध्यायके ५ वें सूत्रमें पुद्गलका लक्षण रूपित्व कहा है तथापि इस सूत्रमें पुद्गलका लक्षण क्यों कहा ?

उत्तर—इस अध्यायके चौथे सूत्रमें द्रव्योंकी विशेषता बतानेके लिए नित्य, अवस्थित और अरूपी कहा था और उसमें पुद्गलोंको अमूर्तिकत्व प्राप्त होता था, उसके निराकरणके लिए पाँचवाँ सूत्र कहा था और यह सूत्र तो पुद्गलोंका स्वरूप बतानेके लिए कहा है।

(६) इस अध्यायके ५ वें सूत्रकी टीका यहाँ पढ़नी चाहिए।

(७) विदारणादि कारणसे जो टूट फूट होती है तथा संयोगके कारणसे मिलना होता है—उसे पुद्गलके स्वरूपको जाननेवाले सर्वज्ञदेव पुद्गल कहते हैं। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ५५)

(८) प्रश्न—हरा रंग कुछ रंगोंके मेलसे बनता है, इसलिए रंग के जो पाँच भेद बताये हैं वे मूल भेद कैसे रह सकते हैं ?

उत्तरः—मूल सत्ताकी अपेक्षासे ये भेद नहीं कहे गये किन्तु परस्पर के स्थूल अन्तर की अपेक्षासे कहे हैं। रसादि के सम्बन्धमें यही बात समझनी चाहिए। रंगादि की नियत संख्या नहीं है। (तत्त्वार्थ सार-पृष्ठ १५८)

अब पुद्गलकी पर्याय बतलाते हैं

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

अर्थः—उक्त लक्षणवाले पुद्गल [शब्द बंध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छायातपोद्योत वंतः च] शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान

(आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतादिवाले होते हैं, अर्थात ये भी पुद्गलकी पर्यायें हैं।

टीका

(१) इन अवस्थाओंमें से कितनी तो परमाणु और स्कंध दोनोंमें होती हैं और कई स्कंधमें ही होती हैं।

(२) शब्द दो तरह का है—१–भाषात्मक २–अभाषात्मक। इनमें से भाषात्मक दो तरह का है—१ अक्षरात्मक और २ अनक्षरात्मक। उनमें अक्षरात्मक भाषा संस्कृत और देशभाषा रूप है। यह दोनों शास्त्रोंको प्रगट करनेवाली और मनुष्यके व्यवहारका कारण है। अनक्षरात्मक भाषा दो इन्द्रियसे लेकर चार इन्द्रियवालों तथा कितनेक पचेन्द्रिय जीवोंके होती है और अतिशय रूप ज्ञानको प्रकाशित करने की कारण केवली भगवान की दिव्य ध्वनि—ये सभी अनक्षरात्मक भाषा हैं। यह पुरुष निमित्तक है, इस लिए प्रायोगिक है।

अभाषात्मक शब्द भी दो भेद रूप है। एक प्रायोगिक दूसरा वैस्रसिक। जिस शब्दके उत्पन्न होने में पुरुष निमित्त हो वह प्रायोगिक है और जो पुरुष की बिना अपेक्षाके स्वभावरूप उत्पन्न हो वह वैस्रसिक है, जैसे मेघ गर्जनादि। प्रायोगिक भाषा चार तरह की है—१–तत २–वितत ३–घन और ४–सुषिर। जो चमड़े के ढोल, नगाड़े आदि से उत्पन्न हो वह तत है। तारवाली वीणा, सितार तम्बूरादिक से उत्पन्न होनेवाली भाषाको वितत कहते हैं। घंटा आदि के बजाने से उत्पन्न होनेवाली भाषा घन कहलाती है और जो बाँसुरी, शंखादिक से उत्पन्न हो उसे सुषिर कहते हैं।

जो कानसे सुना जाय उसे शब्द कहते हैं। जो मुख से उत्पन्न हो सो भाषात्मक शब्द है। जो दो वस्तुके आघातसे उत्पन्न हो उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होने में प्राणी तथा जड पदार्थ दोनों निमित्त हैं। जो केवल जड पदार्थोंके आघातसे उत्पन्न हो उसे वैस्रसिक कहते हैं, जिसके प्राणियोंका निमित्त होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं।

मुख से निकलने वाला जो शब्द अक्षर, पद, वाक्य रूप है उसे साक्षर भाषात्मक कहते हैं, उसे वर्णात्मक भी कहते हैं।

तीर्थंकर भगवान के सर्व प्रदेशोंसे जो निरक्षर ध्वनि निकलती है उसे अनक्षर भाषात्मक कहा जाता है,— ध्वन्यात्मक भी कहा जाता है।

बंध दो तरह का है—१-वैस्रसिक और दूसरा प्रायोगिक। पुरुष की अपेक्षासे रहित जो बंध होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। यह वैस्रसिक दो तरह का है १--आदिमान २--अनादिमान। उसमें स्निग्ध रूक्षादि के कारण से जो बिजली, उल्कापात, बादल, आग, इन्द्रधनुष आदि होते हैं उसे आदिमान वैस्रसिक-बंध कहते हैं। पुद्गलका अनादिमान बंध महास्कंध आदि हैं। (अमूर्तिक पदार्थोंमें भी वैस्रसिक अनादिमान बंध उपचारसे कहा जाता है। यह धर्म, अधर्म तथा आकाशका है एवं अमूर्तिक और मूर्तिक पदार्थका अनादिमान बंध—धर्म, अधर्म, आकाश और जगद्व्यापी महास्कंधका है)

जो पुरुष की अपेक्षा सहित हो वह प्रायोगिक बंध है। उसके दो भेद हैं—१--अजीव विषय २--जीवाजीव विषय। लाखका लकड़ीका जो बंध है सो अजीव विषयक प्रायोगिक बंध है। जीव के जो कर्म और नोकर्म बंध हैं सो जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बंध हैं।

सूक्ष्म—दो तरह का है—१--अंत्य २--आपेक्षिक। परमाणु अन्त्य सूक्ष्म है। आँवले से बेर सूक्ष्म है, वह आपेक्षिक सूक्ष्म है।

स्थूल—दो तरहका है (१) अन्त्य, (२) आपेक्षिक। जो जगद्व्यापी महास्कंध है सो अन्त्य स्थूल है, उससे बड़ा दूसरा कोई स्कंध नहीं है। बेर, आँवला आदि आपेक्षिक स्थूल हैं।

संस्थान—आकृतिको संस्थान कहते हैं। उसके दो भेद हैं (१) इत्थंलक्षण संस्थान और (२) अनित्थंलक्षण संस्थान। उसमें गोल, त्रिकोण, चौरस, लम्बा, चौड़ा, परिमंडल ये इत्थंलक्षण संस्थान हैं। बादल आदि जिसकी कोई आकृति नहीं वह अनित्थंलक्षण संस्थान है।

भेद—छह तरहका है। (१) उत्कर, (२) चूर्ण, (३) खंड, (४) चूर्णिका, (५) प्रतर और (६) अनुचटन। आरे आदिसे लकडी आदिका विदारण करना सो उत्कर है। जो, गेहूँ, बाजरा आदिका आटा चूर्ण है। घडे आदिके टुकडे खण्ड हैं। उडद, मूंग चना, चोला आदि दालको चूर्णिका कहते हैं। तप्यमान लोहेको घन इत्यादिसे पीटने पर जो स्फुलिंग (चिनगारियाँ) निकलते हैं उसे अनुचटन कहते हैं।

अन्धकार—जो प्रकाशका विरोधी है सो अन्धकार है।

छाया—प्रकाश (उजेले) को ढकनेवाली छाया है। यह दो प्रकारकी है (१) तद्वर्णपरिणति (२) प्रतिबिम्बस्वरूप। रंगीन कॉचमेंसे देखनेपर जैसा कॉचका रंग हो वैसा ही दिखाई देना है यह तद्वर्णपरिणति कहलाती है। और दर्पण, फोटो आदिमें जो प्रतिबिंब देखा जाता है उसे प्रतिबिम्ब स्वरूप कहते हैं।

आतप—सूर्य विमानके द्वारा जो उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं।

उद्योत—चन्द्रमा, चन्द्रकान्त मणि, दीपक आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं।

सूत्रमें जो 'च' शब्द कहा है उसके द्वारा प्रेरणा, अभिघात (मारना) आदि जो पुद्गलके विकार हैं उनका समावेश किया गया है।

उपरोक्त भेदोंमें 'सूक्ष्म' तथा संस्थान' (ये दो भेद) परमाणु और स्कंध दोनोंमें होते हैं और अन्य सब स्कंधके प्रकार हैं।

(३) दूसरी तरहसे पुद्गलके छह भेद हैं १—सूक्ष्म सूक्ष्म, २—सूक्ष्म, ३—सूक्ष्मस्थूल, ४—स्थूलसूक्ष्म, ५—स्थूल और ६—स्थूलस्थूल।

१—सूक्ष्म-सूक्ष्म—परमाणु सूक्ष्म सूक्ष्म है।

२—सूक्ष्म—कार्माणवर्गणा सूक्ष्म है।

३–सूक्ष्म-स्थूल स्पर्श, रस, गंध और शब्द ये सूक्ष्मस्थूल हैं। क्योंकि ये आँखसे दिखाई नहीं देते इसलिए सूक्ष्म हैं और चार इन्द्रियोंसे जाने जाते हैं इसलिये स्थूल है।

४—स्थूल-सूक्ष्म—छाया, परछाँई, प्रकाश आदि स्थूलसूक्ष्म हैं क्योंकि वह आँखसे दिखाई देती हैं इसलिये स्थूल हैं और उसे हाथसे पकड़ नहीं सकते इसलिए सूक्ष्म हैं।

५–स्थूल—जल, तेल आदि सब स्थूल हैं क्योंकि छेदन, भेदनसे ये अलग हो जाते हैं और इकट्ठे करनेसे मिल जाते हैं।

६–स्थूल-स्थूल—पृथ्वी, पर्वत, काष्ठ आदि स्थूल-स्थूल हैं वे पृथक करनेसे पृथक तो हो जाते हैं किन्तु फिर मिल नहीं सकते।

परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है तो इन्द्रिय ग्राह्य होनेकी उसमें योग्यता है। इसीतरह सूक्ष्म स्कन्धको भी समझना चाहिए।

(४) शब्दको आकाशका गुण मानना भूल है, क्योंकि आकाश अमूर्तिक है और शब्द मूर्तिक है, इसलिए शब्द आकाश का गुण नहीं हो सकता। शब्दका मूर्तिकत्व साक्षात् है क्योंकि शब्द कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण होता है, हस्तादिसे तथा दीवाल आदिसे रोका जाता है और हवा आदि मूर्तिक वस्तुसे उसका तिरस्कार होता है, दूर जाता है। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है इसलिए मूर्तिक है। यह प्रमाणसिद्ध है। पुद्गलस्कंधके परस्पर भिड़नेसे-टकरानेसे शब्द प्रगट होता है ॥ २४ ॥

अब पुद्गलके भेद बतलाते हैं

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थः—पुद्गल द्रव्य [अणवः स्कंधाः च] अणु और स्कंध के भेद से दो प्रकार के हैं।

टीका

(१) अणु—जिसका विभाग न हो सके ऐसे पुद्गलको अणु कहते हैं। पुद्गल मूल (Simple) द्रव्य है।

स्कंध—दो तीन से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके पिण्डको स्कंध कहते हैं।

(२) स्कंध पुद्गल द्रव्यकी विशेषता है। स्पर्श गुणके कारणसे ये स्कंध रूपसे परिणमते हैं। स्कंध रूप बंध होता है यह इस अध्यायके २६, ३३ ३६ और ३७ वें सूत्रोंमें कहा है और यह बंध स्कंधरूपमें नहीं होता यह सूत्र ३४ व ३५ में बताया है।

(३) ऐसी विशेषता अन्य किसी द्रव्यमें नहीं है क्योंकि दूसरे द्रव्य अमूर्तिक हैं। यह सूत्र मिलापके संबंधमें द्रव्योंका अनेकान्तत्व बतलाता है।

(४) परमाणु स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अंत है, क्योंकि वह एक प्रदेशी और अविभागी है ॥ २५ ॥

अब स्कंधोंकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

अर्थ—परमाणुओंके [भेदसंघातेभ्य] भेद (अलग होने से) संघात (मिलने से) अथवा भेद संघात दोनों से [उत्पद्यन्ते] पुद्गल स्कंधों की उत्पत्ति होती है।

टीका

(१) पिछले सूत्रोंमें (पूर्वोक्त सूत्रोंमें) पुद्गलद्रव्यकी विशिष्टता बतलाते हुए अणु और स्कंध ये दो भेद बताए, तब प्रश्न यह उठता है कि स्कंधों की उत्पत्ति किस तरह होती है? उसके स्पष्ट रूपसे तीन कारण बतलाए हैं। सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग न करके बहुवचन (संघातेभ्य) प्रयोग किया है, इससे भेद संघातका तीसरा प्रकार स्पष्ट होता है।

(२) दृष्टान्त—१०० परमाणुओंका स्कंध है, उसमें से दस परमाणु अलग हो जाने से ९० परमाणुओंका स्कंध बना; यह भेद का दृष्टान्त

है। उसमें (सौ परमाणुके स्कंधमें) दस परमाणुओंके मिलने से एक सौ दस परमाणुओंका स्कंध हुआ; यह संघातका दृष्टान्त है। उसी में ही एक साथ दस परमाणुओंके अलग होने और पन्द्रह परमाणुओंके मिल जाने से एक सौ पाँच परमाणुओंका स्कंध हुआ, यह भेद संघातका उदाहरण है ॥ २६ ॥

अब अणुकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अर्थः—[अणुः] अणुकी उत्पत्ति [भेदात्] भेद से होती है ॥२७॥

दिखाई देने योग्य स्थूल स्कंधकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थः—[चाक्षुषः] चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य स्कंध [भेदसंघाताभ्याम्] भेद और संघात दोनों के एकत्र रूप होने से उत्पन्न होता है, अकेले भेद से नहीं।

टीका

(१) प्रश्नः— जो चक्षु इन्द्रियके गोचर न हो ऐसा स्कंध चक्षु गोचर कैसे होता है ?

उत्तरः—जिस समय सूक्ष्म स्कंधका भेद हो उसी समय चक्षु इन्द्रिय गोचर स्कंधमें वह संघात रूप हो तो वह चक्षु गोचर हो जाता है। सूत्रमें 'चाक्षुषः' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ चक्षु इन्द्रिय गोचर होता है। चक्षु इन्द्रिय गोचर स्कंध अकेले भेद से या अकेले संघातसे नहीं होता।

(देखो राजवार्तिक सूत्र २८ की टीका, पृष्ठ ३६१, अर्थ प्रकाशिका पृष्ठ २१०)

(२) Marsh-gas treated with chlorine gives Methyl Chloride and Hydrochloric acid, the formula is:—$CH4 + cl2 = CH3\ cl + H + cl$.

अर्थः—सड़े पानीमें उत्पन्न गेसको मार्श गैस' कहते हैं। उसकी गंध नहीं आती, रंग भी मालूम नहीं होता, किन्तु वह जल सकता है। उसे एक क्लोरीन नामक गैस जो हरिताभ पीले रंगका है उसके साथ मिलाने पर वह नेत्र इन्द्रियसे दिखाई देनेवाला एक तीसरा एसिड पदार्थ होता है, उसे मैथील क्लोराइड और हाइड्रोक्लोरिक एसिड कहते हैं। (इंग्लिश तत्त्वार्थ सूत्रके इस सूत्रके नीचेकी टीका)

(३) ओक्सीजन और हाइड्रोजन दो वायु हैं, दोनों नेत्र इन्द्रियसे अगोचर स्कंध हैं। दोनोंके मिलाप होनेपर नेत्र इन्द्रिय गोचर जल हो जाता है। इसलिये नेत्रइन्द्रियगोचर स्कंध होनेके लिए जिसमें मिलाप हो वह नेत्र इन्द्रियगोचर होना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है और सूत्रमें भी नेत्र-इन्द्रियगोचर स्कंध चाहिए ही ऐसा कथन नहीं है। सूत्रमें सामान्य कथन है ॥ २८ ॥

इसतरह छहों द्रव्योंके विशेष लक्षणोंका कथन किया जा चुका।
अब द्रव्योंका सामान्य लक्षण कहते हैं

सद्द्रव्य लक्षणम् ॥ २६ ॥

अर्थः—[द्रव्य लक्षणम्] द्रव्यका लक्षण [सत्] सत् (अस्तित्व) है।

टीका

(१) वस्तु स्वरूपके बतलानेवाले ५ महासूत्र इस अध्यायमें दिए गए हैं। वे २६ ३० ३२-३८ और ४२ वें सूत्र हैं। उनमें भी यह सूत्र मूल नींव रूप है, क्योंकि किसी भी वस्तुके विचार करनेके लिए सबसे पहले यह निश्चय होना चाहिए कि वह वस्तु है या नहीं। इसलिए जगतमें जो जो वस्तु हो वह सत्रूपसे होनी ही चाहिए। जो वस्तु है उसीका विशेष विचार किया जाता है।

(२) इस सूत्रमें 'द्रव्य' शब्दका प्रयोग किया है, वह ऐसा भी बतलाता है कि उसमें द्रव्यत्व गुण है,-'कि जिस शक्तिके कारण द्रव्य सदा एक रूपसे न रहने पर उसकी अवस्था (-पर्याय) हमेशा बदलती रहती है।'

(३) अब प्रश्न यह उठता है कि जब कि द्रव्य हमेशा अपनी पर्याय बदलता है तब क्या वह द्रव्य बदलकर दूसरे द्रव्यरूप हो जाता है? इस प्रश्नका उत्तर इस सूत्रमें प्रयोग किया गया 'सत्' शब्द देता है। 'सत्' शब्द बतलाता है कि द्रव्यमें अस्तित्व गुण है और इस शक्तिके कारण द्रव्यका कभी नाश नहीं होता।

(४) इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यकी पर्याय समय समय पर बदलती है तो भी द्रव्य त्रिकाल कायम (मौजूद) रहता है। यह सिद्धान्त सूत्र ३० और ३८ मे दिया गया है।

(५) जिसके 'है' पन (अस्तित्व) हो वह द्रव्य है। इसतरह 'अस्तित्व' गुणके द्वारा द्रव्यकी पहचान की जा सकती है। इसीलिए इस सूत्रमें द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा है। यह सूत्र बतलाता है कि जिसका अस्तित्व हो वह द्रव्य है।

(६) अतः यह सिद्ध हुआ कि 'सत्' लक्षण द्वारा द्रव्य पहचाना जा सकता है। उपरोक्त कथनसे दो सिद्धांत निकले कि द्रव्यमें 'प्रमेयत्व' (ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य—Knowable) गुण है और यह द्रव्य स्वयं स्व को जाननेवाला हो अथवा दूसरे द्रव्य उसे जाननेवाला हो। यदि ऐसा न हो तो निश्चित ही नहीं होता कि 'द्रव्य' है। इसलिए यह भी सिद्ध होता है कि द्रव्यमें 'प्रमेयत्व' गुण है और द्रव्य या तो जाननेवाला (चेतन) अथवा नहीं जाननेवाला (अचेतन) है। जाननेवाला द्रव्य 'जीव' है और नहीं जाननेवाला 'अजीव' है।

(७) प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया (Functionality) करता ही है। यदि द्रव्य अर्थ क्रिया न करे तो वह कार्य रहित हो जाय अर्थात् व्यर्थ हो जाय किन्तु व्यर्थका (अपने कार्य रहित) कोई द्रव्य होता ही नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्यमें 'वस्तुत्व' नामका गुण है।

(८) और वस्तुत्व गुणके कारण जो स्वय अपनी क्रिया करे वही वस्तु कही जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता।

(६) पुनरपि जो द्रव्य है उसका 'द्रव्यत्व' –'गुणत्व' जिस रूपमें हो वैसा कायम रहकर परिणमन करता है किन्तु दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकता, इस गुण के 'अगुरुलघुत्व' गुण कहते हैं। इसी शक्तिके कारण द्रव्यका द्रव्यत्व रहता है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, और एक गुण दूसरे गुणरूप परिणमित नहीं होता, तथा एक द्रव्यके अनेक (अनन्त) गुण बिखर कर अलग अलग नहीं हो जाते।

(१०) इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें सामान्य गुण बहुत से होते हैं किंतु मुख्य रूपसे छह सामान्य गुण है १ अस्तित्व (जो इस सूत्रमें 'सत्' शब्द के द्वारा स्पष्ट रूपसे बतलाया है), २ वस्तुत्व ३ द्रव्यत्व ४ प्रमेयत्व ५ अगुरुलघुत्व और ६ प्रदेशत्व।

(११) प्रदेशत्व गुणकी ऐसी व्याख्या है कि जिस शक्ति के कारण द्रव्यका कोई न कोई आकार अवश्य हो।

(१२) इन प्रत्येक सामान्य गुणोंमें 'सत्' (अस्तित्व) मुख्य है क्योंकि उसके द्वारा द्रव्यका अस्तित्व (होने रूप-सत्ता) निश्चित होता है। यदि द्रव्य हो तो ही दूसरे गुण हो सकते है, इसलिए यहाँ 'सत्' को द्रव्यका लक्षण कहा है।

(१३) प्रत्येक द्रव्यके विशेष लक्षण पहले कहे जा चुके हैं वे निम्न प्रकार हैं—(१) जीव—अध्याय २, सूत्र ८ तथा ८ (२) अजीवके पाँच भेदोंमेंसे पुद्गल—अध्याय ५ सूत्र २३। धर्म और अधर्म—अध्याय ५ सूत्र १७। आकाश –अध्याय ५, सूत्र १८ और काल–अध्याय ५ सूत्र २२।

जीव तथा पुद्गलकी विकारी अवस्थाका निमित्त नैमित्तिक संबंध इस अध्यायके सूत्र १६, २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, ३०, ३५, ३६, ३८ में दिया है, उनमें जीव का एक दूसरे का सम्बंध सूत्र २० में बताया। जीवका

पुद्गलके साथ का सम्बन्ध सूत्र १६ २० में बताया और पुद्गलका परस्परका संबंध बाकी के सूत्रोंमें बताया गया है।

(१४) 'सत्' लक्षण कहने से यह सिद्ध हुआ कि स्व की अपेक्षासे 'द्रव्य सत्' है। इसका यह अर्थ हुआ कि वह स्वरूप से है पर रूपसे नहीं। 'अस्तित्व' प्रगट रूपसे और 'नास्तित्व' गर्भित रूपसे (इस सूत्रमें) कहकर यह बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्व से है और पर रूपसे न होने से एक द्रव्य अपना सब कुछ कर सकता है, किन्तु दूसरे द्रव्यका कभी कुछ नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त का नाम 'अनेकान्त' है और वह इस अध्यायके ३२ वें सूत्रमें बतलाया गया है ॥ २६ ॥

अब सत्का लक्षण बताते हैं

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थः—[उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं] जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हो [सत्] सो सत है।

टीका

(१) जगत् में सतके सम्बन्धमें कई असत मान्यतायें चल रही हैं। कोई 'सत्' को सर्वथा कूटस्थ—जो कभी न बदले ऐसा मानते हैं; कोई ऐसा कहते हैं कि सत् ज्ञान गोचर नहीं है, इसलिए 'सत्' का यथार्थ त्रिकाली अबाधित स्वरूप इस सूत्रमें कहा है।

(२) प्रत्येक वस्तुका स्वरूप 'स्थायी रहते हुये बदलता है' उसे इंग्लिश में Permanaucy with a change (बदलने के साथ स्थायित्व) कहा है। उसे दूसरी तरह यों भी कहते हैं कि—No substance is destroyed, every substance changes its form. (कोई वस्तु नाश नहीं होती, प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है)।

(३) उत्पाद—चेतन अथवा अचेतन द्रव्यमें नवीन अवस्थाका प्रगट होना सो उत्पाद है। प्रत्येक उत्पाद होने पर पूर्वकालसे चला आया जो स्वभाव या स्वजाति है वह कभी छूट नहीं सकती।

व्यय—स्वजाति यानी मूल स्वभावके नष्ट हुए बिना जो चेतन तथा अचेतन द्रव्यमें पूर्व अवस्थाका विनाश (उत्पादके समय ही) होना सो व्यय है।

ध्रौव्य—अनादि अनन्तकाल तक सदा बना रहनेवाला मूल स्वभाव जिसका व्यय या उत्पाद नहीं होता उसे ध्रौव्य कहते हैं। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ६ से ८)

(४) सर्वार्थसिद्धि में ध्रौव्यकी व्याख्या इस सूत्र की टीकामें पृष्ठ १०५ में संस्कृतमें निम्नप्रकार दी है—

"अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः।"

अर्थ—जो अनादि पारिणामिक स्वभाव के द्वारा व्यय तथा उत्पाद के अभावसे ध्रुव रहता है—स्थिर रहता है वह ध्रुव है।

(५) इस सूत्रमें 'सत्' का अनेकान्त रूप बतलाया है। यद्यपि त्रिकालपेक्षा से सत् 'ध्रुव' है तो भी समय समय पर नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय नष्ट होती है अर्थात् द्रव्यमें समा जाती है, वर्तमान काल की अपेक्षा से अभावरूप होता है—इस तरह कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व द्रव्यका अनेकान्तपन है।

(६) इस सूत्रमें पर्यायका भी अनेकान्तपन बतलाया है। जो उत्पाद है सो अस्तिरूप पर्याय है और जो व्यय है सो नास्तिरूप पर्याय है। स्व की पर्याय स्व से होती है पर से नहीं होती ऐसा 'उत्पाद' से बताया। स्व पर्याय की नास्ति अभाव भी स्व से ही होता है, पर से नहीं होता। "प्रत्येक द्रव्यका उत्पाद व्यय स्वतंत्र उस द्रव्यसे है" ऐसा बताकर द्रव्य, गुण तथा पर्यायकी स्वतन्त्रता बतलाई—परका असहायकपन बतलाया।

(७) धर्म (शुद्धता) आत्मामें द्रव्यरूप से त्रिकाल भरपूर है, अनादि से जीव के पर्याय रूपमें धर्म प्रगट नहीं हुआ, किन्तु जीव जब पर्याय

(अनादिका) रहता है तो फिर सहज शुद्ध परिणमनका अवसर जीवको कभी मिले ही नहीं। इसलिये चैतन्यका भाव करनेमें चेतन राजा ही समर्थ है; वह मिथ्यात्वदशामें स्व से राग द्वेषरूप होता है और सम्यक्त्वदशामें—शिव भाउ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है।

२—जीवको कर्मका उदय कुछ असर नहीं कर सकता अर्थात् निमित्त उपादानको कुछ कर नहीं सकता। इन्द्रियोंके भोग, लक्ष्मी, सगे सम्बन्धी या मकान आदिके सम्बन्धमें भी यही नियम है। यह नियम श्री समयसार नाटकके सर्वविशुद्धि द्वारमें निम्नरूपसे दिया है:—

— सवैया —

कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है?
पुद्गल करम जोग किधौं इन्द्रिनिकौ भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है॥
गुरु कहैं छहों दर्व अपने अपने रूप,
सबनिकौ सदा असहाई परिनौन है।
कोउ दरव काहुकौं न प्रेरक कदाचि तातैं
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६१॥

अर्थ—शिष्य कहता है—हे स्वामी! राग द्वेष परिणामका मूल प्रेरक कौन है सो आप कहो, पुद्गल कर्म या इन्द्रियोंके भोग या धन या घरके मनुष्य या मकान? श्रीगुरु समाधान करते हैं कि छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें सदा असहाय परिणमते हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कभी भी प्रेरक नहीं है। राग द्वेषका कारण मिथ्यात्वरूपी मदिराका पान है।

(१०) पंचाध्यायी अ० १ गा० ८६ में भी वस्तुकी हरएक अवस्था-(-पर्याय भी) "स्वतः सिद्ध" एवं 'स्वसहाय' है ऐसा कहा है—

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थिति भंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥८६॥

अर्थः—जैसे वस्तु स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह "स्वतः परिणमनशील" भी है, इसलिये यहाँ पर यह सत् नियमसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। इस प्रकार किसी भी वस्तुकी कोई भी अवस्था, किसी भी समय, परके द्वारा नहीं की जा सकती, वस्तु सदा स्वतः परिणमनशील होनेसे अपनी पर्याय यानी अपने हरएक गुणके वर्तमान (अवस्था विशेष) का वह स्वयं ही सृष्टा रचयिता-है ॥ ३० ॥

अब नित्य का लक्षण कहते हैं

तद्भावाऽव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थः—[तद्भावाव्ययं] तद्भावसे जो अव्यय है—नाश नहीं होना सो [नित्यम्] नित्य है।

टीका

(१) जो पहले समयमें हो वही दूसरे समयमें हो उसे तद्भाव कहते हैं, वह नित्य होता है—अव्यय=अविनाशी होता है।

(२) इस अध्यायके चौथे सूत्रमें कहा है कि द्रव्यका स्वरूप नित्य है। उसकी व्याख्या इस सूत्रमें दी गई है।

(३) प्रत्यभिज्ञानके हेतुको तद्भाव कहते हैं। जैसे कि द्रव्यको पहले समयमें देखनेके बाद दूसरे आदि समयोंमें देखनेसे 'यह वही है जिसे मैंने पहले देखा था" ऐसा जो जोडरूप ज्ञान है वह द्रव्यका द्रव्यत्व बतलाता है, परन्तु यह नित्यता कथंचित है क्योंकि वह सामान्य स्वरूपकी अपेक्षासे होती है। पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्य अनित्य है। इसतरह जगत्में समस्त द्रव्य नित्यानित्यरूप हैं। यह प्रमाण दृष्ट है।

(४) आत्मामें सर्वथा नित्यता माननेसे मनुष्य, नरकादिक रूप संसार तथा संसारसे अत्यंत छूटनेरूप मोक्ष नहीं बन सकता। सर्वथा नित्यता माननेसे संसार स्वरूपका वर्णन और मोक्ष उपायका कथन करनेमें विरोधता आती है, इसलिए सर्वथा नित्य मानना न्याय संगत नहीं है ॥ ३१ ॥

एक वस्तुमें दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति बतलाते हैं

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—[अर्पितानर्पित सिद्धेः] प्रधानता और गौणतासे पदार्थोंकी सिद्धि होती है।

टीका

(१) प्रत्येक वस्तु अनेकान्त स्वरूप है यह सिद्धान्त इस सूत्रमें स्याद्वाद द्वारा कहा है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरोधी धर्म हैं, तथापि वे वस्तुको वस्तुपनमें निष्पन्न करनेवाले हैं, इसीलिये वे प्रत्येक द्रव्यमें होते ही हैं। उनका कथन मुख्य गौणरूप से होता है, क्योंकि सभी धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते। जिस समय जिस धर्मको सिद्ध करना हो उस समय उसकी मुख्यता ली जाती है। उस मुख्यता–प्रधानताको 'अर्पित' कहा जाता है, और उस समय जिस धर्मको गौण रखा हो उसे अनर्पित कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष जानता है कि अनर्पित किया हुआ धर्म यद्यपि उस समय कहने में नहीं आया तो भी वस्तुमें वह धर्म रहते ही हैं।

(२) जिस समय द्रव्यको द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा है उसी समय वह पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। सिर्फ उस समय 'अनित्यता' कही नहीं गई किन्तु गर्भित रखी है। इसी प्रकार जब पर्याय की अपेक्षासे द्रव्यको अनित्य कहा है उसी समय वह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है सिर्फ उस समय नित्यता कही नहीं है; क्योंकि दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते।

(३) अर्पित और अनर्पितके द्वारा अनेकान्त स्वरूपका कथन—

अनेकान्त की व्याख्या निम्न प्रमाण है—

"एक वस्तुमें वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशन करना सो अनेकान्त है।" जैसे कि जो वस्तु सत् है वही असत् है

अर्थात् जो अस्ति है वही नास्ति है, जो एक है वही अनेक है, जो नित्य है वही अनित्य है इत्यादि। (स० सार सर्व विशुद्धिज्ञानाधिकार पृ० ५६५)

अर्पित और अनर्पितका स्वरूप समझने के लिये यहाँ कितने ही दृष्टान्तोंकी जरूरत है, वे नीचे दिये जाते हैं—

(१) 'जीव चेतन है' ऐसा कहने से 'जीव अचेतन नहीं है' ऐसा उसमें स्वय गर्भितरूपसे आगया। इसमें 'जीव चेतन है' यह कथन अर्पित हुआ और 'जीव अचेतन नहीं है' यह कथन अनर्पित हुआ।

(२) 'अजीव जड़ है' ऐसा कहने से 'अजीव चेतन नहीं है' ऐसा उसमें स्वय गर्भित रूपसे आगया। इसमें पहला कथन अर्पित है और उसमें 'अजीव चेतन नहीं है' यह भाव अनर्पित—गौणरूपसे आगया, अर्थात् विना कहे भी उसमें गर्भित है ऐसा समझ लेना चाहिये।

(३) 'जीव अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे सत् है' ऐसा कहने पर 'जीव पर द्रव्य-क्षेत्र काल भावसे असत् है' ऐसा विना कहे भी आगया। पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(४) 'जीव द्रव्य एक है' ऐसा कहने पर उसमें यह आगया कि 'जीव गुण और पर्यायसे अनेक है।' पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(५) 'जीव द्रव्य-गुणसे नित्य है' ऐसा कहने से उसमें यह कथन आगया कि 'जीव पर्याय से अनित्य है।' पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(६) 'जीव स्व से तत् (Identical) है' ऐसा कहने से उसमें यह कथन आगया कि 'जीव परसे अतत् है।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(७) 'जीव अपने द्रव्य-गुण पर्यायसे अभिन्न है' ऐसा कहनेसे उसमें यह कथन आगया कि 'जीव परद्रव्य—उसके गुण और पर्यायसे भिन्न है। पहला कथन अर्पित और दूसरा कथन अनर्पित है।

(८) 'जीव अपनी पर्यायका कर्ता हो सकता है' ऐसा कहनेपर 'जीव परद्रव्यका कुछ कर नहीं सकता' यह आगया। इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(९) 'प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका भोक्ता हो सकता है' ऐसा कहनेसे यह भी आगया कि 'कोई पर द्रव्यका भोक्ता नहीं हो सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१०) 'कर्मका विपाक कर्ममें आ सकता है' ऐसा कहनेसे यह कथन भी आगया कि 'कर्मका विपाक जीवमें नहीं आ सकता, इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(११) 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है' ऐसा कहनेपर यह कथन भी आगया कि 'पुण्य पाप, आस्रव, बंध ये मोक्षमार्ग नहीं हैं' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१२) 'शरीर परद्रव्य है' ऐसा कहनेपर यह कथन भी आगया कि 'जीव शरीरकी कोई क्रिया नहीं कर सकता, उसे हला-चला नहीं सकता, उसकी संभाल नहीं रख सकता, उसका कुछ कर नहीं सकता वैसे ही शरीर की क्रियासे जीवको राग, द्वेष, मोह, सुख, दुःख वगैरह नहीं हो सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१३) 'निमित्त पर द्रव्य है' ऐसा कहने पर उसमें यह कथन भी आगया, कि 'निमित्त पर द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता, उसे सुधार या बिगाड़ नहीं सकता, सिर्फ वह अनुकूल संयोगरूपसे होता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१४) 'घीका घड़ा' कहनेसे उसमें यह कथन भी आगया कि 'घड़ा घीमय नहीं किन्तु मिट्टीमय है, घीका घड़ा है यह तो मात्र व्यवहार कथन है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१५) 'मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है। इस कथनसे यह भी आगया कि 'जीव उस समय की अपनी विपरीत श्रद्धा को

लेकर मिथ्यादृष्टि होता है, वास्तवमें मिथ्यात्व कर्मके उदयके कारण जीव, मिथ्यादृष्टि नहीं होता, मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है-यह तो उपचारमात्र व्यवहार कथन है, वास्तवमें तो जीव जब स्वयं मिथ्या श्रद्धारूप परिणमा तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्मके जो रजकण उस समय पक्वरूप हुये, उन पर निर्जराका आरोप न आकर उदयका आरोप आया' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१६) यह कहने पर कि 'जीव जडकर्मके उदयसे ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरा' यह कथन भी आगया कि 'जीव अपने पुरुषार्थकी कमजोरीसे गिरा, जड कर्म परद्रव्य है इसलिये उसके उदय होनेसे जीव गिरता नहीं, किन्तु जीव जिस समय अपने पुरुषार्थकी कमजोरीसे गिरा उससमय जो जडकर्म पक्वरूप हुये थे उनपर निर्जराका आरोप न आकर उदय' का आरोप आया' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१७) यह कहने पर कि जीव पचेन्द्रिय है' यह कथन भी आगया कि 'जीव चेतनात्मक है जड इन्द्रियात्मक नहीं है, पाँचों इन्द्रियाँ जड़ हैं मात्र उसे उनका संयोग है।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१८) 'निगोदका जीव कर्मका उदय मंद होनेपर ऊँचा चढ़ता है' यह कहनेसे उसमें यह कथन आगया कि 'निगोदिया जीव स्वयं अपने पुरुषार्थके द्वारा मंद कषाय करनेपर चढता है, कर्म परद्रव्य है इसलिये कर्मके कारणसे जीव ऊँचा नहीं चढ़ा, (अपनी योग्यतासे चढ़ा है) पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१९) कर्मके उदयसे जीव असंयमी होता है क्योंकि चारित्रमोहके उदयके बिना उसकी अनुपपत्ति है' ऐसा कहनेसे यह कथन होगया कि 'जीव अपने चारित्र गुणके विकारको नहीं टालता और असंयमरूप परिणमता है इसलिये वह असंयमी होता है, यद्यपि उस समय चारित्र मोहके कर्म भी झड़ जाते हैं तोभी जीवके विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्म स्वयं बंधता है, इसलिये पुराने चारित्र मोहकर्मपर उदयका आरोप आता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(२०) 'कर्मके उदयसे जीव ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक में जाता है क्योंकि आनुपूर्वी कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है' ऐसा कहनेसे उसमें यह कथन भी आगया कि 'जीवकी क्रियावती शक्तिकी उस समयकी वैसी योग्यता है इसलिये जीव ऊर्ध्वलोकमें अधोलोकमें और तिर्यग्लोकमें जाता है, उस समय उसे अनुकूल आनुपूर्वी नाम कर्मका उदय संयोगरूपसे होता है। कर्म परद्रव्य है इसलिये वह जीवको किसी जगह नहीं ले जा सकता' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

उपरोक्त दृष्टांत ध्यानमें रखकर शास्त्रमें कैसा भी कथन किया हो उसका निम्न लिखित अनुसार अर्थ करना चाहिये—

पहले यह निश्चय करना चाहिये कि शब्दार्थके द्वारा यह कथन किस नयसे किया है। उसमें जो कथन जिस नयसे किया हो वह कथन अर्पित है ऐसा समझना। और सिद्धान्तके अनुसार उसमें गौणरूपसे जो दूसरे भाव गर्भित हैं, यद्यपि वे भाव जो कि वहाँ शब्दोंमें नहीं कहे तो भी ऐसा समझ लेना चाहिये कि वे गर्भितरूपसे कहे हैं, यह अनर्पित कथन है। इसप्रकार अर्पित और अनर्पित दोनों पहलुओंको समझकर यदि जीव अर्थ करे तो ही जीवको प्रमाण और नयका सत्य ज्ञान हो। यदि दोनों पहलुओंको यथार्थ न समझे तो उसका ज्ञान अज्ञानरूपमें परिणमा है इसलिये उसका ज्ञान अप्रमाण और कुनयरूप है। प्रमाणको सम्यक् अनेकान्त भी कहा जाता है।

(४) अनेकान्तका प्रयोजन

अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त रूप है निजपदकी प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य दूसरे हेतुसे उपकारी नहीं है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कर सकता है इस मान्यतामें आनेवाले दोषोंका वर्णन

जगतमें छहों द्रव्य अत्यंत निकट एक क्षेत्रावगाह रूपसे रहे हुये हैं, वे स्वयं निजमें अंतर्मग्न रहते हुए अपने अनंत धर्मोंके चक्रको चूमते हैं,—

स्पर्श करते हैं, तो भी वे परस्परमें एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको स्पर्श करे तो वह परद्रव्यरूप हो जाय और यदि पररूप हो जाय तो निम्नलिखित दोष आवें —

१—संकर दोष

दो द्रव्य एक रूप हो जायें तो संकर दोष आता है।

"सर्वेषाम् युगपत्प्राप्ति संकर" —जो अनेक द्रव्योंके एक रूपताकी प्राप्ति है सो संकर दोष है। जीव अनादि से अज्ञान दशामें शरीरको, शरीरकी क्रियाको, द्रव्य इन्द्रियोंको, भाव इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको स्व से एक रूप मानता है वह ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष है। इस सूत्रमें कहे हुये अनेकांत स्वरूपको समझने पर —अर्थात् जीव जीवरूपसे है कर्मरूपसे नहीं इसलिये जो कर्म, इन्द्रियां, शरीर, जीवकी विकारी और अपूर्ण दशा है सो ज्ञेय है किंतु वे जीवका स्वरूप (-ज्ञान) नहीं है ऐसा समझकर भेद विज्ञान प्रकट करे तब ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष दूर होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही संकर दोष टलता – दूर होता है।

जीव जितने अंशोंमें मोहकर्मके साथ युक्त होकर दुःख भोगता है वह भाव्य भावक संकर दोष है। उस दोषको दूर करनेका प्रारंभ सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर होता है और अकषायज्ञान स्वभावभावका अच्छी तरह आलंबन करनेसे सर्वथा कषायभाव दूर होनेपर वह संकर दोष सर्वथा दूर होता है।

२—व्यतिकर दोष

यदि जीव जड़का कुछ कार्य करे और जड़ कर्म या शरीर जीवका कुछ भला-बुरा करे तो जीव जड़रूप होजाय और जड़ चेतनरूप होजाय तथा एक जीवके दूसरे जीव कुछ भला बुरा करें तो एक जीव दूसरे जीवरूप होजाय। इस तरह एकका विषय दूसरेमें चला आयगा इससे व्यतिकर दोष आयेगा—"परस्परविषयगमनं व्यतिकरः।"

जड़कर्म हलका हो और मार्ग दे तो जीवके धर्म हो और जड़कर्म बलवान हो तो जीव धर्म नहीं कर सकता—ऐसा माननेमें संकर और व्यतिकर दोनों दोष आते हैं।

जीव मोक्षका- धर्मका पुरुषार्थ न करे और अशुभभावमें रहे तब उसे बहुकर्मी जीव कहा जाता है, अथवा यों कहा जाता है कि—'उसके कर्म का तीव्र उदय है इसलिये वह वह धर्म नहीं करता। उस जीवका लक्ष्य स्व-सन्मुख नहीं है किन्तु परवस्तु पर है, इतना बतानेके लिए यह व्यवहार कथन है। परन्तु ऐसा उपचार कथनको सत्यार्थ माननेसे दोनों दोष आते हैं कि जड़कर्म जीवका नुकसान करता है या जीव जड़कर्मका क्षय करता है। और ऐसा माननेमें दो द्रव्यके एकत्वकी मिथ्या श्रद्धा होती है।

३—अधिकरण दोष

यदि जीव शरीरका कुछ कर सकता, उसे हला—चला सकता या दूसरे जीवका कुछ कर सकता तो वह दोनों द्रव्योंका अधिकरण (स्वक्षेत्ररूप आधार) एक होजाय और इससे 'अधिकरण' दोष आवेगा।

४—परस्पराश्रय दोष

जीव स्व की अपेक्षासे सत् है और कर्म परवस्तु है उस अपेक्षासे जीव असत् है, तथा कर्म उसकी अपनी अपेक्षासे सत् है और जीवकी अपेक्षा से कर्म असत् है। ऐसा होनेपर भी जीव कर्मको बांधे-छोड़े-उसका क्षय करे वैसे ही कर्म कमजोर हों तो जीव धर्म कर सकता है-ऐसा माननेमें 'परस्परा-श्रय' दोष है। जीव कर्म इत्यादि समस्त द्रव्य सदा स्वतंत्र हैं और स्वयं स्व से स्वतंत्ररूपसे कार्य करते हैं ऐसा माननेसे 'परस्पराश्रय' दोष नहीं आता।

५—संशय दोष

जीव अपने रागादि विकार भावको जान सकता है, स्वद्रव्यंका आलंबनसे रागादि दोषका अभाव हो सकता है परन्तु उसे टालनेका प्रयत्न नहीं करता और जड़कर्म और उसके उदयको नहीं देख सकता तथापि ऐसा माने कि 'कर्मका उदय पतला पड़े, कमजोर हो, कर्मके आवरण हटे तो धर्म या सुख हो सकता है; जड़कर्म बलवान हो तो जीव गिर जाय, अधर्मी या दुःखी होजाय, (जो ऐसा माने) उसके संशय-(-भय) दूर नहीं होता अथवा

निज आत्माश्रित निश्चय रत्नत्रयसे धर्म होगा या पुण्यसे—व्यवहार करते २ धर्म होगा ? ऐसा संशय दूर किये विना जीव स्वतन्त्रताकी श्रद्धा और सच्चा पुरुषार्थ नहीं कर सकता और विपरीत अभिप्राय रहितपनेका सच्चा पुरुषार्थ विना, किसी जीवको कभी धर्म या सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। किसी भी द्रव्य दूसरोंका कुछ कर सकता है या नहीं ऐसी मान्यतामें संशय दोष आता है वह सच्ची समझसे दूर करना चाहिये।

६—अनवस्था दोष

जीव अपने परिणामका ही कर्ता है और अपना परिणाम उसका कर्म है। सर्व द्रव्योंके अन्य द्रव्योंके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है, इसीलिये अजीवके साथ जीवके कार्य—कारणत्व सिद्ध नहीं होता। यदि एक द्रव्य दूसरेका कार्य करे, दूसरा तीसरेका कार्य करे—ऐसी परंपरा मानने पर अनन्त द्रव्य हैं उसमें कौन द्रव्य किस द्रव्यका कार्य करे इसका कोई नियम न रहेगा और इसीलिये अनवस्था दोष आवेगा। परन्तु यदि ऐसा नियम स्वीकार करें कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही कार्य करता है परका कार्य नहीं कर सकता तो वस्तुकी यथार्थ व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहती है और उसमें कोई अनवस्था दोष नहीं आता।

७—अप्रतिपत्ति दोष

प्रत्येक द्रव्यका द्रव्यत्व-क्षेत्रत्व-कालत्व (-पर्यायत्व) और भावत्व (-गुण) जिस प्रकारसे है उसीप्रकार से उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। जीव क्या कर सकता और क्या नहीं कर सकता वैसे ही जड़ द्रव्य क्या कर सकते और क्या नहीं कर सकते-इसका ज्ञान न करना और तत्त्वज्ञान करने का प्रयत्न नहीं करना सो अप्रतिपत्ति दोष है।

८—विरोध दोष

यदि ऐसा मानें कि एक द्रव्य स्वयं स्व से सत् है और वही द्रव्य पर से भी सत् है तो विरोध' दोष आता है। क्योंकि जीव जैसे अपना कार्य

करे वैसे पर द्रव्यका—कर्म अर्थात् पर जीव आदिका—भी कार्य करे तो विरोध दोष लागू होता है।

६—अभाव दोष

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य करे तो उस द्रव्यका नाश हो और एक द्रव्यका नाश हो तो क्रम क्रमसे सर्व द्रव्योंका नाश होगा, इस तरह उसमें 'अभाव' दोष आता है।

इन समस्त दोषोंको दूरकर वस्तुका अनेकांत स्वरूप समझनेके लिये आचार्य भगवानने यह सूत्र कहा है।

अर्पित (मुख्य) और अनर्पित (गौण) का विशेष

समझमें तथा कथन करने के लिये किसी समय उपादानको मुख्य किया जाता है और किसी समय निमित्तको, (कभी निमित्तकी मुख्यतासे कार्य नहीं होता कथनमें मुख्यता होती है) किसी समय द्रव्यको मुख्य किया जाता है तो किसी समय पर्यायको, किसी समय निश्चयको मुख्य कहा जाता है और किसी समय व्यवहारको। इस तरह जब एक पहलूको मुख्य करके कहा जावे तब दूसरे गौण रहनेवाले पहलुओंका यथायोग्य ज्ञान कर लेना चाहिये। यह मुख्य और गौणता ज्ञानकी अपेक्षासे समझनी।

—परन्तु सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे हमेशा द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके उपदेश दिया जाता है द्रव्यदृष्टि की प्रधानतामें कभी भी व्यवहार की मुख्यता नहीं होती; वहां पर्यायदृष्टिके भेदको गौण करके उसे व्यवहार कहा है। भेद दृष्टिमें रुकने पर निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागीके विकल्प रहा करता है; इसलिये जबतक रागादिक दूर न हों तबतक भेदको गौण कर अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया जाता है। द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे व्यवहार, पर्याय या भेद हमेशा गौण रखा जाता है; उसे कभी मुख्य नहीं किया जाता ॥ ३२ ॥

अब परमाणुओंमें बंध होने का कारण बतलाते हैं

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

अर्थः—[स्निग्धरूक्षत्वात्] चिकने और रूखे के कारण [बंधः] दो, तीन इत्यादि परमाणुओंका बंध होता है।

टीका

(१) पुद्गलमें अनेक गुण हैं किन्तु उनमें से स्पर्श गुणके अतिरिक्त दूसरे गुणोंका पर्यायोंसे बंध नहीं होता, वैसे ही स्पर्शकी आठ पर्यायोंमें से भी स्निग्ध और रूक्ष नामके पर्यायोंके कारण सेही बंध होता है और दूसरे छह प्रकार के पर्यायोंसे बंध नहीं होता, ऐसा यहाँ बताया है। किस तरह की स्निग्ध और रूक्ष अवस्था हो तब बंध हो यह ३६ वें सूत्रमें कहेंगे और किस तरह के हों तब बंध नहीं होता यह ३४-३५ वें सूत्रमें कहेंगे। बंध होने पर किस जातिका परिणमन होता है यह ३७ वें सूत्र में कहा जायगा।

(२) बंध—अनेक पदार्थोंमें एकत्वका ज्ञान करानेवाले संबंध विशेष को बंध कहते हैं।

(३) बंध तीन तरहका होता है—१-पुद्गलोंका स्पर्श गुणके कारण, २-जीवका अपने रागादि भावके साथ, ३-जीव-पुद्गलोंका अन्योन्य अवगाहना के कारण। (देखो प्रवचनसार गाथा १७७) उनमें से पुद्गलोंका बंध इस सूत्रमें बताया है।

(४) स्निग्ध और रूक्षत्वके जो अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसे गुण ❀ कहते हैं। एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह इत्यादि तथा संख्यात, असंख्यात या अनंत स्निग्ध गुण रूपसे तथा रूक्ष गुणरूपसे एक परमाणु और प्रत्येक परमाणु स्वतः स्वयं परिणमता है।

(५) स्निग्ध स्निग्ध के साथ, रूक्ष रूक्ष के साथ तथा एक दूसरे के साथ बंध होता है।

❀ यहाँ द्रव्य गुण पर्यायमें आनेवाला गुण नहीं समझना परन्तु गुणका अर्थ 'स्निग्ध-रूक्षत्वकी शक्तिका नाप करने का साधन' समझना चाहिये।

बंध कब नहीं होता ?

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थः—[जघन्यगुणानाम्] जघन्य गुण सहित परमाणुओंका [न] बंध नहीं होता।

टीका

(१) गुण की व्याख्या सूत्र ३३ की टीका दी गई है। 'जघन्य गुण परमाणु' अर्थात् जिस परमाणुमें स्निग्धता या रूक्षताका एक अविभागी अंश हो उसे जघन्य गुण सहित परमाणु कहते हैं। जघन्यगुण अर्थात् एक गुण समझना।

(२) परम चैतन्य स्वभावमें परिणति रखनेवाले के परमात्म स्वरूप के भावनारूप धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बलसे जब जघन्य चिकने के स्थानमें राग क्षीण हो जाता है तब जैसे जल और रेतीका बंध नहीं होता वैसे ही जघन्य स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणुका भी किसी के साथ बंध नहीं होता। (प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७२, श्री जयसेन आचार्य की संस्कृत टीका, हिन्दी पुस्तक पृष्ठ २२७) जल और रेतीके दृष्टांतमें जैसे जीवोंके परमानन्दमय स्व संवेदन गुणके बलसे रागद्वेष हीन हो जाता है और कर्मके साथ बंध नहीं होता उसीप्रकार जिस परमाणुमें जघन्य स्निग्ध या रूक्षता होती है उसके किसी से बंध नहीं होता।

(हिन्दी प्रवचनसार गाथा ७३ पृ० २२८)

(३) श्री प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७१ से ७६ तक तथा गोम्मटसार जीवकांड गाथा ६१४ तथा उसके नीचेकी टीकामें यह बतलाया है कि पुद्गलोंमें बंध कब नहीं होता और कब होता है, अतः वह बाँचना।

(४) चौतीसवें सूत्रका सिद्धांत

(१) द्रव्यमें अपने साथ जो एकत्व है वह बंधका कारण नहीं होता किंतु अपनेमें—निजमें च्युतिरूप द्वैत—द्वित्व हो तब बंध होता है। आत्मा

एकभावस्वरूप है, परन्तु मोह राग द्वेषरूप परिणमनसे द्वैतभावरूप होता है और उससे बंध होता है। (देखो प्रवचनसार गाथा १७५ की टीका) आत्मा अपने त्रिकाली स्वरूपसे शुद्ध चैतन्य मात्र है। यदि पर्यायमें वह त्रिकाली शुद्ध चैतन्यके प्रति लक्ष्य करके अंतर्मुख हो तो द्वैतपन नहीं होता, बंध नहीं होता—अर्थात् मोह राग द्वेषमें नहीं रुकता। आत्मा मोहरागद्वेषमें अटकता है यही बन्ध है। अज्ञानतापूर्वकका रागद्वेष ही वास्तवमें स्निग्ध और रूक्षत्वके स्थानमें होनेसे बन्ध है (देखो प्रवचनसार गाथा १७६ की टीका) इसप्रकार जब आत्मामें द्वित्व हो तब बन्ध होता है और उसका निमित्त पाकर द्रव्यबन्ध होता है।

(२) यह सिद्धांत पुद्गलमें लागू होता है। यदि पुद्गल अपने स्पर्शमें एक गुणरूप परिणमे तो उसके अपनेमें ही बंधकी शक्ति (भावबन्ध) प्रगट न होनेसे दूसरे पुद्गलके साथ बन्ध नहीं होता। किन्तु यदि उस पुद्गलके स्पर्शमें दो गुणरूप अधिकपन आवे तो बंधकी शक्ति (भावबंधकी शक्ति) होनेसे दूसरे चार गुणवाले स्पर्शके साथ बन्ध हो जाता है, यह द्रव्यबंध है। बन्ध होनेमें द्वित्व-द्वैत अर्थात् भेद होना ही चाहिये।

(३) दृष्टांत—दशमें गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपराय—जघन्य लोभ कषाय है तो भी मोहकर्मका बंध नहीं होता। संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पुरुषवेद जो नवमें बन्धको प्राप्त थे उनकी वहाँ व्युच्छित्ति हुई उनका बंध वहीं रुक गया। (देखो अध्याय ६ सूत्र १४ की टीका)

दृष्टांतपरसे सिद्धांत—जीवका जघन्य लोभ कषाय विकार है किन्तु वह जघन्य होनेसे कार्माण-वर्गणाको लोभरूपसे बंधनेमें निमित्त नहीं हुआ। (२) उस समय संज्वलन लोभकर्मकी प्रकृति उदयरूप है तथापि उसकी जघन्यता नवीन मोह कर्मके बंधका निमित्त कारण नहीं होती (३) यदि जघन्य विकार बंधका कारण हो तो कोई जीव बंध रहित नहीं हो सकता॥ ३४॥

बंध कब नहीं होता इसका वर्णन करते हैं

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

अर्थः—[गुणसाम्ये] गुणोंकी समानता हो तब [सदृशानाम्] समान जातिवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। जैसे कि—दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुका दूसरे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता अथवा वैसे स्निग्ध परमाणुका उतने ही गुणवाले रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। 'न—(बन्ध नहीं होता)' यह शब्द इस सूत्रमें नहीं कहा परन्तु ऊपरके सूत्रमें कहा गया 'न' शब्द इस सूत्रमें भी लागू होता है।

टीका

(१) सूत्रमें 'सदृशानाम्' पदसे यह प्रगट होता है कि गुणोंकी विषमतामें समान जातिवाले तथा भिन्न जातिवाले पुद्गलोंका बन्ध होता है।

(२) दो गुण या अधिक गुण स्निग्धता और वैसे ही दो या अधिक गुण रूक्षता समानरूपसे हो तब बन्ध नहीं होता, ऐसा बतानेके लिये 'गुणसाम्ये' पद इस सूत्रमें लिया है ॥ ३५ ॥

(देखो सर्वार्थसिद्धि, संस्कृत हिन्दी टीका, अध्याय ५ पृष्ठ १२३)

बन्ध कब होता है ?

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

अर्थः—[द्व्यधिकादिगुणानां तु] दो अधिक गुण हों इस तरहके गुण वालेके साथ ही बंध होता है।

टीका

जब एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें दो अधिक गुण हों तबही बंध होता है। जैसे कि दो गुणवाले परमाणुका बंध चार गुणवाले परमाणुके साथ हो; तीन गुणवाले परमाणुका पांच गुणवाले परमाणुके साथ बन्ध हो परन्तु उससे अधिक या कम गुणवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता*। यह बन्ध स्निग्ध

---

* श्वेताम्बरमें इस व्यवस्थाको नहीं माना है।

का स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ, स्निग्धका रूक्षके साथ तथा रूक्षका स्निग्धके भी बन्ध होता है ॥ ३६ ॥

दो गुण अधिकके साथ मिलने पर नई अवस्था कैसी होती है ?

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

अर्थः—[च] और [बंधे] बंधरूप अवस्थामें [अधिकौ] अधिक गुणवाले परमाणुओंको अपने रूपमें [पारिणामिकौ] (कम गुणवाले परमाणुओंका) परिणमानेवाले होता है। (यह कथन निमित्तका है)

टीका

जो अल्पगुणधारक परमाणु हो वह जब अधिक गुणधारक परमाणु के साथ बंध अवस्थाको प्राप्त होता है तब वह अल्पगुण धारक परमाणु अपनी पूर्व अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था प्रगट करता है और एक स्कंध हो जाता है अर्थात् अधिक गुणधारक परमाणुकी जातका और उतने गुणवाला स्कंध होता है ॥ ३७ ॥

द्रव्यका दूसरा लक्षण

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थः—[गुणपर्ययवत्] गुण पर्यायवाला [द्रव्यम्] द्रव्य है।

टीका

(१) गुण—द्रव्यकी अनेक पर्याय बदलने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक् नहीं हो, निरंतर द्रव्यके साथ सहभावी रहे वह गुण कहलाता है। (२) जो द्रव्यके पूरे हिस्से में तथा उसकी सभी हालतमें रहे उसे गुण कहते हैं। (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न ११२) (३) जो द्रव्यमें शक्ति की अपेक्षासे भेद किया जाये वह गुण शब्दका अर्थ है (तत्त्वार्थसार—अध्याय ३, गाथा ६ पृष्ठ १३१) सूत्रकार गुणकी व्याख्या ४१ वें सूत्रमें देंगे।

(२) पर्याय—१-क्रमसे होनेवाली वस्तुकी—गुणकी अवस्थाको पर्याय कहते हैं; २--गुणके विकारको (विशेष कार्यको) पर्याय कहते हैं; (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न १४८) ३--द्रव्यमें जो विक्रिया हो अथवा जो अवस्था बदले वह पर्याय कहलाती है।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ९ पृष्ठ १३१)

सूत्रकार पर्यायकी व्याख्या ४२ वें सूत्रमें देंगे।

(३) पहले सूत्र २९-३० में कहे हुए लक्षणसे यह लक्षण पृथक् नहीं है, शब्द भेद है, किन्तु भावभेद नहीं। पर्यायसे उत्पाद-व्यय की और गुणसे ध्रौव्यकी प्रतीति हो जाती है।

(४) गुणको अन्वय, सहवर्ती पर्याय या अक्रमवर्ती पर्याय भी कहा जाता है तथा पर्यायको व्यतिरेकी अथवा क्रमवर्ती कहा जाता है। द्रव्यका स्वभाव गुण-पर्याय रूप है, ऐसा सूत्रमें कहकर द्रव्यका अनेकान्तत्व सिद्ध किया।

(५) द्रव्य, गुण और पर्याय वस्तु रूपसे अभेद-अभिन्न है। नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से द्रव्य, गुण और पर्यायमें भेद है परन्तु प्रदेश से अभेद है; ऐसा वस्तुका भेदाभेद स्वरूप समझना।

(६) सूत्रमें 'वत्' शब्दका प्रयोग किया है वह कथंचित् भेदाभेद-रूप सूचित करता है।

(७) जो गुणके द्वारा यह बतलावे कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे द्रव्यांतर है' उसे विशेष गुण कहते हैं। उसके द्वारा उस द्रव्यका विधान किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो द्रव्यों की संकरता-एकताका प्रसंग हो और एक द्रव्य बदलकर दूसरा हो जाय तो व्यतिकर दोषका प्रसंग होगा। इसलिये इन दोषोंसे रहित वस्तुका स्वरूप जैसा का तैसा समझना ॥ ३८ ॥

काल भी द्रव्य है

कालश्च ॥ ३९ ॥

अर्थ—[कालः] काल [च] भी द्रव्य है।

टीका

(१) 'च' का अन्वय इस अध्यायके दूसरे सूत्र 'द्रव्याणि' के साथ है।

(२) काल उत्पाद-व्यय ध्रुव तथा गुण पर्याय सहित है, इसलिये वह द्रव्य है।

(३) काल द्रव्योंकी संख्या असंख्यात है। वे रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक् लोकाकाशके समस्त प्रदेशों पर स्थित हैं। वह प्रत्येक कालाणु जड़, एक प्रदेशी और अमूर्तिक है। उनमें स्पर्श गुण नहीं है इसलिये एक दूसरे के साथ मिलकर स्कंध रूप नहीं होता। कालमें मुख्यरूप से या गौणरूपसे प्रदेश-समूहकी कल्पना नहीं हो सकती, इसलिये उसे अकाय भी कहते हैं। वह निष्क्रिय है अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें नहीं जाता।

(४) सूत्र २२ में वर्तना मुख्य कालका लक्षण कहा है और उसी सूत्र में व्यवहार कालका लक्षण परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व कहा है। इस व्यवहार कालके अनंत समय हैं ऐसा अब इसके बादके सूत्रमें कहते हैं ॥ ३९ ॥

व्यवहार काल प्रमाण बताते हैं

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थः—[सः] वह काल द्रव्य [अनन्त समयः] अनन्त समय वाला है। कालका पर्याय वह समय है। यद्यपि वर्तमानकाल एक समयमात्र ही है तथापि भूत भविष्य की अपेक्षासे उसके अनन्त समय हैं।

टीका

(१) समय—मंदगतिसे गमन करनेवाले एक पुद्गल परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमें जितना समय लगता है वह एक समय है। यह कालकी पर्याय होनेसे व्यवहार है। आवलि, (-समयोंके समूहसे ही जो हो) घड़ी, घंटा आदि व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल निश्चयकालका पर्याय है।

निश्चयकालद्रव्य—लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिकी तरह कालाणुके स्थित होनेका ३९ वें सूत्रकी टीकामें कहा है; वह प्रत्येक निश्चयकालद्रव्य है। उसका लक्षण वर्तना है; यह सूत्र २२ में कहा जा चुका है।

(२) एक समयमें अनन्त पदार्थोंकी परिणति—पर्याय—जो अनन्त संख्यामें है; उसके एक कालाणुकी पर्याय निमित्त होती है. इस अपेक्षासे एक कालाणुको उपचारसे 'अनन्त' कहा जाता है। ऐसे मुख्य अर्थात् निश्चय-कालाणु द्रव्य असंख्यात है।

(३) समय यह सबसे छोटेसे छोटा काल है उसका विभाग नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

इस तरह छह द्रव्योंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दो सूत्रों द्वारा गुणका और पर्यायका लक्षण बताकर यह अधिकार पूर्ण हो जायगा।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः ॥ ४१ ॥

अर्थ—[द्रव्याश्रयाः] जो द्रव्यके आश्रयसे हों और [निर्गुणाः] स्वयं दूसरे गुणोंसे रहित हों [गुणाः] वे गुण हैं।

टीका

(१) ज्ञानगुण जीवद्रव्यके आश्रित रहता है तथा ज्ञानमें और कोई दूसरा गुण नहीं रहता। यदि उसमें गुण रहे तो वह गुण न रहकर गुणी (द्रव्य) हो जाय किन्तु ऐसा नहीं होता। 'आश्रयाः' शब्द भेद अभेद दोनों बतलाता है।

(२) प्रश्न—पर्याय भी द्रव्यके आश्रित रहती है और गुण रहित है इसलिये पर्यायमें भी गुणत्व आजायगा और इसीसे इस सूत्रमें अतिव्याप्ति दोष लगेगा।

उत्तर—'द्रव्याश्रया' पद होनेसे जो नित्य द्रव्यके आश्रित रहता है, उसकी बात है, वह गुण है पर्याय नहीं है। इसीलिये 'द्रव्याश्रया' पदसे पर्याय उसमें नहीं आती। पर्याय एक समयवर्ती ही है।

(३) इस सूत्रका सिद्धांत

प्रत्येक गुण अपने अपने द्रव्यके आश्रित रहता है इसलिये एक द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, तथा दूसरे द्रव्यको प्रेरणा, असर या मदद नहीं कर सकता। पर द्रव्य निमित्तरूपसे होता है परन्तु एक द्रव्य पर द्रव्यमें अकिंचित्कर है। (समयसार गाथा २६७ की टीका) प्रेरणा, सहाय, मदद, उपकार आदि का कथन उपचारमात्र है अर्थात् निमित्तका मात्र ज्ञान कराने के लिये है ॥ ४१ ॥

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थः—[तद्भावः] जो द्रव्यका स्वभाव (निजभाव, निजतत्त्व) है [परिणामः] सो परिणाम है।

टीका

(१) द्रव्य जिस स्वरूपसे होता है तथा जिस स्वरूपसे परिणमता है वह तद्भाव परिणाम है।

(२) प्रश्नः—कोई ऐसा कहते हैं कि द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न हैं, क्या यह ठीक है?

उत्तरः—नहीं, गुण और द्रव्य कथंचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न है अर्थात् भिन्नाभिन्न है। संज्ञा संख्या लक्षण विषयादि भेद से भिन्न है वस्तु रूपसे प्रदेशरूपसे अभिन्न है, क्योंकि गुण द्रव्यका ही परिणाम है।

(३) समस्त द्रव्योंके अनादि और आदिमान परिणाम होता है। प्रवाहरूपसे अनादि परिणाम है; पर्याय उत्पन्न होती है—नए होती है इस

लिये वह सादि है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंके अनादि तथा आदिमान परिणाम आगम गम्य हैं तथा जीव और पुद्गलके अनादि परिणाम आगम गम्य हैं किन्तु उसके आदिमान परिणाम कथंचित प्रत्यक्ष भी हैं।

(४) गुणको सहवर्ती अथवा अक्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है और पर्यायको क्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है।

(५) क्रमवर्ती पर्यायके स्वरूप नियमसार गाथा १४ की टीकामें कहा है "जो सर्व तरफ से भेदको प्राप्त हो—परिणमन करे—सो पर्याय है।"

द्रव्य—गुण और पर्याय—ये वस्तुके तीन भेद कहे हैं, परन्तु नय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो ही कहे हैं, तीसरा 'गुणार्थिक' नय नहीं कहा, इसका क्या कारण है? तथा गुण क्या नयका विषय है? इसका खुलासा पहले प्रथम अध्यायके सूत्र ६ की टीका पृष्ठ ३१–३२ में दिया है।

(५) इस सूत्रका सिद्धान्त

सूत्र ४१ में जो सिद्धांत कहा है उसी प्रमाणसे वह यहाँ भी लागू होता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने भावसे परिणमता है, परके भावसे नहीं परिणमता; अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपना काम कर सकता है किन्तु दूसरे का नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥

उपसंहार

इस पाँचवें अध्यायमें मुख्यरूप से अजीवतत्त्वका कथन है। अजीव तत्त्वका कथन करते हुये, उसका जीवतत्त्वके साथ संबंध बताने की आवश्यकता होने पर जीवका स्वरूप भी यहाँ बताया गया है। पुनरपि छहों द्रव्योंका सामान्य स्वरूप भी जीव और अजीव के साथ लागू होने के कारण कहा है। इस तरह इस अध्यायमें निम्न विषय आये हैं—

(१) छहों द्रव्योंके एक समान रीतिसे लागू होनेवाले नियमका स्वरूप, (२) द्रव्योंकी संख्या और उनके नाम, (३) जीवका स्वरूप, (४) अजीवका स्वरूप, (५) स्याद्वाद सिद्धांत और (६) अस्तिकाय।

(१) छहों द्रव्योंको लागू होनेवाला स्वरूप

(१) द्रव्यका लक्षण अस्तित्व (होनेरूप-विद्यमान) सत् है (सूत्र-२९) (२) विद्यमान (सत्का) का लक्षण यह है कि त्रिकाल कायम रहकर प्रत्येक समय में जूनी अवस्थाको दूर (व्यय) कर नई अवस्था उत्पन्न करना। (सूत्र ३०) (३) द्रव्य अपने गुण और अवस्था वाला होता है, गुण द्रव्य के आश्रित रहता है और गुणमें गुण नहीं होता। वह निजका जो भाव है, उस भावसे परिणमता है (सूत्र ३८, ४२) (४) द्रव्यके निज भावका नाश नहीं होता इसलिये नित्य है और परिणमन करता है इसलिये अनित्य है। (सूत्र ३१, ४२)

(२) द्रव्यों की संख्या और उनके नाम

१—जीव अनेक हैं (सूत्र ३), प्रत्येक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं (सूत्र ८) वह लोकाकाशमें ही रहता है (सूत्र १२), जीव के प्रदेश संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं इसीलिये लोकके असंख्यातवें भाग से लेकर समस्त लोकके अवगाह रूपसे है (सूत्र ५, १५), लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही जीवके प्रदेश हैं। एक जीवके, धर्मद्रव्यके और अधर्मद्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या समान है (सूत्र ८), परन्तु जीवके अवगाह और धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्यके अवगाहमें अंतर है। धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं जब कि जीवके प्रदेश संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं। (सूत्र-१३, १६,)

(२) जीवकी विकारी अवस्थामें, सुख दुःख तथा जीवन मरणमें पुद्गल द्रव्य निमित्त है, जीव द्रव्य भी परस्पर उन कार्योंमें निमित्त होते हैं। संसारी जीवके संयोग रूपसे कार्मणादि शरीर, वचन मन और श्वासोच्छ्वास होता है (सूत्र १९, २०, २१)।

(३) जीव क्रियावान है, उसकी क्रियावती शक्तिकी पर्याय कभी गतिरूप और कभी स्थितिरूप होती है, जब गतिरूप होती है तब धर्मद्रव्य और जब स्थितिरूप होती है तब अधर्मद्रव्य निमित्त है। (सूत्र १७)

(४) जीव द्रव्यसे नित्य है, उसकी संख्या एक सदृश रहनेवाली है और वह अरूपी है (सूत्र ४)

नोट—छहों द्रव्योंका जो स्वरूप ऊपर नं० (१) में चार पहलुओंसे बतलाया है वही स्वरूप प्रत्येक जीवद्रव्य के लागू होता है। जीवके चलते हुये अधिकार में दूसरे अध्याय के ८ वें सूत्रमें जीवका लक्षण उपयोग कहा जा चुका है।

(४) अजीवका स्वरूप

जिनमें ज्ञान नहीं है ऐसे अजीव द्रव्य पाँच हैं—१-एक धर्म, २-एक अधर्म, ३-एक आकाश, ४-अनेक पुद्गल तथा ५-असंख्यात कालाणु (सूत्र १, ३९)। अब पाँच उपविभागों द्वारा उन पाँचों द्रव्योंका स्वरूप कहा जाता है।

(अ) धर्मद्रव्य

धर्मद्रव्य एक, अजीव, बहुप्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६,) वह नित्य, अवस्थित, अरूपी और हलन चलन रहित है (सूत्र ४, ७)। इसके लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेश हैं और वह समस्त लोकाकाशमें व्याप्त है (सूत्र ८, १३)। वह स्वयं हलन चलन करनेवाले जीव तथा पुद्गलोंको गति में निमित्त है (सूत्र १७)। उसे अवकाश देने में आकाश निमित्त है और परिणमनमें काल निमित्त है (सूत्र १८, २२) अरूपी (सूक्ष्म) होने से धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाशमें एक समान (एक दूसरे को व्याघात पहुँचाये बिना) व्याप्त हो रहे हैं। (सूत्र १३)

(ब) अधर्म द्रव्य

उपरोक्त समस्त बातें अधर्मद्रव्य के भी लागू होती हैं इतनी विशेषता है कि धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलोंको गतिमें निमित्त है तब अधर्मद्रव्य ठहरे हुये जीव-पुद्गलोंको स्थितिमें निमित्त है।

(क) आकाशद्रव्य

आकाशद्रव्य एक, अजीव, अनन्तप्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६, ९) नित्य, अवस्थित, अरूपी और हलन चलन रहित है। (सूत्र ४, ७) अन्य पाँचों द्रव्योंको अवकाश देनेमें निमित्त है। (सूत्र १८) उसके परिणमनमें कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र २२)।

(ङ) कालद्रव्य

कालद्रव्य प्रत्येक अणुरूप, अरूपी, अस्तिरूपसे किन्तु कायरहित, नित्य और अवस्थित अजीव पदार्थ है (सूत्र २, ३९, ४) यह समस्त द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त है (सूत्र २२) कालद्रव्यको स्थान देनेमें आकाशद्रव्य निमित्त है (सूत्र १८) एक आकाशके प्रदेशमें रहे हुये अनन्त द्रव्योंके परिणमनमें एक कालाणु निमित्त होता है, इस कारणसे उसे उपचारसे अनन्त समय कहा जाता है तथा भूत भविष्यकी अपेक्षासे अनन्त है। कालकी एक पर्यायको समय कहते हैं। (सूत्र ४०)

(ड) पुद्गलद्रव्य

(१) यह पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त है, वह प्रत्येक एकप्रदेशी है (सूत्र १, २, १०, ११)। उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि विशेष गुण हैं अतः वह रूपी है (सूत्र २३, ५) उन विशेष गुणोंमेंसे स्पर्श गुणकी स्निग्ध या रूक्षकी जब अमुक प्रकारकी अवस्था होती है तब बंध होता है (सूत्र ३३) बंधप्राप्त पुद्गलोंको स्कंध कहा जाता है। उनमेंसे जीवके संयोगरूप होनेवाले स्कंध शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूपसे परिणमते हैं (सूत्र २५, १९)। कितनेक स्कंध जीवके सुख, दुःख, जीवन और मरणमें निमित्त होते हैं (सूत्र २०)।

(२) स्कन्धरूपसे परिणमे हुये परमाणु संख्यात असंख्यात और अनन्त होते हैं। तथा बंधकी ऐसी विशेषता है कि एक प्रदेशमें अनेक रहते हैं, अनेक स्कन्ध संख्यात प्रदेशोंको और अनेक स्कंध असंख्यात प्रदेशोंको

रोकते हैं तथा एक महास्कंध लोक प्रमाण असंख्यात आकाशके प्रदेशोंको रोकता है (सूत्र १०, १४, १२)

(३) जिस पुद्गलकी स्निग्धता या रूक्षता जघन्यरूपसे हो वह बन्धके पात्र नहीं तथा एक समान गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध नहीं होता (सू० ३४, ३५)। जघन्य गुणको छोड़कर दो अंश ही अधिक हों वहाँ स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ, तथा स्निग्ध रूक्षका परस्परमें बन्ध होता है और जिसके अधिक गुण हों उसरूपसे समस्त स्कंध हो जाता है (सू० ३६, ३७) स्कंधकी उत्पत्ति परमाणुओंके भेद (छूट पड़नेसे—अलग होनेसे) संघात (मिलनेसे) अथवा एक ही समय दोनों प्रकारसे (भेद-संघात) होती है (सू० २६) और अणुकी उत्पत्ति भेदसे होती है (सू० २७)। भेद संघात दोनोंसे मिलकर उत्पन्न हुआ स्कंध चक्षुइंद्रियगोचर होता है (सू० २८)।

(४) शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गलकी पर्यायें हैं।

(५) पुद्गल द्रव्यके हलन चलनमें धर्मद्रव्य और स्थितिमें अधर्मद्रव्य निमित्त है (सू० १७); अवगाहनमें आकाशद्रव्य निमित्त है और परिणमनमें कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र १८, २२)।

(६) पुद्गल स्कंधोंको शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूपसे परिणमानेमें जीव निमित्त है (सूत्र १९); बन्धरूप होनेमें परस्पर निमित्त है (सूत्र ३३)।

नोट—स्निग्धता और रूक्षताके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। एक अविभागी अंशको गुण कहते हैं ऐसा यहाँ गुण शब्दका अर्थ है।

(५) स्याद्वाद सिद्धांत

प्रत्येक द्रव्य गुण-पर्यायात्मक है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् है, सप्त भंगस्वरूप है। इसतरह द्रव्यमें त्रिकाली अखंड स्वरूप और प्रत्येक समयमें प्रवर्तमान अवस्था-ऐसे दो पहलू होते हैं। पुनरपि स्वयं स्व से अस्तिरूप है और परसे नास्तिरूप है। इसीलिये द्रव्य, गुण और पर्याय सब अनेकां-

त्मक (अनेक धर्मरूप) है । अल्पज्ञ जीव किसी भी पदार्थका विचार क्रमपूर्वक करता है, परन्तु समस्त पदार्थको एक साथ विचारमें नहीं ले सकता, विचार में आनेवाले पदार्थके भी एक पहलूका विचार कर सकता है और फिर दूसरे पहलूका विचार कर सकता है । इसप्रकार उसके विचार और कथनमें क्रम पड़े बिना नहीं रहता । इसीलिये जिस समय त्रिकाली ध्रुव पहलूका विचार करे तब दूसरे पहलू विचारके लिये मुल्तवी रहें । अत जिसका विचार किया जावे उसे मुख्य और जो विचारमें बाकी रहे उन्हें गौण किया जाये । इसप्रकार वस्तुके अनेकातस्वरूपका निर्णय करनेमें क्रम पड़ता है । इस अनेकात स्वरूप का कथन करनेके लिये तथा उसे समझनेके लिये उपरोक्त पद्धति ग्रहण करना, इसीका नाम 'स्याद्वाद' है । और वह इस अध्यायके ३२ में सूत्रमें बताया है। जिससमय जिस पहलू (अर्थात् धर्म) को ज्ञानमें लिया जाने उसे 'अर्पित' कहा जाता है और उसी समय जो पहलू अर्थात् धर्म ज्ञानमें गौण रहे हों वह 'अनर्पित' कहलाता है । इस तरह समस्त स्वरूपकी सिद्धि-प्राप्ति-निश्चित-ज्ञान हो सकता है । उस निखिल पदार्थके ज्ञानको प्रमाण और एक धर्मके ज्ञानको नय कहते हैं, और 'स्यात् अस्ति नास्ति' के भेदों द्वारा उसी पदार्थके ज्ञानको 'सप्तभंगी' स्वरूप कहा जाता है ।

(६) अस्तिकाय

छह द्रव्योंमें से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये पाँच अस्तिकाय हैं (सूत्र १, २, ३), और काल अस्ति है (सूत्र २, ३६) किंतु काय-बहुप्रदेशी नहीं है (सूत्र १)

(७) जीव और पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि १-२

(१) 'जीव' एक पद है और इसीलिये वह जगत् की किसी वस्तु को-पदार्थको बतलाता है, इसलिये अपने को यह विचार करना है कि वह क्या है । इसके विचारनेमें अपने को एक मनुष्यका उदाहरण लेना चाहिये जिससे विचार करने में सुगमता हो ।

※ अनेकात=अनेक+अन्त (धर्म)=अनेक धर्म ।

(२) हमने एक मनुष्यको देखा, वहां सर्व प्रथम हमारी दृष्टि उसके शरीर पर पड़ेगी तथा यह भी ज्ञात होगा कि वह मनुष्य ज्ञान सहित पदार्थ भी है। ऐसा जो निश्चित किया कि शरीर है वह इन्द्रियोंसे निश्चित किया किन्तु उस मनुष्य के ज्ञान है ऐसा जो निश्चय किया वह इन्द्रियोंसे निश्चित नहीं किया, क्योंकि अरूपी ज्ञान इन्द्रियगम्य नहीं है, किन्तु उस मनुष्य के वचन, या शरीर की चेष्टा परसे निश्चय किया गया है। उनमें से इन्द्रियों द्वारा शरीरका निश्चय किया, इस ज्ञानको अपन इन्द्रिय जन्य कहते हैं और उस मनुष्यमें ज्ञान होने का जो निश्चय किया सो अनुमानजन्य ज्ञान है।

(३) इसप्रकार मनुष्यमें हमें दो भेद मालूम हुए—१-इन्द्रियजन्य ज्ञानसे शरीर, २-अनुमान जन्य ज्ञानसे ज्ञान। फिर चाहे किसी मनुष्य के ज्ञान अल्पमात्रमें प्रगट हो या किसी के ज्यादा—विशेष ज्ञान प्रगट हो। हमें यह निश्चय करना चाहिये कि उन दोनों बातों के जानने पर वे दोनों एक ही पदार्थ के गुण हैं या भिन्न २ दो पदार्थों के वे गुण हैं ?

(४) जिस मनुष्यको हमने देखा उसके सम्बन्धमें निम्न प्रकार से दृष्टांत दिया जाता है।

(१) उस मनुष्यके हाथमें कुछ लगा और शरीर में से खून निकलने लगा।

(२) उस मनुष्य ने रक्त निकलता हुआ जाना और वह रक्त तुरन्त ही बंद हो जाय तो ठीक, ऐसी तीव्र भावना भाई।

(३) किन्तु उसी समय रक्त ज्यादा निकलने लगा और कई उपाय किये, किन्तु उसके बंद होने में बहुत समय लगा।

(४) रक्त बंद होने के बाद हमें जल्दी आराम हो जाय ऐसी उस मनुष्य ने निरंतर भावना करना जारी रखी।

(५) किन्तु भावना के अनुसार परिणाम निकलने के बदले में वह भाग सड़ता गया।

(६) उस मनुष्यको शरीरमें ममत्वके कारण बहुत दुःख हुआ और उसे उस दुःखका अनुभव भी हुआ।

(७) दूसरे सगे सम्बन्धियों ने यह जाना कि उस मनुष्यको दुःख होता है, किन्तु वे उस मनुष्यके दुःख के अनुभवका कुछ भी अंश न ले सके।

(८) अंतमें उसने हाथ के सड़े हुये भागको कटवाया।

(९) यह हाथ कटा तथापि उस मनुष्यका ज्ञान उतना ही रहा और विशेष अभ्याससे ज्यादा बढ़ गया और बाकी रहा हुआ शरीर बहुत कमज़ोर होता गया तथा वजनमें भी घटता गया।

(१०) शरीर कमज़ोर हुआ तथापि उसके ज्ञानाभ्यासके बलसे धैर्य रहा और शांति बढ़ी।

५—हमें यह जानना चाहिये कि ये दश बातें क्या सिद्ध करती हैं। मनुष्यमें विचार शक्ति (Reasoning Faculty) है और यह तो प्रत्येक मनुष्य के अनुभवगम्य है। अब विचार करने पर निम्न सिद्धांत प्रगट होते हैं —

(१) शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों पृथक् २ पदार्थ हैं, क्योंकि उस ज्ञान धारण करनेवाली वस्तुने 'खून तत्क्षण ही बंद हो जाय तो ठीक हो' ऐसी इच्छा की तथापि खून बंद नहीं हुआ, इतना ही नहीं किन्तु इच्छा से विरुद्ध शरीर की और खूनकी अवस्था हुई। यदि शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों एक ही हों तो ऐसा न हो।

(२) यदि ये दोनों वस्तुएं एक ही होती तो जब ज्ञान करनेवाले ने इच्छा की उसी समय खून बन्द हो जाता।

(३) यदि यह दोनों एक ही वस्तु होती तो रक्त तुरत ही बन्द हो जाता, इतना ही नहीं किन्तु ऊपर नं० (४-५) में बताये गये माफिक भावना करने के कारण शरीरका यह भाग भी नहीं सड़ता, इसके विपरीत जिस समय इच्छा की उस समय तुरंत ही आराम हो जाता। किन्तु दोनों पृथक् होने से ऐसा नहीं होता।

(४) ऊपर नं० (६-७) में जो हकीकत बतलाई है वह सिद्ध करती है कि जिसका हाथ सड़ा है वह और उसके सगे सम्बन्धी सब स्वतंत्र

पदार्थ हैं। यदि वे एक ही होते तो वे उस मनुष्यका दुःख एक होकर भोगते और वह मनुष्य अपने दुःखका भाग उनको देता अथवा अनिष्ट सम्बन्धीजन उसका दुःख लेकर वे स्वयं भोगते, किन्तु ऐसा नहीं बन सकता। अतः यह सिद्ध हुआ कि वे भी इस मनुष्यसे भिन्न स्वतंत्र ज्ञानरूप और शरीर सहित व्यक्ति हैं।

(५) ऊपर नं० (८-९) में जो वृत्त बतलाया है वह सिद्ध करता है कि शरीर संयोगी पदार्थ है; इसीलिये हाथ जितना भाग उसमें से अलग हो सका। यदि वह एक अखंड पदार्थ होता तो हाथ जितना टुकड़ा काटकर अलग न किया जा सकता। पुनश्च वह यह सिद्ध करता है कि शरीर से ज्ञान स्वतंत्र है क्योंकि शरीरका अमुक भाग कटाया तथापि उतने प्रमाणमें ज्ञान कम नहीं होता किन्तु उतना ही रहता है. और यद्यपि शरीर कमजोर होता जाय तथापि ज्ञान बढ़ता जाता है अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि शरीर और ज्ञान दोनों स्वतंत्र वस्तुएं हैं।

(६) उपरोक्त नं० (१०) से यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि ज्ञान बढ़ा तो भी वजन नहीं बढ़ा परन्तु ज्ञानके साथ सम्बन्ध रखनेवाले धैर्य, शांति आदि में वृद्धि हुई; यद्यपि शरीर वजनमें घटा तथापि ज्ञानमें घटती नहीं हुई, इसलिये ज्ञान और शरीर ये दोनों भिन्न, स्वतंत्र, विरोधी गुणवाले पदार्थ हैं। जैसे कि—(अ) शरीर वजन सहित और ज्ञान वजन रहित है (ब) शरीर घटा, ज्ञान बढ़ा, (क) शरीरका भाग कम हुआ, ज्ञान उतना ही रहा और फिर बढ़ा; (ड) शरीर इन्द्रिय गम्य है, संयोगी है और अलग हो सकता है, किसी दूसरी जगह उसका भाग अलग होकर रह सकता है; ज्ञानवस्तु इन्द्रियगम्य नहीं किन्तु ज्ञानगम्य है उसके टुकड़े या हिस्से नहीं हो सकते क्योंकि वह असंयोगी है, और सदा अपने द्रव्य-क्षेत्र (आकार) काल और भावोंसे अपनेमें अखंडित रहता है। और इसलिये उसका कोई भाग अलग होकर अन्यत्र नहीं रह सकता तथा किसी को दे नहीं सकता; (इ) यह संयोगी पदार्थ से शरीर बना है; उसके टुकड़े - हिस्से हो सकते हैं, परन्तु

ज्ञान नहीं मिलता, किसी संयोगसे कोई अपना ज्ञान दूसरे को दे नहीं सकता किन्तु अपने अभ्यास से ही ज्ञान बढा सकनेवाला, असंयोगी और निजमें से आनेवाला होने से ज्ञान स्व के ही—आत्मा के ही आश्रित रहने वाला है।

(७) 'ज्ञान' गुण वाचक नाम है, वह गुणी बिना नहीं होता इस लिये ज्ञान गुणकी धारण करनेवाली ऐसी एक वस्तु है। उसे जीव, आत्मा, सचेतन पदार्थ, चैतन्य इत्यादि नामोंसे पहचाना जा सकता है। इस तरह जीव पदार्थ ज्ञान सहित, असंयोगी, अरूपी और अपने ही भावोंका अपने में कर्त्ता—भोक्ता सिद्ध हुआ और उससे विरुद्ध शरीर ज्ञानरहित, अजीव, संयोगी रूपी पदार्थ सिद्ध हुआ, वह पुद्गल नामसे पहचाना जाता है। शरीर के अति रिक्त जो जो पदार्थ दृश्यमान होते हैं वे सभी शरीर की तरह पुद्गल ही हैं। और वे सब पुद्गल सदा अपने ही भावोंका अपने में कर्त्ता—भोक्ता हैं जीवसे सदा भिन्न होने पर भी अपना कार्य करने में सामर्थ्यवान हैं।

(८) पुनश्च ज्ञानका ज्ञानत्व कायम रहकर उसमें कमावेशी होती है। उस कमावेशीको ज्ञानकी तारतम्यतारूप अवस्था कहा जाता है। शास्त्रकी परिभाषामें उसे पर्याय' कहते हैं। जो नित्य ज्ञानत्व स्थिर रहता है सो 'ज्ञानगुण' है।

(९) शरीर संयोगी सिद्ध हुआ इसलिए वह वियोग सहित ही होता है। पुनश्च शरीरके छोटे २ हिस्से करें तो कई हों और जलाने पर राख हो। इसीलिये यह सिद्ध हुआ कि शरीर अनेक रजकणोंका पिंड है। जैसे जीव और ज्ञान इन्द्रियगम्य नहीं किन्तु विचार (Reasoning) गम्य है उसी तरह पुद्गलरूप अविभागी रजकण भी इन्द्रियगम्य नहीं किन्तु ज्ञानगम्य है।

(१०) शरीर यह मूल वस्तु नहीं किन्तु अनेक रजकणोंका पिंड है और रजकण स्वतंत्र वस्तु है अर्थात् असंयोगी पदार्थ है। और स्वयं परिणमनशील है।

(११) जीव और रजकण असंयोगी है अतः यह सिद्ध हुआ कि वे अनादि अनन्त है, क्योंकि जो पदार्थ किसी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो उसका कदापि नाश भी नहीं होता।

(१२) शरीर एक स्वतंत्र पदार्थ नहीं है किन्तु अनेक पदार्थोंकी संयोगी अवस्था है। अवस्था हमेशा प्रारंभ सहित ही होती है इसलिये शरीर शुरुआत—प्रारम्भ सहित है। वह संयोगी होनेसे वियोगी भी है।

६—जीव अनेक और अनादि अनन्त हैं तथा रजकण अनेक और अनादि अनन्त हैं। एक जीव किसी दूसरे जीवके साथ पिंडरूप नहीं हो सकता; परन्तु स्पर्शके कारण रजकण पिंडरूप होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यका लक्षण सत्, अनेक द्रव्य, रजकण, उसके स्कंध, उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य इत्यादि विषय इस अध्यायमें कहे गये हैं।

७—इस तरह जीव और पुद्गलका पृथक्त्व तथा अनादि अनन्तत्व सिद्ध होनेपर निम्न लौकिक मान्यतायें असत्य ठहरती हैं:—

(१) अनेक रजकणोंके एकमेक रूप होनेपर उनमेंसे नया जीव उत्पन्न होता है यह मान्यता असत्य है क्योंकि रजकण सदा ज्ञानरहित जड़ हैं इसीलिये ज्ञान रहित कितने भी पदार्थोंका संयोग हो तो भी जीव उत्पन्न नहीं होता। जैसे अनेक अंधकारोंके एकत्रित करने पर उनमेंसे प्रकाश नहीं होता उसी तरह अजीवमेंसे जीवकी उत्पत्ति नहीं होती।

(२) ऐसी मान्यता असत्य है कि जीवका स्वरूप क्या है यह अपनेको मालुम नहीं होता; क्योंकि ज्ञान क्या नहीं जानता? ज्ञानकी रुचि बढ़ानेपर आत्माका स्वरूप बराबर जाना जा सकता है। इसलिये यह विचार से गम्य है (Reasoning—दलीलगम्य) है ऐसा ऊपर सिद्ध किया है।

(३) कोई ऐसा मानते हैं कि जीव और शरीर ईश्वरने बनाये, किन्तु यह मान्यता असत्य है, क्योंकि दोनों पदार्थ अनादि अनन्त हैं, अनादि अनन्त पदार्थोंका कोई कर्ता हो ही नहीं सकता।

८—उपरोक्त पैरा ४ के पैरेमें जो १० उप पैरा दिया है उस परसे यह सिद्ध होता है कि यदि जीव शरीरका कुछ कर सकता है अथवा शरीर जीवका कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता मिथ्या है। इस विषयका सिद्धांत इस अध्यायके सूत्र ४१ की टीकामें भी दिया है।

(८) उपादान-निमित्त सम्बन्धी सिद्धांत

जीव, पुद्‌गलके अतिरिक्त दूसरे चार द्रव्योंकी सिद्धि करनेसे पहले हमें उपादान निमित्तके सिद्धांतको और उसकी सिद्धिको समझ लेना आवश्यक है। उपादान अर्थात् वस्तुकी सहज शक्ति—निजशक्ति और निमित्तका अर्थ है संयोगरूप परवस्तु।

इसका दृष्टांत—एक मनुष्यका नाम देवदत्त है, इसका यह अर्थ है कि देवदत्त स्वयं स्व से स्व रूप है किन्तु वह यज्ञदत्त इत्यादि किसी दूसरे पदार्थ रूप नहीं है, ऐसा समझनेसे दो पदार्थ भिन्नरूपसे सिद्ध होते हैं, १—देवदत्त स्वयं, २—यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ। देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करने में दो कारण हुये -(१) देवदत्त स्वयं (२) यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ जगत्‌में सद्भाव-रूप हैं उनका देवदत्तमें अभाव। इन दो कारणोंमें देवदत्तका स्वयंका अस्तित्व निजशक्ति होनेसे मूलकारण अर्थात् उपादानकारण है और जगतके यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंका अपने-अपनेमें सद्भाव और देवदत्तमें अभाव वह देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करनेमें निमित्त कारण है। यदि इस तरह न माना जाये और यज्ञदत्त आदि अन्य किसीभी पदार्थका देवदत्तमें सद्भाव माना जावे तो वहभी देवदत्त हो जायगा। ऐसा होनेसे देवदत्तकी स्वतंत्रसत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी।

पुनश्च यदि यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंकी सत्ता ही—सद्भाव ही न मानें तो देवदत्तका अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एक मनुष्यको दूसरे से भिन्न बतलानेके लिये उसे देवदत्त कहा, इसलिये देवदत्तके सत्तारूपमें देवदत्त मूल उपादानकारण और जिससे उसे पृथक् बतलाया ऐसे अन्य पदार्थ सो निमित्त कारण है—इससे ऐसा नियम भी सिद्ध हुआ कि निमित्तकारण उपादानके लिये अनुकूल होता है किन्तु प्रतिकूल नहीं होता। देवदत्तके देवदत्तपनेमें परद्रव्य उसके अनुकूल हैं, क्योंकि वे देवदत्तरूप नहीं होते। यदि वे देवदत्तरूप से हो जायें तो प्रतिकूल हो जायें और ऐसा होनेपर दोनोंका (देवदत्त और परका) नाश हो जाए।

इसतरह दो सिद्धांत निश्चित हुए—(१) प्रत्येक द्रव्य-गुण पर्यायकी जो स्व से अस्ति है सो उपादानकारण है और परद्रव्य-गुण-पर्यायकी जो

उसमें नास्ति है सो निमित्तकारण है; निमित्तकारण तो मात्र आरोपित कारण है, यथार्थ कारण नहीं है; तथा वह उपादानकारणको कुछ भी नहीं करता। जीवके उपादानमें जिस जातिका भाव हो उस भावको अनुकूलरूप होनेका निमित्तमें आरोप किया जाता है। सामने सत् निमित्त हो तथापि कोई जीव यदि विपरीत भाव करे तो उस जीवके विरुद्धभावमें भी उपस्थित वस्तुको अनुकूल निमित्त बनाया—ऐसा कहा जाता है। जैसे कोई जीव तीर्थंकर भगवानके समवशरणमें गया और दिव्यध्वनिमें वस्तुका जो यथार्थस्वरूप कहा गया वह सुना, परन्तु उस जीवके गलेमें बात नहीं उतरी इसलिये वह विमुख हो गया तो कहा जाता है कि उस जीवने अपने विपरीत भावके लिये भगवान की दिव्यध्वनिको अनुकूल निमित्त बनाया।

(६) उपरोक्त सिद्धांतके आधारसे जीव, पुद्गलके अतिरिक्त चार द्रव्योंकी सिद्धि

दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोंमें चार बातें देखनेमें आती हैं; (१) ऐसा देखा जाता है कि वह पदार्थ ऊपर, नीचे, यहाँ, वहाँ है। (२) वही पदार्थ अभी, फिर, जब, तब, तभीसे अभीतक—इसतरह देखा जाता है (३) वही पदार्थ स्थिर, स्तब्ध, निश्चल इस तरहसे देखा जाता है और (४) वही पदार्थ हिलता–डुलता, चञ्चल, अस्थिर देखा जाता है। यह चार बातें पदार्थों को देखनेपर स्पष्ट समझमें आती हैं, तो भी इन विषयों द्वारा पदार्थोंकी किंचित् आकृति नहीं बदलती। उन उन कार्योंका उपादान कारण तो वह प्रत्येक द्रव्य है, किन्तु उन चारों प्रकारकी क्रिया भिन्न भिन्न प्रकारकी होनेसे उस क्रियाके सूचक निमित्त कारण पृथक् ही होते हैं।

इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखना कि किसी पदार्थमें पहली, दूसरी और तीसरी अथवा पहली, दूसरी और चौथी बातें एक साथ देखी जाती हैं। किन्तु तीसरी, चौथी और पहली अथवा तीसरी चौथी और दूसरी यह बातें कभी एक साथ नहीं होती।

अब हमें एक एक बारेमें क्रमशः देखना चाहिये।

अ आकाश की सिद्धि—३८

जगत् की प्रत्येक वस्तुको अपना क्षेत्र होता है अर्थात् उसे लम्बाई-चौडाई होती है यानी उसे अपना अवगाहन होता है। यह अवगाहन अपना उपादान कारण हुआ और उसमें निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु होती है।

निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि उसके साथ उपादान वस्तु अवगाहनमें एकरूप न हो जाय। उपादान स्वयं अवगाहनरूप है तथापि अवगाहनमें जो परद्रव्य निमित्त है, उससे वह भिन्नरूपमें कायम रहे, अर्थात् परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य स्व स्व के अवगाहनमें ही है।

पुनश्च, यह वस्तु जगत् के समस्त पदार्थोंको एक साथ निमित्त कारण चाहिये, क्योंकि जगत् के समस्त पदार्थ अनादि हैं और सभी के अपना अपना क्षेत्र है, वह उसका अवगाहन है। अवगाहनमें निमित्त होने वाली वस्तु समस्त अवगाहन लेनेवाले द्रव्योंसे बड़ी चाहिये। जगत्में ऐसी एक वस्तु अवगाहनमें निमित्तकारणरूप है, उसे 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है।

और फिर जगत्में सूक्ष्म, स्थूल ऐसे दो प्रकारके तथा रूपी और अरूपी ऐसे दो प्रकार के पदार्थ हैं। उन उपादान रूप पदार्थोंके निमित्त रूपसे अनुकूल कोई परद्रव्य होना चाहिये और उसका उपादानमें अभाव चाहिये; और फिर अबाधित अवगाहन देनेवाला पदार्थ अरूपी ही हो सकता है। इस तरह आकाश एक, सर्व व्यापक, सबसे बड़ा, अरूपी और अनादि द्रव्यरूप सिद्ध होता है।

यदि आकाश द्रव्यको न माना जावे तो द्रव्यमें स्व क्षेत्रत्व नहीं रहेगा और ऊपर नीचे-यहाँ-वहाँ ऐसा निमित्तका ज्ञान करानेवाला स्थान नहीं रहेगा। अल्पज्ञानवाले मनुष्यको निमित्त द्वारा ज्ञान कराये बिना वह उपादान और निमित्त दोनों का यथार्थ ज्ञान नहीं कर सकता इतना ही नहीं किन्तु

यदि उपादानको न मानें तो निमित्तको भी नहीं मान सकेंगे और निमित्तको न मानें तो वह उपादानको नहीं मान सकेगा। दोनों के यथार्थ रूपसे माने बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा; इस तरह उपादान और निमित्त दोनों को शून्य रूपसे अर्थात् नहीं होने रूपसे मानना पड़ेगा और इस तरह समस्त पदार्थोंको शून्यत्व प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा बन ही नहीं सकता।

ब. काल की सिद्धि—४

द्रव्य कायम रहकर एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था रूपसे होता है, उसे वर्तना कहते हैं। इस वर्तनामें उस वस्तुकी निज शक्ति उपादान कारण है, क्योंकि यदि निजमें वह शक्ति न हो तो स्वयं न परिणमे। पहले यह सिद्ध किया है कि किसी भी कार्यके लिये दो कारण स्वतंत्र रूपसे होते हैं; इसीलिये निमित्त कारण संयोगरूपसे होना चाहिये। अतः उस वर्तनामें निमित्त कारण एक वस्तु है उस वस्तुको 'काल द्रव्य' कहा जाता है और फिर निमित्त अनुकूल होता है। सबसे छोटा द्रव्य एक रजकण है, इसलिये उसे निमित्त कारण भी एक रजकण बराबर चाहिये। अतः यह सिद्ध हुआ कि कालाणु एक प्रदेशी है।

प्रश्न—यदि काल द्रव्यको अणुप्रमाण न मानें और बड़ा मानें तो क्या दोष लगेगा?

उत्तरः—उस अणुके परिणमन होने में छोटे से छोटा समय न लगकर अधिक समय लगेगा और परिणमन शक्ति के अधिक समय लगेगा तो निज शक्ति न कहलायगी। पुनश्च अल्पसे अल्प काल एक समय जितना न होने से काल द्रव्य बड़ा हो तो उसकी पर्याय बड़ी होगी। इस तरह दो समय, दो घंटे, क्रमशः न होकर एक साथ होंगे जो बन नहीं सकते। एक एक समय करके कालको बड़ा मानें तो ठीक है किन्तु एक साथ लम्बा काल (अधिक समय) नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो किसी भी समय की गिनती न हो सके।

प्रश्नः—यह सिद्ध हुआ कि कालद्रव्य एक प्रदेशी है उससे बड़ा नहीं, परन्तु ऐसा किस लिये मानना कि कालाणु समस्त लोकमें हैं ?

उत्तरः—जगतमें आकाशके एक २ प्रदेश पर अनेक पुद्गल परमाणु और उतने ही क्षेत्रको रोकनेवाले सूक्ष्म अनेक पुद्गल स्कंध हैं और उनके परिणमनमें निमित्त कारण प्रत्येक आकाशके प्रदेशमें एक एक कालाणु होना सिद्ध होता है।

प्रश्नः—एक आकाशके प्रदेशमें अधिक कालाणु स्कंधरूप मानने में क्या विरोध आता है ?

उत्तरः—जिसमें स्पर्श गुण हो उसीमें स्कंधरूप बंध होता है और वह तो पुद्गल द्रव्य है। कालाणु पुद्गल द्रव्य नहीं, अरूपी है, इसलिये उसका स्कंध ही नहीं होता।

क. अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकाय की सिद्धि ५-६

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें क्रियावती शक्ति होने से उनके हलन चलन होता है, किन्तु यह हलन चलन रूप क्रिया निरन्तर नहीं होती। वे किसी समय स्थिर होते और किसी समय गतिरूप होते हैं, क्योंकि स्थिरता या हलन चलन रूप क्रिया गुण नहीं है किन्तु क्रियावती शक्तिकी पर्याय है। उस क्रियावती शक्तिकी स्थिरता रूप परिणमनका मूल कारण द्रव्य स्वयं है, उसका निमित्त कारण उससे अन्य चाहिये। यह पहले बताया गया है कि जगतमें निमित्त कारण होता ही है। इसीलिये जो स्थिरतारूप परिणमन का निमित्त कारण है उस द्रव्यको अधर्मद्रव्य कहते हैं। क्रियावती शक्तिके हलन चलनरूप परिणमनका मूल कारण द्रव्य स्वयं है और हलन चलनमें जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। हलन चलनका निमित्त कारण अधर्मद्रव्यसे विपरीत चाहिये और वह धर्मद्रव्य है।

(१०) इन छह द्रव्योंके एक ही जगह होने की सिद्धि

हमने पहले जीव पुद्गल की सिद्धि करने में मनुष्यका दृष्टांत लिया था उस परसे यह सिद्धि सरल होगी।

(१) जीव ज्ञानगुण धारक पदार्थ है।

(२) यह शरीर यह सिद्ध करता है कि शरीर संयोगी, जड़, रूपी पदार्थ है; यह भी उसी जगह है; इसका मूल अनादि-अनंत पुद्गल द्रव्य है।

(३) वह मनुष्य आकाश के किसी भागमें हमेशा होता है, इसीलिये उसी स्थान पर आकाश भी है।

(४) उस मनुष्यकी एक अवस्था दूर होकर दूसरी अवस्था होती है। इस अपेक्षासे उसी स्थान पर काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है।

(५) उस मनुष्यके जीवके असंख्यात प्रदेशमें समय समय पर एक क्षेत्रावगाह रूपसे नवीन-नवीन कर्म बँधकर वहां स्थिर होते हैं, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर अधर्मद्रव्य की सिद्धि होती है।

(६) उस मनुष्यके जीवके असंख्यात प्रदेशमें उसी समय पुराने कर्म समय समय पर उदय आकर झड़ जाते हैं, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर धर्मद्रव्यकी सिद्धि होती है।

इस तरह छहों द्रव्योंका एक क्षेत्र में अस्तित्व सिद्ध हुआ।

(११) अन्य प्रकार से छह द्रव्योंके अस्तित्वकी सिद्धि

१–२ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य

जो स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं ऐसे शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकड़ी इत्यादि में ज्ञान नहीं है अर्थात् वे अजीव हैं; इन पदार्थोंको तो अज्ञानी भी देखता है। उन पदार्थों में वृद्धि ह्रास होता रहता है अर्थात् वे मिल जाते हैं और बिछुड़ जाते हैं। ऐसे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों को पुद्गल कहा जाता है। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये पुद्गल द्रव्य के गुण हैं; इसीलिये पुद्गल द्रव्य काला–सफेद, सुगन्ध–दुर्गंध, खट्टा–मीठा, हल्का–भारी, इत्यादि रूपसे जाना जाता है; यह सब पुद्गलकी ही अवस्थायें हैं। जीव तो काला–सफेद, सुगंधित–दुर्गंधित, इत्यादि रूपसे नहीं है, जीव तो ज्ञानवाला है। शब्द सुनाई देता है या बोला जाता है वह भी पुद्गलकी ही हालत है। उन पुद्गलोंसे जीव अलग है। जगतमें किसी अचेत मनुष्यको देखकर कहा जाता है कि

इसका चेतन कहाँ चला गया? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है, वह तो जानता नहीं, किन्तु जाननेवाला ज्ञान कहाँ चला गया? अर्थात् जीव कहाँ गया? इसमें जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की सिद्धि हुई।

३—आकाशद्रव्य

लोग अव्यक्तरूपसे यह तो स्वीकार करते हैं कि 'आकाश' नामका द्रव्य है। दस्तावेजोंमें ऐसा लिखते हैं कि "अमुक मकान इत्यादि स्थानका आकाशसे पाताल पर्यंत हमारा हक है" अर्थात् यह निश्चय हुआ कि आकाश से पाताल रूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाश से पाताल पर्यंत कोई वस्तु ही न हो तो ऐसा क्यों लिखा जाता है कि 'आकाशसे पाताल तक का हक है? वस्तु है इसलिये उसका हक माना जाता है। आकाशसे पाताल तक अर्थात् सर्वव्यापी रही हुई वस्तुको 'आकाश द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञान रहित और अरूपी है, उसमें रंग, रस वगैरह नहीं हैं।

४—कालद्रव्य

जीव, पुद्गल और आकाश द्रव्यको सिद्ध किया, अब यह सिद्ध किया जाता है कि 'काल' नामकी एक वस्तु है। लोग दस्तावेज कराते और उसमें लिखाते हैं कि "यावत् चन्द्रदिवाकरौ जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तब तक हमारा हक है।" इसमें काल द्रव्य को स्वीकार किया। इसी समय ही हक है ऐसा नहीं किन्तु काल जैसा बढ़ता जाता है उस समस्त काल में हमारा हक है; इस प्रकार कालको स्वीकार करता है। "हमारा वैभव भविष्यमें ऐसा ही बना रहो"—इस भावनामें भी भविष्यत कालको भी स्वीकार किया, और फिर ऐसा कहते हैं कि 'हम तो सात पेढ़ीसे सुखी हैं' वहाँ भी भूतकाल स्वीकार करता है। भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यतकाल ये समस्त भेद निश्चय कालद्रव्यकी व्यवहार पर्याय के हैं। यह काल द्रव्य भी अरूपी है और उसमें ज्ञान नहीं है।

इसतरह जीव, पुद्गल, आकाश और काल द्रव्यकी सिद्धि हुई। अब धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य शेष रहे।

५—धर्मद्रव्य

जीव इस धर्म द्रव्यको भी अव्यक्तरूपसे स्वीकार करता है। छहों द्रव्योंके अस्तित्वको स्वीकार किये विना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। आना, जाना, रहना इत्यादि सभीमें छहों द्रव्योंकी अस्ति सिद्ध हो जाती है। चार द्रव्य तो सिद्ध हो चुके हैं अब बाकीके दो द्रव्य सिद्ध करना है। यह कहनेमें धर्म द्रव्य सिद्ध हो जाता है कि 'एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया।' एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया इसका क्या अर्थ है? यानि जीव और शरीरके परमाणुओंकी गति हुई, एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलनेके कार्यमें किस द्रव्यको निमित्त कहेंगे? क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त कारण होता ही है। यह विचार करते हैं कि जीव और पुद्गलोंको एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आनेमें निमित्त कौनसा द्रव्य है। प्रथम तो जीव और पुद्गल ये उपादान हैं' उपादान स्वयं निमित्त नहीं कहलाता। निमित्त तो उपादानसे भिन्न ही होता है, इसलिये जीव या पुद्गल ये क्षेत्रांतर के निमित्त नहीं। काल द्रव्य तो परिणमनमें निमित्त है अर्थात् पर्याय बदलनेमें निमित्त है किंतु काल द्रव्य क्षेत्रांतरका निमित्त नहीं है; आकाश द्रव्य समस्त द्रव्योंको रहनेके लिये स्थान देता है। जब ये पहले क्षेत्रमें थे तब भी जीव और पुद्गलोंको आकाश निमित्त था और दूसरे क्षेत्रमें भी वही निमित्त है, इसलिए आकाशको भी क्षेत्रांतरका निमित्त नहीं कह सकते। तो फिर यह निश्चित होता है कि क्षेत्रांतररूप जो कार्य हुआ उसका निमित्त इन चार द्रव्यों के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करनेमें कोई एक द्रव्य निमित्तरूपसे है किन्तु वह कौनसा द्रव्य है इसका जीवने कभी विचार नहीं किया, इसीलिये उसकी खबर नहीं है। क्षेत्रांतर होनेमें निमित्तरूप जो द्रव्य है उस द्रव्यको 'धर्मद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य भी अरूपी और रहित है।

६—अधर्मद्रव्य

जिस तरह गति करनेमें धर्म द्रव्य निमित्त है उसीतरह स्थितिमें उससे विरुद्ध अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है। "एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें आकर स्थिर

रहा" यहाँ स्थिर रहनेमें निमित्त कौन है ? आकाश स्थिर रहनेमें निमित्त नहीं है, क्योंकि आकाशका निमित्त तो रहनेके लिये है, गति के समय भी रहनेमें आकाश निमित्त था, इसीलिये स्थितिका निमित्त कोई अन्य द्रव्य चाहिये वह द्रव्य 'अधर्म द्रव्य' है। यह भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

इसप्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों की सिद्धि की। इन छहके अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य है ही नहीं, और इन छहमेंसे एक भी न्यून नहीं है, बराबर छह ही द्रव्य हैं और ऐसा माननेसे ही यथार्थ वस्तुकी सिद्धि होती है। यदि इन छहके अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य हो तो वह बताओ कि उसका क्या कार्य है ? ऐसा कोई कार्य नहीं है जो इन छह से बाहर हो, इसलिए सातवाँ द्रव्य है ही नहीं। यदि इन छह द्रव्योंमेंसे एक भी कम हो तो वह बताओ कि उसका कार्य कौन करेगा ? छह द्रव्योंमेंसे एक भी द्रव्य ऐसा नहीं कि जिसके बिना विश्व नियम चल सके।

छह द्रव्य संबंधी कुछ जानकारी

१—जीव—इस जगतमें अनन्त जीव हैं। ज्ञातृत्व चिह्नके (विशेष गुणके) द्वारा जीव पहचाना जाता है। क्योंकि जीवके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थमें ज्ञातृत्व नहीं है। जीव अनन्त हैं, वे सभी एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं।

२—पुद्गल—इस जगतमें अनन्तानन्त पुद्गल हैं। स्पर्श, रस, गंध और वर्णके द्वारा पुद्गल पहचाना जाता है, क्योंकि पुद्गलके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें स्पर्श, रस, गंध या वर्ण नहीं है। जो इन्द्रियोंके द्वारा जाने जाते हैं वे सब पुद्गलके बने हुए स्कंध हैं।

३—धर्म—यहाँ धर्म कहनेसे आत्माका धर्म नहीं किन्तु 'धर्म' नामका द्रव्य समझना चाहिए। यह द्रव्य एक अखण्ड और समस्त लोकमें व्याप्त है। जीव और पुद्गलोंके गमन करते समय यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है।

४—अधर्म—यहाँ अधर्म कहनेसे आत्माका दोप नहीं किन्तु अधर्म नामका द्रव्य समझना चाहिए। यह एक अखण्ड द्रव्य है जो समस्त लोकमें व्याप्त है। जीव और पुद्गल गमन करके जब स्थिर होते हैं तब यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाना जाता है।

५—आकाश—यह एक अखण्ड सर्वव्यापक द्रव्य है। समस्त पदार्थोंको स्थान देनेमें यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है। इस द्रव्यके जितने भागमें अन्य पाँचों द्रव्य रहते हैं उतने भागको 'लोकाकाश' कहा जाता है और जितना भाग अन्य पाँचों द्रव्योंसे रिक्त है उसे 'अलोकाकाश' कहा जाता है। खाली स्थानका अर्थ होता है 'अकेला आकाश।'

६—काल—असंख्य काल द्रव्य हैं। इस लोकके असंख्य प्रदेश हैं; उस प्रत्येक प्रदेशपर एक एक काल द्रव्य रहा हुआ है। असंख्य कालाणु हैं वे सब एक दूसरेसे अलग हैं। वस्तुके रूपान्तर (परिवर्तन) होनेमें यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाना जाता है।

इन छह द्रव्योंको सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। सर्वज्ञदेवने ही इन छह द्रव्योंको जाना है और उन्हींने उनका यथार्थ स्वरूप कहा है; इसीलिये सर्वज्ञके सत्यमार्गके अतिरिक्त अन्य कोई मतमें छह द्रव्योंका स्वरूप हो ही नहीं सकता; क्योंकि दूसरे अपूर्ण जीव उन द्रव्योंको नहीं जान सकते; इसलिए छह द्रव्योंके स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति करना चाहिए।

टोपीके दृष्टांतसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१) देखो यह कपड़ेकी टोपी है, यह अनन्त परमाणुओंसे मिलकर बनी है और इसके फट जानेपर परमाणु अलग हो जाते हैं। इसतरह मिलना और बिछुड़ना पुद्गलका स्वभाव है। पुनश्च यह टोपी सफेद है, दूसरी कोई काली, लाल आदि रंगकी भी टोपी होती है; रंग पुद्गल द्रव्यका चिह्न है, इसलिये जो दृष्टिगोचर होता है वह पुद्गल द्रव्य है।

(२) 'यह टोपी है पुस्तक नहीं' ऐसा जाननेवाला ज्ञान है और ज्ञान जीवका चिह्न है, अत जीव भी सिद्ध हुआ।

(३) अब यह विचारना चाहिए कि टोपी कहाँ रही हुई है? यद्यपि निश्चयसे तो टोपी टोपीमें ही है, किन्तु टोपी टोपीमें ही है यह कहनेसे टोपी का बराबर ख्याल नहीं आ सकता, इसलिये निमित्तरूपसे यह पहचान कराई जाती है कि "अमुक स्थानमें टोपी रही हुई है।" जो स्थान कहा जाता है वह आकाश द्रव्यका अमुक भाग है, अत आकाशद्रव्य सिद्ध हुआ।

(४) अब यह टोपी दुहरी मुड जाती है जब टोपी सीधी थी तब आकाशमें थी और जब मुड गई तब भी आकाशमें ही है, अत आकाशके निमित्त द्वारा टोपीका दुहरापन नहीं जाना जा सकता। तो फिर टोपीकी दुहरे होनेकी क्रिया हुई अर्थात् पहले उसका क्षेत्र लम्बा था, अब वह थोडे क्षेत्र में रही हुई है—इसतरह टोपी क्षेत्रांतर हुई है और क्षेत्रांतर होनेमें जो वस्तु निमित्त है वह धर्मद्रव्य है।

(५) अब टोपी टेढ़ी मेढी स्थिर पडी है। तो यहाँ स्थिर होनेमें उसे निमित्त कौन है? आकाशद्रव्य तो मात्र स्थान देनेमें निमित्त है। टोपी चले या स्थिर रहे इसमें आकाशका निमित्त नहीं है। जब टोपीने सीधी दशा में से टेढी अवस्थारूप होनेके लिए गमन किया तब धर्मद्रव्यका निमित्त था, तो अब स्थिर रहनेकी क्रियामें उससे विरुद्ध निमित्त चाहिए। गतिमें धर्मद्रव्य निमित्त था तो अब स्थिर रहनेमें अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है।

(६) टोपी पहले सीधी थी इस समय टेढ़ी है और अब यह अमुक समय तक रहेगी-ऐसा जाना, वहाँ 'काल' सिद्ध होगया। भूत, वर्तमान, भविष्य अथवा पुराना नया, दिवस घटा इत्यादि जो भेद होते हैं वे भेद किसी एक मूल वस्तुके बिना नहीं हो सकते, अत भेद-पर्यायरूप व्यवहारकालका आधार-कारण निश्चय कालद्रव्य सिद्ध हुआ। इसतरह टोपी परसे छह द्रव्य सिद्ध हुए।

इन छह द्रव्योंमेंसे एक भी द्रव्य न हो तो जगतका व्यवहार नहीं चल सकता। यदि पुद्गल न हो तो टोपी ही न हो। यदि जीव न हो तो टोपीके

अस्तित्वका निश्चय कौन करे ? यदि आकाश न हो तो यह पहचान नहीं हो सकती कि टोपी कहाँ है ? यदि धर्म और अधर्म द्रव्य न हों तो टोपीमें हुआ फेरफार (क्षेत्रांतर और स्थिरता) मालूम नहीं हो सकता और यदि काल द्रव्य न हो तो पहले जो टोपी सीधी थी वही इस समय टेढी है. ऐसा पहले और पीछे टोपीका अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकता, अतः टोपीको सिद्ध करनेके लिए छहों द्रव्योंको स्वीकार करना पड़ता है। जगत्की किसी भी एक वस्तुको स्वीकार करनेसे व्यक्तरूपसे या अव्यक्तरूपसे छहों द्रव्योंका स्वीकार हो जाता है।

मनुष्य शरीरके दृष्टांतसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१-२) यह शरीर जो दृष्टिगोचर होता है; यह पुद्गलका बना हुआ है और शरीरमें जीव रहा हुआ है। यद्यपि जीव और पुद्गल एक आकाशकी जगहमें रहते हैं तथापि दोनों पृथक् हैं। जीवका स्वभाव जाननेका है और पुद्गलका यह शरीर कुछ जानता नहीं। शरीरका कोई भाग कट जाने पर भी जीवका ज्ञान नहीं कट जाता, जीव पूर्ण ही रहता है, क्योंकि शरीर और जीव सदा पृथक् ही हैं। दोनोंका स्वरूप पृथक् है और दोनोंका काम पृथक् ही है यह जीव और पुद्गल तो स्पष्ट हैं। (३) जीव और शरीर कहाँ रह रहे हैं ? अमुक ठिकाने, पाँच फुट जगहमें दो फुट जगहमें रह रहे हैं, अतः 'जगह' कहनेसे आकाश द्रव्य सिद्ध हुआ।

यह ध्यान रहे कि यह जो कहा जाता है कि जीव और शरीर आकाश में रहे हुए हैं वहाँ यथार्थमें जीव, शरीर और आकाश तीनों स्वतंत्र पृथक्-पृथक् ही हैं, कोई एक दूसरेके स्वरूपमें नहीं घुस गया। जीव तो ज्ञानत्व स्वरूपसे ही रहा है, रंग, गंध इत्यादि शरीरमें ही हैं, वे जीव या आकाश आदि किसीमें नहीं हैं, आकाशमें वर्ण, गंध इत्यादि नहीं है तथा ज्ञान भी नहीं, वह अरूपी-अचेतन है; जीवमें ज्ञान है किंतु वर्ण गंध इत्यादि नहीं अर्थात् वह अरूपी-चेतन है; पुद्गलमें वर्ण-गंध इत्यादि हैं किन्तु ज्ञान नहीं अर्थात् वह रूपी-अचेतन है, इस तरह तीनों द्रव्य एकदूसरेसे भिन्न-स्वतंत्र हैं। प्रत्येक वस्तु

स्वतंत्र होनेसे कोई दूसरी वस्तु किसीका कुछ कर नहीं सकती, यदि एक पदार्थमें दूसरा पदार्थ कुछ करता हो तो वस्तुको स्वतंत्र कैसे कहा जायगा?

(४) जीव, पुद्गल और आकाश निश्चित किये अब कालका निश्चय करते हैं। ऐसा पूछा जाता है कि "तुम्हारी आयु कितनी है?" (यहाँ 'तुम्हारी' अर्थात् शरीरके संयोगरूप आयुकी बात समझना) शरीरकी उम्र ४० ५० वर्ष आदि की कही जाती है और जीव अनादि अनन्त अस्तिरूप से है। यह कहा जाता है कि यह मेरी अपेक्षा पाच वर्ष छोटा है, यह पाँच वर्ष बड़ा है, यहाँ शरीरके कदसे छोटे बड़ेपनकी बात नहीं है किन्तु कालकी अपेक्षासे छोटे बड़ेपनकी बात है, यदि काल द्रव्यकी अपेक्षा न लें तो यह नहीं कह सकते कि यह छोटा, यह बड़ा, यह बालक, यह युवा या यह वृद्ध है। पुरानी नई अवस्था बदलती रहती है इसी परसे कालद्रव्यका अस्तित्व निश्चित होता है ॥ ४ ॥

कहीं जीव और शरीर स्थिर होता है और कहीं गति करता है। स्थिर होते समय तथा गमन करते समय दोनों समय वह आकाशमें ही है, अर्थात् आकाश परसे उसका गमन या स्थिर रहनेरूप निश्चित नहीं हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहनरूप दशा, इन दोनोंकी पृथक् पृथक् पहचान करनेके लिए उन दोनों दशामें भिन्न भिन्न निमित्तरूप ऐसे दो द्रव्योंको पहचानना होगा। धर्मद्रव्यके निमित्तद्वारा जीव पुद्गलका गमन पहचाना जा सकता है और अधर्मद्रव्यके निमित्त द्वारा स्थिरता पहचानी जा सकती है। यदि ये धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो गमन और स्थिरताके भेदको नहीं जाना जा सकता।

यद्यपि धर्म-अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलको कहीं गति या स्थिति करनेमें मदद करते नहीं हैं, परन्तु एक द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यकी अपेक्षाके विना पहचाना नहीं जा सकता। जीवके भावको पहचाननेके लिए अजीवकी अपेक्षा की जाती है, जो जाने सो जीव-ऐसा कहनेसे ही "ज्ञातृत्वसे रहित जो अन्य

द्रव्य हैं वे जीव नहीं हैं" इसप्रकार अजीव की अपेक्षा आ जाती है व ऐसा बताने पर आकाशकी अपेक्षा हो जाती है कि 'जीव अमुक जगह है'। इस प्रकार छहों द्रव्योंमें समझ लेना। एक आत्मद्रव्यका निर्णय करनेपर छहों द्रव्य मालूम होते हैं; यह ज्ञानकी विशालता है और इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वद्रव्योंको जान लेना ज्ञानका स्वभाव है। एक द्रव्यको सिद्ध करनेसे छहों द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं; इसमें द्रव्यकी पराधीनता नहीं है; परन्तु ज्ञानकी महिमा है। जो पदार्थ होता है वह ज्ञानमें अवश्य जाना जाता है। पूर्ण ज्ञानमें जितना जाना जाता है इस जगतमें उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। पूर्ण ज्ञानमें छह द्रव्य जनाये हैं, छह द्रव्यसे अधिक अन्य कुछ नहीं है।

कर्मोंके कथनसे छहों द्रव्योंकी सिद्धि

कर्म यह पुद्गलकी अवस्था है; जीवके विकारी भावके निमित्तसे वह जीवके साथ रहे हुये हैं; कितनेक कर्म बंधरूपसे स्थिर हुये हैं उनको अधर्मास्तिकायका निमित्त है; प्रतिसमय कर्म उदयमें आकर झड़ जाते हैं; झड़ जानेमें क्षेत्रांतर भी होता है उसमें, उसे धर्मास्तिकायका निमित्त है। यह कहा जाता है कि कर्मकी स्थिति ७० कोड़ा कोड़ि सागर और कमसे कम अन्तर्मुहूर्त की है, इसमें काल द्रव्यकी अपेक्षा हो जाती है; बहुतसे कर्म परमाणु एक क्षेत्रमें रहते है, इसमें आकाशद्रव्यकी अपेक्षा है। इस तरह छह द्रव्य सिद्ध हुए।

द्रव्योंकी स्वतंत्रता

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य (कर्म) दोनों एकदम पृथक् पृथक् पदार्थ है और दोनों अपने अपनेमें स्वतंत्र हैं, कोई एक दूसरेका कुछ ही नहीं करते। यदि जीव और कर्म एक हो जांय तो इस जगत्में छह द्रव्य ही नहीं रह सकते; जीव और कर्म सदा पृथक् ही है। द्रव्यों का स्वभाव अपने अमर्यादित अनन्त गुणोंमें अनादि अनंत रहकर प्रतिसमय बदलनेका है। सभी द्रव्य अपनी शक्तिसे स्वतंत्ररूपसे अनादि अनन्त रहकर स्वयं अपनी अवस्था बदलते हैं। जीवकी अवस्था जीव बदलता है; पुद्गलकी

हालत पुद्गल बदलाता है। पुद्गलका जीव कुछ नहीं करता और न पुद्गल जीवका कुछ करता है। व्यवहारसे भी किसीका परद्रव्यमें कर्तापना नहीं है घीका घड़ाके समान व्यवहारसे कर्तापनेका कथन होता है जो सत्यार्थ नहीं है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव

द्रव्यका और द्रव्यकी अवस्थाओंका कोई कर्ता नहीं है। यदि कोई कर्ता हो तो उसने द्रव्योंको किसतरह बनाया ? किसमेंसे बनाया ? वह कर्ता स्वयं किसका बना ? जगत्में छहों द्रव्य स्व स्वभावसे ही हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। किसी भी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति ही नहीं होती। किसी भी प्रयोगसे नये जीवकी या नये परमाणुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु जैसा पदार्थ हो वैसा ही रहकर उनमें अपनी अवस्थाओंका रूपांतर होता है। यदि द्रव्य हो तो उसका नाश नहीं होता, जो द्रव्य नहीं वह उत्पन्न नहीं होता और जो द्रव्य होता है वह स्वशक्तिसे प्रतिक्षण अपनी अवस्था बदलता ही रहता है, ऐसा नियम है। इस सिद्धांतको उत्पाद व्यय ध्रुव अर्थात् नित्य रहकर बदलना कहा जाता है।

द्रव्य कोई बनानेवाला नहीं है इसलिये सातवां कोई नया द्रव्य नहीं हो सकता, और किसी द्रव्यका कोई नाश करनेवाला नहीं है इसलिये छह द्रव्योंमें कमी कभी नहीं होती। शाश्वतरूपसे छह ही द्रव्य हैं। सर्वज्ञ भगवानने सपूर्ण ज्ञानके द्वारा छह द्रव्य जाने और वही उपदेशमें दिव्यध्वनि द्वारा निरूपित किये। सर्वज्ञ वीतराग देव प्रणीत परम सत्यमार्गके अतिरिक्त इन छह द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

द्रव्यकी शक्ति (गुण)

द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति (चिह्न, विशेष गुण) पहले संक्षिप्तरूपमें कही जा चुकी है, एक द्रव्यकी जो विशिष्ट शक्ति है वह अन्य द्रव्यमें नहीं होती। इसीलिये विशिष्ट शक्तिके द्वारा द्रव्यको पहचाना जा सकता है। जैसे कि ज्ञान

जीव द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति है। जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमें ज्ञान नहीं है, इसीलिए ज्ञान शक्तिके द्वारा जीव पहचाना जा सकता है।

यहाँ अब द्रव्योंकी सामान्य शक्ति संबंधी कुछ कथन किया जाता है। जो शक्ति सभी द्रव्योंमें हो उसे सामान्य शक्ति कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये मुख्य सामान्य ६ गुण हैं, ये सभी द्रव्योंमें हैं।

१—अस्तित्वगुणके कारण द्रव्यके अस्तिरूपका कभी नाश नहीं होता। ऐसा नहीं है कि द्रव्य अमुक कालके लिये है और फिर नष्ट हो जाता है; द्रव्य नित्य कायम रहनेवाले हैं। यदि अस्तित्वगुण न हो तो वस्तु ही नहीं हो सकती और वस्तु ही न हो तो समझाना किसको।

२—वस्तुत्व गुणके कारण द्रव्य अपना प्रयोजनीभूत कार्य करता है। जैसे घड़ा पानीको धारण करता है उसी तरह द्रव्य स्वयं ही अपने गुण पर्यायोंका प्रयोजनभूत कार्य करता है। एक द्रव्य किसी प्रकार किसी दूसरे का कार्य नहीं करता और न कर सकता।

३—द्रव्यत्वगुणके कारण द्रव्य निरंतर एक अवस्थामें से दूसरी अवस्थामें द्रवा करता है—परिणमन किया करता है। द्रव्य त्रिकाल अस्तिरूप है तथापि वह सदा एक सदृश (कूटस्थ) नहीं है; परन्तु निरंतर नित्य बदलनेवाला—परिणामी है। यदि द्रव्यमें परिणमन न हो तो जीवके संसार दशाका नाश होकर मोक्षदशा की उत्पत्ति कैसे हो? शरीर की बाल्यदशामें से युवकदशा कैसे हो? छहों द्रव्योंमें द्रव्यत्व शक्ति होने से सभी स्वतंत्ररूपसे अपनी अपनी पर्यायमें परिणम रहे हैं; कोई द्रव्य अपनी पर्याय परिणमाने के लिये दूसरे द्रव्य की सहायता या अपेक्षा नहीं रखता।

४—प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य ज्ञानमें ज्ञात होते हैं। छहों द्रव्योंमें इस प्रमेय शक्ति के होने से ज्ञान छहों द्रव्यके स्वरूपका निर्णय कर सकता है। यदि वस्तुमें प्रमेयत्व गुण न हो तो वह स्वयंको किस तरह बतला सकता है कि 'यह वस्तु है'। जगत्‌का कोई पदार्थ ज्ञान अगोचर नहीं है; आत्मामें प्रमेयत्व गुण होने से आत्मा स्वयं निजको जान सकता है।

५—अगुरुलघुत्व गुणके कारण प्रत्येक वस्तु निज २ स्वरूप से ही कायम रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणुरूप नहीं हो जाता, परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नहीं हो जाता, जड़ सदा जड़रूपसे और चेतन सदा चेतनरूपसे ही रहता है ज्ञानका विकास विकार दशामें चाहे जितना स्वल्प हो तथापि जीवद्रव्य बिलकुल ज्ञान शून्य हो जाय ऐसा कभी नहीं होता। इस शक्तिके कारण द्रव्यके गुण अलग नहीं हो जाते, तथा कोई दो पदार्थ एक रूप होकर तीसरा नई तरहका पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वस्तुका स्व रूप अन्यथा कदापि नहीं होता।

६—प्रदेशत्व गुणके कारण प्रत्येक द्रव्यके अपना अपना आकार अवश्य होता है। प्रत्येक अपने अपने स्वाकारमें ही रहता है। सिद्धदशा होने पर एक जीव दूसरे जीवमें नहीं मिल जाता किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशा कार में स्वतन्त्र रूपसे कायम रहता है।

ये छह सामान्यगुण मुख्य हैं इनके अतिरिक्त भी दूसरे सामान्य गुण हैं। इस तरह गुणों द्वारा द्रव्यका स्वरूप विशेष स्पष्टता से जाना जा सकता है।

छह कारक (–कारण) [लघु जैन सि० प्रवेशिका से]

(१) कर्त्ता—जो स्वतन्त्रता से (–स्वाधीनतासे) अपने परिणाम को करे सो कर्त्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपने में स्वतन्त्र व्यापक होने से अपने ही परिणामोंका कर्ता है।

(२) कर्म (–कार्य)—कर्ता जिस परिणामको प्राप्त करता है वह परिणाम उसका कर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्य लक्षण वाला प्रत्येक द्रव्यका परिणामरूप कर्म होता है। [उस कर्म (–कार्य) में प्रत्येक द्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस रूप परिणमन करता हुआ, और उस रूप उत्पन्न होता हुआ, उस परिणामको कर्ता है।]

(३) करणः—उस परिणामका साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन को करण कहते हैं।

(४) संप्रदान—कर्म (-परिणाम-कार्य) जिसे दिया जाय या जिसके लिये किया जाता है उसे संप्रदान कहते हैं।

(५) अपादानः—जिसमें से कर्म किया जाता है वह ध्रुव वस्तुको अपादान कहते हैं।

(६) अधिकरणः—जिसमें या जिसके आधारसे कर्म किया जाता है उसे अधिकरण कहते हैं।

सर्व द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायमें यह छहों कारक एक साथ वर्तते हैं, इसलिये आत्मा और पुद्गल शुद्धदशामें या अशुद्धदशामें स्वयं ही छहों कारक-रूप परिणमन करते हैं और अन्य किसी कारकों (-कारणों) की अपेक्षा नहीं रखते हैं। (पंचास्तिकाय गाथा ६२ सं० टीका)

प्रश्नः—कार्य कैसे होता है ?

उत्तरः—'कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां' कारणानुविधायीनि कार्याणी'—कारण जैसे ही कार्य होनेसे कारण जैसा ही कार्य होता है। कार्यको—क्रिया कर्म, अवस्था, पर्याय, हालत, दशा, परिणाम, परिणमन और परिणति भी कहते हैं [यहाँ कारणको उपादान कारण समझना क्योंकि उपादान कारण वही सच्चा कारण है]

प्रश्न—कारण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—कार्यकी उत्पादक सामग्रीको कारण कहते हैं।

प्रश्नः—उत्पादक सामग्रीके कितने भेद हैं ?

उत्तरः—दो हैं:—उपादान और निमित्त। उपादानको निजशक्ति अथवा निश्चय और निमित्तको परयोग अथवा व्यवहार कहते हैं।

प्रश्नः—उपादान कारण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—(१) जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे-घटकी उत्पत्तिमें मिट्टी। (२) अनादिकालसे द्रव्यमें

जो पर्यायोंका प्रवाह चला आ रहा है, उसमें अनन्तर पूर्वक्षणवर्त्ति पर्याय उपादान कारण है और अनतर उत्तर क्षणवर्त्ति पर्याय कार्य है। (३) उस समयकी पर्यायकी योग्यता वह उपादान कारण है और वह पर्याय कार्य है। उपादान वही सच्चा (वास्तविक) कारण है।

[नं० १ ध्रुव उपादान द्रव्यार्थिकनयसे है, नं २-३ क्षणिकउपादान पर्यायार्थिकनयसे है।]

प्रश्नः—योग्यता किसे कहते हैं?

उत्तरः—"योग्यतेव विषयप्रतिनियमकारणमिति" (न्याय दि० पृ० २७) योग्यता ही विषयका प्रतिनियामक कारण है [यह कथन ज्ञानकी योग्यता (सामर्थ्य) के लिये है परन्तु योग्यताका कारणपना सर्वमें सर्वत्र समान है]

(२) सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत ये 'योग्यता' शब्दके अर्थ हैं।

प्रश्नः—निमित्त कारण किसे कहते हैं?

उत्तरः—जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप न परिणमे, परन्तु कार्यकी उत्पत्ति में अनुकूल होनेका जिसमें आरोप आ सके उस पदार्थको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे—घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकार, दंड, चक्र आदि। (निमित्त यह सच्चा कारण नहीं है—अकारणवत् है क्योंकि यह उपचारमात्र अथवा व्यवहारमात्र कारण है)

उपादान कारण और निमित्तकी उपस्थितिका क्या नियम है ?

।(बनारसी विलासमें कथित दोहा—)

प्रश्न—(१) गुरु उपदेश निमित्त विन, उपादान बलहीन,
ज्यों नर दूजे पाव विन, चलवेको आधीन ॥ १ ॥

प्रश्नः—(२) हौं जाने था एक ही, उपादान सौं काज;
थकै सहाई पौन विन, पानीमांहि जहाज ॥ २ ॥

प्रथम प्रश्नका उत्तर—

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार;
उपादान निश्चय जहाँ, तहँ निमित्त व्यौहार ॥ ३ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप नेत्र और ज्ञानमें चरण अर्थात् लीनता-रूप क्रिया दोनों मिलकर मोक्षमार्ग जानो। उपादानरूप निश्चय कारण जहाँ हो वहाँ निमित्तरूप व्यवहार कारण होता ही है ॥ ३ ॥

भावार्थः—(१) उपादान वह निश्चय अर्थात् सच्चा कारण है, निमित्त तो मात्र व्यवहार अर्थात् उपचार कारण है, सच्चा कारण नहीं है, इसलिए तो उसे अकारणवत् कहा है। और उसे उपचार (-आरोप) कारण क्यों कहा कि वह उपादान का कुछ कार्य करते कराते नहीं, तो भी कार्यके समय उनकी उपस्थिति के कारण उसे उपचारमात्र कारण कहा है।

(२) सम्यग्ज्ञान और ज्ञानमें लीनताको मोक्षमार्ग जानो ऐसा कहा उसीमें शरीराश्रित उपदेश उपवासादिक क्रिया और शुभरागरूप व्यवहारको मोक्षमार्ग न जानो वह बात आजाती है।

प्रथम प्रश्नका समाधान—

उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय;
भेदज्ञान प्रमाण विधि, विरला बूझे कोय ॥ ४ ॥

अर्थः—जहाँ निजशक्तिरूप उपादान तैयार हो वहां पर निमित्त होते ही हैं, ऐसी भेदज्ञान प्रमाणकी विधि (-व्यवस्था) है, यह सिद्धांत कोई विरला ही समझता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जहां उपादानकी योग्यता हो वहां नियमसे निमित्त होता है, निमित्तकी राह देखना पड़े ऐसा नहीं है; और निमित्तको हम जुटा सकते ऐसा भी नहीं है। निमित्तकी राह देखनी पड़ती है या उसे मैं ला सकता हूँ ऐसी मान्यता-परपदार्थ में अभेद बुद्धि अर्थात् अज्ञान सूचक है। निमित्त और उपादान दोनों असहायरूप है यह तो मर्यादा है ॥ ४ ॥

उपादान बल जहँ तहाँ, नहीं निमित्तको दाव,
एक चक्रसों रथ चले, रविको यहै स्वभाव ॥५॥

अर्थः—जहां देखो वहा सदा उपादानका ही बल है निमित्त होते हैं परन्तु निमित्तका कुछ भी दाव (-वल) नहीं है जैसे एक चक्रसे सूर्यका रथ चलता है इस प्रकार प्रत्येक कार्य उपादानकी योग्यता (सामर्थ्य) से ही होता है ॥ ५ ॥

दूसरे प्रश्नका समाधान—

सधै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन,
ज्यों जहाज परवाहमें, तिरे सहज विन पौन ॥ ६ ॥

अर्थः—प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्रतासे अपनी अवस्थाको (कार्यको) प्राप्त करती है वहाँ निमित्त कौन ? जैसे जहाज प्रवाहमें सहज ही पवन विना ही तैरता है।

भावार्थः—जीव और पुद्गल द्रव्य शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामें स्वतन्त्रपनेसे ही अपने परिणामको करते हैं, अज्ञानी जीव भी स्वतन्त्रपनेसे निमित्ताधीन परिणमन करता है, कोई निमित्त उसे आधीन नहीं बना सकता ॥६॥

उपादान विधि निर्वचन, है निमित्त उपदेश,
बसे जु जैसे देशमें, करे सु तैसे भेष ॥ ७ ॥

अर्थः—उपादानका कथन एक "योग्यता" शब्द द्वारा ही होता है, उपादान अपनी योग्यता से अनेक प्रकार परिणमन करता है तब उपस्थित निमित्त पर भिन्न २ कारणपनेका आरोप (भेष) आता है इससे निमित्त द्वारा यह कार्य हुआ ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

भावार्थः—उपादान जब जैसे कार्यको करता है तब वैसे कारणपनेका आरोप (भेष) निमित्तपर आता है जैसे—कोई वज्रकायवान मनुष्य नर्कगति योग्य मलिन भाव करता है तो वज्रकाय पर नर्कका कारणपनेका आरोप आता है, और यदि जीव मोक्षयोग्य निर्मलभाव करता है तो उसी

निमित्तपर मोक्षकारणपनेका आरोप आता है। इस प्रकार उपादान के कार्यानुसार निमित्तमें कारणपनेका भिन्न भिन्न आरोप दिया जाता है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि निमित्तसे कार्य नहीं होता परन्तु कथन होता है। अतः उपादान सच्चा कारण है, और निमित्त आरोपित कारण है।

प्रश्नः—पुद्गलकर्म, योग, इन्द्रियोंके भोग, धन, घरके लोग, मकान इत्यादि इस जीवको राग-द्वेष परिणामके प्रेरक हैं?

उत्तरः—छहों द्रव्य सर्व अपने २ स्वरूपसे सदा असहाय (-स्वतंत्र) परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसीका प्रेरक कभी नहीं है, इसलिये किसी भी परद्रव्य राग-द्वेषके प्रेरक नहीं हैं परन्तु मिथ्यात्वमोहरूप मदिरापान है वही (अनंतानुबंधि) राग-द्वेषका कारण है।

प्रश्नः—पुद्गलकर्मकी जोरावरीसे जीवको राग-द्वेष करना पड़ता है; पुद्गलद्रव्य कर्मोंका भेष धर धर कर ज्यों २ बल करते हैं त्यों त्यों जीवको राग-द्वेष अधिक होते हैं यह बात सत्य है?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि जगतमें पुद्गलका संग तो हमेशा रहता है, यदि उनकी जोरावरीसे जीवको रागादि विकार हो तो शुद्धभावरूप होनेका कभी अवसर नहीं आसकता, इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि शुद्ध या अशुद्ध परिणमन करनेमें चेतन स्वयं समर्थ है।

(स० सार नाटक सर्वविशुद्धद्वार काव्य ६१ से ६६)

[निमित्तके कहीं प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद कहे हों तो वहां वे गमनक्रियावान या इच्छाआदिवान् हैं या नहीं ऐसा समझानेके लिये है, परन्तु उपादानके लिये तो सर्व प्रकारके निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन ही कहे हैं। [देखो श्री पूज्यपादाचार्यकृत इष्टोपदेश गा० ३५.]

प्रश्नः—निमित्तनैमित्तिक संबंध किसे कहते हैं?

उत्तरः—उपादान स्वतः कार्यरूप परिणमता है उस समय, भावरूप या अभावरूप कौन उचित (-योग्य) *निमित्त कारणका उसकी साथ सम्ब-

न्ध है यह बतानेके लिये उस कार्यको नैमित्तिक कहते हैं। इस तरहसे भिन्न भिन्न पदार्थोंके स्वतंत्र सम्बन्धको निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

(*देखो प्रश्न 'निमित्त')

[निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध परतन्त्रताका सूचक नहीं है, किन्तु नैमित्तिकके साथमें कौन निमित्तरूप पदार्थ है उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्यको नैमित्तिक कहा है उसीको उपादानकी अपेक्षा उपादेय भी कहते हैं।]

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके दृष्टांतः—

(१) केवलज्ञान नैमित्तिक है और लोकालोकरूप सब ज्ञेय निमित्त है, (प्रवचनसार गा० २६ की टीका)

(२) सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है और सम्यग्ज्ञानीका उपदेशादि निमित्त है, (आत्मानुशासन गा० १० की टीका)

(३) सिद्धदशा नैमित्तिक है और पुद्गलकर्मका अभाव निमित्त है, (समयसार गा० ८३ की टीका)

(४) "जैसे अधःकर्मसे उत्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (-मुनि) नैमित्तिकभूत बंधसाधक भावका प्रत्याख्यान (-त्याग) नहीं करता, इसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावको नहीं त्यागता" इसमें जीवका बंधसाधक भाव नैमित्तिक है और उस परद्रव्य निमित्त है। (स० सार गाथा० २८६-८७ की टीका)

पंचाध्यायी शास्त्रमें नयाभासोंके वर्णनमें 'जीव शरीरका कुछ कर सकता नहीं है—परस्पर बध्य-बंधकभाव नहीं है' ऐसा कहकर शरीर और आत्माको निमित्तनैमित्तिक भावका प्रयोजन क्या है उसके उत्तरमें 'प्रत्येक द्रव्य स्वयं और स्वतः परिणमन करता है वहां निमित्तपनेका कुछ प्रयोजन ही नहीं है ऐसा समाधान श्लोक ५७१ में कहा है।

श्लोक—अथचेद्वश्यमेतन्निमित्त नैमित्तिकत्वमस्ति मिथः।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥५७१

अन्वयार्थः—[अथ चेत] यदि कदाचित् यह कहा जाय कि [मिथः] परस्पर [एतन्निमित्तनैमित्तिकत्वं] इन दोनोंमें निमित्त और नैमित्तिकपना [अवश्यंअस्ति] अवश्य है तो इसप्रकार कहना भी [न] ठीक नहीं है, [यतः] क्योंकि [स्वयं] स्वयं [वा] अथवा [स्वतः] स्वतः [परिणममानस्य] परिणमन करनेवाली वस्तुको [निमित्ततया] निमित्तपनेसे [किं] क्या फायदा है अर्थात स्वतः परिणमनशील वस्तुको निमित्त कारणसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस विषयमें स्पष्टताके लिये पंचाध्यायी भाग २, श्लो० ५६५ से ५८५ तक देखना चाहिये।

प्रयोजनभूत

इसतरह छह द्रव्यका स्वरूप अनेक प्रकारसे वर्णन किया। इन छह द्रव्योंमें प्रतिसमय परिणमन होता है उसे, 'पर्याय' (हालत, अवस्था Condition) कहते हैं। धर्म-अधर्म-आकाश और काल इन चार द्रव्यों की पर्याय तो सदा शुद्ध ही है, अवशिष्ट जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्ध पर्याय होती है अथवा अशुद्ध पर्याय भी हो सकती है।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें से भी पुद्गल द्रव्यमें ज्ञान नहीं है, उसमें जानपना (ज्ञानत्व) नहीं इसीसे उसमें ज्ञानकी विपरीतरूप भूल नहीं; अतएव पुद्गलको सुख या दुःख नहीं होता। यथार्थ ज्ञानके द्वारा सुख और विपरीतज्ञानके द्वारा दुःख होता है, परन्तु पुद्गल द्रव्यमें ज्ञान गुण ही नहीं, इसीलिये उसके सुख दुःख नहीं; उसमें सुख गुण ही नहीं। ऐसा होने से तो पुद्गल द्रव्यके शुद्ध दशा हो या अशुद्धदशा, दोनों समान हैं। शरीर पुद्गल द्रव्य की अवस्था है इसलिये शरीरमें सुख दुःख नहीं होते। शरीर चाहे निरोग हो या रोगी, उसके साथ सुख दुःखका सम्बन्ध नहीं है।

अब शेष रहा जाननेवाला जीवद्रव्य

छहों द्रव्योंमें यह एक ही द्रव्य ज्ञानशक्तिवाला है। जीवमें ज्ञानगुण

है और ज्ञानका फल सुख है, इसीलिये जीवमें सुखगुण है। यदि यथार्थ ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभावको नहीं पहचानता और ज्ञानसे भिन्न अन्य वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करता है। यह उसके ज्ञानकी भूल है और उस भूलको लेकर ही जीवके दुःख है। जो अज्ञान है सो जीव की अशुद्ध पर्याय है, जीव की अशुद्ध पर्याय दुःखरूप है अतः उस दशाको दूर कर यथार्थ ज्ञानके द्वारा शुद्ध दशा करने का उपाय समझाया जाता है; क्योंकि सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख तो जीव की शुद्धदशामें ही है, इसलिये जो छह द्रव्य जाने उनमें से जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्योंके गुण पर्यायके साथ तो जीवको प्रयोजन नहीं है किन्तु जीवके अपने गुण पर्यायके साथ ही प्रयोजन है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र के
पाँचवें अध्याय की गुजराती टीका का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।



श्री उमास्वामिविरचित

मोक्ष शास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका







छठा अध्याय





टीका समाहक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ





मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

अध्याय छट्ठा



भूमिका

१—पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें सात तत्त्व कहे हैं और यह भी पहले अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है कि उन तत्त्वों की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है। दूसरे से पाँचवें अध्याय पर्यंत जीव और अजीव तत्त्वका वर्णन किया है। इस छट्ठे अध्याय और सातवें अध्यायमें आस्रव तत्वका स्वरूप समझाया गया है। आस्रवकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, जो यहाँ लागू होती है।

२—सात तत्त्वोंकी सिद्धि

(बृहद्द्रव्यसंग्रहके ७१-७२ वें पृष्ठ के आधार से)

इस जगतमें जीव और अजीव द्रव्य हैं और उनके परिणमनसे आस्रव बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व होते हैं। इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

अब यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव! (१) यदि जीव तथा अजीव ये दोनों द्रव्य एकांत से (-सर्वथा) परिणामी ही हों तो उनके संयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है, और (२) यदि वे सर्वथा अपरिणामी हों तो जीव और अजीव द्रव्य ऐसे दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। यदि ऐसा है तो आस्रवादि तत्त्व किस तरह सिद्ध होते हैं?

श्री गुरु इसका उत्तर देते हैं—जीव और अजीव द्रव्य 'कथंचित परिणामी' होने से अवशिष्ट पाँच तत्त्वोंका कथन न्याययुक्त सिद्ध होता है।

(१) अब यह कहा जाता है कि 'कथंचित् परिणामित्व' का क्या अर्थ है? जैसे स्फटिक यद्यपि स्वभावसे निर्मल है तथापि जपा-पुष्प आदि के सामीप्यसे अपनी योग्यताके कारण से पर्यायांतर परिणति ग्रहण करती है। यद्यपि स्फटिकमणि पर्यायमें उपाधिका ग्रहण करती है तो भी निश्चय से अपना जो निर्मल स्वभाव है उसे वह नहीं छोड़ती। इसीप्रकार जीवका स्वभाव भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे तो सहज शुद्ध चिदानंद एकरूप है, परन्तु स्वयं अनादि कर्मबंधरूप पर्यायके वशीभूत होने से वह रागादि परद्रव्य उपाधि पर्यायको ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर्यायमें परपर्याय रूपसे (पर द्रव्यके आलंबन से हुई अशुद्ध पर्याय रूपसे) परिणमता है तथापि निश्चय नयसे शुद्ध स्वरूपको नहीं छोड़ता। ऐसा ही पुद्गल द्रव्यका भी होता है। इस कारणसे जीव-अजीवका परस्पर सापेक्ष परिणमन होना वही 'कथंचित् परिणामित्व' शब्दका अर्थ है।

(२) इसप्रकार 'कथंचित् परिणामित्व' सिद्ध होने पर जीव और पुद्गलके संयोग की परिणति (-परिणाम) से बने हुये बाकी के आस्रवादि पांच तत्त्व सिद्ध होते हैं। जीवमें आस्रवादि पांच तत्त्वोंके परिणमनके समय पुद्गलकर्मरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है और पुद्गलमें आस्रवादि पाँच तत्त्वोंके परिणमनमें जीव के भावरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है। इसी से ही सात तत्त्वोंको 'जीव और पुद्गलके संयोग की परिणतिसे रचित' कहा जाता है। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीव और पुद्गलकी एकत्रित परिणति होकर बाकी के पाँच तत्त्व होते हैं।

पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्योंको इन पाँच तत्त्वोंमें मिलाने पर कुल सात तत्त्व होते हैं, और उसमें पुण्य-पापको यदि अलग गिना जावे तो नव पदार्थ होते हैं। पुण्य और पाप नामके दो पदार्थोंका अंतर्भाव (समावेश) अभेद नयसे यदि जीव आस्रव-बंध पदार्थमें किया जावे तो सात तत्त्व कहे जाते हैं।

३— सात तत्त्वोंका प्रयोजन

(बृहत् द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ७२-७३ के आधार से)

शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन्! यद्यपि जीव अजीव के कथंचित् परिणामित्व मानने पर भेद प्रधान पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सात तत्त्व सिद्ध होगये, तथापि उनसे जीवका क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? क्योंकि जैसे अभेद नयसे पुण्य पाप इन दो पदार्थोंका पहले सात तत्त्वोंमें अंतर्भाव किया है उसी तरह से विशेष अभेदनयकी विवक्षासे आस्रवादि पदार्थोंका भी जीव और अजीव इन दो ही पदार्थोंमें अंतर्भाव कर लेनेसे ये दो ही पदार्थ सिद्ध हो जाँयगे।

श्री गुरु इस प्रश्नका समाधान करते हैं—कौन तत्त्व हेय हैं और कौन तत्त्व उपादेय हैं इसका परिज्ञान हो, इस प्रयोजनसे आस्रवादि तत्त्वोंका निरूपण किया जाता है।

अब यह कहते हैं कि हेय और उपादेय तत्त्व कौन हैं? जो अक्षय अनंत सुख है वह उपादेय है, उसका कारण मोक्ष है, मोक्षका कारण संवर और निर्जरा है; उसका कारण विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावसे निज आत्म तत्त्व स्वरूपके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण लक्षण स्वरूप निश्चय रत्नत्रय है। उस निश्चय रत्नत्रय की साधना चाहनेवाले जीवको व्यवहार रत्नत्रय क्या है यह समझकर विपरीत अभिप्राय छोड़कर परद्रव्य तथा राग परसे अपना लक्ष्य हटाकर निज आत्माके त्रैकालिक स्वरूपकी ओर अपना लक्ष्य ले जाना चाहिये अर्थात् स्वसंवेदन-स्व सन्मुख होकर स्वानुभूति प्रगट करना चाहिये। ऐसा करने से निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसके बलसे संवर, निर्जरा तथा मोक्ष प्रगट होता है; इसलिये ये तीन तत्त्व उपादेय हैं।

अब यह बतलाते हैं कि हेय तत्त्व कौन हैं? आकुलताको उत्पन्न करनेवाले ऐसे निगोद-नरकादि गतिके दुःख तथा इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुये जो कल्पित सुख हैं सो हेय (छोड़ने योग्य) हैं, उसका कारण स्वभावसे

च्युतिरूप संसार है, संसारके कारण आस्रव तथा बंध ये दो तत्व हैं; पुण्य पाप दोनों बंध तत्व हैं; उस आस्रव तथा बंधके कारण, पहले कहे हुए निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रयसे विपरीत लक्षण के धारक ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन हैं। इसीलिये आस्रव और बंध तत्व हेय हैं।

इसप्रकार हेय और उपादेय तत्वोंका ज्ञान होने के लिये ज्ञानीजन सात तत्वोंका निरूपण करते हैं।

४. तत्त्व की श्रद्धा कब हुई कही जाय ?

(१) जैन शास्त्रोंमें कहे हुए जीवके त्रस-स्थावर आदि भेदों को, गुणस्थान मार्गणा इत्यादि भेदों को तथा जीव पुद्गल आदि भेदों को तथा वर्णादि भेदोंको तो जीव जानता है, किन्तु अध्यात्म शास्त्रोंमें भेद विज्ञान के कारणभूत और वीतरागदशा होने के कारणभूत वस्तुका जैसा निरूपण किया है वैसा जो नहीं जानता, उसके जीव और अजीव तत्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(२) पुनश्च, किसी प्रसंग से भेद विज्ञानके कारणभूत और वीतरागदशाके कारणभूत वस्तुके निरूपणका जाननामात्र शास्त्रानुसार हो, परन्तु निजको निजरूप जानकर उसमें परका अंश भी (मान्यतामें) न मिलाना तथा निजका अंश भी (मान्यतामें) परमें न मिलाना; जहाँतक जीव ऐसा श्रद्धान न करे वहाँतक उसके जीव और अजीव तत्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं।

(३) जिस प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि विना निश्चय के (निर्णय रहित) पर्याय बुद्धिसे (-देहदृष्टिसे) ज्ञानत्वमें तथा वर्णादिमें अहंबुद्धि धारण करता है, उसी प्रकार जो जीव आत्माश्रित ज्ञानादिमें तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादि क्रियामें निजत्व मानता है तो उसके जीव-अजीव तत्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है। ऐसा जीव किसी समय शास्त्रानुसार यथार्थ बात भी कहे परन्तु वहां उसके अंतरंग निश्चयरूप श्रद्धा नहीं है, इसीलिये जिस तरह नशा

युक्त मनुष्य माता को माता कहे तो भी वह समझदार नहीं है, उसी तरह यह जीव भी सम्यग्दृष्टि नहीं।

(४) पुनश्च, यह जीव जैसे किसी दूसरे की ही बात करता हो वैसे ही आत्माका कथन करता है, परन्तु 'यह आत्मा मैं हो हूँ' ऐसा भाव उसके प्रतिभासित नहीं होता। और फिर जैसे किसी दूसरे को दूसरे से भिन्न बतलाता हो वैसे ही वह इस आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है, परन्तु 'मैं इन शरीरादिकसे भिन्न हूँ' ऐसा भाव उसके नहीं भासता, इसीलिये उसके जीव अजीव की यथार्थ श्रद्धा नहीं।

(५) पर्यायमें (वर्तमान दशामें) जीव पुद्गलके परस्पर के निमित्त से अनेक क्रियायें होती हैं, उन सबको दो द्रव्योंके मिलापसे बनी हुई मानता है, किंतु उसके ऐसा भिन्न भिन्न भाव नहीं भासता कि 'यह जीव की क्रिया है और यह पुद्गलकी क्रिया है।' ऐसा भिन्न भाव भासे बिना उसको जीव अजीवका यथार्थ श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव अजीव के जानने का प्रयोजन तो यही था, जो कि इसे हुआ नहीं।

(देखो देहली सस्ती ग्रन्थमालाका मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृ० ३३१)

(६) पहले अध्यायके ३२ वें सूत्रमें ✲ यह कहा है वह समझकर विपरीत अभिप्राय रहित होकर सत् असत्का भेद ज्ञान करना चाहिये जहाँ तक ऐसी यथार्थ श्रद्धा न हो वहाँ तक जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। उसमें 'सत्' शब्दसे यह समझने के लिये कहा है कि जीव स्वयं त्रिकाली शुद्ध चैतन्य स्वरूप क्यों है और 'असत्' शब्दसे यह बताया है कि जीवमें होनेवाला विकार जीवमें से दूर किया जा सकता है, इसलिये वह पर है। पर पदार्थ और आत्मा भिन्न होने से कोई परका कुछ कर नहीं सकता, आत्माकी अपेक्षा से पर पदार्थ असत् हैं—नास्तिरूप हैं। जब ऐसा यथार्थ समझे तभी जीवके सत्-असत् के विशेष का यथार्थ ज्ञान होता है। जीवके जहाँ तक ऐसा ज्ञान न हो वहा तक आस्रव दूर नहीं होता, जहातक जीव अपना और आस्रवका भेद नहीं जानता वहा तक उसके विकार दूर नहीं

✲ सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

होता। इसीलिये यह भेद समझाने के लिये छट्ठे और सातवें अध्यायमें आस्रव का स्वरूप कहा है।

यह आस्रव अधिकार है; इसमें प्रथम योगके भेद और उसका स्वरूप कहते हैं

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥ १ ॥

अर्थः—[कायवाङ्मनः कर्म] शरीर, वचन और मनके अवलंबनसे (-निमित्त से) आत्मा के प्रदेशोंका सकंप होना सो [योगः] योग है।

टीका

१—आत्माके प्रदेशोंका सकंप होना सो योग है; सूत्रमें जो योग के तीन भेद कहे हैं वे निमित्त की अपेक्षासे हैं। उपादान रूप योगमें तीन भेद नहीं हैं, किन्तु एक ही प्रकार है। दूसरी तरह से-योग के दो भेद किये जा सकते हैं—१—भाव योग और २—द्रव्य योग। कर्म, नोकर्मके ग्रहण करने में निमित्तरूप आत्माकी शक्ति विशेषको भावयोग कहते हैं और उस शक्तिके कारणसे जो आत्माके प्रदेशोंका सकंप होना सो द्रव्य योग है (यहां 'द्रव्य' का अर्थ 'आत्म द्रव्यके प्रदेश' होता है)

२—यह आस्रव अधिकार है। जो योग है सो आस्रव है,-ऐसा दूसरे सूत्रमें कहेंगे। इस योग के दो प्रकार हैं-१-सकषाययोग और २ अकषाययोग। (देखो सूत्र ४ था)

३—यद्यपि भावयोग एक ही प्रकारका है तोभी निमित्त की अपेक्षा से उसके १५ भेद होते हैं; जब यह योग मन की ओर झुकता है तब उसमें मन निमित्त होने से, योग और मनका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शाने के लिये, उस योगको मनोयोग कहा जाता है। इसी प्रकार से जब वचन की ओर झुकाव होता है तब वचनयोग कहा जाता है और जब कायकी ओर झुकाव होता है तब काययोग कहा जाता है। इसमें मनोयोग के ४, वचन-

योगके ४ और काययोग के ७ भेद हैं, इस तरह निमित्त की अपेक्षा से भाव योग के कुल १५ भेद होते हैं।

(जैन सिद्धांत प्रवेशिका प्रश्न २२०, ४३२, ४३३)

४—आत्मा के अनंतगुणोंमें एक योग गुण है, यह अनुजीवी गुण है। इस गुणकी पर्यायमें दो भेद होते हैं १-परिस्पंदरूप अर्थात् आत्म प्रदेशोंका कंपनरूप और २-आत्म प्रदेशों की निश्चलतारूप-निष्कंपरूप। प्रथम प्रकार योगगुण की अशुद्ध पर्याय है और दूसरा भेद योगगुण की शुद्ध पर्याय है।

इस सूत्रमें योगगुण की कंपनरूप अशुद्ध पर्यायको 'योग' कहा है।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थः—[सः] वह योग [आस्रवः] आस्रव है।

टीका

१—आगे चौथे सूत्रमें यह कहेंगे कि सकषाययोग और अकषाय-योग आस्रव अर्थात् आत्मा का विकारभाव है।

२—कितने ही जीव कषायका अर्थ क्रोध मान माया-लोभ करते हैं किन्तु यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। मोह के उदयमें युक्त होने पर जीवके मिथ्यात्व क्रोधादि भाव होता है सामान्यरूपसे उस सबका नाम 'कषाय' है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४०) सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व भाव नहीं अर्थात् उसके जो क्रोधादि भाव हो सो कषाय है।

३—योग की क्रिया नवीन कर्मके आस्रवका निमित्त कारण है। इस सूत्रमें कहे हुये 'आस्रव' शब्दमें द्रव्यास्रव का समावेश होता है। योग की क्रिया तो निमित्त कारण है, इसमें पर द्रव्यके द्रव्यास्रव रूप कार्य का उपचार करके इस सूत्रमें योग की क्रिया को ही आस्रव कहा है।

एक द्रव्यके कारणको दूसरे द्रव्य के कार्य में मिलाकर व्यवहार नय से कथन किया जाता है। यह पद्धति यहां ग्रहण करके जीवके भावयोग की क्रिया रूप कारणको द्रव्यकर्मके कार्यमें मिलाकर इस सूत्रमें कथन किया है; ऐसे व्यवहार नयको इस शास्त्रमें नैगमनयसे कथन किया कहा जाता है; क्योंकि योग की क्रियामें द्रव्य कर्मरूप कार्यका संकल्प किया गया है।

४—प्रश्न—आस्रवको जानने की आवश्यकता क्या है ?

उत्तरः—दुःखका कारण क्या है यह जाने विना दुःख दूर नहीं किया जा सकता; मिथ्यात्वादिक भाव स्वयं ही दुःखमय हैं, उसे जैसा है यदि वैसा न जाने तो जीव उसका अभाव भी न करेगा और इसीलिये जीव के दुःख ही रहेगा; इसलिये आस्रवको जानना आवश्यक है।

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ११२)

५—प्रश्न—जीवकी आस्रव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा अनादि से क्यों है ?

उत्तरः—मिथ्यात्व और शुभाशुभ रागादिक प्रगट रूपसे दुःख के देनेवाले हैं तथापि उनके सेवन करने से सुख होगा ऐसा मानना सो आस्रव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

६—प्रश्नः—सूत्र १-२ मे योग को आस्रव कहा है और अन्यत्र तो मिथ्यात्वादिको आस्रव कहा है,-इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—चौथे सूत्रमें यह स्पष्ट कहा है कि योग दो प्रकार का है-सकषाययोग और अकषाययोग; इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि सकषाय योगमें मिथ्यात्वादि का समावेश हो जाता है।

७—इन दोनों प्रकार के योगोंमें से जिस पदमें जो योग हो वह जीव की विकारी पर्याय है, इसका निमित्त पाकर आत्म प्रदेशमें नवीन द्रव्यकर्म आते हैं, इसीलिये यह योग द्रव्यास्रवका निमित्त कारण कहा जाता है।

८-प्रश्नः—पहले योग दूर होता है या मिथ्यात्वादि दूर होते हैं ?

उत्तरः—सबसे पहले मिथ्यात्व भाव दूर होता है। योग तो चौदहवें अयोग केवली गुणस्थानमें दूर होता है। यद्यपि तेरहवें गुणस्थानमें ज्ञान वीर्यादि सपूर्ण प्रगट होते हैं तथापि योग होता है, इसलिये पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिये और मिथ्यात्व दूर होने पर उसके सम्बन्धित योग सहज ही दूर होता है।

९—सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय नहीं होने से उसके उस प्रकार का भाव आस्रव होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व दूर हो जाने से अनंतानुबंधी कषायका तथा अनंतानुबंधी कषाय के साथ संबंध रखनेवाले अविरति और योगभाव का अभाव हो जाता है (देखो समयसार गा० १७६ का भावार्थ)। और फिर मिथ्यात्व दूर हो जाने से उसके साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बंध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसार का कारण नहीं हैं। जड़से काटे गये वृक्षके हरे पत्तोंकी तरह वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं। संसार का मूल अर्थात् संसार का कारण मिथ्यात्व ही है। (पाटनी ग्रन्थमाला समयसार गा० १९८ पृ० २५८)

अब योगके निमित्त से आस्रव के भेद बतलाते हैं

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—[शुभः] शुभयोग [पुण्यस्य] पुण्य कर्मके आस्रवमें कारण है और [अशुभः] अशुभ योग [पापस्य] पाप कर्म के आस्रवमें कारण है।

टीका

१—योगमें शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं, किन्तु आचरणरूप उपयोगमें (चारित्र गुण की पर्यायमें) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है, इसीलिये शुभोपयोग के साथ के उपयोगको उपचार से शुभोपयोग

कहते हैं और अशुभोपयोगके साथ के उपयोग को उपचार से अशुभोपयोग कहा जाता है।

२—पुण्यास्रव और पापास्रवके संबंधमें होनेवाली विपरीतता

प्रश्नः—मिथ्यादृष्टि जीव की आस्रव संबंधी क्या विपरीतता है?

उत्तरः—आस्रव तत्त्वमें जो हिंसादिक पापास्रव है उसे तो जीव हेय जानता है किंतु जो अहिंसादिरूप पुण्यास्रव है उसे उपादेय मानता है; भला मानता है, अब ये दोनों आस्रव होने से कर्म बंधके कारण हैं, उनमें उपादेयत्व मानना ही मिथ्यादर्शन है। सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख, अपने अपने कर्मोदयके निमित्तसे होता है तथापि जहां ऐसा मानना कि अन्य जीव अन्य जीव के कार्योंका कर्ता होता है, यही मिथ्याध्यवसाय बंधका कारण है। अन्य जीवके जिलाने या सुखी करने का जो अध्यवसाय हो सो तो पुण्य बंधके कारणरूप है और जो मारने या दुःखी करने का अध्यवसाय होता है वह पाप बंधके कारणरूप है। यह सब मिथ्या-अध्यवसाय है वह त्याज्य है; इसलिये हिंसादिक की तरह अहिंसादिक को भी बंध के कारण रूप जानकर हेय समझना। हिंसामें प्रस्तुत जीवके मारने की बुद्धि हो उसकी आयु पूर्ण हुये विना वह नहीं मरता और अपनी द्वेष परिणतिसे स्वयं ही पाप बंध करता है, तथा अहिंसामें पर की रक्षा करने की बुद्धि हो किन्तु उसकी आयुके अवशेष न होने से वह नहीं जीता, मात्र अपनी शुभराग परिणति से स्वयं ही पुण्य बाँधता है। इस तरह ये दोनों हेय हैं। किन्तु जहाँ जीव वीतराग होकर दृष्टा ज्ञाता रूप होवे वहाँ ही निर्बंधता है, इसलिये वह उपादेय है।

जहाँतक ऐसी निर्बंधदशा न हो वहाँतक जीवके शुभराग होता है परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखना चाहिये कि यह भी बंधका कारण है—हेय है—अधर्म है। यदि जीव श्रद्धानमें उसे मोक्ष का मार्ग जाने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३१-३३२)

३—शुभयोग तथा अशुभयोग के अर्थ

शुभयोग—पंच परमेष्ठी की भक्ति, प्राणियोंके प्रति उपकारभाव, रक्षाभाव, सत्य बोलने का भाव, परधन हरण न करने का भाव,—इत्यादि शुभ परिणाम से निर्मित योगको शुभयोग कहते हैं।

अशुभयोग—जीवों की हिंसा करना, असत्य बोलना, परधन हरण करना, ईर्ष्या करना,—इत्यादि भावोंरूप अशुभ परिणाम से बने हुये योगको अशुभयोग कहते हैं।

४—आस्रवमें शुभ और अशुभभेद क्यों ?

प्रश्नः—आत्माके पराधीन करने में पुण्य और पाप दोनों समान कारण हैं—सोने की साकल और लोहे की साकल की तरह पुण्य और पाप दोनों आत्मा की स्वतंत्रता का अभाव करने में समान हैं, तो फिर उसमें शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद क्यों कहे हैं ?

उत्तरः—उनके कारणसे मिलनेवाली इष्ट-अनिष्ट गति, जाति इत्यादि की रचना के भेदका ज्ञान कराने के लिये उसमें भेद कहे हैं—अर्थात् संसार की अपेक्षा से भेद है, धर्म की अपेक्षा से भेद नहीं, अर्थात् दोनों प्रकार के भाव 'अधर्म' हैं।

५—शुभ तथा अशुभ दोनों भावोंसे सात या आठ कर्म बँधते हैं तथापि यहाँ ऐसा क्यों नहीं कहा ?

प्रश्नः—रागी जीवके आयुके अतिरिक्त सातों कर्मका निरंतर आस्रव होता है तथापि इस सूत्रमें शुभ परिणामको पुण्यास्रव का ही कारण और अशुभ परिणामको पापास्रवका ही कारण क्यों कहा ?

उत्तरः—यद्यपि संसारी रागी जीवके सातों कर्मका निरंतर आस्रव होता है, तथापि संक्लेश (—अशुभ) परिणाम से देव, मनुष्य और तिर्यंच आयुके अतिरिक्त १४८ प्रकृतियों की स्थिति बढ़ जाती है और मंद (शुभ)

परिणामसे उन समस्त कार्यों की स्थिति घट जाती है और उपरोक्त तीन आयुकी स्थिति बढ़ जाती है।

और फिर तीव्र कषायसे शुभ प्रकृतिका रस तो घट जाता है और असातावेदनीयादिक अशुभ प्रकृतिका रस अधिक हो जाता है। मंद कषाय से पुण्य प्रकृतिमें रस बढ़ता है और पाप प्रकृतिमें रस घटता है; इसलिये स्थिति तथा रस (-अनुभाग) की अपेक्षासे शुभ परिणामको पुण्यास्रव और अशुभ परिणामको पापास्रव कहा है।

६—शुभ अशुभ कर्मोंके बँधने के कारण से शुभ—अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं

प्रश्नः—शुभ परिणामके कारणसे शुभयोग और अशुभ परिणामके कारणसे अशुभयोग है ऐसा मानने के स्थानपर यह माननेमें क्या बाधा है कि शुभ अशुभ कर्मोंके बंधके निमित्तसे शुभ-अशुभ भेद होता है?

उत्तरः—यदि कर्मके बंधके अनुसार योग माना जायगा तो शुभयोग ही न रहेगा, क्योंकि शुभयोगके निमित्तसे ज्ञानावरणादि अशुभ कर्म भी बँधते हैं; इसीलिये शुभ-अशुभ कर्म बंधने के कारणसे शुभ-अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं। परन्तु ऐसा मानना न्याय संगत है कि मंद कषायके कारणसे शुभ-योग और तीव्र कषायके कारणसे अशुभयोग है।

७—शुभभाव से पापकी निर्जरा नहीं होती

प्रश्न—यह तो ठीक है कि शुभभावसे पुण्यका बंध होता है, किंतु ऐसा मानने में क्या दोष है कि उससे पापकी निर्जरा होती है?

उत्तरः—इस सूत्रमें कही हुई तत्त्व दृष्टिसे देखने पर यह मान्यता भूल भरी है। शुभभावसे पुण्यका बंध होता है, बंध संसारका कारण है, और जो संवर पूर्वक निर्जरा है सो धर्म है। यदि शुभभावसे पापकी निर्जरा मानें तो वह (शुभभाव) धर्म हुआ और धर्मसे बंध कैसे होगा? इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं कि शुभभावसे पुराने पाप कर्मकी निर्जरा होती है

(–आत्म प्रदेशसे पापकर्म खिर जाता है।) निर्जरा शुद्धभावसे ही होती है अर्थात् तत्त्वदृष्टिके विना संवर पूर्वक निर्जरा नहीं होती।

८—तीसरे सूत्रका सिद्धांत

शुभभाव और अशुभभाव दोनों कषाय हैं, इसीलिये वे संसारके कारण हैं। शुभभाव बढ़ते २ उससे शुद्धभाव नहीं हो सकता। जब शुद्धके लक्ष्यसे शुभको दूर करे तब शुद्धता हो। जितने अंशमें शुद्धता प्रगट होती है उतने अंशमें धर्म है। ऐसा मानना ठीक है कि शुभ या अशुभमें धर्मका अंश भी नहीं है। ऐसी मान्यता किये विना सम्यग्दर्शन कभी नहीं होता। कितनेक ऐसा मानते हैं कि जो शुभयोग है सो संवर है, यह यथार्थ नहीं है, —ऐसा बताने के लिये इस सूत्रमें स्पष्ट रूपसे दोनों योगोंको आस्रव कहा है ॥ ३ ॥

अब इसका खुलासा करते हैं कि आस्रव सर्व संसारियोंके समान फलका कारण होता है या इसमें विशेषता है

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थः—[सकषायस्य साम्परायिकस्य] कषाय सहित जीवके संसारके कारण रूप कर्मका आस्रव होता है और [अकषायस्य ईर्यापथस्य] कषायरहित जीवके स्थितिरहित कर्मका आस्रव होता है।

टीका

१—कषायका अर्थ मिथ्यादर्शन—क्रोधादि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके मिथ्यादर्शनरूप कषाय नहीं होती अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवों के लागू होने वाला कषायका अर्थ 'चारित्रमें अपनी कमजोरीसे होनेवाले क्रोध मान माया लोभ इत्यादि' ऐसा समझना। मिथ्यादर्शनका अर्थ है आत्माके स्वरूप की मिथ्या मान्यता—विपरीत मान्यता।

२—साम्परायिक आस्रव—यह आस्रव संसारका ही कारण है। मिथ्यात्व भावरूप आस्रव अनंत संसारका कारण है; मिथ्यात्वका अभाव होने के बाद होनेवाला आस्रव अल्प संसारका कारण है।

३—ईर्यापथ आस्रव—यह आस्रव स्थिति और अनुभागरहित है और यह अकषायी जीवोंके ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें होता है। चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीव अकषायी और अयोगी दोनों हैं, इसलिये वहाँ आस्रव है ही नहीं।

४—कर्मबंधके चार भेद

कर्मबंधके चार भेद हैं; प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग। इनमें पहले दो प्रकारके भेदोंका कारण योग है और अंतिम दो भेदोंका कारण कषाय है। कषाय, संसारका कारण है और इसीलिये जहाँतक कषाय हो वहांतक के आस्रवको साम्परायिक आस्रव कहते हैं; और कषाय दूर होने के बाद अकेला योग रहता है। कषाय रहित योग से होनेवाले आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। आत्माके उस समयका प्रगट होनेवाला जो भाव है सो भाव-ईर्यापथ है और द्रव्यकर्मका जो आस्रव है सो द्रव्य-ईर्यापथ है। इसी तरह भाव और द्रव्य ऐसे दो भेद साम्परायिक आस्रवमें भी समझ लेना। ११ से १३ वें गुणस्थान पर्यंत ईर्यापथ आस्रव होता है, उससे पहले के गुणस्थानोंमें सांपरायिक आस्रव होता है।

जिसप्रकार वड़का फल आदि वस्त्रके कषायले रंगमें निमित्त होता है उसीतरह मिथ्यात्व, क्रोधादिक आत्माके कर्म-रंग लगने का निमित्त है, इसीलिये उन भावों को कषाय कहा जाता है। जैसे कोरे घड़ेको रज लगकर चली जाती है उसी तरह कषाय-रहित आत्माके कर्म-रज उड़कर उसी समय चली जाती हैं,—इसीको ईर्यापथ आस्रव कहा जाता है।

साम्परायिक आस्रवके ३९ भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशति-संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

अर्थः—[इन्द्रियाणि पंच] स्पर्शन आदि पाँच इंद्रियां, [कषायाः चतुः] क्रोधादि चार कषाय, [अव्रतानि पंच] हिंसा इत्यादि पांच अव्रत और

[क्रियाः पंचविंशतिः] सम्यक्त्व आदि पच्चीस प्रकार की क्रियायें [संख्याभेदाः] इस तरह कुल ३९ भेद [पूर्वस्य] पहले (सांपरायिक) आस्रवके हैं, अर्थात् इन सर्व भेदोंके द्वारा सांपरायिक आस्रव होता है।

टीका

१—इंद्रिय—दूसरे अध्यायके १५ से १९ वें सूत्रमें इंद्रियका विषय आ चुका है। पुद्गल इन्द्रिया पर द्रव्य हैं, उससे आत्माको लाभ या हानि नहीं होती, मात्र भावेन्द्रियके उपयोगमें वह निमित्त होता है। इंद्रियका अर्थ होता है भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और इंद्रियका विषय, ये तीनों ज्ञेय हैं, ज्ञायक आत्माके साथ उनके जो एकत्वकी मान्यता है सो (मिथ्यात्वभाव) ज्ञेय ज्ञायक संकरदोष है। (देखो श्री समयसार गाथा ३१ टीका)

कषाय—रागद्वेषरूप जो आत्मा की प्रवृत्ति है सो कषाय है। यह प्रवृत्ति तीव्र और मंदके भेद से दो प्रकार की होती है।

अव्रत—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच प्रकार के अव्रत हैं।

२—क्रिया—आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दरूप जो योग है सो क्रिया है; इसमें मन, वचन और काय निमित्त होता है। यह क्रिया सकषाय योगमें दशवें गुणस्थान तक होती है। पौद्गलिक मन, वचन या कायकी कोई भी क्रिया आत्माकी नहीं है, और न आत्माको लाभकारक या हानिकारक है। जब आत्मा सकषाय योगरूपसे परिणमे और नवीन कर्मोंका आस्रव हो तब आत्माका सकषाय योग उस पुद्गल आस्रवमें निमित्त है और पुद्गल स्वयं उस आस्रवका उपादान कारण है; भावास्रवका उपादान कारण आत्माकी उस २ अवस्थाकी योग्यता है और निमित्त पुराने कर्मोंका उदय है।

३—पच्चीस प्रकारकी क्रियाओंके नाम और उनके अर्थ

(१) सम्यक्त्व क्रिया—चैत्य; गुरु और प्रवचन (-शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्योंसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है, इसीलिये यह सम्यक्त्व क्रिया

है। यहाँ मन. वचन, कायकी जो क्रिया होती है वह सम्यक्त्वी जीवके शुभ भावमें निमित्त है; वे शुभभावको धर्म नहीं मानते, इसीलिये इस मान्यताकी दृढ़ता के द्वारा उसके सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है; इसलिये यह मान्यता आस्रव नहीं, किन्तु जो सकषाय (शुभभाव सहित) योग है सो भाव-आस्रव है; वह सकषाय योग द्रव्यकर्मके आस्रवमें मात्र निमित्त कारण है।

(२) मिथ्यात्वक्रिया—कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रके स्तवनादिरूप मिथ्यात्वकी कारणवाली क्रियायें जो अभिरुचि है सो मिथ्यात्व क्रिया है।

(३) प्रयोगक्रिया—हाथ, पैर इत्यादि चलाने के भावरूप इच्छा-रूप जो क्रिया है सो प्रयोगक्रिया है।

(४) समादान क्रिया—संयमी पुरुषका असंयमके सन्मुख होना सो समादान क्रिया है।

(५) ईर्यापथ क्रिया—समादान क्रियासे विपरीत क्रिया अर्थात् संयम बढ़ाने के लिये साधु जो क्रिया करता है वह ईर्यापथ क्रिया है। ईर्या-पथ पांच समितिरूप है; उसमें जो शुभ भाव है सो ईर्यापथ क्रिया है [समिति का स्वरूप ९ वें अध्यायके ५ वें सूत्रमें कहा जायगा।]

अब पांच क्रियाऐं कही जाती है, इसमें पर हिंसा के भाव की मुख्यता है

(६) प्रादोषिक क्रिया—क्रोधके आवेशसे द्वेषादिक रूप बुद्धि करना सो प्रादोषिक क्रिया है।

(७) कायिकी क्रिया—उपर्युक्त दोष उत्पन्न होनेपर हाथसे मारना, मुखसे गाली देना, इत्यादि प्रवृत्तिका जो भाव है सो कायिकी क्रिया है।

(८) अधिकरणिकी क्रिया—हिंसा के साधनभूत बंदूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना सो सब अधिकरणिकी क्रिया है।

(९) परिताप क्रिया—दूसरे को दुःख देने में लगना सो परिताप क्रिया है।

(१०) प्राणातिपात क्रिया—दूसरे के शरीर, इन्द्रिय या श्वासोच्छ्वासको नष्ट करना सो प्राणातिपात क्रिया है।

नोट —यह व्यवहार कथन है इसका अर्थ ऐसा समझना कि जीव जब निजमें इसप्रकार के भाव करता है तब इस क्रियामें बताई गई पर वस्तुयें स्वय बाह्य निमित्तरूपसे होती हैं। ऐसा नहीं मानना कि जीव परपदार्थका कुछ कर सकता है या परपदार्थ जीवका कुछ कर सकते हैं।

अब ११ से १५ तककी ५ क्रियायें कहते हैं। इनका सम्बन्ध इन्द्रियोंके भोगों के साथ है

(११) दर्शन क्रिया—सौंदर्य देखनेकी इच्छा है सो दर्शनक्रिया है।

(१२) स्पर्शन क्रिया—किसी चीजके स्पर्श करने की जो इच्छा है सो स्पर्शन क्रिया है (इसमें अन्य इन्द्रियों सबधी वाछाका समावेश समझना चाहिये)

(१३)प्रात्ययिकी क्रिया—इन्द्रियके भोगोंकी वृद्धिके लिये नवीन नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना सो प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) समंतानुपात क्रिया—स्त्री, पुरुष तथा पशुओंके उठने बैठने के स्थानको मलमूत्रसे खराब करना सो समतानुपात क्रिया है।

(१५) अनाभोग क्रिया –बिना देखी या बिना शोधी जमीन पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना उठाना सो अनाभोग क्रिया है।

अब १६ से २० तक की पाच क्रियायें कहते हैं, ये उच्च धर्माचरणमें धक्का पहुँचानेवाली हैं

(१६) स्वहस्त क्रिया जो काम दूसरे के योग्य हो उसे स्वय करना सो स्वहस्त क्रिया है।

(१७) निसर्ग क्रिया– पापके साधनोंके लेन देने में सम्मति देना सो निसर्ग क्रिया है।

65

(१८) विदारण क्रिया—आलस्यके वश हो अच्छे काम न करना और दूसरे के दोष प्रकट करना सो विदारण क्रिया है।

(१९) आज्ञाव्यापादिनी क्रिया—शास्त्रकी आज्ञाका स्वयं पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

(२०) अनाकांक्षा क्रिया—उन्मत्तपन या आलस्यके वश हो प्रवचन (शास्त्रों) में कही गई आज्ञाओंके प्रति आदर या प्रेम न रखना सो अनाकांक्षा क्रिया है।

अब अंतिम पांच क्रियायें कहते हैं, इनके होने से धर्म धारण करने में विमुखता रहती है

(२१) आरंभ क्रिया—हानिकारक कार्योंमें रुकना, छेदना, तोड़ना, भेदना या अन्य कोई वैसा करे तो हर्षित होना सो आरंभ क्रिया है।

(२२) परिग्रह क्रिया—परिग्रहका कुछ भी नाश न हो ऐसे उपायों में लगे रहना सो परिग्रह क्रिया है।

(२३) माया क्रिया—मायाचारसे ज्ञानादि गुणोंको छिपाना सो माया क्रिया है।

(२४) मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादृष्टियों की तथा मिथ्यात्वसे परिपूर्ण कार्योंकी प्रशंसा करना सो मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(२५) अप्रत्याख्यान क्रिया—जो त्याग करने योग्य हो उसका त्याग न करना सो अप्रत्याख्यान क्रिया है। (प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग है, विषयोंके प्रति आसक्तिका त्याग करने के बदले उसमें आसक्ति करना सो अप्रत्याख्यान है)

नोटः—नं० १० की क्रियाके नीचे जो नोट है वह नं० ११ से २५ तक की क्रियामें भी लागू होता है।

नं० ६ से २५ तक की क्रियाओंमें आत्माका अशुभभाव है। अशुभ भावरूप जो कषाय योग है सो भाव-आस्रव है, परन्तु जड़ मन, वचन या शरीर की क्रिया है सो किसी भाव-आस्रवका कारण नहीं। भावास्रवका निमित्त पाकर जड़ रजकणरूप कर्म जीवके साथ एक क्षेत्रावगाहरूपसे आते हैं। इन्द्रिय, कषाय तथा अव्रत कारण है और क्रिया उसका कार्य है ॥ ५ ॥

आस्रवमें विशेषता-(हीनाधिकता) का कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषे-भ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थः—[तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरण वीर्य विशेषेभ्यः] तीव्रभाव, मदभाव, ज्ञातभाव अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेषसे [तद्विशेषः] आस्रवमें विशेषता-हीनाधिकता होती है।

टीका

तीव्रभाव—अत्यंत बढ़े हुये क्रोधादिके द्वारा जो तीव्ररूप भाव होता है वह तीव्रभाव है।

मंदभाव—कषायोंकी मंदतासे जो भाव होता है उसे मंदभाव कहते हैं।

ज्ञातभाव—जानकर इरादापूर्वक करनेमें आनेवाली प्रवृत्ति ज्ञात-भाव है।

अज्ञातभाव—विना जाने असावधानीसे प्रवर्तना सो अज्ञातभाव है।

अधिकरण—जिस द्रव्यका आश्रय लिया जावे वह अधिकरण है।

वीर्य—द्रव्यकी शक्ति-विशेषको वीर्य (-बल) कहते हैं ॥ ६ ॥

अब अधिकरणके भेद बतलाते हैं

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थः—[अधिकरणं] अधिकरण [जीवाऽजीवाः] जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ऐसे दो भेद रूप है; इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मामें जो कर्मास्रव होता है उसमें दो प्रकारका निमित्त होता है; एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त ।

टीका

१—यहां अधिकरणका अर्थ निमित्त होता है। छट्ठे सूत्रमें आस्रव की तारतम्यताके कारणमें 'अधिकरण' एक कारण कहा है। उस अधिकरण के प्रकार बताने के लिये इस सूत्रमें यह बताया है कि जीव अजीव कर्मास्रव में निमित्त हैं।

२—जीव और अजीव के पर्याय अधिकरण हैं ऐसा बताने के लिये सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग न कर बहुवचनका प्रयोग किया है। जीव अजीव सामान्य अधिकरण नहीं किंतु जीव-अजीव के विशेष (-पर्याय) अधिकरण होते हैं। यदि जीव अजीवके सामान्यको अधिकरण कहा जाय तो सर्व जीव और सर्व अजीव अधिकरण हों। किंतु ऐसा नहीं होता, क्योंकि जीव-अजीव की विशेष-विशेष पर्याय ही अधिकरण स्वरूप होती है॥ ७ ॥

जीव-अधिकरणके भेद

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमत-कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

अर्थः—[आद्यं] पहला अर्थात् जीव अधिकरण-आस्रव [संरम्भ समारंभारंभ योग कृतकारितानुमतकषाय विशेषैः च] संरंभ-समारंभ-आरंभ, मन-वचन-कायरूप तीन योग, कृत-कारित-अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायोंकी विशेषता से [त्रिः त्रिः त्रिः चतुः] ३×३×३×४ [एकशः] १०८ भेदरूप है।

टीका

सरभादि तीन भेद हैं, उन प्रत्येकमें मन वचन काय ये तीन भेद लगाने से नव भेद हुये, इन प्रत्येक भेदमें कृत कारित अनुमोदना ये तीन भेद लगाने से २७ भेद हुये और इन प्रत्येकमें क्रोध मान माया लोभ ये चार भेद लगाने से १०८ भेद होते हैं। ये सब भेद जीवाधिकरण आस्रवके है।

सूत्रमें च शब्द अनतानुबधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन कषायके चार भेद बतलाता है।

अनंतानुबंधी कषाय—जिस कषायसे जीव अपने स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न कर सके उसे अनतानुबधी कषाय कहते हैं अर्थात् जो आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्रको घाते उसे अनतानुबधी कषाय कहते हैं।

अनत ससार का कारण होने से मिथ्यात्वको अनत कहा जाता है, उसके साथ जिस कषायका बध होता है उसे अनतानुबधी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यान कषाय—जिस कषायसे जीव एक देशरूप सयम (-सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत) किंचित् मात्र भी प्राप्त न कर सके उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यान कषाय—जीव जिस कषायसे सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल सयमको ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

संज्वलन कषाय—जिस कषायसे जीवका सयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभावमें-शुद्धोपयोगमें पूर्णरूपसे लीन न हो सके उसे सज्वलन कषाय कहते हैं।

संरंभ—किसी भी विकारी कार्य के करने के सकल्प करने को सरभ कहा जाता है। (सकल्प दो तरह का है १-मिथ्यात्वरूप सकल्प, २-अस्थिरतारूप सकल्प)

समारम्भ—उस निर्णयके अनुसार साधन मिलाने के भावको समारम्भ कहा जाता है।

आरंभ – उस कार्यके प्रारंभ करने को आरम्भ कहा जाता है।

कृत—स्वयं करने के भावको कृत कहते हैं।

कारित – दूसरे से करानेके भावको कारित कहते हैं।

अनुमत – जो दूसरे करें उसे भला समझना सो अनुमत है॥ ८॥

अजीवाधिकरण आस्रवके भेद बतलाते हैं

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

अर्थः—[परम्] दूसरा अजीवाधिकरण आस्रव [निर्वर्तना द्वि] दो प्रकार की निर्वर्तना, [निक्षेप चतुः] चार प्रकारके निक्षेप, [संयोग द्वि] दो प्रकारके संयोग और [निसर्गाः त्रिभेदाः] तीन प्रकारके निसर्ग ऐसे कुल ११ भेदरूप है।

टीका

निर्वर्तना—रचना करना—निपजाना सो निर्वर्तना है, उसके दो भेद हैं:—१—शरीर से कुचेष्टा उत्पन्न करना सो देहदुःप्रयुक्त निर्वर्तना है और २—शस्त्र इत्यादि हिंसाके उपकरणकी रचना करना सो उपकरण निर्वर्तना है। अथवा दूसरी तरह से दो भेद इस तरह होते हैं:—१-पांच प्रकार के शरीर, मन, वचन, श्वासोच्छ्वासका उत्पन्न करना सो मूलगुण निर्वर्तना है और २-काष्ट, मिट्टी, इत्यादि से चित्र आदि की रचना करना सो उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेप—वस्तुको रखने को (-धरने को) निक्षेप कहते हैं, उसके चार भेद हैं:—१-विना देखे वस्तुका रखना सो अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है; २-यत्नाचार रहित होकर वस्तुको रखना सो दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण है, ३—भयादिकसे या अन्य कार्य करने की जल्दीमें पुस्तक, कमंडलु, शरीर या

अंतराय, आसादन और उपघात ये [ज्ञानदर्शनावरणयोः] ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मास्रवके कारण हैं।

टीका

१. प्रदोष—मोक्षका कारण अर्थात् मोक्षका उपाय तत्त्वज्ञान है, उसका कथन करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा न करते हुये अंतरंगमें जो दुष्ट परिणाम होना सो प्रदोष है।

निह्नव—वस्तुस्वरूपके ज्ञानादिका छुपाना–जानते हुये भी ऐसा कहना कि मैं नहीं जानता सो निह्नव है।

मात्सर्य—वस्तुस्वरूपके जानते हुये भी यह विचारकर किसीको न पढ़ाना कि 'यदि मैं इसे कहूँगा तो यह पंडित हो जायगा' सो मात्सर्य है।

अंतराय—यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें विघ्न करना सो अंतराय है।

आसादन—परके द्वारा प्रकाश होने योग्य ज्ञानको रोकना सो आसादन है।

उपघात—यथार्थ प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना अथवा प्रशंसा योग्य ज्ञानको दूषण लगाना सो उपघात है।

इस सूत्रमें 'तत्' का अर्थ ज्ञान–दर्शन होता है।

उपरोक्त छह दोष यदि ज्ञानावरण सम्बन्धी हों तो ज्ञानावरणके निमित्त हैं और दर्शनावरण सम्बन्धी हों तो दर्शनावरणके निमित्त हैं।

२—इस सूत्रमें जो ज्ञानावरण–दर्शनावरण कर्मके आस्रवके छह कारण कहे हैं उनके बाद ज्ञानावरणके लिये विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसारके चौथे अध्याय की १३ से १६ वीं गाथामें निम्नप्रकार दिया है:—

७—तत्त्वोंका उत्सूत्र कथन करना।

८—तत्त्वका उपदेश सुनने मे अनादर करना।

९—तत्त्वोपदेश सुननेमें आलस्य रखना।

१०—लोभ बुद्धिसे शास्त्र बेचना।

११–अपने को–निजको बहुश्रुतज्ञ (–उपाध्याय) मानकर अभिमानसे मिथ्या उपदेश देना।

१२–अध्ययनके लिये जिस समयका निषेध है उस समयमें (अकालमें) शास्त्र पढ़ना।

१३–सच्चे आचार्य तथा उपाध्यायसे विरुद्ध रहना।

१४–तत्त्वोंमें श्रद्धा न रखना।

१५–तत्त्वोंका अनुचिंतन न करना।

१६—सर्वज्ञ भगवानके शासनके प्रचारमें बाधा डालना।

१७—बहुश्रुत ज्ञानियोंका अपमान करना।

१८—तत्त्वज्ञानका अभ्यास करने में शठता करना।

३—यहाँ यह तात्पर्य है कि जो काम करने से अपने तथा दूसरे के तत्त्वज्ञानमें बाधा आवे या मलिनता हो वे सब ज्ञानावरण कर्मके आस्रवके कारण हैं। जैसे कि एक ग्रंथ के असावधानीसे लिखने पर किसी पाठको छोड़ देना अथवा कुछ का कुछ लिख देना सो ज्ञानावरण कर्मके आस्रवका कारण होता है। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ २००–२०१)

४–और फिर दर्शनावरणके लिये इस सूत्रमें कहे गये छह कारणों के पश्चात् अन्य विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १७-१८ १९ वीं गाथामें निम्नप्रकार दिये हैं —

(७) किसी की आँख निकाल लेना (८) बहुत सोना (९) दिनमें सोना (१०) नास्तिकपनकी भावना रखना (११) सम्यग्दर्शनमें दोष लगाना (१२) कुतीर्थवालोंकी प्रशंसा करना (१३) तपस्वियों (–दिगम्बर मुनियों) को देखकर ग्लानि करना–ये सब दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण हैं।

५. शंका—नास्तिकपने की वासना आदिसे दर्शनावरणका आस्रव कैसे होगा, उनसे तो दर्शन मोहका आस्रव होना संभव है क्योंकि सम्यग्दर्शनसे विपरीत कार्योंके द्वारा सम्यग्दर्शन मलिन होता है न कि दर्शन उपयोग।

समाधान—जैसे बाह्य इन्द्रियोंसे मूर्तिक पदार्थोंका दर्शन होता है वैसे ही विशेषज्ञानियोंके अमूर्तिक आत्माका भी दर्शन होता है, जैसे सर्व ज्ञानों में आत्मज्ञान अधिक पूज्य है वैसे ही बाह्य पदार्थोंके दर्शन करने से अंतर्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। इसीलिये आत्मदर्शनमें बाधक कारणों को दर्शनावरण कर्मके आस्रवका कारण मानना अनुचित नहीं है। इसप्रकार नास्तिकपनेकी मान्यता आदि जो कारण लिखे हैं वे दोष दर्शनावरण कर्मके आस्रवके हेतु हो सकते हैं? (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ २०१—२०२)

यद्यपि आयुकर्मके अतिरिक्त अन्य सात कर्मोंका आस्रव प्रति समय हुवा करता है तथापि प्रदोषादि भावोंके द्वारा जो ज्ञानावरणादि खास-विशेष कर्मका बंध होना बताया है वह स्थितिबंध और अनुभागबंधकी अपेक्षासे समझना अर्थात् प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तो सब कर्मोंका हुआ करता है किंतु उस समय ज्ञानावरणादि खास कर्मका स्थिति और अनुभागबंध विशेष अधिक होता है ॥ १० ॥

असाता वेदनीयके आस्रवके कारण

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्म-
परोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अर्थः—[आत्मपरोभयस्थानानि] अपने में, परमें और दोनों के विषयमें स्थित [दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनानि] दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन; वध और परिदेवन ये [असद्वेद्यस्य] असातावेदनीय कर्मके आस्रव के कारण हैं।

टीका

१. दुःख—पीड़ारूप परिणाम विशेषको दुःख कहते हैं।

शोक—अपने को लाभदायक मालूम होनेवाले पदार्थका वियोग होने पर विकलता होना सो शोक है।

ताप—संसारमें अपनी निंदा आदि होने पर पश्चात्ताप होना सो ताप है।

आक्रंदन—पश्चात्तापसे अश्रुपात करके रोना सो आक्रंदन है।

वध—प्राणोंके वियोग करने को वध कहते हैं।

परिदेवन—सक्लेश परिणामोंके कारणसे ऐसा रुदन करना कि जिससे सुननेवाले के हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय सो परिदेवन है।

यद्यपि शोक ताप आदि दुःखके ही भेद हैं तथापि दुःखकी जातियाँ बताने के लिये ये भेद बताये हैं।

२—स्वयको, परको या दोनों को एक साथ दुःख शोकादि उत्पन्न करना सो असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है।

प्रश्न.—यदि दुःखादिक निजमें, परमें, या दोनोंमें स्थित होने से असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है तो अर्हन्त मतके माननेवाले जीव केश-लौंच, अनशन तप, आतपस्थान इत्यादि दुःखके निमित्त स्वय करते हैं और दूसरों को भी वैसा उपदेश देते हैं तो इसीलिये उनके भी असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होगा।

उत्तर.—नहीं, यह दूषण नहीं है। यह विशेष कथन ध्यानमें रखना कि यदि अंतरंग क्रोधादिक परिणामोंके आवेशपूर्वक खुद को, दूसरे को या दोनों को दुःखादि देने का भाव हो तो ही वह असातावेदनीय कर्मके आस्रव का कारण होता है। भावार्थ यह है कि अंतरंग क्रोधादिके वश होने से आत्माके जो दुःख होता है वह दुःख केशलौंच, अनशनतप या आतापयोग इत्यादि धारण करने में सम्यग्दृष्टि मुनिके नहीं होता, इसलिये उनके इससे असातावेदनीयका आस्रव नहीं होता, वह तो उनका शरीर के प्रति वैराग्य भाव है।

यह बात दृष्टांत द्वारा समझाई जाती है:—

दृष्टांतः—जैसे कोई दयाके अभिप्रायवाला-दयालु और शल्यरहित वैद्य संयमी पुरुषके फोड़ेको काटने या चीरने का काम करता है और उस पुरुषको दुःख होता है तथापि उस बाह्य निमित्तमात्रके कारण पापबंध नहीं होता, क्योंकि वैद्यके भाव उसे दुःख देने के नहीं हैं।

सिद्धांत—वैसे ही संसार सम्बन्धी महा दुःखसे उद्विग्न हुये मुनि संसार सम्बन्धी महादुःखका अभाव करने के उपाय के प्रति लग रहे हैं, उनके संक्लेश परिणामका अभाव होने से, शास्त्रविधान करने में आये हुये कार्योंमें स्वयं प्रवर्तने से या दूसरों को प्रवर्तानेसे पापबन्ध नहीं होता, क्योंकि उनका अभिप्राय दुःख देने का नहीं; यद्यपि कमजोरीके कारण किंचित् बाह्य दुःख हो तो भी वह असातावेदनीयके आस्रवका कारण नहीं है।

३—इस सूत्रका सिद्धांत

बाह्य निमित्तोंके अनुसार आस्रव या बंध नहीं होता, किंतु जीव स्वयं जैसा भाव करे उस भावके अनुसार आस्रव और बंध होता है। यदि जीव स्वयं विकारभाव करे तो बंध हो और विकारभाव न करे तो बंध नहीं होता॥ ११॥

सातावेदनीयके आस्रवके कारण

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

अर्थः—[भूतव्रत्यनुकंपा] प्राणियोंके प्रति और व्रतधारियोंके प्रति अनुकंपा—दया [दान सराग संयमादियोगः] दान, सराग संयमादिके योग, [क्षांतिः शौचमिति] क्षमा और शौच अर्हतभक्ति इत्यादि [सद्वेद्यस्य] सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१. भूत = चारों गतियों के प्राणी।

व्रती = जिन्होंने सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत या महाव्रत धारण किये हुये हों ऐसा जीव,

इन दोनों पर अनुकम्पा—दया करना सो भूतव्रत्यनुकम्पा है।

प्रश्न—जब कि 'भूत' कहने पर उसमें समस्त जीव आगये तो फिर 'व्रती' बतलाने की क्या आवश्यक्ता है?

उत्तर—सामान्य प्राणियों से व्रती जीवों के प्रति अनुकंपा की विशेषता बतलाने के लिये यह कहा गया है, व्रती जीवों के प्रति भक्ति पूर्वक भाव होना चाहिये।

दान = दुःखित, भूखे आदि जीवोंके उपकारके लिये धन, औषधि, आहारादिक देना तथा व्रती सम्यग्दृष्टि सुपात्र जीवोंको भक्ति पूर्वक दान देना सो दान है।

सरागसंयम = सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रके धारक मुनिके जो महाव्रत रूप शुभभाव है संयमके साथ वह राग होने से सराग संयम कहा जाता है। राग कुछ संयम नहीं, जितना वीतरागभाव है वह संयम है।

२. प्रश्न—चारित्र दो तरहके बताये गए हैं (१) वीतराग चारित्र और दूसरा सराग चारित्र, और चारित्र बन्धका कारण नहीं है तो फिर यहाँ सराग संयमको आस्रव और बंधका कारण क्यों कहा है?

उत्तर—जहाँ सराग संयमको बंधका कारण कहा वहाँ ऐसा समझना कि वास्तवमें चारित्र (संयम) बंधका कारण नहीं, किन्तु जो राग है वह बंधका कारण है। जैसे—चावल दो तरहके हैं—एक तो भूसे सहित और दूसरा भूसे रहित, वहाँ भूसा चावलका स्वरूप नहीं है किन्तु चावलमें वह दोष है। अब यदि कोई सयाना पुरुष भूसे सहित चावलका संग्रह करता हो

उसे देखकर कोई भोला मनुष्य भूसेको ही चावल मानकर उसका संग्रह करे तो वह निरर्थक खेदखिन्न ही होगा। वैसे ही चारित्र (संयम) दो भेदरूप है- एक सराग तथा दूसरा वीतराग। यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है वह चारित्रका स्वरूप नहीं किंतु चारित्रमें वह दोष है। अब यदि कोई सम्यग्ज्ञानी पुरुष प्रशस्त राग सहित चारित्रको धारण करे तो उसे देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त रागको ही चारित्र मानकर उसे धारण करे तो वह निरर्थक, खेदखिन्न ही होगा।

(देखो सस्ती ग्रंथमालाका मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृष्ठ ३६० तथा पाटनी ग्रंथमाला श्री समयसार पृष्ठ ४४८)

मुनिको चारित्रभाव मिश्ररूप है; कुछ तो वीतराग हुआ है और कुछ सराग है; वहाँ जिस अंशसे वीतराग हुआ है उसके द्वारा तो संवर ही है और जिस अंशसे सराग रहा है उसके द्वारा बंध है। अपने मिश्रभावमें ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है कि 'यह सरागता है और यह वीतरागता है।' इसीलिये वे अवशिष्ट सराग भावको हेयरूप श्रद्धान करते हैं।

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३४)

इसतरह सरागसंयममें जो महाव्रतादि पालन करनेका शुभभाव है वह आश्रव होनेसे बन्धका कारण है किन्तु जितना निर्मल चारित्र प्रगट हुआ है वह बन्धका कारण नहीं है।

३—इस सूत्रमें 'आदि' शब्द है उसमें संयमासंयम, अकामनिर्जरा, और बालतपका समावेश होता है।

संयमासंयम—सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत।

अकामनिर्जरा—पराधीनतासे-(अपनी बिना इच्छाके) भोग उपभोग का निरोध होने पर संक्लेशता रहित होना अर्थात् कषायकी मंदता करना सो अकामनिर्जरा है।

बालतप—मिथ्यादृष्टिके मंद कषायसे होने वाला तप।

४—इस सूत्रमें 'इति' शब्द है उसमें अर्हन्तका पूजन, बाल वृद्ध या तपस्वी मुनियोंकी वैयावृत्य करनेमें उद्यमी रहना, योगकी सरलता और विनयका समावेश हो जाता है।

योग—शुभ परिणाम सहित की निर्दोष क्रिया विशेष को योग कहते हैं।

क्षांति—शुभ परिणामकी भावनासे क्रोधादि कषायमें होने वाली तीव्रताके अभावको क्षाति (क्षमा) कहते हैं।

शौच—शुभ परिणाम पूर्वक जो लोभका त्याग है सो शौच है। वीतरागी निर्विकल्प क्षमा और शौचको 'उत्तम क्षमा' और 'उत्तम शौच' कहते हैं, वह आस्रवका कारण नहीं है ॥ १२ ॥

अब अनंत संसारके कारणीभूत दर्शनमोहके आस्रवके कारण कहते हैं

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—[केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः] केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवका अवर्णवाद करना सो [दर्शनमोहस्य] दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१. अवर्णवाद—जिसमें जो दोष न हो उसमें उस दोषका आरोपण करना सो अवर्णवाद है।

केवलित्व, मुनित्व और देवत्व ये आत्माकी ही भिन्न भिन्न अवस्थाओंके स्वरूप हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये पाँचों पद निश्चयसे आत्मा ही हैं (देखो योगीन्द्रदेवकृत योगसार गाथा १०४, परमात्म प्रकाश पृष्ठ ३६३, ३६४) इसीलिये उनका स्वरूप समझनेमें यदि भूल हो और वह उनमें न हो ऐसा दोष कल्पित किया जाय तो आत्माका स्वरूप न समझे

और मिथ्यात्वभावका पोषण हो। धर्म आत्माका स्वभाव है इसलिये धर्म सम्बन्धी झूठी दोषकल्पना करना सो भी महान दोष है।

२—श्रुतका अर्थ है शास्त्र, वह जिज्ञासु जीवोंके आत्माका स्वरूप समझनेमें निमित्त है. इसीलिये मुमुक्षुओंको सच्चे शास्त्रोंके स्वरूपका भी निर्णय करना चाहिये।

३—केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप

(१) भूख और प्यास यह पीड़ा है, उस पीड़ासे दुःखी हुए जीव ही आहार लेनेकी इच्छा करते हैं। भूख और प्यासके कारण दुःखका अनुभव होना सो आर्तध्यान है। केवली भगवानके संपूर्ण ज्ञान और अनन्त सुख होता है तथा उनके परम शुक्लध्यान रहता है उस अवस्थाको उपचारसे शुक्लध्यान भी कहा जाता है। इच्छा तो वर्तमानमें रहने वाली दशाके प्रति उपेक्षा और पर वस्तुके प्रति रागका अस्तित्व सूचित करती है, केवली भगवानके इच्छा ही नहीं होती, तथापि ऐसा मानना कि केवली भगवान अन्नका आहार (कवलाहार) करते हैं यह न्याय विरुद्ध है। केवली भगवानके संपूर्ण वीर्य प्रगट हुआ होनेसे उनके भूख और प्यासकी पीड़ा ही नहीं होती, और अनन्त सुख प्रगट होनेसे इच्छा ही नहीं होती। और बिना इच्छा कवल आहार कैसा? जो इच्छा है सो दुःख है—लोभ है इसलिये केवली भगवानमें आहारकी इच्छाका दोष कल्पित करना सो जीवके अपने शुद्ध स्वरूपका अवर्णवाद है। यह दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण है अर्थात् यह अनन्त संसारका कारण है।

(२) आत्माको वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होनेके बाद शरीरमें शौच या दूसरा कोई दर्द (रोग) हो और उसकी दवा लेने या दवा लानेके लिये किसीको कहना यह अशक्य है* दवा लेनेकी इच्छा होना और

---

* तीर्थंकर भगवानके जन्मसे ही मलमूत्र नहीं होता और समस्त केवली भगवानों के केवलज्ञान होने के बाद रोग, आहार-निहार आदि नहीं होता।

दवा लानेके लिये किसी शिष्यको कहना ये सब दुःखका अस्तित्व सूचित करता है, अनन्तसुखके स्वामी केवली भगवानके आकुलता, विकल्प, लोभरूप इच्छा या दुःख होनेकी कल्पना करना अर्थात् केवली भगवानको सामान्य छद्मस्थकी तरह मानना न्याय विरुद्ध है। यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको समझे तो आत्माकी समस्त दशाओंका स्वरूप ध्यानमें आ जाय। भगवान छद्मस्थ मुनिदशामें करपात्र (हाथमें भोजन करने वाले) होते हैं और आहार के लिये स्वयं जाते हैं किन्तु यह अशक्य है कि केवलज्ञान होनेके बाद रोग हो, दवाकी इच्छा उत्पन्न हो और वह लानेके लिये शिष्यको आदेश दें। केवलज्ञान होने पर शरीरकी दशा उत्तम होती है और शरीर परम औदारिक रूपमें परिणमित हो जाता है। उस शरीरमें रोग होता ही नहीं। यह अबाधित सिद्धान्त है कि 'जहाँ तक राग हो वहाँ तक रोग हो' परन्तु भगवानको राग नहीं है इसी कारण उनके शरीरके रोग भी कभी होता ही नहीं। इसलिए इससे विरुद्ध मानना सो अपने आत्म स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवंतोंका अवर्णवाद है।

(३) किसी भी जीवके गृहस्थ दशामें केवलज्ञान प्रगट होता है ऐसा मानना सो बड़ी भूल है। गृहस्थ दशा छोड़े बिना भावसाधुत्व आ ही नहीं सकता, भावसाधुत्व हुए बिना भी केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है? भावसाधुत्व छट्ठे सातवें गुणस्थानमें होता है और केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में होता है इसलिये गृहस्थदशामें कभी भी किसी जीवके केवलज्ञान नहीं होता। इससे विरुद्ध जो मान्यता है सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्तकेवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(४) छद्मस्थ जीवोंके जो ज्ञान-दर्शन उपयोग होता है वह ज्ञेय सन्मुख होनेसे होता है, इस दशामें एक ज्ञेयसे हटकर दूसरे ज्ञेयकी तरफ प्रवृत्ति करता है, ऐसी प्रवृत्ति बिना छद्मस्थ जीवका ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता; इसीसे पहले चार ज्ञान पर्यंतके कथनमें उपयोग शब्दका प्रयोग उसके अर्थके अनुसार (-'उपयोग' के यथार्थके अनुसार) कहा जा सकता है, परन्तु

केवलज्ञान और केवलदर्शन तो अखंड अविच्छिन्न है; उसको ज्ञेय सन्मुख नहीं होना पड़ता अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शनको एक ज्ञेयसे हटकर दूसरे ज्ञेयकी तरफ नहीं लगाना पड़ता, केवली भगवानके केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ ही होते हैं। फिर भी ऐसा मानना सो मिथ्या मान्यता है कि "केवली भगवानके तथा सिद्ध भगवानके जिस समय ज्ञानोपयोग होता तब दर्शनोपयोग नहीं होता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता।" यह मान्यता कि "केवली भगवानको तथा सिद्ध भगवानको केवलज्ञान प्रगट होनेके बाद जो अनन्तकाल है उसके अर्धकालमें ज्ञानके कार्य बिना और अर्द्धकाल दर्शनके कार्य बिना व्यतीत करना पड़ता है" ठीक है क्या? नहीं, यह मान्यता भी न्याय विरुद्ध ही है, इसलिए ऐसी खोटी—मिथ्या मान्यता रखना सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(५) चतुर्थ गुणस्थान—(सम्यग्दर्शन) साथ ले जाने वाला आत्मा पुरुषपर्यायमें ही जन्मता है स्त्री रूपमें कभी भी पैदा नहीं होता; इसीलिये स्त्री रूपसे कोई तीर्थंकर नहीं हो सकता, क्योंकि तीर्थंकर होने वाला आत्मा सम्यग्दर्शन सहित ही जन्मता है और इसीलिए वह पुरुष ही होता है। यदि ऐसा मानें कि किसी कालमें एक स्त्री तीर्थंकर हो तो भूत और भविष्यकी अपेक्षासे (–चाहे जितने लम्बे समयमें हो तथापि) अनन्त स्त्रियाँ तीर्थंकर हों और इसी कारण यह सिद्धांत भी टूट जायगा कि सम्यग्दर्शन सहित आत्मा स्त्री रूपमें पैदा नहीं होता; इसलिये स्त्रीको तीर्थंकर मानना सो मिथ्या मान्यता है और ऐसा मानने वाले ने आत्माकी शुद्ध दशाका स्वरूप नहीं जाना। वह यथार्थमें अपने शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(६) किसी भी कर्मभूमिकी स्त्रीके प्रथमके तीन उत्तम संहननका उदय ही नहीं होता;* जब जीवके केवलज्ञान हो तब पहला ही संहनन होता

---

* देखो गोमट्टसार कर्मकांड गाथा ३२।

है ऐसा केवलज्ञान और पहले संहननके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। स्त्री के पाँचवें गुणस्थानसे ऊपरकी अवस्था प्रगट नहीं होती, तथापि ऐसा मानना कि स्त्रीके शरीरवान जीवको उसी भवमें केवलज्ञान होता है सो अपने शुद्ध स्वरूपका अवर्णवाद है और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका तथा साधु संघका अवर्णवाद है।

(७) तालु, ओष्ठ आदिके द्वारा केवली भगवानकी वाणी नहीं खिरती और न इसमें क्रमरूप भाषा होती है किन्तु सर्वांग निरक्षरी वाणी खिरती है, इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे केवली भगवानका अवर्णवाद है।

(८) सातवें गुणस्थानसे वंद्य वंदकभाव नहीं होता, इसलिये वहाँ व्यवहार विनय-वैयावृत्य आदि नहीं होते। ऐसा मानना कि कोई जीव केवलज्ञान होनेके बाद गृहस्थ—कुटुम्बियोंके साथ रहे या गृह कार्यमें भाग लेता है—सो तो वीतरागको सरागी माना, और ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है कि किसी भी द्रव्यस्त्रीके केवलज्ञान उत्पन्न होता है। 'कर्मभूमिकी महिला के प्रथम तीन संहनन होते ही नहीं और चौथा संहनन हो तब वह जीव ज्यादासे ज्यादा सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है।' (देखो गोमट्टसार कर्म-काड गाथा ३६.३२) इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्तकेवली भगवानका अवर्णवाद है।

(९) कुछ लोगोंका ऐसा मानना है कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता सो यह मान्यता भूलसे भरी हुई है। आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है, ज्ञान क्या नहीं जानता? ज्ञान सबको जानता है ऐसी उसमें शक्ति है। और वीतराग विज्ञानके द्वारा वह शक्ति प्रगट कर सकता है। पुनश्च कोई ऐसा मानते हैं कि केवलज्ञानी आत्मा सर्वद्रव्य, उसके अनन्तगुण और उसकी अनन्तपर्यायों को एक साथ जानता है तथापि उसमेंसे कुछ जाननेमें नहीं आता—जैसे कि एक घड़ा दूसरेसे कितना बड़ा, कितने हाथ लम्बा, एक घर दूसरे घरसे कितने हाथ दूर है इत्यादि बातें केवलज्ञानमें मालूम नहीं होती।' सो यह

मान्यता सदोष है। इसमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है। भाविकालमें होनहार, सर्व द्रव्यकी सर्व पर्याय भी केवलज्ञानीके वर्तमान ज्ञानमें निश्चितरूप प्रतिभासित है ऐसा न मानना वह भी केवलीको न मानना है।

(१०) ऐसा मानना कि केवली तीर्थंकर भगवान ने ऐसा उपदेश किया है कि 'शुभ रागसे धर्म होता है, शुभ व्यवहार करते २ निश्चय धर्म होता है' सो यह उनका अवर्णवाद है। "शुभभावके द्वारा धर्म होता है इसीलिये भगवानने शुभभाव किये थे। भगवान ने तो दूसरों का भला करने में अपना जीवन अर्पण कर दिया था' इत्यादि रूपसे भगवान की जीवन कथा लिखना सो अपने शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनंत केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(११) प्रश्न—यदि भगवान ने परका कुछ नहीं किया तो फिर जगदुद्धारक, तरणतारण, जीवनदाता, बोधिदाता इत्यादि उपनामोंसे क्यों पहचाने जाते हैं?

उत्तर:—ये सब नाम उपचारसे हैं; जब भगवानको दर्शनविशुद्धिकी भूमिकामें अनिच्छकभावसे धर्मराग हुआ, तब तीर्थंकर नामकर्म बँध गया। तत्त्वस्वरूप यों है कि भगवानको तीर्थंकर प्रकृति बँधते समय जो शुभभाव हुवा था वह उनने उपादेय नहीं माना था, किन्तु उस शुभभाव और उस तीर्थंकर नामकर्म—दोनों का अभिप्रायमें निषेध ही था। इसीलिये वे रागको नष्ट करनेका प्रयत्न करते थे। अंतमें राग दूर कर वीतराग हुये फिर केवलज्ञान प्रगट हुआ और स्वयं दिव्यध्वनि प्रगट हुई; योग्य जीवोंने उसे सुनकर मिथ्यात्वको छोड़कर स्वरूप समझा और ऐसे जीवोंने उपचार विनयसे जगत्-उद्धारक, तरणतारण, इत्यादि नाम भगवानके दिये। यदि वास्तवमें भगवान ने दूसरे जीवोंका कुछ किया हो या कर सकते हों तो जगत्के सब जीवोंको मोक्षमें साथ क्यों नहीं लेगये? इसलिये शास्त्रका कथन किस नयका है यह

लक्ष्यमें रखकर उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये। भगवानको परका कर्ता ठहराना भी भगवानका अवर्णवाद है।

इत्यादि प्रकारसे आत्माके शुद्ध स्वरूपमें दोषोंकी कल्पना आत्मा के अनंत संसारका कारण है। इसप्रकार केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप कहा।

४. श्रुतके अवर्णवादका स्वरूप

१—जो शास्त्र न्याय की कसौटी चढ़ाने पर अर्थात् सम्यग्ज्ञानके द्वारा परीक्षा करने पर प्रयोजनभूत बातोंमें सच्चे-यथार्थ मालूम पड़े उसे ही यथार्थ ठीक मानना चाहिये। जब लोगोंकी स्मरण शक्ति कमजोर हो तब ही शास्त्र लिखने की पद्धति होती है, इसीलिये लिखे हुए शास्त्र गणधर भगवान के गूंथे हुये शब्दोंमें ही न हो, किन्तु सम्यग्ज्ञानी आचार्यों ने उनके यथार्थ भाव जानकर अपनी भाषामें शास्त्ररूपमें गूंथे हैं और वह सत् श्रुत हैं।

(२) सम्यग्ज्ञानी आचार्य आदि के बनाये हुये शास्त्रों की निंदा करना सो अपने सम्यग्ज्ञानकी ही निंदा करनेके सदृश है, क्योंकि जिसने सच्चे शास्त्रकी निंदा की उसका ऐसा भाव हुआ कि मुझे ऐसे सच्चे निमित्तका संयोग न हो किन्तु खोटे निमित्तका संयोग हो अर्थात् मेरा उपादान सम्यग्ज्ञान के योग्य न हो किन्तु मिथ्याज्ञानके योग्य हो।

(३) किसी ग्रन्थके कर्ताके रूपमें तीर्थंकर भगवानका, केवली का, गणधरका या आचार्यका नाम दिया हो इसीलिये उसे सच्चा ही शास्त्र मान लेना सो न्याय संगत नहीं। मुमुक्षु जीवोंको तत्त्व दृष्टिसे परीक्षा करके सत्य-असत्यका निर्णय करना चाहिये। भगवान के नामसे किसी ने कल्पित शास्त्र बनाया हो उसे सतश्रुत मान लेना सो सतश्रुतका अवर्णवाद है, जिन शास्त्रोंमें मांसभक्षण, मदिरापान, वेदनासे पीड़ितके मैथुन सेवन, रात्रिभोजन इत्यादिको निर्दोष कहा हो, भगवती सती को पाँच पति कहे हों जिनमें तीर्थंकर भगवानके दो माता, दो पिता कहे हों वे शास्त्र यथार्थ नहीं, इसलिये सत्यासत्य की परीक्षा कर असत्य की मान्यता छोड़ना।

५. संघके अवर्णवादका स्वरूप

जिस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद सातवाँ—छठ्ठा गुणस्थान प्रगट हो उसके सच्चा साधुत्व होता है, उनके शरीर पर की स्पर्शेन्द्रिय लज्जाकी रक्षादिक का राग दूर हो जाता है; इसीलिये उनके सर्दी, गर्मी, बरसात आदि से रक्षा करने का भाव नहीं होता; मात्र संयमके हेतु इस पदके योग्य निर्दोष शुद्ध आहार की इच्छा होती है, इसीसे उस गुणस्थानवाले जीवोंके अर्थात् साधुके शरीर की रक्षा के लिए वस्त्र ही नहीं होते । तथापि ऐसा मानना कि जब तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेते हैं तब धर्म बुद्धिसे देव उन्हें वस्त्र देते हैं और भगवान उसे अपने साथ रखते हैं' सो न्याय विरुद्ध है। इसमें संघ और देव दोनों का अवर्णवाद है। स्त्रीलिंगके साधुत्व मानना अतिशूद्र जीवोंको साधुत्व होना मानना सो संघका अवर्णवाद है । देहके ममत्वसे रहित, निर्ग्रंथ, वीतराग मुनियों के देहको अपवित्र कहना, निर्लज्ज कहना, बेशरम कहना, तथा ऐसा कहना कि 'जब यहाँ भी दुःख भोगते हैं तो परलोकमें कैसे सुखी होंगे' सो संघका अवर्णवाद है।

साधु-संघ चार प्रकारका है। वह इस प्रकार हैः—जिनके ऋद्धि प्रगट हुई हो सो ऋषि; जिनके अवधि-मनःपर्यय ज्ञान हो सो मुनि; जो इंद्रियों को जीते सो यति और अनगार यानि सामान्य साधु।

६. धर्म के अवर्णवादका स्वरूप

जो आत्म स्वभावके स्वाश्रयसे शुद्ध परिणमन है सो धर्म है; सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर यह धर्म प्रारंभ होता है। शरीरकी क्रियासे धर्म नहीं होता, पुण्य विकार है अतः उससे धर्म नहीं होता तथा वह धर्ममें सहायक नहीं होता। ऐसा धर्मका स्वरूप है। इससे विपरीत मानना सो धर्मका अवर्णवाद है। "जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए धर्ममे कुछ भी गुण नहीं हैं, उसके सेवन करनेवाले असुर होंगे, तीर्थंकर भगवान ने जो धर्म कहा है उसी रूपसे जगत् के अन्यमतोंके प्रवर्तक भी कहते हैं, सबका ध्येय समान

है।" ऐसा मानना सो धर्मका अवर्णवाद है। आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझना, और सच्ची मान्यता करना तथा खोटी मान्यता छोड़ना सो सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे आत्माकी अहिंसा है और क्रम क्रमसे सम्यक् चारित्र बढ़ने पर जितना राग द्वेषका अभाव होता है उतनी चारित्र अपेक्षा आत्माकी अहिंसा है। राग द्वेष सर्वथा दूर हो जाता है यह आत्मा की संपूर्ण अहिंसा है। ऐसी अहिंसा जीवका धर्म है इसप्रकार अनंत ज्ञानियों ने कहा है, इससे विरुद्ध जो मान्यता है सो धर्मका अवर्णवाद है।

७. देवके अवर्णवादका स्वरूप

स्वर्गके देवके एक प्रकार का अवर्णवाद ५ वें पैराग्राफमें बतलाया है। उसके बाद ये देव मांसभक्षण करते हैं, मद्यपान करते हैं, भोजनादिक करते हैं, मनुष्यिनी—स्त्रियोंके साथ कामसेवन करते हैं इत्यादि मान्यता देव का अवर्णवाद है।

८—ये पांच प्रकार के अवर्णवाद दर्शन मोहनीयके आस्रव के कारण हैं और जो दर्शन मोह है सो अनंतसंसारका कारण है।

९. इस सूत्रका सिद्धांत

शुभ विकल्पसे धर्म होता है ऐसी मान्यता रूप अगृहीत मिथ्यात्व तो जीव के अनादि ■ चला आया है। मनुष्य गतिमें जीव जिस कुलमें जन्म पाता है उस कुलमें अधिकतर किसी न किसी प्रकारसे धर्म की मान्यता होती है। पुनश्च उस कुलधर्ममें किसीको देवरूपसे, किसीको गुरु रूपसे, किसी पुस्तकको शास्त्र रूपसे और किसी क्रियाको धर्म रूपसे माना जाता है। जीवको बचपनमें इस मान्यताका पोषण मिलता है और बड़ी उम्रमें अपने कुलके धर्मस्थानमें जानेपर वहाँ भी मुख्यरूपसे उसी मान्यताका पोषण मिलता है। इस अवस्थामें जीव विवेक पूर्वक सत्य असत्यका निर्णय अधिकतर नहीं करता और सत्य असत्यके विवेकसे रहित दशा होने से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म पर अनेक प्रकार झूठे आरोप करता है। यह मान्यता इस भवमें नई ग्रहणकी हुई होने से और मिथ्या होने से उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ये अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व अनंत संसार के कारण हैं। इस

लिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र-धर्मका और अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप समझकर अगृहीत तथा गृहीत दोनों मिथ्यात्वका नाश करने के लिए ज्ञानियोंका उपदेश है। (अगृहीत मिथ्यात्वका विषय आठवें बंध अधिकारमें आवेगा)। आत्माको न मानना, सत्य मोक्षमार्ग को दूषित-कल्पित करना, असत् मार्गको सत्य मोक्षमार्ग मानना, परम सत्य वीतरागी विज्ञानमय उपदेश की निंदा करना-इत्यादि जो जो कार्य सम्यग्दर्शनको मलिन करते हैं वे सब दर्शन मोहनीयके आस्रव के कारण हैं ॥ १३ ॥

अब चारित्र मोहनीयके आस्रवके कारण बतलाते हैं

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

अर्थ —[कषायोदयात्] कषायके उदयसे [तीव्र परिणामः] तीव्र परिणाम होना सो [चारित्रमोहस्य] चारित्र मोहनीयके आस्रवका कारण है।

टीका

१— कषायकी व्याख्या इस अध्यायके पाँचवे सूत्रमें कही जा चुकी है। उदयका अर्थ विपाक—अनुभव है। ऐसा समझना चाहिये कि जीव कषाय कर्मके उदयमें युक्त होकर जितना राग-द्वेष करता है उतना उस जीव के कषायका उदय—विपाक (-अनुभव) हुआ। कषायकर्मके उदयमें युक्त होनेसे जीवको जो तीव्रभाव होता है वह चारित्रमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण (-निमित्त) है ऐसा समझना।

२—चारित्रमोहनीयके आस्रवका इस सूत्रमें संक्षेपसे वर्णन है; उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है :—

(१) अपने तथा परको कषाय उत्पन्न करना।

(२) तपस्वीजनोंको चारित्र दोष लगाना।

(३) संक्लेश परिणामको उत्पन्न कराने वाला वेष, व्रत इत्यादि धारण करना; इत्यादि लक्षणवाला परिणाम कषायकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) गरीबोंका अतिहास्य करना।

(२) बहुत ज्यादा व्यर्थ प्रलाप करना।

(३) हँसीका स्वभाव रखना।

इत्यादि लक्षणवाला परिणाम हास्यकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) विचित्र क्रीडा करनेमें तत्परता होना।

(२) व्रत-शीलमें अरुचि परिणाम करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम रतिकर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) परको अरति उत्पन्न कराना।

(२) परकी रतिका विनाश करना।

(३) पाप करनेका स्वभाव होना।

(४) पापका संसर्ग करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम अरतिकर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) दूसरेको शोक पैदा कराना।

(२) दूसरेके शोकमें हर्ष मानना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम शोककर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) स्वयंके भयरूप भाव रखना।

(२) दूसरेको भय उत्पन्न कराना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम भयकर्मके आस्रवके कारण हैं।

भली क्रिया—आचारके प्रति ग्लानि आदिके परिणाम होना सो जुगुप्साकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) झूठ बोलनेका स्वभाव होना

(२) मायाचारमें तत्परता रहनी।

(३) परके छिद्रकी आकांक्षा अथवा बहुत ज्यादा राग होना इत्यादि परिणाम स्त्रीवेदकर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) थोडा क्रोध होना।

(२) इष्ट पदार्थोंमें आसक्तिका कम होना।

(३) अपनी स्त्रीमें संतोष होना।

इत्यादि परिणाम पुरुषवेदकर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) कषायकी प्रबलता होना।

(२) गुह्य इंद्रियोंका छेदन करना।

(३) परस्त्रीगमन करना।

इत्यादि परिणाम होना सो नपुंसकवेदके आस्रवका कारण है।

३—'तीव्रता बंधका कारण है और सर्वजघन्यता बन्धका कारण नहीं है' यह सिद्धान्त आत्माके समस्त गुणोंमें लागू होता है। आत्मामें होने वाला मिथ्यादर्शनका जो जघन्यसे भी जघन्य भाव होता है वह दर्शनमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण नहीं है। यदि अंतिम अंश भी बन्धका कारण हो तो कोई भी जीव व्यवहारमें कर्म रहित नहीं हो सकता (देखो अध्याय ५ सूत्र ३४ की टीका) ॥ १४ ॥

अब आयुकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

नरकायुके आस्रवके कारण

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थ—[बह्वारंभपरिग्रहत्वं] बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह होना ये [नारकस्यायुषः] नरकायुके आस्रवके कारण हैं।

१. बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखनेका जो भाव है सो नरकायुके आस्रवका कारण है। 'बहु' शब्द संख्यावाचक तथा परिणामवाचक है; ये दोनों अर्थ यहाँ लागू होते हैं। अधिक संख्यामें आरंभ—परिग्रह रखनेसे नरकायुका आस्रव होता है। आरंभ-परिग्रह रखनेके बहु परिणामसे नरकायुका आस्रव होता है; बहु आरंभ-परिग्रहका जो भाव है सो उपादान कारण है और जो बाह्य बहुत आरम्भ-परिग्रह है सो निमित्तकारण है।

२ आरम्भ—हिंसादि प्रवृत्तिका नाम आरम्भ है। जितना भी आरम्भ किया जाता है उसमें स्थावरादि जीवोंका नियमसे वध होता है। आरम्भके साथ 'बहु' शब्दका समास करके ज्यादा आरंभ अथवा बहुत तीव्र परिणामसे जो आरंभ किया जाता है वह बहु आरम्भ है, ऐसा अर्थ समझना।

३. परिग्रह—'यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ' ऐसा परमें अपनेपनका अभिमान अथवा पर वस्तुमें 'यह मेरी है' ऐसा जो संकल्प है सो परिग्रह है। केवल बाह्य धन धान्यादि पदार्थोंके ही 'परिग्रह' नाम लागू होता है, यह बात नहीं है। बाह्यमें किसी भी पदार्थके न होने पर भी यदि भावमें ममत्व हो तो वहाँ भी परिग्रह कहा जा सकता है।

४ सूत्रमें जो नरकायुके आस्रवके कारण बताये हैं वे संक्षेपसे हैं, उन भावोंका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है —

(१) मिथ्यादर्शन सहित हीनाचारमें तत्पर रहना।
(२) अत्यन्त मान करना।
(३) शिलाभेदकी तरह अत्यन्त तीव्र क्रोध करना।
(४) अत्यन्त तीव्र लोभका अनुराग रहना।
(५) दया रहित परिणामोंका होना।
(६) दूसरोंको दुःख देनेका विचार रखना।
(७) जीवोंको मारने तथा बाधनेका भाव करना।
(८) जीवोंके निरन्तर घात करनेका परिणाम रखना।
(९) जिसमें दूसरे प्राणीका वध हो ऐसे झूठे वचन बोलनेका स्वभाव रखना।
(१०) दूसरोंके धन हरण करनेका स्वभाव रखना।
(११) दूसरोंकी स्त्रियोंके आलिंगन करनेका स्वभाव रखना।
(१२) मैथुन सेवनसे विरक्ति न होना।
(१३) अत्यन्त आरंभमें इंद्रियोंको लगाये रखना।

(१४) काम भोगोंकी अभिलाषाको सदैव बढ़ाते रहना।

(१५) शील सदाचार रहित स्वभाव रखना।

(१६) अभक्ष्य भक्षणके ग्रहण करने अथवा करानेका भाव रखना।

(१७) अधिक काल तक वैर बाँधे रखना।

(१८) महाक्रूर स्वभाव रखना।

(१९) विना विचारे रोने-कूटनेका स्वभाव रखना।

(२०) देव-गुरु-शास्त्रोंमें मिथ्या दोष लगाना।

(२१) कृष्ण लेश्याके परिणाम रखना।

(२२) रौद्रध्यानमें मरण करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम नरकायुके कारण होते हैं ॥ १५ ॥

अब तिर्यंचायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

अर्थ—[माया] माया—छलकपट [तैर्यग्योनस्य] तिर्यंचायुके आस्रवका कारण है।

टीका

जो आत्माका कुटिल स्वभाव है सो माया है, इससे तिर्यंच योनि का आस्रव होता है। तिर्यंचायुके आस्रवके कारणका इस सूत्रमें जो वर्णन किया है वह संक्षेपमें है। उन भावोंका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है:—

(१) मायासे मिथ्या धर्मका उपदेश देना।

(२) बहुत आरंभ—परिग्रहमें कपटयुक्त परिणाम करना।

(३) कपट—कुटिल कर्ममें तत्पर होना।

(४) पृथ्वी भेद सदृश क्रोधीपना होना।

(५) शीलरहितपना होना।

(६) शब्दसे—चेष्टासे तीव्र मायाचार करना।

(७) परके परिणाममें भेद उत्पन्न कराना।
(८) अति अनर्थ प्रगट करना।
(९) गंध-रस स्पर्शका विपरीतपना होना।
(१०) जाति कुल शीलमें दूषण लगाना।
(११) विसंवाद में प्रीति रखना।
(१२) दूसरे के उत्तम गुणको छिपाना।
(१३) अपने में जो गुण नहीं हैं उन्हें भी बतलाना।
(१४) नील कपोत लेश्यारूप परिणाम करना।
(१५) आर्तध्यानमें मरण करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम तिर्यंचायुके आस्रवके कारण हैं ॥ १६ ॥

अब मनुष्यायु के आस्रव के कारण बतलाते हैं

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अर्थः—[अल्पारम्भपरिग्रहत्वं] थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रहपन [मानुषस्य] मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है।

टीका

नरकायुके आस्रवका कथन १५ वें सूत्रमें किया जा चुका है, उस नरकायुके आस्रवसे जो विपरीत है सो मनुष्यायु के आस्रवका कारण है। इस सूत्रमें मनुष्यायुके कारणका संक्षेपमें कथन है, उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है—

(१) मिथ्यात्वसहित बुद्धिका होना।
(२) स्वभावमें विनय होना।
(३) प्रकृतिमें भद्रता होना।
(४) परिणामोंमें कोमलता होनी और मायाचारका भाव न होना।
(५) श्रेष्ठ आचरणोंमें सुख मानना।

(६) वेणु की रेखाके समान क्रोधका होना।

(७) विशेष गुणी पुरुषोंके साथ प्रिय व्यवहार होना।

(८) थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह रखना।

(९) संतोष रखनेमें रुचि करना।

(१०) प्राणियोंके घातसे विरक्त होना।

(११) बुरे कार्योंसे निवृत्त होना।

(१२) मनमें जो बात है उसी के अनुसार सरलतासे बोलना।

(१३) व्यर्थ बकवाद न करना।

(१४) परिणामोंमें मधुरताका होना।

(१५) सभी लोकोंके प्रति उपकार बुद्धि रखना।

(१६) परिणामोंमें वैराग्यवृत्ति रखना।

(१७) किसी के प्रति ईर्ष्याभाव न रखना।

(१८) दान देनेका स्वभाव रखना।

(१९) कपोत तथा पीत लेश्या सहित होना।

(२०) धर्मध्यानमें मरण होना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं।

प्रश्न—जिसकी बुद्धि मिथ्यादर्शनसहित हो उसके मनुष्यायुका आस्रव क्यों कहा?

उत्तरः—मनुष्य, तिर्यंचके सम्यक्त्व परिणाम होने पर वे कल्पवासी देवकी आयुका बंध करते हैं, वे मनुष्यायुका बंध नहीं करते, इतना बतानेके लिये उपरोक्त कथन किया है॥ १७॥

मनुष्यायुके आस्रवका कारण (चालू है)

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

अर्थः—[स्वभावमार्दवं] स्वभावसे ही सरल परिणाम होना [च] भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है।

टीका

१—इस सूत्रको सत्रहवें सूत्रसे पृथक् लिखनेका कारण यह है कि इस सूत्रमें बताई हुई बात देवायु के आस्रवका भी कारण होती है।

२—यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ 'आत्माका शुद्ध स्वभाव' न समझना; क्योंकि निज स्वभाव बंधका कारण नहीं होता। यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ है 'किसी के बिना सिखाये।' मार्दव भी आत्माका एक शुद्ध स्वभाव है, परन्तु यहाँ मार्दवका अर्थ 'शुभभावरूप (मंदकषायरूप) सरल परिणाम' करना; क्योंकि जो शुद्धभावरूप मार्दव है वह बंधका कारण नहीं है किन्तु शुभभाव रूप जो मार्दव है वही बंधका कारण है ॥ १८ ॥

अब सभी आयुयोंके आस्रवके कारण बतलाते हैं

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

अर्थः—[निःशीलव्रतत्व च] शील और व्रतका जो अभाव है वह भी [सर्वेषाम्] सभी प्रकार की आयुके आस्रवका कारण है।

टीका

प्रश्न—जो शील और व्रतरहित होता है उनके देवायुका आस्रव कैसे होता है?

उत्तरः—भोगभूमिके जीवोंके शील व्रतादिक नहीं हैं तो भी देवायु का ही आस्रव होता है।

२—यह बात विशेष ध्यानमें रहे कि मिथ्यादृष्टि के सच्चे शील या व्रत नहीं होते। मिथ्यादृष्टि जीव चाहे जितने शुभराग रूप शीलव्रत पालता हो तो भी वह सच्चे शीलव्रतसे रहित ही है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद यदि जीव अणुव्रत या महाव्रत धारण करे तो उतने मात्रसे वह जीव आयुके बंध से रहित नहीं हो जाता, सम्यग्दृष्टि के अणुव्रत और महाव्रत भी देवायुके आस्रवके कारण हैं, क्योंकि वह भी राग है। मात्र वीतरागभाव ही बंधका

कारण नहीं होता, किसी भी प्रकारका राग हो वह तो आस्रव बंधका ही कारण होता है ॥ १९ ॥

अब देवायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

अर्थ—[सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि] सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप [दैवस्य] ये देवायु के आस्रवके कारण हैं।

टीका

१– इस सूत्रमें बताये गये भावोंका अर्थ पहले १२ वें सूत्रकी टीकामें आ चुका है। परिणाम बिगड़े बिना मंदकषाय रखकर दुःख सहन करना सो अकाम निर्जरा है।

२—मिथ्यादृष्टिके सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते किन्तु 'बालतप' होता है। इसलिये बाह्यव्रत धारण किये होने मात्रसे ऐसा नहीं मान लेना कि उस जीवके सरागसंयम या संयमासंयम है। सम्यग्दर्शन होने के बाद पाँचवें गुणस्थानमें अणुव्रत अर्थात् संयमासंयम और छट्ठे गुणस्थानमें महाव्रत अर्थात् सरागसंयम होता है। ऐसा भी होता है कि सम्यग्दर्शन होने पर भी अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते। ऐसे जीवोंके वीतरागदेवके दर्शन-पूजा, स्वाध्याय, अनुकम्पा इत्यादि शुभभाव होते हैं, पहलेसे चौथे गुणस्थान पर्यंत उस तरहका शुभभाव होता है; किंतु वहाँ व्रत नहीं होते। अज्ञानी के माने हुये व्रत और तपको बालव्रत और बालतप कहा है। 'बाल-तप' शब्द तो इस सूत्रमें बतलाया है और बालव्रतका समावेश ऊपरके (१९-वें) सूत्रमें होता है।

३—यहाँ भी यह जानना कि सरागसंयम और संयमासंयममें जितना वीतरागी भावरूप संयम प्रगट हुआ है वह आस्रवका कारण नहीं है किन्तु उसके साथ जो राग रहता है वह आस्रवका कारण है ॥ २० ॥

देवायुके आस्रवके कारण

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

अर्थः—[सम्यक्त्वं च] सम्यग्दर्शन भी देवायुके आस्रवका कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ रहा हुआ जो राग है वह भी देवायुके आस्रवका कारण है।

टीका

१—यद्यपि सम्यग्दर्शन शुद्धभाव होने से किसी भी कर्मके आस्रवका कारण नहीं है तथापि उस भूमिकामें जो रागांश मनुष्य और तिर्यंचके होता है वह देवायुके आस्रवका कारण होता है। सराग संयम और संयमासंयमके संबंधमें भी यही बात है यह ऊपर कहा गया है।

२—देवायुके आस्रवके कारण सम्बन्धी २० वां सूत्र कहने के बाद यह सूत्र पृथक् लिखनेका यह प्रयोजन है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा तिर्यंचको जो राग होता है वह वैमानिक देवायुके ही आस्रवका कारण होता है, वह राग हलके देवोंकी (भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवोंकी) आयुका कारण नहीं होता।

३—सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमें राग नहीं है उतने अंशमें आस्रव बंध नहीं है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें आस्रव-बंध है। (देखो श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थ सिद्धयुपाय-गाथा २१२ से २१४) सम्यग्दर्शन स्वयं अबंध है अर्थात् वह स्वयं किसी तरहके बंधका कारण नहीं है। और ऐसा होता ही नहीं कि मिथ्यादृष्टिको ? किसी भी अंशमें रागका अभाव हो इसीलिये वह संपूर्णरूपसे हमेशा बंधभावमें ही होता है।

यहाँ आयुकर्मका आस्रव सम्बन्धी वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २१ ॥

अब नामकर्मके आस्रवके कारण बताते हैं :—

अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

अर्थ—[योगवक्रता] योगमें कुटिलता, [विसंवादनं च] और विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रवर्तन [अशुभस्यनाम्नः] अशुभनामकर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

१—आत्माके परिस्पंदनका नाम योग है (देखो इस अध्यायके पहले सूत्रकी टीका) मात्र अकेला योग सातावेदनीयके आस्रवका कारण है। योग में वक्रता नहीं होती किन्तु उपयोगमें वक्रता (-कुटिलता) होती है। जिस योगके साथ उपयोग की वक्रता रही हो वह अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है। आस्रवके प्रकरणमें योगकी मुख्यता है और बंधके प्रकरणमें बंध परिणाम की मुख्यता है, इसीलिये इस अध्यायमें और इस सूत्रमें योग शब्द का प्रयोग किया है। परिणामोंकी वक्रता जड़—मन, वचन या कायमें नहीं होती तथा योगमें भी नहीं होती किंतु उपयोगमें होती है। यहाँ आस्रवका प्रकरण होने और आस्रवका कारण योग होने से, उपयोगकी वक्रताको उपचारसे योग कहा है। योगके विसंवादनके सम्बन्ध में भी इसी तरह समझना।

२. प्रश्नः—विसंवादनका अर्थ अन्यथा प्रवर्तन होता है और उसका समावेश वक्रतामें हो जाता है तथापि 'विसंवादन' शब्द अलग किस लिये कहा ?

उत्तरः—जीव की स्व की अपेक्षासे योग वक्रता कही जाती है और परकी अपेक्षासे विसंवादन कहा जाता है। मोक्षमार्गमें प्रतिकूल ऐसी मन वचन काय द्वारा जो खोटी प्रयोजना करना सो योग वक्रता है और दूसरे को वैसा करने के लिए कहना सो विसंवादन है। कोई जीव शुभ करता हो उसे

अशुभ करने की कहना सो भी विसंवादन है, कोई जीव शुभराग करता हो और उसमें धर्म मानता हो उसे ऐसा कहना कि, शुभरागसे धर्म नहीं होता किन्तु बंध होता है और यथार्थ समझ तथा वीतराग भावसे धर्म होता है ऐसा उपदेश देना सो विसंवादन नहीं है क्योंकि उसमें तो सम्यक् न्यायका प्रतिपादन है, इसीलिये उस कारण से बंध नहीं होता।

३—इस सूत्रके 'च' शब्दमें मिथ्यादर्शनका सेवन किसी को बुरा वचन बोलना, चित्त की अस्थिरता, कपटरूप माप-तौल, परकी निंदा, अपनी प्रशंसा इत्यादिका समावेश हो जाता है ॥ २२ ॥

शुभ नाम कर्मके आस्रवका कारण

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

अर्थ—[तद्विपरीतं] उससे अर्थात् अशुभ नाम कर्मके आस्रवके जो कारण कहे उनसे विपरीतभाव [शुभस्य] शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण हैं।

टीका

१—बाईसवें सूत्रमें योगकी वक्रता और विसंवादको अशुभ कर्मके आस्रवके कारण कहे उससे विपरीत अर्थात् सरलता होना और अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव होना सो शुभ नाम कर्मके आस्रवके कारण हैं।

२—यहाँ 'सरलता' शब्दका अर्थ 'अपनी शुद्धस्वभावरूप सरलता' न समझना किन्तु 'शुभभावरूप सरलता' समझना। और जो अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव है सो भी शुभभावरूप समझना। शुद्ध भाव तो आस्रव-बंधका कारण नहीं होता ॥ २३ ॥

अब तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽ- भीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधु-

समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—[दर्शनविशुद्धिः] १–दर्शनविशुद्धि, [विनयसंपन्नता] २–विनयसंपन्नता, [शीलव्रतेष्वनतिचारः] ३–शील और व्रतोंमें अनतिचार अर्थात् अतीचारका न होना, [अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः] ४–निरंतर ज्ञानोपयोग [संवेगः] ५—संवेग अर्थात् संसारसे भयभीत होना [शक्तितस्त्यागतपसी] ६-७–शक्तिके अनुसार त्याग तथा तप करना, [साधुसमाधिः] ८–साधुसमाधि [वैयावृत्यकरणम्] ९—वैयावृत्य करना, [अर्हदाचार्य बहुश्रुतप्रवचनभक्तिः] १०-१३—अर्हत्–आचार्य–बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन (शास्त्र) के प्रति भक्ति करना, [आवश्यकापरिहाणिः] १४–आवश्यकमें हानि न करना, [मार्गप्रभावना] १५–मार्गप्रभावना और [प्रवचनवत्सलत्वम्] १६–प्रवचन–वात्सल्य [इति तीर्थंकरत्वस्य] ये सोलह भावना तीर्थंकर–नामकर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१—इन सभी भावनाओंमें दर्शनविशुद्धि मुख्य है, इसीलिये वह प्रथम ही बतलाई गई है, इसके अभावमें अन्य सभी भावनायें हों तो भी तीर्थंकर नाम कर्मका आस्रव नहीं होता और उसके सद्भावमें अन्य भावनायें हों या न हों तो भी तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव होता है।

२—यहाँ बतलाई गई सोलह भावनाओं के सम्बन्धमें विशेष वर्णन किया जाता है—

(१) दर्शनविशुद्धि

दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन की विशुद्धि । सम्यग्दर्शन स्वयं आत्माकी शुद्ध पर्याय होने से बंधका कारण नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें एक खास प्रकार की कषायकी विशुद्धि होती है, वह तीर्थंकर नाम कर्मके बंधका कारण होती है। दृष्टांत—वचन कर्मको (अर्थात् वचनरूपी कार्यको) योग कहा जाता है। परन्तु 'वचनयोग' का अर्थ ऐसा होता है कि 'वचन द्वारा होनेवाला जो आत्मकर्म सो योग है क्योंकि जड़ वचन किसी बंधके कारण नहीं है। आत्मामें जो आस्रव होता है वह आत्माकी चंचलता से होता है, पुद्गलसे नहीं होता, पुद्गल तो निमित्तमात्र है।

सिद्धांतः—दर्शनविशुद्धिको तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण कहा है, वहाँ वास्तवमें दर्शनकी शुद्धि स्वयं आस्रवबंधका कारण नहीं है किंतु राग ही बंधका कारण है। इसीलिये दर्शनविशुद्धिका अर्थ ऐसा समझना योग्य है कि 'दर्शनके साथ रहा हुआ राग।' किसी भी प्रकारके बन्धका कारण कषाय ही है। सम्यग्दर्शनादि बन्धके कारण नहीं हैं। सम्यग्दर्शन जो कि आत्माको बंधसे छुड़ानेवाला है वह स्वयं बन्धका कारण कैसे हो सकता है? तीर्थंकर नामकर्म भी आस्रव-बन्ध ही है, इसीलिये सम्यग्दर्शनादि भी वास्तवमें उसका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवके जिनोपदिष्ट निर्ग्रंथ मार्गमें जो दर्शन सम्बन्धी धर्मानुराग होता है वह दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शनके शंकादि दोष दूर हो जानेसे यह विशुद्धि होती है। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ४ गाथा ४६ से परकी टीका पृष्ठ २२१)

(२) विनयसंपन्नता

१—विनयसे परिपूर्ण रहना सो विनयसंपन्नता है। सम्यग्ज्ञानादि गुणोंका तथा ज्ञानादि गुण संयुक्त ज्ञानीका आदर उत्पन्न होना सो विनय है, इस विनयमें जो राग है वह आस्रव बन्धका कारण है।

२—विनय दो तरहकी है—एक शुद्धभावरूप विनय है, उसे निश्चय विनय भी कहा जाता है, अपने शुद्धस्वरूपमें स्थिर रहना सो निश्चयविनय

है। यह विनय बन्धका कारण नहीं है। दूसरी शुभभावरूप विनय है, उसे व्यवहार विनय भी कहते हैं। अज्ञानीके यथार्थ विनय होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टिके शुभभावरूप विनय होता है और वह तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण है। छट्ठे गुणस्थानके बाद व्यवहार विनय नहीं होती किंतु निश्चय विनय होती है।

(३) शील और व्रतोंमें अनतिचार

'शील' शब्दके तीन अर्थ होते हैं (१) सत् स्वभाव (२) स्वदार संतोष और (३) दिग्व्रत आदि सात व्रत, जो अहिंसादि व्रतकी रक्षाके लिये होते हैं। सत् स्वभावका अर्थ क्रोधादि कषायके वश न होना है। यह शुभभाव है, जब अतिमंद कषाय होती है तब यह होता है। यहाँ 'शील' का प्रथम और तृतीय अर्थ लेना; दूसरा अर्थ व्रत शब्दमें आजाता है। अहिंसा आदि व्रत हैं। अनतिचारका अर्थ है दोषोंसे रहितपन।

(४) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगका अर्थ है सदा ज्ञानोपयोगमें रहना। सम्यग्ज्ञान के द्वारा प्रत्येक कार्यमें विचार कर जो उसमें प्रवृत्ति करना सो ज्ञानोपयोगका अर्थ है। ज्ञानका साक्षात् तथा परंपरा फल विचारना। यथार्थ ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति और हिताहितकी समझ होती है, इसीलिये यह भी ज्ञानोपयोगका अर्थ है। अतः यथार्थ ज्ञानको अपना हितकारी मानना चाहिये। ज्ञानोपयोगमें जो वीतरागता है वह बन्धका कारण नहीं है किंतु जो शुभभावरूप राग है वह बन्धका कारण है।

(५) संवेग

सदा संसारके दुःखोंसे भीरुताका जो भाव है सो संवेग है; उसमें जो वीतरागभाव है वह बन्धका कारण नहीं है किन्तु जो शुभराग है वह बंधका कारण है। सम्यग्दृष्टियोंके जो व्यवहार संवेग होता है वह रागभाव है; जब निर्विकल्प दशामें नहीं रह सकता तब ऐसा संवेगभाव निरन्तर होता है।

(६-७) शक्त्यनुसार त्याग तथा तप

१—त्याग दो तरह का है—शुद्धभावरूप और शुभभावरूप, उसमें जितने शुद्धता होती है उतने अंशमें वीतरागता है और वह बंधका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टिके शक्त्यनुसार शुभभावरूप त्याग होता है, शक्तिसे कम या ज्यादा नहीं होता, शुभरागरूप त्याग भाव बंधका कारण है। 'त्याग' का अर्थ दान देना भी होता है।

२—निज आत्माका शुद्ध स्वरूपमें संयमन करने से,-और स्वरूप विश्रान्त निस्तरंग चैतन्यप्रतपन सो तप है, इच्छाके निरोधको तप कहते हैं अर्थात् ऐसा होने पर शुभाशुभ भावका जो निरोध सो तप है। यह तप सम्यग्दृष्टिके ही होता है, उसके निश्चयतप कहा जाता है। सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमें वीतराग भाव है उतने अंशमें निश्चयतप है और वह बंधका कारण नहीं है, किन्तु जितने अंशमें शुभरागरूप व्यवहार तप है वह बंधका कारण है। मिथ्यादृष्टिके यथार्थ तप नहीं होता, उसके शुभरागरूप तपको 'बालतप' कहा जाता है। 'बाल' का अर्थ है अज्ञान, मूढ। अज्ञानीका तप आदिका शुभभाव तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण हो ही नहीं सकता।

(८) साधु समाधि

सम्यग्दृष्टि साधुके तपमें तथा आत्मसिद्धिमें विघ्न आता देखकर उसे दूर करने का भाव और उनके समाधि बनी रहे ऐसा जो भाव है सो साधु समाधि है, यह शुभराग है। यथार्थतया ऐसा राग सम्यग्दृष्टिके ही होता है, किन्तु उनके यह रागकी भावना नहीं होती।

(९) वैयावृत्त्यकरण

वैयावृत्त्यका अर्थ है सेवा। रोगी, छोटी उमरके या वृद्ध मुनियों की सेवा करना सो वैयावृत्त्यकरण है। 'साधु समाधि' का अर्थ है कि उसमें साधुका चित्त संतुष्ट रखना और 'वैयावृत्त्यकरण' में तपस्वियोंके योग्य साधन एकत्रित करना जो सदा उपयोगी हों—इस हेतुसे जो दान दिया जावे सो वैयावृत्त्य है' किन्तु साधुसमाधि नहीं। साधुओंके स्थानको साफ रखना,

दुःखके कारण उत्पन्न हुए देखकर उनके पैर दाबना इत्यादि प्रकार से जो सेवा करना सो भी वैयावृत्त्य है; यह शुभराग है।

(१०-१३) अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत और प्रवचन भक्ति

भक्ति दो तरह की है—एक शुद्धभावरूप और दूसरी शुभभावरूप। सम्यग्दर्शन यह परमार्थ भक्ति अर्थात् शुद्धभावरूप भक्ति है। सम्यग्दृष्टिकी निश्चय भक्ति शुद्धात्म तत्त्वकी भावनारूप है; वह शुद्धभावरूप होने से बंध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभ भावरूप जो सराग भक्ति होती है वह पंच परमेष्ठीकी आराधनारूप है (देखो श्री हिन्दी समयसार, आस्रव अधिकार गाथा १७३ से १७६ जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका, पृष्ठ २५०)

१—अर्हंत और आचार्यका पंच परमेष्ठीमें समावेश हो जाता है। सर्वज्ञ केवली जिन भगवान अर्हंत हैं, वे संपूर्ण धर्मोपदेशके विधाता हैं; वे साक्षात् ज्ञानी पूर्ण वीतराग हैं। २—साधु संघमें जो मुख्य साधु हो उनको आचार्य कहते हैं; वे सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्रके पालक हैं और दूसरोंको उसमें निमित्त होते हैं, उनके अधिक वीतरागता प्रगट होती है। ३—बहुश्रुतका अर्थ 'बहुज्ञानी' 'उपाध्याय' या 'सर्व शास्त्र सम्पन्न' होता है। ४—सम्यग्दृष्टि की जो शास्त्र की भक्ति है सो प्रवचन भक्ति है। इस भक्तिमें जितना रागभाव है वह आस्रवका कारण है ऐसा समझना।

(१४) आवश्यक अपरिहाणि

आवश्यक अपरिहाणिका अर्थ है 'आवश्यक क्रियाओंमें हानि न होने देना। जब सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धभावमें नहीं रह सकता तब अशुभभाव दूर करने से शुभभाव रह जाता है; इस समय शुभरागरूप आवश्यक क्रियायें उसके होती हैं। उस आवश्यक क्रियाके भावमें हानि न होने देना उसे आवश्यक अपरिहाणि कहा जाता है। यह क्रिया आत्माके शुभभावरूप है किन्तु जड़ शरीरकी अवस्थामें आवश्यक क्रिया नहीं होती और न आत्मा से शरीर की क्रिया हो सकती है।

(१५) मार्गप्रभावना

सम्यग्ज्ञानके माहात्म्यके द्वारा, इच्छा निरोधरूप सम्यक्तप के द्वारा तथा जिनपूजा इत्यादि के द्वारा धर्मको प्रकाशित करना सो मार्गप्रभावना है। प्रभावनामें सबसे श्रेष्ठ आत्मप्रभावना है, जो कि रत्नत्रयके तेजसे देदीप्यमान होने से सर्वोत्कृष्ट फल देती है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभरागरूप प्रभावना है वह आस्रव बंधका कारण है परन्तु सम्यग्दर्शनादिरूप जो प्रभावना है वह आस्रव-बंधका कारण नहीं है।

(१६) प्रवचन वात्सल्य

साधर्मियोंके प्रति प्रीति रखना सो वात्सल्य है। वात्सल्य और भक्ति में यह अन्तर है कि वात्सल्य तो छोटे बड़े सभी साधर्मियों के प्रति होता है और भक्ति अपने से जो बड़ा हो उसके प्रति होती है। श्रुत और श्रुतके धारण करनेवाले दोनों के प्रति वात्सल्य रखना सो प्रवचन वात्सल्य है। यह शुभरागरूप भाव है, सो आस्रव-बंधका कारण है।

तीर्थंकरोंके तीन भेद

तीर्थंकर देव तीन तरह के हैं—(१) पंच कल्याणिक (२) तीन कल्याणिक और (३) दो कल्याणिक। जिनके पूर्वभवमें तीर्थंकर प्रकृति बँध गई हो उनके तो नियमसे गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पाँच कल्याणक होते हैं। जिनके वर्तमान मनुष्य पर्यायके भवमें ही गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर प्रकृति बँध जाती है उनके तप, ज्ञान और निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं और जिनके वर्तमान मनुष्य पर्यायके भवमें मुनि दीक्षा लेकर फिर तीर्थंकर प्रकृति बँधती है उनके ज्ञान और निर्वाण ये दो ही कल्याणक होते हैं। दूसरे और तीसरे प्रकारके तीर्थंकर महा विदेह क्षेत्रमें ही होते हैं। महा विदेहमें जो पंच कल्याणिक तीर्थंकर हैं, उनके अतिरिक्त दो और तीन कल्याणक वाले भी तीर्थंकर होते हैं, तथा वे महाविदेहके जिस क्षेत्रमें दूसरे तीर्थंकर न हों वहां ही होते हैं। महाविदेह क्षेत्रके अलावा भरत-ऐरावत क्षेत्रोंमें जो तीर्थंकर होते हैं वे सभी को नियमसे पंच कल्याणिक ही होते हैं।

अरिहंतोंके सात भेद

ऊपर जो तीर्थंकरोंके तीन भेद कहे वे तीनों भेद अरिहंतोंके समझना और उनके अनंतर दूसरे भेद निम्नप्रकार हैं:—

(४) सातिशय केवली—जिन अरिहंतोंके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता परन्तु गंधकुटी इत्यादि विशेषता होती है उन्हें सातिशय केवली कहते हैं।

(५) सामान्य केवली—जिन अरिहंतोंके गंधकुटी इत्यादि विशेषता न हो उन्हें सामान्य केवली कहते हैं।

(६) अंतकृत केवली—जो अरिहंत केवलज्ञान प्रगट होनेपर लघु अंतर्मुहूर्तकालमें ही निर्वाणको प्राप्त होते हैं उन्हें अंतकृत केवली कहा जाता है।

(७) उपसर्ग केवली—जिनके उपसर्ग अवस्थामें ही केवलज्ञान हुआ हो उन अरिहंतोंको उपसर्ग केवली कहा जाता है (देखो सत्ता स्वरूप-गुजराती पृष्ठ ३८-३९) केवलज्ञान होने के बाद उपसर्ग हो ही नहीं सकता।

अरिहंतोंके ये भेद पुण्य और संयोग की अपेक्षासे समझना; केवलज्ञानादि गुणोंमें तो सभी अरिहंत समान ही हैं।

इस सूत्रका सिद्धांत

(१) जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है उस भावको अथवा उस प्रकृतिको जो जीव धर्म माने या उपादेय माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह रागको–विकारको धर्म मानता है। जिस शुभभावसे तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव–बंध हो उस भाव या उस प्रकृतिको सम्यग्दृष्टि उपादेय नहीं मानते। सम्यग्दृष्टिके जिस भावसे तीर्थंकर प्रकृति बँधती है वह पुण्य-भाव है, उसे वे आदरणीय नहीं मानते। (देखो परमात्म प्रकाश अध्याय २, गाथा ५४ की टीका, पृष्ठ १९५)

(२) जिसे आत्माके स्वरूप की प्रतीति नहीं उसके शुद्धभावरूप भक्ति अर्थात् भावभक्ति तो होती ही नहीं किन्तु इस सूत्रमें कही हुई सत्‌के प्रति शुभरागवाली व्यवहार भक्ति अर्थात् द्रव्यभक्ति भी वास्तवमें नहीं होती, लौकिक भक्ति भले हो (देखो परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा १४३ की टीका, पृष्ठ २०३, २८८)

(३) सम्यग्दृष्टिके सिवाय अन्य जीवोंके तीर्थंकर प्रकृति होती ही नहीं। इससे सम्यग्दर्शनका परम माहात्म्य जानकर जीवों को उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। सम्यग्दर्शनके अतिरिक्त धर्मका प्रारम्भ अन्य किसी से नहीं अर्थात् सम्यग्दर्शन ही धर्मकी शुरूआत-इकाई है और सिद्ध-दशा उस धर्मकी पूर्णता है ॥ २४ ॥

अब गोत्रकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं :—

नीच गोत्रके आस्रवके कारण

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—[परात्मनिंदाप्रशंसे] दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करना [सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च] तथा प्रगट गुणोंको छिपाना और अप्रगट गुणोंको प्रसिद्ध करना सो [नीचैर्गोत्रस्य] नीचगोत्र-कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

एकेन्द्रियसे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत तक सभी तिर्यंच, नारकी तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य इन सबके नीच गोत्र है। देवोंके उच्च-गोत्र है, गर्भज मनुष्योंके दोनों प्रकारके गोत्रकर्म होते हैं ॥ २५ ॥

उच्च गोत्रकर्मके आस्रवके कारण

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

अर्थ—[तद्विपर्ययः] उस नीच गोत्रकर्मके आस्रवके कारणोंसे विपरीत अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिंदा इत्यादि [च] तथा [नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ] नम्रवृत्ति होना तथा मदका अभाव-सो [उत्तरस्य] दूसरे गोत्रकर्मके अर्थात् उच्च गोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

यहाँ नम्रवृत्ति होना और मदका अभाव होना सो अशुभभावका अभाव समझना; उसमें जो शुभभाव है सो उच्च गोत्रकर्मके आस्रवका कारण है। 'अनुत्सेक' का अर्थ है अभिमानका न होना ॥ २६ ॥

यहाँ तक सात कर्मोंके आस्रवके कारणोंका वर्णन किया। अब अंतिम अंतराय कर्मके आस्रवके कारण बताकर यह अध्याय पूर्ण करते हैं।

अंतराय कर्मके आस्रवके कारण

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—[विघ्नकरणम्] दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्यमें विघ्न करना सो [अंतरायस्य] अंतराय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

इस अध्यायके १० से २७ तक के सूत्रोंमें कर्मके आस्रवका जो कथन किया है वह अनुभाग संबंधी नियम बतलाता है। जैसे किसी पुरुषके दान देनेके भावमें किसी ने अंतराय किया तो उस समय उसके जिन कर्मोंका आस्रव हुआ, यद्यपि वह सातों कर्मोंमें पहुँच गया तथापि उस समय दानां-

तराय कर्ममें अधिक अनुभाग पड़ा और अन्य प्रकृतियोंमें मंद अनुभाग पड़ा। प्रकृति और प्रदेश बंधमें योग निमित्त है तथा स्थिति और अनुभागबंधमें कषायभाव निमित्त है ॥ २७ ॥

उपसंहार

(१) यह आस्रव अधिकार है। जो कषाय सहित योग होता है वह आस्रवका कारण है, उसे सांपरायिक आस्रव कहते हैं। कषाय शब्दमें मिथ्यात्व, अविरति और कषाय इन तीनोंका समावेश हो जाता है, इसीलिये अध्यात्म शास्त्रोंमें मिथ्यात्व अविरति, कषाय तथा योगको आस्रवका भेद गिना जाता है। यदि उन भेदों को बाह्यरूपसे स्वीकार करे और अंतरंगमें उन भावोंकी जाति की यथार्थ पहचान न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है और उसके आस्रव होता है।

(२) योगको आस्रवका कारण कहकर योगके उपविभाग करके सकषाय योग और अकषाय योगको आस्रवका कारण कहा है। और २५ प्रकार की विकारी क्रिया और उसका परके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है यह भी बताया गया है।

(३) अज्ञानी जीवों के जो रागद्वेष, मोहरूप आस्रवभाव है उसके नाश करने की तो उसे चिंता नहीं और बाह्य क्रिया तथा बाह्य निमित्तोंको दूर करने का यह जीव उपाय करता है, परन्तु इसके मिटने से कहीं आस्रव नहीं मिटते। दृष्टांत —द्रव्यलिंगी मुनि अन्य कुदेवादिक की सेवा नहीं करता, हिंसा तथा विषयमें प्रवृत्ति नहीं करता, क्रोधादि नहीं करता तथा मन वचन कायको रोकनेका भाव करता है तो भी उसके मिथ्यात्वादि चार आस्रव होते हैं, पुनश्च ये कार्य वे कपटसे भी नहीं करते, क्योंकि यदि कपटसे करे तो वह ग्रैवेयक तक कैसे पहुँचे ? सिद्धांत—इससे यह सिद्ध होता है कि जो बाह्य शरीरादिक की क्रिया है वह आस्रव नहीं है किंतु अंतरंग अभिप्रायमें जो मिथ्यात्वादि रागादिभाव है वही आस्रव है, जो जीव उसे नहीं पहचानता उस जीवके आस्रव तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नहीं।

(४) सम्यग्दर्शन हुये विना आस्रव तत्व किंचित् मात्र भी दूर नहीं होता, इसलिये जीवोंको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका यथार्थ उपाय प्रथम करना चाहिये। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानके विना किसी भी जीवके आस्रव दूर नहीं होता और न;धर्म होता है।

(५) मिथ्यादर्शन संसारका मूल कारण है और आत्माके यथार्थ स्वरूपका जो अवर्णवाद है सो मिथ्यात्वके आस्रवका कारण है इसलिये अपने स्वरूपका तथा आत्माकी शुद्ध पर्यायोंका अवर्णवाद न करना अर्थात् जैसा स्वरूप है वैसा यथार्थ समझ कर प्रतीति करना (देखो सूत्र १३ तथा उसकी टीका)

(६) इस अध्यायमें वताया है कि सम्यग्दृष्टि जीवोंके समिति, अनुकंपा, व्रत, सरागसंयम, भक्ति, तप, त्याग, वैयावृत्य, प्रभावना, आवश्यक क्रिया इत्यादि जो शुभभाव हैं वे सव आस्रव-वंधके कारण हैं; मिथ्यादृष्टिके तो वास्तवमें ऐसे शुभभाव होते नहीं, उसके व्रत-तपके शुभभावको 'वालव्रत' और 'वालतप' कहा जाता है।

(७) मृदुता, परकी प्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्रता, अनुत्सेकता ये शुभराग होनेसे वन्धके कारण हैं; तथा राग कपायका अंश है अतः इससे घाति तथा अघाति दोनों प्रकारके कर्म वँधते हैं तथा यह शुभभाव है अतः अघाति कर्मोंमें शुभआयु, शुभगोत्र, साता वेदनीय तथा शुभनामकर्म वँधते हैं; और इससे विपरीत अशुभभावोंके द्वारा अशुभ अघाति कर्म भी वँधते हैं। इस तरह शुभ और अशुभ दोनों भाव वन्धके ही कारण हैं अर्थात् यह सिद्धान्त निश्चित है कि शुभ या अशुभ भाव करते करते उससे कभी शुद्धता प्रगट ही नहीं होती।

(८) सम्यग्दर्शन आत्माका पवित्र भाव है, यह स्वयं वन्धका कारण नहीं; किंतु यहाँ यह वताया है कि जव सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें शुभ राग हो तव उस रागके निमित्तसे किस तरहके कर्मका आस्रव होता है। वीतरागता प्रगट होने पर मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है। यह आस्रव एक ही समयका

होता है (अर्थात् इसमें लम्बी स्थिति नहीं होती तथा अनुभाग भी नहीं होता) । इस पर से यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जितने जितने अंशमें वीतरागता होती है उतने उतने अंशमें आस्रव और बन्ध नहीं होते तथा जितने अंशमें राग द्वेष होता है उतने अंशमें आस्रव और बन्ध होता है । अत ज्ञानीके तो अंशमें आस्रव-बन्धका निरन्तर अभाव रहता है। मिथ्यादृष्टिके उस शुभाशुभ रागका स्वामित्व है अत उसके किसी भी अंश में राग द्वेषका अभाव नहीं होता और इसीलिये उसके आस्रव-बन्ध दूर नहीं होते । सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें आगे बढ़ने पर जीवके किस तरहके शुभ भाव आते हैं इसका वर्णन अब सातवें अध्यायमें करके आस्रवका वर्णन पूर्ण करेंगे । उसके बाद आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका और नवमें अध्यायमें संवर तथा निर्जरा तत्त्वका स्वरूप कहा जायगा । धर्मका प्रारंभ सम्यग्दर्शन से होता है । सम्यग्दर्शन होने पर संवर होता है, संवरपूर्वक निर्जरा होती है और निर्जरा होने पर मोक्ष होता है, इसीलिये मोक्ष तत्त्वका स्वरूप अंतिम अध्यायमें बतलाया गया है ।

और इस अध्यायमें यह भी बताया है कि जीवके विकारी भावोंका पर द्रव्यके साथ कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है ।

इस तरह श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की
गुजराती टीका के हिन्दी अनुवाद में छट्ठा
अध्याय समाप्त हुआ ।



❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्ष शास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका





सातवाँ अध्याय




टीका सम्पादक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

अध्याय सातवाँ



भूमिका

आचार्य भगवान ने इस शास्त्रका प्रारंभ करते हुये पहले ही सूत्रमें यह कहा है कि 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग है।' उसमें गर्भित रूपसे यह भी आगया कि इससे विरुद्धभाव अर्थात् शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु संसारमार्ग है। इसप्रकार इस सूत्रमें जो विषय गर्भित रखा था वह विषय आचार्यदेवने इन छठ्ठे-सातवें अध्यायोंमें स्पष्ट किया है। छठ्ठे अध्यायमें कहा है कि शुभाशुभ दोनों भाव आस्रव हैं और इस विषयको अधिक स्पष्ट करने के लिये इस सातवें अध्यायमें मुख्यरूपसे शुभास्रवका अलग वर्णन किया है।

पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें जो सात तत्त्व कहे हैं उनमें से जगतके जीव आस्रव तत्त्वकी अजानकारी के कारण ऐसा मानते हैं कि 'पुण्यसे धर्म होता है।' कितने ही लोग शुभयोगको संवर मानते हैं तथा कितने ही ऐसा मानते हैं कि अणुव्रत महाव्रत-मैत्री इत्यादि भावना, तथा करुणाबुद्धि इत्यादि से धर्म होता है अथवा यह धर्मका (संवर का) कारण होता है, किन्तु यह मान्यता अज्ञानसे भरी हुई है। ये अज्ञान दूर करने के लिये खास रूपसे यह एक अध्याय अलग बनाया है और उसमें इस विषयको स्पष्ट किया है।

धर्म की अपेक्षासे पुण्य और पापका एकत्व गिना जाता है। श्री समयसारमें यह सिद्धांत १४५ से लेकर १६३ वीं गाथा तक में समझाया है। उसमें पहले ही १४५ वीं गाथामें कहा है कि लोग ऐसा मानते हैं कि अशुभ कर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है, परन्तु जो संसारमें प्रवेश कराये वह

सुशील कैसे होगा ? नहीं हो सकता। इसके बाद १५४ वीं गाथामें कहा है कि जो जीव परमार्थसे बाह्य हैं वे मोक्षके कारणको नहीं जानते हुये (-यद्यपि पुण्य संसारका कारण है तथापि) अज्ञानसे पुण्यको चाहते हैं। इस तरह धर्मकी अपेक्षासे पुण्य-पापका एकत्व बतलाया है। पुनश्च-श्री प्रवचनसार गाथा ७७ में भी कहा है कि—पुण्य पापमें विशेष नहीं (अर्थात् समानता है) जो ऐसा नहीं मानता वह मोहसे आच्छन्न है और घोर अपार संसारमें भ्रमण करता है।

उपरोक्त कारणों से आचार्यदेव ने इस शास्त्रमें पुण्य और पापका एकत्व स्थापन करने के लिये उन दोनों को ही आस्रवमें समावेश करके उसे लगातार छट्ठे और सातवें इन दो अध्यायोंमें कहा है; उसमें छट्ठा अध्याय पूर्ण होने के बाद इस सातवें अध्यायमें आस्रव अधिकार चालू रखा है और उसमें शुभास्रवका वर्णन किया है।

इस अध्यायमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके होनेवाले व्रत, दया, दान, करुणा, मैत्री इत्यादि भाव भी शुद्ध आस्रव हैं और इसीलिये वे बंधके कारण हैं; तो फिर मिथ्यादृष्टि जीवके (-जिसके यथार्थ व्रत हो ही नहीं सकते) उसके शुभभाव धर्म, संवर या उसका कारण किस तरह हो सकता है ? कभी हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—शास्त्रमें कई जगह कहा जाता है कि शुभभाव परंपरासे धर्मका कारण है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव जब अपने चारित्र स्वभावमें स्थिर नहीं रह सकते तब रागद्वेष तोड़नेका पुरुषार्थ करते हैं, किंतु पुरुषार्थ कमजोर होने से अशुभभाव दूर होता है और शुभभाव रह जाता है। वे उस शुभभावको धर्म या धर्मका कारण नहीं मानते, किन्तु उसे आस्रव जानकर दूर करना चाहते हैं। इसीलिये जब वह शुभभाव दूर हो जाय तब जो शुभभाव दूर हुआ उसे शुद्धभाव (-धर्म) का परम्परासे कारण कहा जाता है। साक्षात्

रूपसे वह भाव शुभास्रव होने से बंधका कारण है और जो बंधका कारण होता है वह संवरका कारण कभी नहीं हो सकता।

अज्ञानीके शुभभावको परंपरा अनर्थका कारण कहा है अज्ञानी तो शुभभावको धर्म या धर्मका कारण मानता है और उसे वह भला जानता है इसीलिये उसका शुभभाव साक्षात् बंधका कारण है और उसे थोड़े समयमें दूर करके स्वयं अशुभ रूपसे परिणमेगा। इसतरह अज्ञानीका शुभभाव तो अशुभभावका (-पापका) परम्परा कारण कहा जाता है अर्थात् वह शुभको दूर कर जब अशुभरूपमें परिणमता है तब पूर्वका जो शुभभाव दूर हुआ उसे अशुभभावका परम्परासे कारण हुआ कहा जाता है।

इतनी भूमिका लक्षमें रखकर इस अध्यायके सूत्रोंमें रहे हुये भाव बराबर समझने से वस्तु स्वरूपकी भूल दूर हो जाती है।

व्रतका लक्षण

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थः—[हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति] हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अर्थात् पदार्थोंके प्रति ममत्वरूप परिणाम—इन पाँच पापोंसे (बुद्धिपूर्वक) निवृत्त होना सो [व्रतम्] व्रत है।

टीका

१ इस अध्यायमें आस्रव तत्त्वका निरूपण किया है। छट्ठे अध्यायके १२ वें सूत्रमें कहा था कि व्रतीके प्रति जो अनुकंपा है सो सातावेदनीयके आस्रवका कारण है, किन्तु वहाँ मूल सूत्रमें व्रतीकी व्याख्या नहीं की गई थी, इसीलिये यहाँ इस सूत्रमें व्रतका लक्षण दिया गया है। इस अध्यायके १८ वें सूत्रमें कहा है कि "निःशल्यो व्रती"—मिथ्यादर्शन आदि शल्यरहित ही जीव व्रती होता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टिके कभी व्रत होते ही नहीं, सम्यग्दृष्टि जीवके ही व्रत हो सकते हैं। भगवान ने मिथ्यादृष्टिके शुभरागरूप

व्रतको बालव्रत कहा है। (देखो श्री समयसार गाथा १५२ तथा उसकी टीका) 'बाल' का अर्थ अज्ञान है।

इस अध्यायमें महाव्रत और अणुव्रत भी आस्रवरूप कहे हैं, इसलिये वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? आस्रव तो बंधका साधक है अतः महाव्रत और अणुव्रत भी बंधके साधक हैं और वीतराग भावरूप जो चारित्र है सो मोक्षका साधक है; इससे महाव्रतादिरूप आस्रव भावोंको चारित्रपना संभव नहीं। सर्व कषाय रहित जो उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि अधिक दोषवाली हरित् कायका त्याग करता है तथा दूसरे हरित् कायका आहार करता है, किन्तु उसे धर्म नहीं मानता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्र कषाय रूप भावोंका त्याग करता है तथा कोई मंदकषायरूप महाव्रत-अणुव्रतादि पालता है, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता।

२. प्रश्न—यदि यह बात है तो महाव्रत और देशव्रतको चारित्रके भेदोंमें किसलिये कहा है?

(देखो रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा ४६-५०)

उत्तर—वहाँ उस महाव्रतादिकको व्यवहार चारित्र कहा गया है और व्यवहार नाम उपचारका है। निश्चयसे तो जो निष्कषाय भाव है वही यथार्थ चारित्र है। सम्यग्दृष्टिका भाव मिश्ररूप है अर्थात् कुछ वीतरागरूप हुआ है और कुछ सराग है; अतः जहाँ अंशमें वीतराग चारित्र प्रगट हुआ है वहाँ जिस अंशमें सरागता है वह महाव्रतादिरूप होता है, ऐसा सम्बन्ध जानकर उस महाव्रतादिकमें चारित्रका उपचार किया है; किन्तु वह स्वयं यथार्थ चारित्र नहीं, परन्तु शुभभाव है—आस्रवभाव है। उस शुभभावको धर्म मानना सो यह मान्यता आस्रवतत्त्वको संवरतत्त्व माननेरूप है इसीलिए यह मान्यता मिथ्या है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३७)

चारित्रका विषय इस शास्त्रके ९ वें अध्यायके १८ वें सूत्रमें लिया है, वहां इस सम्बन्धी टीका लिखी है, वह यहाँ भी लागू होती है।

४—व्रत दो प्रकारके हैं—निश्चय और व्यवहार। राग द्वेषादि विकल्पसे रहित होना सो निश्चयव्रत है (देखो द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका) सम्यग्दृष्टि जीवके स्थिरताकी वृद्धिरूप जो निर्विकल्पदशा है सो निश्चयव्रत है, उसमें जितने अंशमें वीतरागता है उतने अंशमें यथार्थ चारित्र है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यके आलंबन छोड़नेरूप जो शुभभाव है सो अणुव्रत-महाव्रत हैं, उसे व्यवहारव्रत कहते हैं। इस सूत्रमें व्यवहारव्रतका लक्षण दिया है, इसमें अशुभभाव दूर होता है किन्तु शुभभाव रहता है, वह पुण्यास्रवका कारण है।

५—श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ५२ की टीकामें व्रत पुण्य बन्धका कारण है और अव्रत पापबन्धका कारण है यह बताकर इस सूत्र का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

"इसका अर्थ है कि— प्राणियोंको पीड़ा देना, झूठा वचन बोलना, परधन हरण करना, कुशीलका सेवन और परिग्रह इनसे विरक्त होना सो व्रत है; ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं, यह व्यवहारनयसे एकदेशव्रत हैं ऐसा कहा है।

जीवघातमें निवृत्ति-जीवदयामें प्रवृत्ति, असत्य वचनमें निवृत्ति और सत्य वचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति-अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादि रूपसे वह एकदेशव्रत है।" (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १९१-१९२) यहाँ अणुव्रत और महाव्रत दोनोंको एकदेशव्रत कहा है।

उसके बाद वहीं निश्चयव्रतका स्वरूप निम्नप्रकार कहा है (निश्चय व्रत अर्थात् स्वरूपस्थिरता अथवा सम्यक्चारित्र)—

"और रागद्वेषरूप संकल्प विकल्पोंकी तरंगोंसे रहित तीन गुप्तियोंसे गुप्त समाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है।"

(परमात्मप्रकाश पृष्ठ १९२)

सम्यग्दृष्टिके जो शुभाशुभका त्याग और शुद्धका ग्रहण है सो निश्चय व्रत है और उनके अशुभका त्याग और शुभका जो ग्रहण है सो व्यवहारव्रत

है—ऐसा समझना। मिथ्यादृष्टिके निश्चय या व्यवहार दोनोंमें से किसी भी तरहके व्रत नहीं होते। तत्त्वज्ञानके बिना महाव्रतादिकका आचरण मिथ्या-चारित्र ही है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिके बिना व्रतरूपी वृक्ष ही नहीं होता।

६ इस सूत्रका सिद्धान्त

जीवोंको सबसे पहले तत्त्वज्ञानका उपाय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करना चाहिये, उसे प्रगट करनेके बाद निजस्वरूपमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करना और जब स्थिर न रह सके तब अशुभभावको दूर कर देशव्रत-महाव्रतादि शुभभावमें लगे किन्तु उस शुभको धर्म न माने तथा उसे धर्मका अंश या धर्मका साधन न माने। पश्चात् उस शुभभावको भी दूर कर निश्चय चारित्र प्रगट करना अर्थात् निर्विकल्प दशा प्रगट करना चाहिये।

व्रतके भेद

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थ—व्रतके दो भेद हैं- [देशतः अणु] उपरोक्त हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग करना सो अणुव्रत और [सर्वतः महती] सर्वदेश त्याग करना सो महाव्रत है।

टीका

१—शुभभावरूप व्यवहारव्रतके ये दो भेद हैं। पाँचवें गुणस्थानमें देशव्रत होता है और छट्ठे गुणस्थानमें महाव्रत होता है। छट्ठे अध्यायके २० वें सूत्रमें कहा गया है कि यह व्यवहारव्रत आस्रव है। निश्चयव्रतकी अपेक्षासे ये दोनों प्रकारके व्रत एकदेश व्रत हैं (देखो सूत्र १ की टीका, पैरा ५) सातवें गुणस्थानमें निर्विकल्प दशा होने पर यह व्यवहार महाव्रत भी छूट जाता है और आगे की अवस्थामें निर्विकल्प दशा विशेष-२ दृढ़ होती है इसीलिये वहाँ भी ये महाव्रत नहीं होते।

२—सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावक होता है वह संकल्प पूर्वक त्रस जीवकी हिंसा न करे, न करावे तथा यदि दूसरा कोई करे तो उसे भला नहीं समझता। उसके स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं तथापि बिना प्रयोजन

स्थावर जीवोंकी विराधना नहीं करता और प्रयोजनवश पृथ्वी, जल इत्यादि जीवोंकी विराधना होती है उसे भली अच्छी नहीं जानता।

३. प्रश्न—इस शास्त्रके अध्याय ६ के सूत्र १८ में व्रतको सवर कहा है और अध्याय ९ के सूत्र २ में उसे सवरके कारण में गर्भित किया है वहाँ दश प्रकार के धर्ममें अथवा सयममें उसका समावेश है अर्थात् उत्तम क्षमामें अहिंसा, उत्तम सत्यमें सत्य वचन, उत्तम शौचमें अचौर्य, उत्तम ब्रह्मचर्यमें ब्रह्मचर्य और उत्तम आकिंचन्यमें परिग्रह त्याग-इस तरह व्रतोंका समावेश उसमें हो जाता है, तथापि यहा व्रतको आस्रवका कारण क्यों कहा है ?

उत्तर—इसमें दोष नहीं, नवमा सवर अधिकार है वहा निवृत्तिस्वरूप वीतराग भावरूप व्रतको सवर कहा है और यहा आस्रव अधिकार है इसमें प्रवृत्ति दिखाई जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि छोड़ देने पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य वस्तुका ग्रहण वगैरह क्रिया होती है इसीलिये ये व्रत शुभ कर्मोंके आस्रवके कारण हैं। इन व्रतोंमें भी अव्रतोंकी तरह कर्मोंका प्रवाह होता है, इससे कर्मोंकी निवृत्ति नहीं होती इसीलिये आस्रव अधिकारमें व्रतोंका समावेश किया है (देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५-६)

४—मिथ्यात्व सदृश महापापको मुख्यरूपसे छुड़ाने की प्रवृत्ति न करना और कुछ बातोंमें हिंसा बताकर उसे छुड़ानेकी मुख्यता करना सो क्रमभग उपदेश है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ५ पृष्ठ २३६ दे०)

५—एकदेश वीतरागता और श्रावक की व्रतरूप दशाके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, अर्थात् एकदेश वीतरागता होने पर श्रावकके व्रत होते ही हैं, इस तरह वीतरागताके और महाव्रतके भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, धर्म की परीक्षा अतरग वीतरागभावसे होती है, शुभभाव और बाह्य सयोग से नहीं होती। (मो० प्रकाशक)

६. इस सूत्रमें कहे हुए त्यागका स्वरूप

यहाँ छद्मस्थके बुद्धिगोचर स्थूलत्वकी अपेक्षासे लोक प्रवृत्तिकी मुख्यता सहित कथन किया है किंतु केवल ज्ञानगोचर सूक्ष्मत्वकी दृष्टिसे नहीं कहा, क्योंकि इसका आचरण हो नहीं सकता। इसका उदाहरणः—

(१) अहिंसा व्रत सम्बन्धी

अणुव्रतीके त्रसहिंसाका त्याग कहा है; उसके स्त्रीसेवनादि कार्योंमें तो त्रसहिंसा होती है, पुनश्च यह भी जानता है कि जिनवाणीमें यहाँ त्रस-जीव कहे हैं, परन्तु उसके त्रसजीव मारनेका अभिप्राय नहीं तथा लोकमें जिसका नाम त्रसघात है उसे वह नहीं करता; इस अपेक्षासे उसके त्रसहिंसा का त्याग है।

महाव्रतधारी मुनिके स्थावर हिंसाका भी त्याग कहा। अब मुनि पृथ्वी, जलादिकमें गमन करता है; वहाँ त्रसका भी सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि त्रस जीवों की भी ऐसी सूक्ष्म अवगाहना है कि जो दृष्टिगोचर भी नहीं होती, तथा उसकी स्थिति भी पृथ्वी जलादिकमें है। पुनश्च मुनि जिन-वाणीसे यह जानते हैं और किसी समय अवधिज्ञानादिके द्वारा भी जानते हैं; परन्तु मुनिके प्रमादसे स्थावर त्रसहिंसाका अभिप्राय नहीं होता, लोकमें पृथ्वी खोदना, अप्रासुक जलसे क्रिया करना इत्यादि प्रवृत्तिका नाम स्थावर हिंसा है और स्थूल त्रस जीवोंको पीड़ा पहुँचानेका नाम त्रसहिंसा है। उसे मुनि नहीं करते इसीलिये उनके हिंसाका सर्वथा त्याग कहा जाता है।

(२) सत्यादि चार व्रत सम्बन्धी

मुनिके असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग है, परन्तु केवलज्ञानमें जानने की अपेक्षासे असत्यवचनयोग बारहवें गुणस्थान पर्यंत कहा है, अदत्त कर्म परमाणु आदि परद्रव्योंका ग्रहण तेरहवें गुणस्थान तक है, वेदका उदय नवमें गुणस्थान तक है, अंतरंग परिग्रह दसमें गुणस्थान तक है, तथा समवशरणादि बाह्य परिग्रह केवली भगवानके भी होता है, परन्तु वहाँ प्रमादपूर्वक पापरूप अभिप्राय नहीं है। लोकप्रवृत्तिमें जिन क्रियाओंसे

ऐसा नाम प्राप्त करता है कि 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है तथा परिग्रह रखता है' ये क्रियायें उनके नहीं हैं इसीलिये उनके असत्यादिकका त्याग कहा गया है।

(३) मुनिके मूलगुणोंमें पांच इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कहा है किन्तु इन्द्रियोंका जानना तो नहीं मिटता तथा यदि विषयोंमें राग द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो वहाँ यथाख्यातचारित्र हो जाय वह तो यहाँ हुआ नहीं, परन्तु स्थूलरूपसे विषय इच्छाका अभाव हुआ है तथा बाह्य विषय सामग्री मिलाने की प्रवृत्ति दूर हुई है इसीलिये उनके इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कहा है।

(४) त्रसहिंसाके त्याग सम्बन्धी

यदि किसी ने त्रसहिंसाका त्याग किया तो वहां उसे चरणानुयोग में अथवा लोकमें जिसे त्रसहिंसा कहते हैं उसका त्याग किया है। किन्तु केवलज्ञानके द्वारा जो त्रसजीव देखे जाते हैं उसकी हिंसाका त्याग नहीं बनता। यहां जिस त्रसहिंसाका त्याग किया उसमें तो उस हिंसारूप मनका विकल्प न करना सो मनसे त्याग है, वचन न बोलना सो वचनसे त्याग है और शरीरसे न प्रवर्तना सो कायसे त्याग है ॥ २ ॥ (मोक्षमार्ग प्रकाशकसे)

अब व्रतोंमें स्थिरताके कारण बतलाते हैं

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥

अर्थ—[तत्स्थैर्यार्थं] उन व्रतोंकी स्थिरताके लिए [भावनाः पंच पंच] प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनाएँ हैं।

किसी वस्तुका बारबार विचार करना सो भावना है ॥ ३ ॥

अहिंसा व्रतकी पांच भावनायें

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-भोजनानि पंच ॥ ४ ॥

अर्थ—[वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि] वचनगुप्ति—वचनको रोकना, मनगुप्ति—मनकी प्रवृत्तिको रोकना, ईर्यासमिति—चार हाथ जमीन देखकर चलना आदाननिक्षेपणसमिति जीव-रहित भूमि देखकर सावधानी से किसी वस्तुको उठाना धरना और आलो-कितपानभोजन—देखकर—शोधकर भोजन पानी ग्रहण करना [पंच] ये पांच अहिंसा व्रतकी भावनायें हैं।

टीका

१—जीव परद्रव्यका कुछ कर नहीं सकता, इसीलिये वचन, मन इत्यादि की प्रवृत्तिको जीव रोक नहीं सकता किन्तु बोलने के भावको तथा मनकी तरफ लक्ष करने के भावको रोक सकता है, उसे वचनगुप्ति तथा मनगुप्ति कहते हैं। ईर्यासमिति आदिमें भी इसी प्रमाणसे अर्थ होता है। जीव शरीरको चला नहीं सकता किन्तु स्वयं एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जाने का भाव करता है और शरीर अपनी उस समयकी क्रियावती शक्तिकी योग्यताके कारण चलने लायक हो तो स्वयं चलता है। जब जीव चलनेका भाव करता है तब प्रायः शरीर उसकी अपनी योग्यतासे स्वयं चलता है—ऐसा निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध होता है इसीलिये व्यवहारनयकी अपेक्षासे 'वचनको रोकना, मनको रोकना, देखकर चलना, विचारकर बोलना' ऐसा कहा जाता है। इस कथनका यथार्थ अर्थ शब्दानुसार नहीं किन्तु भाव अनुसार होता है।

२. प्रश्न—यहां गुप्ति और समितिको पुण्यास्रवमें बताया और अध्याय ९ के सूत्र २ में उसे संवरके कारणमें बताया है—इसतरह से तो कथनमें परस्पर विरोध होगा?

उत्तर—यह विरोध नहीं, क्योंकि यहां गुप्ति तथा समितिका अर्थ अशुभवचनका निरोध तथा अशुभ विचारका निरोध होता है, तथा नवमें अध्यायके दूसरे सूत्रमें शुभाशुभ दोनों भावोंका निरोध अर्थ होता है।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ४ गाथा ६३ हिन्दी टीका पृष्ठ २१९)

३. प्रश्न—यहां कायगुप्तिको क्यों नहीं लिया?

उत्तरः—ईर्यासमिति और आदाननिक्षेपणसमिति [illegible] गुप्तिका अन्तर्भाव हो जाता है।

४ आलोकितपान भोजनमें रात्रिभोजनत्यागका [illegible] है।

सत्यव्रतकी पाँच भावनायें

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि[illegible] पंच ॥ ५ ॥

अर्थ—[क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि] [illegible] लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान अर्थात् [illegible] करना, लोभका त्याग करना, भयका त्याग करना, हास्यका [illegible] [अनुवीचिभाषणं च] और शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष [illegible] [पंच] ये पाँच सत्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

१ प्रश्न—सम्यग्दृष्टि निर्भय है इसलिये निर्भय [illegible] अवस्था चौथे गुणस्थानमें होती है तो फिर यहाँ सम्यग्दृष्टि [illegible] मुनिको भयका त्याग करनेको क्यों कहा?

उत्तर—चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टि [illegible] है [illegible] होती है [illegible] का [illegible] इसलिये उनको निर्भय कहा है [illegible] कहनेका [illegible] नहीं है कि वे चारित्रकी [illegible] चारित्र [illegible] गुणस्थान पर्यंत [illegible] होता है [illegible] तथा [illegible] भावना करनेको कहा है।

२. [illegible] है— [illegible] और (२) [illegible] [illegible] [illegible]

जाते हैं। आत्मस्वरूपके अज्ञानीको—(वर्तमानमें आत्मस्वरूपका निश्चय ज्ञान करनेकी मना करने वालेको)—अर्थात् आत्मस्वरूपके ज्ञानका उपदेश वर्तमानमें मिलानेके प्रति जिसे अरुचि हो उसे शुभभावरूप व्यवहारप्रत्याख्यान भी नहीं होता; मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि पाँच महाव्रत निरतिचार पालते हैं उनके भी इस भावनामें बताये हुये प्रत्याख्यान नहीं होते। क्योंकि ये भावनायें पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिके ही होती हैं, मिथ्यादृष्टिके नहीं होतीं।

३. अनुवीचिभाषण—यह भावना भी सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, क्योंकि उसे ही शास्त्रके मर्मकी खबर है इसीलिये वह सत् शास्त्रके अनुसार निर्दोष वचन बोलनेका भाव करता है। इस भावनाका रहस्य यह है कि सच्चे सुखकी खोज करने वालेको जो सत् शास्त्रोंके रहस्यका ज्ञाता हो और अध्यात्म रस द्वारा अपने स्वरूपका अनुभव जिसे भया हो ऐसे आत्मज्ञानीकी संगतिपूर्वक शास्त्रका अभ्यास करके उसका मर्म समझना चाहिये। शास्त्रोंके भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रयोजन साधनेके लिये अनेक प्रकारका उपदेश दिया है, उसे यदि सम्यग्ज्ञानके द्वारा यथार्थ प्रयोजन पूर्वक पहिचाने तो जीवके हित-अहितका निश्चय हो। इसलिये 'स्यात्' पदकी सापेक्षता सहित जो जीव सम्यग्ज्ञान द्वारा ही प्रीति सहित जिन वचनमें रमता है वह जीव थोड़े ही समयमें स्वानुभूतिसे शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करता है। मोक्षमार्गका प्रथम उपाय आगम ज्ञान कहा है, इसलिये सच्चा आगम क्या है इसकी परीक्षा करके आगमज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आगमज्ञानके विना धर्मका यथार्थ साधन नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु जीवको यथार्थ बुद्धिके द्वारा सत्य आगमका अभ्यास करना और सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। इसीसे ही जीवका कल्याण होता है॥ ५॥

अचौर्यव्रतकी पाँच भावनायें

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्य-
शुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥

अर्थ—[शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः] शून्यागारवास-पर्वतोंकी गुफा, वृक्षकी पोल इत्यादि निर्जन स्थानोंमें रहना, विमोचितावास-दूसरोंके द्वारा छोड़े गये स्थानमें निवास करना, किसी स्थान पर रहते हुये दूसरोंको न हटाना तथा यदि कोई अपने स्थानमें आवे तो उसे न रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षाकी शुद्धि रखना और साधर्मियोंके साथ यह मेरा है-यह तेरा है ऐसा क्लेश न करना [पंच] ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

समान धर्मके धारक जैन साधु-श्रावकोंको परस्परमें विसंवाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि विसंवादसे यह मेरा—यह तेरा ऐसा पक्ष ग्रहण होता है और इसीसे अग्राह्यके ग्रहण करने की संभावना हो जाती है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतकी पाँच भावनायें

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७ ॥

अर्थ—[स्त्रीरागकथाश्रवणत्यागः] स्त्रियोंमें राग बढ़ाने वाली कथा सुननेका त्याग, [तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्यागः] उनके मनोहर अंगोंको निरख कर देखनेका त्याग [पूर्वरतानुस्मरणत्यागः] अव्रत अवस्थामें भोगे हुए विषयोंके स्मरणका त्याग, [वृष्येष्टरसत्यागः] कामवर्धक गरिष्ठ रसोंका त्याग और [स्वशरीरसंस्कारत्यागः] अपने शरीरके संस्कारोंका त्याग [पंच] ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

प्रश्न—परवस्तु आत्माको कुछ लाभ-नुकसान नहीं करा सकती तथा आत्मासे परवस्तुका त्याग हो नहीं सकता तो फिर यहाँ स्त्रीरागकी कथा सुनने आदिका त्याग क्यों कहा है?

उत्तर—आत्माने परवस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं किया और ग्रहण कर भी नहीं सकता इसीलिये इसका त्याग ही किस तरह बन सकता है? इसलिये वास्तवमें परका त्याग ज्ञानियों ने कहा है ऐसा मान लेना योग्य नहीं है। ब्रह्मचर्य पालन करने वालोंको स्त्रियों और शरीरके प्रति राग दूर करना चाहिये अतः इस सूत्रमें उनके प्रति रागका त्याग करनेका कहा है। व्यवहारके कथनोंको ही निश्चयके कथनकी तरह नहीं मानना, परंतु इस कथनका जो परमार्थरूप अर्थ हो वही समझना चाहिये।

यदि जीवके स्त्री आदिके प्रति राग दूर होगया हो तो उस संबंधी रागवाली बात सुननेकी तरफ इसकी रुचिका झुकाव क्यों हो? इस तरहकी रुचिका विकल्प इस ओरका राग बतलाता है इसलिये इस रागके त्याग करनेकी भावना इस सूत्रमें बतलाई है ॥ ६ ॥

परिग्रहत्यागव्रतकी पाँच भावनायें

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥ ८ ॥

अर्थ—[मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि] स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट अनिष्ट विषयोंके प्रति रागद्वेषका त्याग करना [पंच] सो पाँच परिग्रहत्यागव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय; इसकी व्याख्या दूसरे अध्यायके १७-१८ सूत्रकी टीकामें दी है। भावेंद्रिय यह ज्ञानका विकास है वह जिन पदार्थोंको जानती है वे पदार्थ ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञेय हैं, किंतु यदि उनके प्रति राग द्वेष किया जावे तो उसे उपचारसे इंद्रियोंका विषय कहा जाता है। वास्तवमें वह विषय (ज्ञेय पदार्थ) स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं किन्तु जिस समय जीव राग-द्वेष करता है तब उपचारसे उन पदार्थोंको इष्टानिष्ट कहा जाता है। इस सूत्रमें उन पदार्थोंकी ओर राग-द्वेष छोड़नेकी भावना करना बताया है।

रागका अर्थ प्रीति, लोलुपता और द्वेषका अर्थ नाराजी, तिरस्कार है ॥ ८ ॥

हिंसा आदिसे विरक्त होने की भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—[हिंसादिषु] हिंसा आदि पांच पापोंसे [इह अमुत्र] इस लोकमें तथा परलोकमें [अपायावद्यदर्शनम्] नाशकी (दुःख, आपत्ति, भय तथा निंद्यगतिकी) प्राप्ति होती है—ऐसा बारबार चिंतवन करना चाहिये।

टीका

अपाय—अभ्युदय और मोक्षमार्गकी जीवकी क्रियाको नाश करने वाला जो उपाय है सो अपाय है।

अवद्य— निंद्य, निंदाके योग्य।

हिंसा आदि पापोंकी व्याख्या सूत्र १३ से १७ तक में की जायगी ।९।

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ—[वा] अथवा ये हिंसादिक पांच पाप [दुःखमेव] दुःखरूप ही हैं—ऐसा विचारना।

टीका

१ यहां कारणमें कार्यका उपचार समझना, क्योंकि हिंसादि तो दुःखके कारण हैं किन्तु उसे ही कार्य अर्थात् दुःखरूप बतलाया है।

२ प्रश्न—हम ऐसा देखते हैं कि विषय रमणतासे तथा भोगविलास से रति सुख उत्पन्न होता है तथापि उसे दुःखरूप क्यों कहा ?

उत्तर —इन विषयादिमें सुख नहीं, अज्ञानी लोग भ्रांतिसे उसे सुखरूप मानते हैं; ऐसा मानना कि परसे सुख होता है सो बड़ी भूल है भ्रांति है।

जैसे, चर्म-मांस-रुधिरमें जब विकार होता है तब नख (नाखून) पत्थर आदिसे शरीरको खुजाता है; वहां यद्यपि खुजलानेसे अधिक दुःख होता है तथापि भ्रांतिसे सुख मानता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव परसे सुख दुःख मानता है यह बड़ी भ्रांति— भूल है।

जीव स्वयं इंद्रियोंके वश हो यही स्वाभाविक दुःख है; यदि उन्हें दुःख न हो तो जीव इंद्रियविषयोंमें प्रवृत्ति क्यों करता है? निराकुलता ही सच्चा सुख है; बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञानके वह सुख नहीं हो सकता। अपने स्वरूपकी भ्रांतिरूप मिथ्यात्व और उसपूर्वक होनेवाला मिथ्याचारित्र ही सर्व दुःखोंका कारण है। दुःख कम हो अज्ञानी उसे सुख मानता है, किन्तु वह सुख नहीं है। सुख-दुःखका वेदनका पैदा न होना ही सुख है अथवा जो अनाकुलता है सो सुख है—अन्य नहीं; और यह सुख सम्यग्ज्ञानका अविनाभावी है।

३. प्रश्न—धन संचयसे तो सुख दिखाई देता है तथापि वहां भी दुःख क्यों कहते हो?

उत्तर—धनसंचय आदिसे सुख नहीं। एक पक्षीके पास मांसका टुकड़ा पड़ा हो तब दूसरे पक्षी उसे चूंटते हैं और उस पक्षीको भी चोंचे मारते हैं, उस समय उस पक्षीकी जैसी हालत होती है वैसी हालत धन-धान्य आदि परिग्रहधारी मनुष्योंकी होती है। लोग संपत्तिशाली पुरुषको उसी तरह चूंटते हैं। धनकी संभाल करनेमें आकुलतासे दुःखी होना पड़ता है, अर्थात् यह मान्यता भ्रमरूप है कि धनसंचयसे सुख होता है। ऐसा मानना कि 'पर वस्तुसे सुख दुःख या लाभ-हानि होती है' यही बड़ी भूल है। पर वस्तुमें इस जीवके सुख दुःखका संग्रह किया हुआ नहीं है कि जिससे वह परवस्तु जीवको सुख दुःख दे।

४ प्रश्न—हिंसादि पांच पापोंसे विरक्त होने की भावना करनेको कहा परन्तु मिथ्यात्व तो महापाप है तथापि उसे छोड़नेके लिये क्यों नहीं कहा?

उत्तर—यह अध्याय इसका प्ररूपण करता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके कैसा शुभास्रव होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वरूप महापाप तो होता ही नहीं इसीलिये इस सम्बन्धी वर्णन इस अध्यायमें नहीं, इस अध्यायमें सम्यग्दर्शनके बाद होने वाले व्रत सम्बन्धी वर्णन है। जिसने मिथ्यात्व छोड़ा हो वही असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति हो सकता है—यह सिद्धांत इस अध्यायके १८ वें सूत्रमें कहा है।

मिथ्यादर्शन महापाप है उसे छोड़नेको पहले छट्ठे अध्यायके १३ वें सूत्रमें कहा है तथा अब फिर आठवें अध्यायके पहले सूत्रमें कहेंगे ॥ १० ॥

व्रतधारी सम्यग्दृष्टिकी भावना

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु ॥ ११ ॥

अर्थ—[सत्वेषु मैत्री] प्राणीमात्रके प्रति निर्वैर बुद्धि, [गुणाधिकेषु प्रमोद] अधिक गुणवालोंके प्रति प्रमोद (हर्ष) [क्लिश्यमानेषु—कारुण्य] दुःखी रोगी जीवोंके प्रति करुणा और [अविनयेषु माध्यस्थ] हठाग्रही मिथ्यादृष्टि जीवोंके प्रति माध्यस्थ भावना—ये चार भावना अहिंसादि पांच व्रतोंकी स्थिरताके लिये बारबार चिंतवन करना योग्य है।

टीका

१—सम्यग्दृष्टि जीवोंके यह चार भावनाएं शुभभावरूपसे होती हैं। ये भावना मिथ्यादृष्टिके नहीं होतीं क्योंकि उसे वस्तुस्वरूपका विवेक नहीं।

मैत्री—जो दूसरेको दुःख न देनेकी भावना है सो मैत्री है।

प्रमोद—अधिक गुणोंके धारक जीवोंके प्रति प्रसन्नता आदिसे अंतरंग भक्ति प्रगट होना सो प्रमोद है।

कारुण्य—दुःखी जीवोंको देखकर उनके प्रति करुणाभाव होना सो कारुण्य है।

माध्यस्थ — जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धासे रहित है और तत्त्वका उपदेश देनेसे उलटा चिढ़ता है, उसके प्रति उपेक्षा रखना सो माध्यस्थपन है।

२. इस सूत्रके अर्थकी पूर्णता करनेके लिये निम्न तीन वाक्योंमें से कोई एक वाक्य लगाना—

(१) 'तत्स्थैर्यार्थं भावयितव्यानि' इन अहिंसादिक पांच व्रतोंकी स्थिरताके लिये भावना करनी योग्य है।

(२) 'भावयतः पूर्णान्यहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति' इस भावनाके भानेसे अहिंसादिक पांच व्रतोंकी पूर्णता होती है।

(३) 'तत्स्थैर्यार्थम् भावयेत्' इन पांच व्रतोंकी दृढ़ताके लिये भावना करे।

[देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ पृष्ठ २६]

३. ज्ञानी पुरुषोंको अज्ञानी जीवोंके प्रति द्वेष नहीं होता, किंतु करुणा होती है इस बारेमें श्री आत्मसिद्धि शास्त्रकी तीसरी गाथामें कहा है कि—

कोई क्रिया जड़ हो रहा शुष्क ज्ञानमें कोई।
माने मारग मोक्षका करुणा उपजे जोई ॥ ३ ॥

अर्थ—कोई क्रियामें ही जड़ हो रहा है, कोई ज्ञानमें शुष्क होरहा है और वे इनमें मोक्षमार्ग मान रहे हैं उन्हें देखकर करुणा पैदा होती है।

गुणाधिक—जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोंमें प्रधान—मान्य—बड़ा हो वह गुणाधिक है।

क्लिश्यमान—जो महामोहरूप मिथ्यात्वसे ग्रस्त है, कुमति कुश्रुतादिसे परिपूर्ण है, जो विषय सेवन करनेकी तीव्र तृष्णारूप अग्निसे अत्यंत दग्ध हो रहे हैं और वास्तविक हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें जो विपरीत है—इसकारणसे वे दुःखसे पीडित हैं, वे जीव क्लिश्यमान हैं।

अविनयी—जो जीव मिट्टीके पिंड लकड़ी या दीवालकी तरह जड़-अज्ञानी हैं वे वस्तुस्वरूपको ग्रहण करना (समझना और धारण करना)

नहीं चाहते, तर्क शक्तिसे ज्ञान नहीं करना चाहते तथा दृढरूपमे विपरीत श्रद्धा वाले है और जिनने द्वेषादिकके वश हो वस्तु स्वरूपको अन्यथा ग्रहण कर रखा है, ऐसे जीव अविनयी हैं, ऐसे जीवोंको अपदृष्टि--मूढ़दृष्टि भी कहते हैं ॥ ११ ॥

व्रतोंकी रक्षाके लिये सम्यग्दृष्टिकी विशेष भावना

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

अर्थ--[संवेगवैराग्यार्थम्] संवेग अर्थात् संसारका भय और वैराग्य अर्थात् रागद्वेषका अभाव करने के लिये क्रमसे संसार और शरीर के स्वभावका चिंतवन करना चाहिये।

टीका

१. जगत्का स्वभाव

छह द्रव्योंके समूहका नाम जगत् है। प्रत्येक द्रव्य अनादि अनंत हैं। इनमें जीवके अतिरिक्त पांच द्रव्य जड हैं और जीवद्रव्य चेतन है। जीवों की संख्या अनन्त है, पाँच अचेतन द्रव्योंके सुख दु:ख नहीं, जीव द्रव्यके सुख दु:ख है। अनन्त जीवोंमें कुछ सुखी हैं और बहुभागके जीव दु:खी हैं। जो जीव सुखी हैं वे सम्यग्ज्ञानी ही हैं, बिना सम्यग्ज्ञानके कोई जीव सुखी नहीं हो सकता, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका कारण है, इस तरह सुखका प्रारंभ सम्यग्दर्शनसे ही होता है और सुखकी पूर्णता सिद्धदशामें होती है। स्वस्वरूपको नहीं समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव दु:खी हैं। इन जीवोंके अनादिसे दो बड़ी भूलें लगी हुई हैं, वे भूलें निम्नप्रकार हैं--

(१) ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है कि शरीरादि परद्रव्यका मैं कर सकता हूँ और परद्रव्य मेरा कर सकते हैं, इसप्रकार परवस्तुसे मुझे लाभ-हानि होती है और जीवको पुण्यसे लाभ होता है। यह मिथ्या मान्यता है। शरीरादिकके रजकणमें रजकण स्वतंत्र द्रव्य है, जगतका प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। परमाणु द्रव्य स्वतंत्र है तथापि जीव उसे हला चला सकता है,

इसकी व्यवस्था संभाल सकता है ऐसी मान्यता द्रव्योंकी स्वतंत्रता छीन लेने के बराबर है और इसमें प्रत्येक रजकण पर जीवके स्वामित्व होने की मान्यता आती है; यह अज्ञानरूप मान्यता संसारका कारण है। प्रत्येक जीव भी स्वतंत्र है, यदि यह जीव पर जीवोंका कुछ कर सकता और यदि पर जीव इसका कुछ कर सकते तो एक जीव पर दूसरे जीवका स्वामित्व हो जायगा और स्वतंत्र वस्तुका नाश हो जायगा। पुण्यभाव विकार है, स्वद्रव्य का आश्रय भूलकर अनन्त परद्रव्योंके आश्रयसे यह भाव होता है इससे जीवको लाभ होता है यदि ऐसा मानें तो यह सिद्धांत निश्चित होता है कि परद्रव्यका आलंबनसे (-पराश्रय-पराधीनतासे) लाभ है—सुख है, किंतु यह मान्यता अपसिद्धांत है—मिथ्या है।

(२) मिथ्यादृष्टि जीवकी अनादिकालसे दूसरी भूल यह है कि यदि जीव विकारी अवस्था जितना ही है तो जन्मसे मरण पर्यंत तक ही है ऐसा मानकर कोई समय में भी ध्रुवरूप त्रिकाल शुद्ध चैतन्य चमत्कार स्वरूपको नहीं पहचानता और न उस ओर लक्ष करता है।

इन दो भूलों रूप ही संसार है, यही दुःख है. इसे दूर किये विना कोई जीव सम्यग्ज्ञानी-धर्मी-सुखी नहीं हो सकता। जहांतक यह मान्यता हो वहाँतक जीव दुःखी ही है।

श्री समयसार शास्त्र गा० ३०८ से ३११ में से इस सम्बन्धी कुछ प्रमाण दिये जाते हैं:—

"समस्त द्रव्योंके परिणाम जुदे जुदे हैं, सभी द्रव्य अपने अपने परिणामोंके कर्ता हैं; वे इन परिणामोंके कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से वास्तवमें किसी का किसी के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, इसलिए जीव अपने परिणामोंका कर्ता है. अपने परिणाम कर्म हैं। इसीतरह अजीव अपने परिणामका ही कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इसप्रकार जीव दूसरे के परिणामोंका अकर्ता है।"

(स० सार कलश १९९) "जो अज्ञान-अंधकारसे आच्छादित होकर आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे चाहे मोक्षके इच्छुक हों तो भी सामान्य (लौकिक) जनों की तरह उनको भी मोक्ष नहीं होता।"

'जो जीव व्यवहारसे मोहित होकर परद्रव्यका कर्तापन मानता है वह लौकिकजन हो या मुनिजन हो-मिथ्यादृष्टि ही है।' (कलश, २०१)

"क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सारा सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसीलिये जहां वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुयें हैं वहा कर्ताकर्मकी घटना नहीं होती—इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजनों तत्वको (वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो (-ऐसा श्रद्धान करना कि कोई किसीका कर्ता नहीं, परद्रव्य परका अकर्ता ही है)"

ऐसी सत्य-यथार्थ बुद्धिको शिवबुद्धि अथवा कल्याणकारी बुद्धि कहते हैं।

—शरीर, स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि पर वस्तुओंमें जीवका संसार नहीं है, किन्तु मैं उन परद्रव्योंका कुछ कर सकता हूँ अथवा मुझे उनसे सुख दु:ख होता है ऐसी विपरीत मान्यता (मिथ्यात्व) ही संसार है। संसार यानी (सं+सार) अच्छी तरह खिसक जाना। जीव अपने स्वरूप की यथार्थ मान्यतामें से अनादिसे अच्छी तरह खिसक जाने का कार्य (विपरीत मान्यता रूपी कार्य) करता है इसीलिए यह संसार अवस्थाको प्राप्त हुआ है। अत: जीवकी विकारी अवस्था ही संसार है, किन्तु जीवका संसार जीवसे बाहर नहीं है। प्रत्येक जीव स्वयं अपने गुण पर्यायोंमें है, जो अपने गुण पर्याय हैं सो जीवका जगत् है। न तो जीवमें जगत्के अन्य द्रव्य हैं और न यह जीव जगत्के अन्य द्रव्योंमें है।

सम्यग्दृष्टि जीव जगत्के स्वरूपका इसप्रकार चिंतवन करता है।

२ शरीरका स्वभाव

शरीर अनन्त रजकणोंका पिंड है। जीवका कार्माण शरीर और तैजस शरीर की साथ अनादिसे संयोग सम्बन्ध है, सूक्ष्म होने से यह शरीर

इंद्रिय गम्य नहीं। इसके अलावा जीवके एक स्थूल शरीर होता है; परन्तु जब जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब बीचमें जितना समय लगता है उतने समय तक (अर्थात् विग्रहगतिमे) जीवके यह स्थूल शरीर नहीं होता। मनुष्य तथा एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक के तिर्यंचोंके जो स्थूल शरीर होता है वह औदारिक शरीर है और देव तथा नारकियोंके वैक्रियिक शरीर होता है। इसके सिवाय एक आहारक शरीर होता है, यह शरीर स्थूल होता है और विशुद्ध संयमके धारक मुनिराजके ही होता है। वास्तवमें ये पांचों प्रकारके शरीर जड़ हैं—अचेतन हैं अर्थात् यथार्थमें ये शरीर जीवके नहीं। कार्माण शरीर तो इंद्रियसे दिखाई नहीं देता तथापि ऐसा व्यवहार कथन सुनकर कि 'संसारी जीवोंके कार्माण शरीर होता है' इसका यथार्थ आशय समझने के बदले उसे निश्चय कथन मानकर अज्ञानी ऐसा मान लेते हैं कि वास्तवमें जीवका ही शरीर होता है।

शरीर अनंत रजकणोंका पिंड है और प्रत्येक रजकण स्वतंत्र द्रव्य है; यह हलन चलनादिरूप अपनी अवस्था अपने कारणसे स्वतंत्ररूपसे धारण करता है। प्रत्येक परमाणुद्रव्य अपनी नवीन पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न करता है और पुरानी पर्यायका अभाव करता है। इसतरह से पर्यायके उत्पाद व्ययरूप कार्य करते हुए ये प्रत्येक परमाणु ध्रुवरूपसे हमेशा बने रहते हैं। अतएव जगत्के समस्त द्रव्य स्थिर रहकर बदलनेवाले हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव ऐसा भ्रम सेवन करता है कि जीव शरीरके अनंत परमाणुद्रव्यों की पर्याय कर सकता है और जगत्के अज्ञानियोंकी ओर से जीवको अपनी इस विपरीत मान्यताकी बलवानपनेसे—विशेषरूपसे पुष्टि मिला करती है। शरीर के साथ जो एकत्वबुद्धि है सो इस अज्ञानका कारण है अतः इसके फलरूप से जीवके अपने विकारभावके अनुसार नये नये शरीरका संयोग हुआ करता है। इस भूलको दूर करनेके लिये चेतन और जड़ वस्तुके स्वभावकी स्वतंत्रता समझनेकी आवश्यकता है।

सम्यग्दृष्टि जीव इस वस्तुस्वभावको सम्यग्ज्ञानसे जानता है। यहां

इस सम्यग्ज्ञान और यथार्थ मान्यताको विशेष स्थिर–निश्चल करने के लिये इसका वारवार विचार—चिंतवन करना कहा है।

३ संवेग

सम्यग्दर्शनादि धर्ममें तथा उसके फलमें उत्साह होना और संसार का भय होना सो संवेग है। परवस्तु संसार नहीं किन्तु अपना विकारीभाव संसार है, इस विकारीभावका भय रखना अर्थात् इस विकारीभावके न होने की भावना रखना और वीतराग दशाकी भावना बढानी चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीवोंके जहांतक पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो वहाँ तक अनित्य राग द्वेष रहता है, इसीलिये उससे भय रखनेको कहा है। जिस किसी भी तरह विकार भाव नहीं होने देना और अशुभराग दूर होनेपर जो शुभ राग रह जाय उससे भी धर्म न मानना, किंतु उसके दूर करने की भावना करना।

४. वैराग्य

रागद्वेषके अभावको वैराग्य कहते हैं। यह शब्द 'नास्ति' वाचक है, किन्तु वहीं भी अस्तिके बिना नास्ति नहीं होती। जब जीवमें राग द्वेष का अभाव होता है तब किसका सद्भाव होता है? जीवमें जितने अंशमें रागद्वेषका अभाव होता है उतने अंशमें वीतरागता-ज्ञान-आनन्द-सुखका सद्भाव होता है। यहां सम्यग्दृष्टि जीवोंको संवेग और वैराग्यके लिये जगत् और शरीरके स्वभावका वारवार चिंतवन करने को कहा है।

५. विशेष स्पष्टीकरण

प्रश्न—यदि जीव शरीरका कुछ नहीं करता और शरीरकी क्रिया उससे स्वयं ही होती है तो शरीरमें से जीव निकल जाने के बाद शरीर क्यों नहीं चलता।

उत्तर—परिणाम (पर्यायका परिवर्तन) अपने अपने द्रव्यके आश्रय से होता है, एक द्रव्यके परिणामको अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं होता। पुद्गल का भी कार्य बिना बताके नहीं होता; तथा वस्तुकी एक रूपसे स्थिति नहीं

होती। इस सिद्धांतके अनुसार जब मृतक शरीरके पुद्गलोंकी योग्यता लंबाई रूपमें स्थिर पड़े रहने की होती है तब वे वैसी दशामें पड़े रहते हैं और जब उस मृतक शरीरके पुद्गलोंके पिंडकी योग्यता घरके बाहर अन्य क्षेत्रांतरकी होती है तब वे अपने कारणसे क्षेत्रांतर होते हैं और उस समय रागी जीव वगैरह निमित्तरूप उपस्थित होते हैं, परन्तु वे रागी जीव आदि पदार्थ मुरदे कोई अवस्था नहीं करते। मुरदे के पुद्गल स्वतंत्र वस्तु हैं, उस प्रत्येक रजकण का परिणमन उसके अपने कारणसे होता है; उन रजकणोंकी जिस समय जैसी हालत होने योग्य हो वैसी ही हालत उसके स्वाधीनरूपसे होती है। परद्रव्योंकी अवस्थामें जीवका कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इतनी बात जरूर है कि उस समय रागी जीवके अपनेमें जो कषायवाला उपयोग और योग होता है उसका कर्ता स्वयं वह जीव है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही जगत् (अर्थात् संसार) और शरीरके स्वभाव का यथार्थ विचार कर सकता है। जिनके जगत् और शरीरके स्वभावकी यथार्थ प्रतीति नहीं ऐसे जीव (मिथ्यादृष्टि जीव) 'यह शरीर अनित्य है, संयोगी है, जिसका संयोग होता है उसका वियोग होता है' इसप्रकार शरीराश्रित मान्यतासे ऊपरी वैराग्य (अर्थात् मोहगर्भित या द्वेषगर्भित वैराग्य) प्रगट करते हैं, किन्तु यह सच्चा वैराग्य नहीं है। सच्चा ज्ञानपूर्वक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। आत्माके स्वभावको जाने बिना यथार्थ वैराग्य नहीं होता। आत्मज्ञानके बिना मात्र जगत और शरीर की क्षणिकताके लक्ष्यसे हुआ वैराग्य अनित्य जागृति है, इस भावमें धर्म नहीं है। सम्यग्दृष्टिके अपने असंयोगी नित्य ज्ञायक स्वभावके लक्ष्य पूर्वक अनित्य भावना होती है, यही सच्चा वैराग्य है ॥ १२ ॥

हिंसा-पापका लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अर्थः—[प्रमत्तयोगात्] कषाय-राग-द्वेष अर्थात् अयत्नाचार (असावधानीप्रमाद) के संबंधसे अथवा प्रमादी जीवके मन-वचन-काय

योगसे [प्राणव्यपरोपण] जीवके भावप्राणका, द्रव्यप्राणका अथवा इन दोनोंका वियोग करना सो [हिंसा] हिंसा है।

टीका

१ जैनशासनका यह एक महासूत्र है इसे ठीक ठीक—समझनेकी जरूरत है।

इस सूत्रमें 'प्रमत्तयोगात्' शब्द भाव वाचक है वह यह बतलाता है कि प्राणोंके वियोग होने मात्रसे हिंसाका पाप नहीं किंतु प्रमादभाव हिंसा है और उससे पाप है। शास्त्रोंमें कहा है कि—प्राणियोंका प्राणोंके अलग होने मात्रसे हिंसाका बंध नहीं होता, जैसे कि ईर्यासमितिवाले मुनिके उनके निकलनेके स्थानमें यदि कोई जीव आजाय और पैरके संयोगसे वह जीव मर जाय तो वहां उस मुनिके उस जीवकी मृत्युके निमित्तसे जरा भी बंध नहीं होता, क्योंकि उनके भावमें प्रमाद योग नहीं है।

२ आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामको घातनेवाला भाव ही संपूर्ण हिंसा है, वास्तवमें जैन शास्त्रका यह थोड़ेमें रहस्य है कि 'रागादिभावोंकी उत्पत्ति न होना सो अहिंसा है और रागादि भावोंकी उत्पत्ति होना सो हिंसा है'। (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा ४२-४४)

३ प्रश्न—चाहे जीव मरे या न मरे तो भी प्रमादके योगसे (अयत्नाचारसे) निश्चय हिंसा होती है तो फिर यहां सूत्रमें 'प्राणव्यपरोपण' इस शब्दका किसलिये प्रयोग किया है ?

उत्तर—प्रमाद योगसे जीवके अपने भाव प्राणोंका घात (मरण) अवश्य होता है। प्रमादमें प्रवर्तनेसे प्रथम तो जीव अपने ही शुद्ध भाव प्राणोंका वियोग करता है, फिर वहां अन्य जीवके प्राणोंका वियोग (व्यपरोपण) हो या न हो, तथापि अपने भावप्राणोंका वियोग तो अवश्य होता है-यह बतानेके लिये 'प्राणव्यपरोपण' शब्दका प्रयोग किया है।

४. जिस पुरुषके क्रोधादि कषाय प्रगट होती है उसके अपने शुद्धोपयोगरूप भावप्राणोंका घात होता है। कषायके प्रगट होनेसे जीवके भावप्राणोंका जो व्यपरोपण होता है सो भाव हिंसा है और इस हिंसाके समय यदि प्रस्तुत जीवके प्राणका वियोग हो तो वह द्रव्य हिंसा है।

५ यह जैन सिद्धांतका रहस्य है कि आत्मामें रागादि भावोंकी उत्पत्ति होनेका नाम ही भावहिंसा है। जहां धर्मका लक्षण अहिंसा कहा है वहां ऐसा समझना कि 'रागादि भावोंका जो अभाव है सो अहिंसा है'। इसलिये विभाव रहित अपना स्वभाव है ऐसे भावपूर्वक जिस तरह जितना बने उतना अपने रागादि भावोंका नाश करना सो धर्म है। मिथ्यादृष्टि जीवके रागादि भावोंका नाश नहीं होता; उसके प्रत्येक समयमें भाव मरण हुआ ही करता है; जो भावमरण है वही हिंसा है इसीलिये उसके धर्मका अंश भी नहीं है।

६. इंद्रियोंकी प्रवृत्ति पापमें हो या पुण्यमें हो किंतु उस प्रवृत्तिके दूर करनेका विचार न करना सो प्रमाद है।

(तत्त्वार्थसार पृष्ठ २२३)

७. इस हिंसा पापमें असत्य आदि दूसरे चार पाप गर्भित हो जाते हैं। असत्य इत्यादि भेद तो शिष्यको समझानेके लिये मात्र दृष्टांतरूपसे पृथक् बतलाये हैं।

८. यदि कोई जीव दूसरेको मारना चाहता हो किन्तु ऐसा प्रसंग न मिलनेसे नहीं मार सका, तो भी उस जीवके हिंसाका पाप लगा, क्योंकि वह जीव प्रमादभावसहित है और प्रमादभाव ही भावप्राणोंकी हिंसा है।

९. जो ऐसा मानता है कि 'मैं पर जीवोंका मारता हूं और पर जीव मुझे मारते हैं' वह मूढ़ है—अज्ञानी है और इससे विपरीत अर्थात् जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है (देखो समयसार गाथा २४७)

जीवोंको मारो या न मारो—अध्यवसानसे ही कर्मबंध होता है। प्रस्तुत जीव मरे या न मरे, इस कारणसे बंध नहीं है (देखो समयसार गाथा२६२)

१० यहाँ योगका अर्थ सम्बंध होता है। 'प्रमत्त योगात्' का अर्थ है प्रमादके सम्बंधसे। यहाँ ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि मन-वचन-कायके आलम्बनसे आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होना सो योग है। प्रमादरूप परिणामके सम्बंधसे होने वाला योग प्रमत्त योग' है।

११ प्रमादके १५ भेद हैं—४ विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा), ५ इन्द्रियोंके विषय, ४ कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), १ निद्रा और १ प्रणय। इन्द्रियाँ वगैरह तो निमित्त हैं और जीवका जो असावधान भाव है सो उपादान कारण है। प्रमादका अर्थ अपने स्वरूपकी असावधानी भी होता है।

१२ तेरहवें सूत्रका सिद्धांत

जीवका प्रमत्तभाव शुद्धोपयोगका घात करता है इसलिये वहाँ हिंसा है, और स्वरूपके उत्साहसे जितने अंशमें शुद्धोपयोगका घात न हो-जागृति हो उतने अंशमें अहिंसा है मिथ्यादृष्टिके सच्ची अहिंसा कभी नहीं है ॥ १३॥

असत्यका स्वरूप

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

अर्थः—प्रमादके योगसे [असदभिधानं] जीवोंको दुःखदायक अथवा मिथ्यारूप वचन बोलना सो [अनृतम्] असत्य है।

टीका

१ प्रमादके सम्बंधसे झूठ बोलना सो असत्य है। जो शब्द निकलता है वह तो पुद्गल द्रव्यकी अवस्था है उसे जीव नहीं परिणमाता, इसीसे मात्र शब्दोंका उच्चारणका पाप नहीं किन्तु जीवका असत्य बोलनेका जो प्रमाद भाव है वही पाप है।

२ सत्यका परमार्थ स्वरूप

(१) आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ आत्माका नहीं हो सकता और दूसरे किसीका कार्य आत्मा कर सकता नहीं ऐसा वस्तुस्वरूपका निश्चय

करना चाहिये; और देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह इत्यादि पर वस्तुओं के संबंधमें भाषा बोलनेके विकल्पके समय यह उपयोग (–अभिप्राय) रखना चाहिये कि 'मैं आत्मा हूं; एक आत्माके अलावा अन्य कोई मेरा नहीं, मेरे आधीन नहीं और मैं किसीका कुछ भी कर नहीं सकता' अन्य आत्माके संबंधमें बोलने पर भी यह अभिप्राय, यह उपयोग (–विवेक) जाग्रत रखना चाहिये कि वास्तवमें 'जाति, लिंग, इंद्रियादिक उपचरित भेदवाला यह आत्मा कभी नहीं है, परन्तु स्थूल व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है।' यदि इस तरहकी पहचानके उपयोग पूर्वक सत्य बोलनेका भाव हो तो वह पारमार्थिक सत्य है। वस्तु स्वरूपकी प्रतीति विना परमार्थ सत्य नहीं होता। इस संबंधमें और स्पष्ट समझाते हैं:—

(अ) यदि कोई जीव आरोपित बात करें कि 'मेरा देह, मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र' इत्यादि प्रकारसे भाषा बोलता है, (–बोलनेका भाव करता है) उस समय मैं इन अन्य द्रव्योंसे भिन्न हूं, वास्तवमें वे कोई मेरे नहीं, मैं उनका कुछ कर नहीं सकता' मैं भाषा बोल सकता नहीं, ऐसी स्पष्टरूपसे यदि उस जीवके प्रतीति हो तो वह परमार्थ सत्य कहा जाता है।

(ब) कोई ग्रंथकार राजा श्रेणिक और चेलना रानीका वर्णन करता हो उस समय 'वे दोनों ज्ञानस्वरूप आत्मा थे और मात्र श्रेणिक और चेलना के मनुष्य भवमें उनका संबंध था' यदि यह बात उनके लक्ष्यमें हो और ग्रंथ रचनेकी प्रवृत्ति हो तो वह परमार्थ सत्य है।

(देखो श्रीमद् राजचंद्र आवृत्ति २ पृष्ठ ६१३)

(२) जीवने लौकिक सत्य बोलनेका अनेकबार भाव किया है, किंतु परमार्थ सत्यका स्वरूप नहीं समझा, इसीलिये जीवका भवभ्रमण नहीं मिटता। सम्यग्दर्शनपूर्वक अभ्याससे परमार्थ सत्यकथनकी पहचान हो सकती है और उसके विशेष अभ्याससे सहज उपयोग रहा करता है। मिथ्यादृष्टि के कथनमें कारण विपरीतता, स्वरूप विपरीतता और भेदाभेद विपरीतता

होती है इसीलिये लौकिक अपेक्षासे यदि वह कथन सत्य हो, तो भी परमार्थसे उसका सर्व कथन असत्य है।

(३) जो वचन प्राणियोंको पीड़ा देनेके भाव सहित हो वह भी अप्रशस्त है और बादमें चाहे वचनोंके अनुसार वस्तुस्थिति विद्यमान हो तो भी वह असत्य है।

(४) स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्वरूप वस्तुको अन्यथा कहना सो असत्य है। वस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल भावका स्वरूप निम्नप्रकार है —

द्रव्य—जो सत् है अर्थात् जिसकी सत्ता नित्य कायम रहती है, द्रव्यका लक्षण सत् है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है। गुणपर्यायके समुदायका नाम द्रव्य है।

क्षेत्र—स्वके जिस प्रदेशमें द्रव्य स्थित हो वह उसका क्षेत्र है।

काल—जिस पर्यायरूपसे द्रव्य परिणमे वह उसका काल है।

भाव—द्रव्यकी जो निजशक्ति-गुण है सो उसका भाव है।

इन चार प्रकारसे द्रव्य जिस तरह है उस तरह न मानकर अन्यथा मानना अर्थात् आत्मा स्वयं शरीर इत्यादि परद्रव्यरूप हो जाता है, अपनी अवस्था कर्म या शरीर इत्यादि परद्रव्य कराता है कर सकता है और अपने गुण दूसरे से हो सकते हैं, अथवा वे देव-गुरु-शास्त्रके अवलम्बनसे प्रगट हो सकते हैं, इत्यादि प्रकारसे मानना तथा उस मान्यताके अनुसार बोलना सो असत्य वचन है। स्व के द्रव्य क्षेत्र काल भावमें पर वस्तुयें नास्तिरूप हैं; यह भूलकर उनका स्वयं कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता पूर्वक बोलना सो भी असत्य है।

(५) ऐसा कहना कि आत्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है अथवा परलोक नहीं है सो असत्य है; ये दोनों पदार्थ आगमसे, युक्तिसे तथा अनुभवसे सिद्ध हो सकते हैं तथापि उनका अस्तित्व न मानना सो असत्य है, और आत्माका स्वरूप जैसा न हो उसे वैसा कहना सो भी असत्य वचन है।

३. प्रश्न—वचन तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, उसे जीव नहीं कर सकता तथापि असत्य वचनसे जीवको पाप क्यों लगता है?

उत्तर—वास्तवमें पाप या बंधन असत्य वचनसे नहीं होता किन्तु 'प्रमत्त योगात्' अर्थात् प्रमादभावसे ही पाप लगता है और बंधन होता है। असत्यवचन जड़ है वह तो मात्र निमित्त है। जब जीव असत्य बोलनेका भाव करता है तब यदि पुद्गल परमाणु वचनरूपसे परिणमनेके योग्य हों तो ही असत्य वचनरूपसे परिणमते हैं। जीव तो मात्र असत्य बोलनेका भाव करता है तथापि वहां भाषा वर्गणा वचनरूप नहीं भी परिणमती; ऐसा होने पर भी जीवका विकारीभाव ही पाप है और वह बंधका कारण है।

आठवें अध्यायके पहले सूत्रमें यह कहेंगे कि प्रमाद बंधका कारण है।

४—अकषाय स्वरूपमें जाग्रत-सावधान रहने से ही प्रमाद दूर होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके चौथे गुणस्थानमे अनन्तानुबंधी कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है, पांचवें गुणस्थानमें अनन्तानुबंधी तथा अप्रत्याख्यान कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है; छट्ठे गुणस्थानमें अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है किन्तु तीव्र संज्वलन कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद होता है। इसप्रकार उत्तरोत्तर प्रमाद दूर होता जाता है और बारहवें गुणस्थानमें सर्व कषायका नाश हो जाता है।

५—उज्ज्वल वचन, विनय वचन और प्रियवचनरूप भाषा वर्गणा समस्त लोकमें भरी हुई है, उसकी कुछ न्यूनता नहीं कुछ कीमत देनी नहीं पड़ती, पुनश्च मीठे कोमलरूप वचन बोलनेसे जीभ नहीं दुखती, शरीरमें कष्ट नहीं होता, ऐसा समझकर असत्यवचनको दुःखका मूल जानकर शीघ्र उस प्रमादका भी त्याग करना चाहिये और सत्य तथा प्रियवचनकी ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ १४ ॥

स्तेय (-चोरी) का स्वरूप

अदत्तादान स्तेयम् ॥ १५ ॥

अर्थ.—प्रमादके योगसे [अदत्तादानं] बिना दी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण करना सो (स्तेयम्) चोरी है।

टीका

प्रश्न—कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण चोरी कहलायगा या नहीं?

उत्तर—यह चोरी नहीं कहा जायगा, जहाँ लेना देना संभव हो वहाँ चोरीका व्यवहार होता है—इस कारणसे 'अदत्त' शब्द दिया है।

प्रश्न—मुनिराजके ग्राम-नगर इत्यादिमें भ्रमण करने पर शेरी दरवाजा आदिमें प्रवेश करनेसे क्या अदत्तादान होता है?

उत्तर—यह अदत्तादान नहीं कहलाता क्योंकि यह स्थान सभीके आने जानेके लिए खुला है। पुनश्च शेरी आदिमें प्रवेश करनेसे मुनिके प्रमत्तयोग नहीं होता।

चाहे बाह्य वस्तुका ग्रहण हो या न भी हो तथापि चोरी करनेका जो भाव होता है वही चोरी है और वही बंधका कारण है। वास्तवमें परवस्तुको कोई ग्रहण कर ही नहीं सकता, स्व के परवस्तुके ग्रहण करनेका जो प्रमादयुक्त भाव है वही दोष है ॥ १५ ॥

कुशील (-अब्रह्मचर्य) का स्वरूप—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

अर्थ—[मैथुनमब्रह्म] जो मैथुन है सो अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

टीका

१. मैथुन—चारित्र मोहनीयके उदयमें युक्त होनेसे राग परिणाम सहित स्त्री पुरुषोंको जो परस्परमें स्पर्श करनेकी इच्छा है सो मैथुन है। (यह व्याख्या व्यवहार मैथुनकी है)

मैथुन दो प्रकारका है—निश्चय और व्यवहार। आत्मा स्वयं ब्रह्मस्वरूप है; आत्माकी अपने ब्रह्मस्वरूपमें जो लीनता है सो वास्तवमें ब्रह्मचर्य है और पर निमित्तसे-रागसे लाभ माननेरूप संयोगबुद्धि या कषायके साथ एकत्वकी बुद्धि होना सो अब्रह्मचर्य है यही निश्चय मैथुन है। व्यवहार मैथुन की व्याख्या ऊपर दी गई है।

२—तेरहवें सूत्रमें कहे हुए 'प्रमत्त योगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है, इसीलिये ऐसा समझना कि स्त्री पुरुषके युगल संबंधसे रतिसुखके लिये जो चेष्टा (-प्रमाद परिणति) की जाती है वह मैथुन है।

३—जिसके पालनसे अहिंसादिक गुण वृद्धिको प्राप्त हों वह ब्रह्म है और जो ब्रह्मसे विरुद्ध है सो अब्रह्म है। अब्रह्म (-मैथुन) में हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, पुनश्च उसमें त्रस-स्थावर जीव भी नष्ट होते हैं, मिथ्यावचन बोले जाते हैं, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण किया जाता है और चेतन तथा अचेतन परिग्रहका भी ग्रहण होता है—इसलिये यह अब्रह्म छोड़ने लायक है ॥ १६ ॥

परिग्रहका स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

अर्थ—[मूर्च्छा परिग्रहः] जो मूर्च्छा है सो परिग्रह है।

टीका

१—अंतरंगपरिग्रह चौदह प्रकारके हैं—एक मिथ्यात्व, चार कषाय और नौ नोकषाय।

बाह्यपरिग्रह दस प्रकारके हैं—क्षेत्र; मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन।

२—परद्रव्यमें ममत्वबुद्धिका नाम मूर्च्छा है। जो जीव बाह्य संयोग विद्यमान न होने पर भी ऐसा संकल्प करता है कि यह मेरा है' वह परिग्रह सहित है, बाह्य द्रव्य तो निमित्तमात्र है।

३. प्रश्न—यदि तुम 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धिको परिग्रह कहोगे तो सम्यग्ज्ञान आदि भी परिग्रह ठहरेंगे, क्योंकि ये मेरे हैं ऐसी बुद्धि ज्ञानीके भी होती है ?

उत्तर— परद्रव्यमें ममत्वबुद्धि परिग्रह है। स्व द्रव्यको अपना मानना सो परिग्रह नहीं है। सम्यग्ज्ञानादि तो आत्माका स्वभाव है अत इसका त्याग नहीं हो सकता इसलिये उसे अपना मानना सो अपरिग्रहत्व है।

रागादिमें ऐसा संकल्प करना कि 'यह मेरा है' सो परिग्रह है, क्योंकि रागादिसे ही सर्व दोष उत्पन्न होते हैं।

४—तेरहवें सूत्रके 'प्रमत्त योगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रवान जीवके जितने अंशमें प्रमादभाव न हो उतने अंशमें अपरिग्रहीपन है ॥ १७ ॥

व्रती की विशेषता

निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अर्थ—[व्रती] व्रती जीव [निःशल्यः] शल्य रहित ही होता है।

टीका

१. शल्य–शरीरमें भोंका गया बाण, कांटा इत्यादि शस्त्रकी तरह जो मनमें बाधा करे सो शल्य है अथवा जो आत्माको कांटे की तरह दुःख दे सो शल्य है।

शल्यके तीन भेद हैं—मिथ्यात्वशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य।

मिथ्यादर्शनशल्य—आत्माके स्वरूपकी श्रद्धाका जो अभाव है सो मिथ्यादर्शनशल्य है।

मायाशल्य—छल, कपट, ठगाईका नाम मायाशल्य है।

निदानशल्य—आगामी विषय भोगोंकी वांछाका नाम निदान शल्य है।

२—मिथ्यादृष्टि जीव शल्य सहित ही है इसीलिये उसके सच्चे व्रत नहीं होते, बाह्य व्रत होते हैं। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि है इसीलिये वह भी यथार्थ व्रती नहीं। मायावी कपटीके सभी व्रत झूठे हैं। इंद्रियजनित विषय-भोगोंकी जो वांछा है सो तो आत्मज्ञानरहित राग है, उस रागसहित जो व्रत हैं वे भी अज्ञानीके व्रत हैं, वह धर्मके लिये निष्फल है, संसारके लिये सफल है, इसलिए परमार्थसे शल्यरहित ही व्रती हो सकता है।

३—द्रव्यलिंगी का अन्यथापन

प्रश्न —द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वोंको मानता है तथापि उसे मिथ्यादृष्टि क्यों कहते हो?

उत्तर—उसके विपरीत अभिनिवेश है अतः शरीराश्रित क्रिया कांड को वह अपना मानता है (यह अजीवतत्त्वमें जीवतत्त्वकी श्रद्धा हुई) आस्रव बन्धरूप शील-संयमादि परिणामोंको वह संवर निर्जरारूप मानता है। यद्यपि वह पापसे विरक्त होता है परन्तु पुण्यमें उपादेय बुद्धि रखता है, इसीलिये उसे तत्त्वार्थकी यथार्थ श्रद्धा नहीं; अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—द्रव्यलिंगीके धर्मसाधनमें अन्यथापन क्यों है?

उत्तर—(१) संसारमें नरकादिकके दुःख जानकर तथा स्वर्गादिक में भी जन्म मरणादिके दुःख जानकर संसारसे उदास हो वह मोक्षको चाहता है; अब इन दुःखोंको तो सभी दुःख जानते हैं। किन्तु इन्द्र अहमिन्द्रादिक विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुख भोगता है उसे भी दुःख जानकर निराकुल अवस्थाकी पहचान कर जो उसे मोक्ष जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

(२) विषय सुखादिकका फल नरकादिक है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है, वह पोषण करने योग्य नहीं, तथा कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे हैं—इत्यादि पर द्रव्योंका दोष विचार कर उसका त्याग करता है। पर द्रव्योंके दोष देखना तो मिथ्यात्व सहित द्वेष है।

(३) व्रतादिक का फल स्वर्ग मोक्ष है। तपश्चरणादिक पवित्र फल देनेवाले हैं, इनके द्वारा शरीर शोषण करने योग्य है तथा देव गुरु

शास्त्रादि हितकारी हैं—इत्यादि पर द्रव्योंके गुण विचार कर उसे अंगीकार करता है। परद्रव्यको हितकारी या अहितकारी मानना सो मिथ्यात्वसहित राग है।

(४) इत्यादि प्रकारसे कोई पर द्रव्योंको बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है तथा कोई परद्रव्योंको भले जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है; पर द्रव्यमें इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान करना सो मिथ्यात्व है। पुनश्च इसी श्रद्धानसे उसकी उदासीनता भी द्वेषरूप होती है क्योंकि किन्हीं परद्रव्योंको बुरा जानना सो द्वेष है।

(५) पुनश्च जैसे पहले शरीराश्रित पापकार्योंमें वह कर्तृत्व मानता था उसी तरह वह अब शरीराश्रित पुण्य कार्योंमें अपना कर्तृत्व मानता है। इसप्रकार पर्यायाश्रित (शरीराश्रित) कार्योंमें अहंबुद्धि मानने की समानता हुई। जैसे पहले—मैं जीवको मारता हूँ परिग्रहधारी हूँ इत्यादि मान्यता थी, उसी तरह अब मैं जीवोंकी रक्षा करता हूँ मैं परिग्रह रहित नग्न हूँ ऐसी मान्यता हुई सो मिथ्या है।

४. अठारहवें सूत्रका सिद्धान्त

(१) अज्ञान अन्धकारसे आच्छादित हुये जो जीव आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे यद्यपि मोक्षके इच्छुक हों तो भी लौकिक जनोंकी तरह उनको भी मोक्ष नहीं होता, ऐसे जीव चाहे मुनि हुये हों तथापि वे लौकिक जनकी तरह ही हैं। लोक (संसार) ईश्वरको कर्ता मानता है और उन मुनियोंने आत्माको परद्रव्यका कर्ता (पर्यायाश्रित क्रियाका—शरीरका और उसकी क्रियाका कर्ता) माना, इसप्रकार दोनोंकी मान्यता समान हुई। तत्त्व को जाननेवाला पुरुष ऐसा जानता है कि 'सर्वलोकमें परद्रव्य मेरे नहीं हैं' यह और भी सुनिश्चितरूपसे जानते हैं कि लोक और श्रमण (द्रव्यलिंगी मुनि) इन दोनोंके जो इस परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शनज्ञान रहितपनेके कारण ही है। जो परद्रव्यका कर्तृत्व मानता है वह चाहे लौकिकजन हो या मुनिजन—मिथ्यादृष्टि ही है।

(देखो श्री समयसार गाथा ३२१ से ३२७ में टीका)

(२) प्रश्न— क्या सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्योंको बुरा जानकर त्याग करता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नहीं जानता; वे ऐसा जानते हैं कि परद्रव्यका ग्रहण-त्याग हो ही नहीं सकता। वह अपने रागभावको बुरा जानता है इसीलिये सरागभावको छोड़ता है और उसके निमित्तरूप परद्रव्योंका भी सहजमें त्याग होता है। पदार्थका विचार करने पर जो कोई परद्रव्य भला या बुरा है ही नहीं। मिथ्यात्वभाव ही सबसे बुरा है, सम्यग्दृष्टिने वह मिथ्याभाव तो पहले ही छोड़ा हुआ है।

(३) प्रश्न—जिसके व्रत हो उसे ही व्रती कहना चाहिये, उसके बदले ऐसा क्यों कहते हो कि 'जो निःशल्य हो वह व्रती होता है।'

उत्तर—शल्यका अभाव हुये विना कोई जीव हिंसादिक पापभावोंके दूर होने मात्रसे व्रती नहीं हो सकता। शल्यका अभाव होनेपर व्रतके सम्बन्ध से व्रतीत्व होता है इसीलिये सूत्रमें निःशल्य शब्दका प्रयोग किया है ॥ १८ ॥

व्रतीके भेद

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

अर्थ – [अगारी] अगारी अर्थात् सागार (गृहस्थ) [अनगारः च] और अनगार (गृहत्यागी भावमुनि) इसप्रकार व्रतीके दो भेद हैं।

नोट—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक महाव्रतोंको पालनेवाले मुनि अनगारी कहलाते हैं और देशव्रतको पालनेवाले श्रावक सागारी कहलाते हैं ॥ १९ ॥

सागारका लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अर्थ—[अणुव्रतः] अणुव्रत अर्थात् एकदेशव्रत पालनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव [अगारी] सागार कहे जाते हैं।

टीका

यहां से अणुव्रतधारियोंका विशेष वर्णन प्रारम्भ होता है और इस अध्यायके समाप्त होने तक यही वर्णन है। अणुव्रतके पांच भेद हैं—(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रहपरिमाणअणुव्रत ॥ २० ॥

अब अणुव्रतके सहायक सात शीलव्रत कहते हैं

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसपन्नश्च ॥२१॥

अर्थ—[च] और फिर वे व्रत [दिग्देशानर्थदंडविरति सामायिक प्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नः] दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण (मर्यादा) तथा अतिथिसंविभागव्रत ये चार शिक्षाव्रत सहित होते हैं अर्थात् व्रतधारी श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंसहित होता है।

टीका

१—पहले १३ से १७ तक के सूत्रोंमें हिंसादि पांच पापोंका जो वर्णन किया है उनका एकदेश त्याग करना सो पांच अणुव्रत हैं। जो अणुव्रतोंको पुष्ट करे सो गुणव्रत है और जिससे मुनिव्रत पालन करनेका अभ्यास हो वह शिक्षाव्रत है।

२—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका स्वरूप निम्नप्रकार है—

दिग्व्रत—मरण पर्यंत सूक्ष्म पापोंकी निवृत्तिके लिये दशों दिशाओंमें आने जानेकी मर्यादा करना सो दिग्व्रत है।

देशव्रत—जीवन पर्यंतको ली गई दिग्व्रतकी मर्यादामें से भी घड़ी, घंटा, मास, वर्ष आदि समय तक अमुक गली आदि जाने आनेकी मर्यादा करना सो देशव्रत है।

अनर्थदंडव्रत—प्रयोजन रहित पापको बढ़ानेवाली क्रियाओंका परित्याग करना सो अनर्थदंडविरतिव्रत है। अनर्थदंडके पांच भेद हैं—(१) पापोपदेश (हिंसादि पापारंभका उपदेश करना), (२) हिंसादान (तलवार आदि हिंसाके उपकरण देना); (३) अपध्यान (दूसरेका बुरा विचारना), (४) दुःश्रुति (राग-द्वेषके बढ़ानेवाले खोटे शास्त्रोंका सुनना) और (५) प्रमादचर्या (बिना प्रयोजन जहां तहां जाना, वृक्षादिकका छेदना, पृथ्वी खोदना, जल बखेरना, अग्नि जलाना वगैरह पाप कार्य)

शिकार, जय, पराजय, युद्ध परस्त्रीगमन, चोरी इत्यादिका किसी भी समय चिंतवन नहीं करना, क्योंकि इन बुरे ध्यानोंका फल पाप ही है।

—ये तीन गुणव्रत हैं।

सामायिक—मन, वचन, कायके द्वारा कृत, कारित, अनुमोदनासे हिंसादि पांच पापोंका त्याग करना सो सामायिक है; यह सामायिक शुभभावरूप है। (सामायिक चारित्रका स्वरूप नवमें अध्यायमें दिया जायगा)

प्रोषधोपवास—अष्टमी और चतुर्दशीके पहले और पीछेके दिनोंमें एकाशनपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास आदि करके, एकांतवासमें रहकर, संपूर्ण सावद्ययोगको छोड़, सर्व इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर धर्म ध्यानमें रहना सो प्रोषधोपवास है।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत—श्रावकोंको भोगके निमित्तसे हिंसा होती है। भोग और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण करके (मर्यादा बांधकर) अपनी शक्तिके अनुसार भोग उपभोगको छोड़ना सो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत है।

अतिथिसंविभागव्रत—अतिथि अर्थात् मुनि आदि के लिये आहार, कमंडलु, पीछी, वसतिका आदिका दान देना सो अतिथिसंविभागव्रत है।

—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

३. ध्यानमें रखने योग्य सिद्धांत

अनर्थदंडनामक आठवें व्रतमें दुःश्रुतिका त्याग कहा है वह यह बतलाता है कि—जीवोंको दुःश्रुतिरूप शास्त्र कौन है और सुश्रुतिरूप शास्त्र कौन है इस बातका विवेक करना चाहिये। जिस जीवके धर्मके निमित्तरूपसे दुःश्रुति हो उसके सम्यग्दर्शन प्रगट ही नहीं होता और जिसके धर्मके निमित्त सुश्रुति (सत् शास्त्र) हो उसको भी इसका मर्म जानना चाहिये। यदि उसका मर्म समझे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है और यदि सम्यग्दर्शन प्रगट करले तो ही अणुव्रतधारी श्रावक या महाव्रतधारी मुनि हो सकता है। जो जीव सुशास्त्रका मर्म जानता है वही जीव इस अध्यायके पाँचवें सूत्रमें कही गई सत्यव्रत सम्बंधी अनुवीचिभाषण अर्थात् शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलने की भावना कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सुशास्त्र और कुशास्त्रका विवेक करने के लिये योग्य है इसलिये मुमुक्षु जीवोंको तत्त्व विचारकी योग्यता प्रगट करके यह विवेक अवश्य करना चाहिये। यदि जीव सत् असत्‌का विवेक न समझे—न करे तो यह सच्चा व्रतधारी नहीं हो सकेगा।२१।

व्रतीको सल्लेखना धारण करनेका उपदेश

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अर्थ—व्रतधारी श्रावक [मारणांतिकीं] मरणके समय होनेवाली [सल्लेखनां] सल्लेखनाको [जोषिता] प्रीतिपूर्वक सेवन करे।

टीका

१—इस लोक या परलोक सम्बंधी किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षा किये बिना शरीर और कषायको सम्यक् प्रकार कृश करना सो सल्लेखना है।

२ प्रश्न—शरीर तो परवस्तु है, जीव उसे कृश नहीं कर सकता, तथापि यहाँ शरीरको कृश करने के लिये क्यों कहा?

उत्तर—कषायको कृश करने पर शरीर उसके अपने कारणसे कृश होने योग्य हो तो कृश होता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के

लिये उपचारसे ऐसा कहा है। वात पित्त कफ इत्यादिके प्रकोपसे मरणके समय परिणाममें आकुलता न करना और स्वसन्मुख आराधनासे चलायमान न होना ही यथार्थ काय सल्लेखना है; मोह राग द्वेषादिसे मरणके समय अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान परिणाम मलिन न होने देना सो कषाय सल्लेखना है।

३. प्रश्न—समाधिपूर्वक देहका त्याग होनेमें आत्मघात है या नहीं?

उत्तर—राग-द्वेष-मोहसे लिप्त हुये जीव यदि जहर, शस्त्र आदिसे घात करे सो आत्मघात है किन्तु यदि समाधिपूर्वक सल्लेखना मरण करे तो उसमें रागादिक नहीं और आराधना है इसीलिये उसके आत्मघात नहीं है। प्रमत्तयोग रहित और आत्मज्ञान सहित जो जीव–यह जानकर कि 'शरीर अवश्य विनाशीक है' उसके प्रति राग कम करता है उसे हिंसा नहीं॥ २२॥

सम्यग्दर्शनके पांच अतिचार

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—[शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः] शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिकी प्रशंसा और अन्यदृष्टिका संस्तव–ये पांच [सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः] सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं।

टीका

१—जिस जीवका सम्यग्दर्शन निर्दोष हो वह बराबर व्रत पाल सकता है इसीलिये यहां पहले सम्यग्दर्शनके अतिचार बतलाये गये हैं, जिससे वह अतिचार दूर किया जा सकता है। औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व तो निर्मल होते हैं, इनमें अतिचार नहीं होते। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मल और अगाढ़ दोषसहित होता है अर्थात् इसमें अतिचार लगता है।

२—सम्यग्दृष्टिके आठ गुण (अग, लक्षण अर्थात् आचार) होते हैं उनके नाम इसप्रकार हैं– नि शका, निकाक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

३—सम्यग्दर्शनके जो पाच अतिचार कहे हैं उनमें से पहले तीन तो नि शकितादि पहले तीन गुणोंमें आनेवाले दोष हैं और बाकीके दो अतिचारों का समावेश अंतिम पाच गुणोंके दोषमें होता है। चौथे से सातवें गुणस्थान वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके ये अतिचार होते हैं अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनवाले मुनि, श्रावक या सम्यग्दृष्टि–इन तीनोंके ये अतिचार हो सकते हैं। जो अशरूपसे भग हो (अर्थात् दोष लगे) उसे अतीचार कहते हैं, और उससे सम्यग्दर्शन निर्मूल नहीं होता, मात्र मलिन होता है।

४—शुद्धात्म स्वभावकी प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके सद्भाव में सम्यग्दर्शन सम्बन्धी व्यवहार दोष होते हैं तथापि वहा मिथ्यात्व प्रकृतियों का बंध नहीं होता। पुनश्च दूसरे गुणस्थानमें भी सम्यग्दर्शनसम्बन्धी व्यवहार दोष होते हैं तथापि वहा भी मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्धन नहीं है।

५—सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, मोक्षमहलकी पहली सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त नहीं होते। अत योग्य जीवोंको यह उचित है कि जैसे भी बने वैसे आत्माके वास्तविक स्वरूपको समझकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे अपनी आत्माको भूषित करे और सम्यग्दर्शनको निरतिचार बनावे। धर्मरूपी कमलके मध्यमें सम्यग्दर्शनरूपी नाल शोभायमान है, निश्चयव्रत, शील इत्यादि उसकी पखुड़िया हैं। इसलिये गृहस्थों और मुनियोंको इस सम्यग्दर्शनरूपी नालमें अतीचार न आने देना चाहिये।

६. पच अतीचारके स्वरूप

शंका—निज आत्माको ज्ञाता-दृष्टा, अखड, अविनाशी और पुद्गलसे भिन्न जानकर भी इस लोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और

अर्थ—[मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्रभेदाः] मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद—ये पांच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं।

टीका

मिथ्याउपदेश—किसी जीवके अभ्युदय या मोक्षके साथ सम्बन्ध रखनेवाली क्रियामें संदेह उत्पन्न हुआ और उसने आकर पूछा कि इस विषयमें मुझे क्या करना? इसका उत्तर देते हुये सम्यग्दृष्टि व्रतधारीने अपनी भूलसे विपरीत मार्गका उपदेश दिया तो वह मिथ्या उपदेश कहा जाता है; और यह सत्याणुव्रतका अतिचार है और यदि जानते हुये भी मिथ्या उपदेश करे तो वह अनाचार है। विवाद उपस्थित होनेपर सम्बन्धको छोड़कर सम्बन्धरूप उपदेश देना सो भी अतिचाररूप मिथ्या उपदेश है।

रहोभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात प्रगट करना।

कूटलेखक्रिया—परके प्रयोगके वशसे (अनजानपनेसे) कोई खोटा लेख लिखना।

न्यासापहार—कोई मनुष्य कुछ वस्तु देगया और फिर वापस मांगते समय उसने कम मांगी तब ऐसा कहकर कि 'तुम्हारा जितना हो उतना ले जाओ' तथा बादमें कम देना सो न्यासापहार है।

साकार मंत्रभेद—हाथ आदि की चेष्टा परसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर उसे प्रगट कर देना सो साकार मंत्रभेद है।

व्रतधारीके इन दोषोंके प्रति खेद होता है इसीलिये ये अतिचार हैं, किन्तु यदि जीवको उनके प्रति खेद न हो तो वह अनाचार है अर्थात् वहां व्रतका अभाव ही है ऐसा समझना॥ २६॥

अचौर्याणुव्रतके पांच अतीचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७॥

अर्थ—चोरीके लिये चोरको प्रेरणा करना या उसका उपाय बताना, चोरसे चुराई हुई वस्तुको खरीदना, राज्यकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, देने, लेनेके बाट तराजू आदि कम ज्यादा रखना, और कीमती वस्तुमें कम कीमत की वस्तु मिलाकर असली भावसे बेचना ये पाच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं।

टीका

इन अतिचारोंरूप विकल्प पुरुषार्थकी कमजोरी (-निर्बलता) से कभी आयें तो भी धर्मीजीव उनका स्वामी नहीं होता, दोषको जानता है परन्तु उसे भला नहीं मानता इसलिये यह दोष अतिचाररूप है अनाचार नहीं है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पाच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

अर्थ—दूसरे के पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना कराना, पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियोंके पास आना जाना लेन देन रखना, रागभाव पूर्वक बात चीत करना, पतिरहित व्यभिचारिणी स्त्री (वेश्यादि) के यहा जाना आना, लेन देन आदिका व्यवहार रखना, अनङ्गक्रीडा अर्थात् कामसेवनके लिये निश्चित् अगोंको छोड़कर अन्य अगोंसे कामसेवन करना और काम सेवनकी तीव्र अभिलाषा—ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥ २८ ॥

परिग्रह परिमाण-अणुव्रतके पाँच अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

अर्थ—[क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमा] क्षेत्र और रहने के स्थानके परिमाणका उल्लघन करना, [हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमा] चादी और सोनेके परिमाणका उल्लघन करना [धनधान्यप्रमाणातिक्रमा] धन (पशु

आदि) तथा धान्यके परिमाणका उल्लंघन करना [दासीदासप्रमाणातिक्रमाः] दासी और दासके परिमाणका उल्लंघन करना तथा [कुप्यप्रमाणातिक्रमाः] वस्त्र वर्तन आदिके परिमाणका उल्लंघन करना—ये पांच अपरिग्रह अणुव्रतके अतिचार हैं ॥ २६ ॥

इस तरह पांच अणुव्रतोंके अतिचारोंका वर्णन किया, अब तीन गुणव्रतोंके अतिचारोंका वर्णन करते हैं।

दिग्व्रतके पाँच अतिचार

उर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

अर्थ—[ऊर्ध्वव्यतिक्रमः] मापसे अधिक ऊंचाईवाले स्थलोंमें जाना, अधः व्यतिक्रमः] मापसे नीचे (कुआ खान आदि) स्थानोंमें उतरना [तिर्यक् व्यतिक्रमः] समान स्थानके मापसे बहुत दूर जाना [क्षेत्रवृद्धिः] की हुई मर्यादामें क्षेत्रको बढ़ा लेना और [स्मृत्यंतराधानं] क्षेत्रकी की हुई मर्यादाको भूल जाना ये पांच दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥ ३० ॥

देशव्रतके पांच अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—[आनयनं] मर्यादासे बाहरकी चीजको मंगाना, प्रेष्यप्रयोगः] मर्यादासे बाहर नौकर आदिको भेजना [शब्दानुपातः] खांसी शब्द आदिसे मर्यादाके बाहर जीवोंको अपना अभिप्राय समझा देना, [रूपानुपातः] अपना रूप आदि दिखाकर मर्यादाके बाहरके जीवोंको इशारा करना और [पुद्गलक्षेपाः] मर्यादाके बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर अपने कार्यका निर्वाह कर लेना ये पांच देशव्रतके अतिचार हैं ॥ ३१ ॥

अनर्थदंडव्रतके पाँच अतीचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

अर्थ—[कंदर्प] रागसे हास्यसहित अशिष्ट वचन बोलना, [कौत्कुच्य] शरीरकी कुचेष्टा करके अशिष्टवचन बोलना, [मौखर्य] धृष्टतापूर्वक जरूरतसे ज्यादा बोलना, [असमीक्ष्याधिकरणं] विना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना और [उपभोगपरिभोगानर्थक्य] भोग उपभोगके पदार्थोंका जरूरतसे ज्यादा संग्रह करना—ये पांच अनर्थ दंडव्रतके अतिचार हैं ॥ ३२ ॥

इस तरह तीन गुणव्रतके अतिचारोंका वर्णन किया, अब चार शिक्षाव्रतके अतिचारोंका वर्णन करते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अर्थ—[योगदुष्प्रणिधानं] मन सम्बन्धी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना, वचन सम्बन्धी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना, काय संबंधी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना [अनादर] सामायिकके प्रति उत्साह रहित होना और] स्मृत्यनुपस्थान] एकाग्रताके अभावको लेकर सामायिक के पाठ आदि भूल जाना—ये पांच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥३३॥

नोट—सूत्रमें 'योग दुष्प्रणिधान शब्द है उसे मन वचन और काय —न तीनोंमें लागू करके ये तीनप्रकारके तीन अतिचार गिने गये हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणाना-दरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अर्थ—[अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि] विना देखी विना शोधी जमीनमें मलमूत्रादिका क्षेपण करना,

बिना देखे बिना शोधे पूजनके उपकरण ग्रहण करना, बिना देखे बिना शोधे जमीनपर चटाई, वस्त्र आदि बिछाना, भूख आदि से व्याकुल हो आवश्यक धर्म कार्य उत्साहरहित होकर करना और आवश्यक धर्मकार्योंको भूल जाना- ये पांच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥ ३४ ॥

उपभोग परिभोग परिमाण शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—१—सचित्त-जीववाले (कच्चे फल आदि) पदार्थ, २—सचित्त पदार्थके साथ सम्बन्धवाले पदार्थ, ३—सचित्त पदार्थसे मिले हुए पदार्थ, ४—अभिषव-गरिष्ठ पदार्थ, और ५—दुःपक्व अर्थात् आधे पके या अधिक पके हुये या बुरी तरहसे पके पदार्थ-इनका आहार करना ये पांच उपभोगपरिभोग शिक्षाव्रतके अतिचार हैं।

टीका

भोग—जो वस्तु एक ही वार उपभोगमें लाई जाय सो भोग है, जैसे अन्न, इसे परिभोग भी कहा जाता है।

उपभोग— जो वस्तु वारवार भोगी जाय उसे उपभोग कहते हैं जैसे वस्त्र आदि।

अतिथिसंविभाग व्रतके पांच अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालाति-क्रमाः ॥ ३६ ॥

अर्थ—[सचित्त निक्षेपः] सचित्त पत्र आदिमें रखकर भोजन देना, [सचित्तापिधानं] सचित्त पत्र आदि से ढके हुये भोजन आदिको देना [परव्यपदेशः] दूसरे दातारकी वस्तुको देना [मात्सर्यं] अनादरपूर्वक देना अथवा दूसरे दातारकी ईर्षापूर्वक देना और [कालातिक्रमः] योग्य

कालका उल्लघन करके देना—ये पाच अतिथि सविभाग शिक्षाव्रतके अतिचार हैं।

इसतरह चार शिक्षाव्रतके अतिचार कहे ॥ ३६ ॥

अब सल्लेखनाके पाच अतिचार कहते हैं

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदा-नानि ॥ ३७ ॥

अर्थ—[जीविताशसा] सल्लेखना धारण करनेके बाद जीनेकी इच्छा करना, [मरणाशंसा] वेदनासे व्याकुल होकर शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, [मित्रानुरागः] अनुरागके द्वारा मित्रोंका स्मरण करना [सुखानुबंधं] पहले भोगे हुये सुखोंका स्मरण करना और [निदानं] निदान करना अर्थात् आगामी विषय भोगोंकी वाछा करना—ये पाच सल्लेखना व्रतके अतिचार हैं।

इसतरह श्रावकके अतिचारोंका वर्णन पूर्ण हुआ। ऊपर कहे अनुसार सम्यग्दर्शनके ५, बारह व्रतके ६०, और सल्लेखनाके ५ इसतरह कुल ७० अतीचारोंका जो त्याग करता है वही निर्दोष व्रती है॥ ३७ ॥

दानका स्वरूप

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—[अनुग्रहार्थं] अनुग्रह—उपकारके हेतुसे [स्वस्यातिसर्गः] धन आदि अपनी वस्तुका त्याग करना सो [दान] दान है।

टीका

१—अनुग्रहका अर्थ है अपनी आत्माके अनुसार होनेवाला उपकार का लाभ है। अपनी आत्माको लाभ हो इस भावसे किया गया कोई कार्य यदि दूसरेके लाभमें निमित्त हो तब यों कहा जाता है कि परका उपकार हुआ, वास्तवमें अनुग्रह स्व का है, पर तो निमित्तमात्र है।

७—इस सूत्रमें प्रयोग किया गया स्व शब्दका अर्थ धन होता है और धनका अर्थ होता है 'अपने स्वामित्वकी—अधिकारकी वस्तु।'

८. करुणादान

करुणादान सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों कर सकते हैं किन्तु उनके भावमें महान् अन्तर होता है। यह दानके चार भेद हैं—१. आहारदान २. औषधिदान ३. अभयदान और ४. ज्ञानदान। आवश्यकतावाले जैन, अजैन, मनुष्य या तिर्यंच आदि किसी भी प्राणीके प्रति अनुकंपा बुद्धिसे यह दान हो सकता है। मुनिको जो आहारदान दिया जाता है वह करुणादान नहीं किन्तु भक्तिदान है। जो अपने से महान गुण धारण करनेवाले हों उनके प्रति भक्तिदान होता है। इस सम्बन्धी विशेष वर्णन इसके बादके सूत्रकी टीकामें किया है॥ ३८॥

दानमें विशेषता

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

अर्थ—[विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्] विधि, द्रव्य, दातृ और पात्रकी विशेषतासे [तद्विशेषः] दानमें विशेषता होती है।

टीका

१. विधिविशेष—नवधाभक्तिके क्रमको विधिविशेष कहते हैं।

द्रव्य विशेष—तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धिमें कारण ऐसे आहारादिकको द्रव्यविशेष कहते हैं।

दातृविशेष—जो दातार श्रद्धा आदि सात गुणोंसहित हो उसे दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेष—जो सम्यक् चारित्र आदि गुणोंसहित हो ऐसे मुनि आदिको पात्रविशेष कहते हैं।

२. नवधाभक्तिका स्वरूप

(१) संग्रह—(प्रतिग्रहण) 'पधारो, पधारो, यहाँ शुद्ध आहार जल है' इत्यादि शब्दोंके द्वारा भक्ति सत्कार पूर्वक विनयसे मुनिका आह्वान करना।

(२) उच्चस्थान—उनको ऊ चे आसनपर बिठाना।

(३) पादोदक—गरम किए हुए शुद्ध जलसे उनके चरण धोना।

(४) अर्चन—उनकी भक्ति पूजा करना।

(५) प्रणाम—उन्हें नमस्कार करना।

(६-७-८) मनशुद्धि, वचनशुद्धि, और कायशुद्धि।

(९) ऐषणाशुद्धि—आहारकी शुद्धि।

ये नव क्रियाऐं क्रमसे होनी चाहिए, यदि ऐसा क्रम न हो तो मुनि आहार नहीं ले सकते।

प्रश्न—इसप्रकार नवधाभक्ति पूर्वक स्त्री मुनिको आहार दे या नहीं?

उत्तर—हाँ, स्त्रीका किया हुआ और स्त्रीके हाथसे भी साधु आहार लेते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि जब भगवान महावीर छद्मस्थ मुनि थे तब चन्दनबालाने नवधाभक्तिपूर्वक उनको आहार दिया था।

मुनिको 'तिष्ठ! तिष्ठ! तिष्ठ!' (यहाँ विराजो) इसप्रकार अति पूज्य-भावसे कहना तथा अन्य श्रावकादिक योग्य पात्र जीवोंको उनके पदके अनुसार आदरके वचन कहना सो संग्रह है। जिसके हृदयमें नवधाभक्ति नहीं उसके यहा मुनि आहार करते ही नहीं, और अन्य धर्मात्मा पात्र जीव भी बिना आदरके, लोभी होकर धर्मका निरादर कराकर कभी भोजनादिक ग्रहण नहीं करते। वीतरागधर्मकी दृढ़तासहित, दीनतारहित परम संतोष धारण करना सो जैनत्व है।

३. द्रव्यविशेष

पात्रदानकी अपेक्षासे देने योग्य पदार्थ चार तरहके हैं—(१) आहार (२) औषध (३) उपकरण (पीछी, कमंडल, शास्त्र आदि) और (४) आवास। ये पदार्थ ऐसे होने चाहिये कि तप, स्वाध्यायादि धर्मकार्यमें वृद्धिके कारण हों।

४. दातृविशेष

दातारमें निम्नलिखित सात गुण होने चाहिये—

(१) ऐहिक फल अनपेक्षा—सांसारिक लाभकी इच्छा न होना।

(२) क्षांति— दान देते समय क्रोधरहित शांत परिणाम होना।

(३) मुदित—दान देते समय प्रसन्नता होनी।

(४) निष्कपटता—मायाचार छल कपटसे रहित होना।

(५) अनुसूयत्व—ईर्ष्यारहित होना।

(६) अविषादित्व—विषाद (खेद) रहित होना।

(७) निरहंकारित्व—अभिमानरहित होना।

दातारमें रहे हुये इन गुणोंकी हीनाधिकताके अनुसार उसके दानका फल होता है।

५. पात्रविशेष

सत्पात्र तीन तरह के हैं—

(१) उत्तम पात्र—सम्यक्चारित्रवान् मुनि।

(२) मध्यम पात्र—व्रतधारी सम्यक्दृष्टि।

(३) जघन्य पात्र—अविरति सम्यग्दृष्टि।

ये तीनों सम्यग्दृष्टि होने से सुपात्र हैं। जो जीव विना सम्यग्दर्शनके वाह्य व्रत सहित हो वह कुपात्र है और जो सम्यग्दर्शनसे रहित तथा वाह्यव्रत चारित्रसे भी रहित हों वे जीव अपात्र हैं।

६. दान सम्बन्धी जानने योग्य विशेष बातें

(१) अपात्र जीवोंको दुःखसे पीड़ित देखकर उनपर दयाभावके द्वारा उनके दुःख दूर करनेकी भावना गृहस्थ अवश्य करे, किन्तु उनके प्रति भक्ति-भाव न करे; क्योंकि ऐसोंके प्रति भक्तिभाव करना सो उनके पापकी अनुमोदना है। कुपात्रको योग्य रीतिसे (करुणाबुद्धिके द्वारा) आहारादिकका दान देना चाहिये।

२. प्रश्न—अज्ञानीके अपात्रको दान देते समय यदि शुभभाव हो तो उसका क्या फल है? जो कोई यों कहते हैं कि अपात्रको दान देनेका फल नरक निगोद है सो क्या यह ठीक है?

उत्तर—अपात्रको दान देते समय जो शुभभाव है उसका फल नरक निगोद नहीं हो सकता। जो आत्माके ज्ञान और आचरणसे रहित परमार्थ शून्य हैं ऐसे अज्ञानी छद्मस्थ विपरीत गुरुके प्रति सेवा भक्तिसे, वैयावृत्य, तथा आहारादिक दान देनेकी क्रियासे जो पुण्य होता है उसका फल नीच देव और नीच मनुष्यत्व है।

[देखो प्रवचनसार गा० २५७ तथा चर्चा समाधान पृष्ठ ४८]

(३) आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान ऐसे भी दानके चार भेद हैं। केवलीभगवानके दानान्तरायका सर्वथा नाश होने से क्षायिक दान शक्ति प्रगट हुई है। इसका मुख्य कार्य संसारके शरणागत जीवोंको अभय प्रदान करना है। इस अभयदानकी पूर्णता केवलज्ञानियोंके होती है। तथा दिव्यध्वनि के द्वारा तत्त्वोपदेश देनेसे भव्य जीवोंके ज्ञानदानकी प्राप्ति भी होती है। बाकी के दो दान रहे (आहार और औषध) सो गृहस्थके कार्य हैं। इन दो के अलावा पहले के दो दान भी गृहस्थोंके यथाशक्ति होते हैं। केवली भगवान वीतरागी हैं उनके दानकी इच्छा नहीं होती ॥ ३९ ॥

[देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ २५६]

उपसंहार

१—इस अधिकारमें पुण्यास्रवका वर्णन है, व्रत पुण्यास्रवका कारण है। अठारहवें सूत्रमें व्रतीकी व्याख्या दी है। उसमें बतलाया है कि जो जीव मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीन शल्योंसे रहित हो वही व्रती हो सकता है। ऐसी व्याख्या नहीं की कि 'जिसके व्रत हो सो व्रती है' इसलिये यह खास ध्यानमें रहे कि व्रती होने के लिये निश्चय सम्यग्दर्शन और व्रत दोनों होने चाहिये।

२—सम्यग्दृष्टि जीवके आंशिक वीतराग चारित्रपूर्वक महाव्रतादिरूप शुभोपयोग हो उसे सराग चारित्र कहते हैं। यह सराग चारित्र अनिष्ट फल वाला होनेसे छोड़ने योग्य है। जिसमें कषायकण विद्यमान है अतः जो जीव को पुण्यबंधकी प्राप्तिका कारण है ऐसा सराग चारित्र बीचमें आगया हो तथापि सम्यग्दृष्टिके उसके दूर हो जानेका प्रयत्न चालू होता है।

(देखो प्रवचनसार गाथा १–५–६ टीका)

३—महाव्रतादि शुभोपयोगके उपादेयरूप ग्रहणरूप मानना सो मिथ्यादृष्टित्व है। इस अध्यायमें उन व्रतोंको आस्रवरूपसे वर्णित किया है तो वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? आस्रव तो बंधका ही साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है, इसीलिये इन महाव्रतादिरूप आस्रवभावोंमें चारित्रका संभव नहीं होता। चारित्र मोहके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयमें युक्त होनेसे जो महामंद प्रशस्त राग होता है वह तो चारित्रका दोष है। उसे अमुक दशातक न छूटनेवाला जानकर ज्ञानी उसका त्याग नहीं करते और सावद्य योगका ही त्याग करते हैं। किन्तु जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि अधिक दोषवाली हरित-कायका त्याग करता है और कोई हरितकायका आहार करता है किन्तु उसे धर्म नहीं मानता उसीप्रकार मुनि हिंसादि तीव्र कषायरूप भावोंका त्याग करते हैं तथा कोई मंद कषायरूप महाव्रतादिको पालते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

४—इस आस्रव अधिकारमें अहिंसादि व्रतोंका वर्णन किया है इससे ऐसा समझना कि किसी जीवको न मारना ऐसा शुभभावरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहभाव ये सब पुण्यास्रव हैं। इस अधिकारमें संवर निर्जराका वर्णन नहीं है। यदि ये अहिंसादि संवर निर्जराका कारण होते तो इस आस्रव अधिकारमें आचार्यदेव उनका वर्णन न करते।

५—व्रतादिके समय भी चार घातिया कर्म बँधते हैं और घातिकर्म तो पाप है। सम्यग्दृष्टि जीवके सच्ची-यथार्थ श्रद्धा होने से दर्शनमोह, अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ तथा नरकगति इत्यादि ४१ कर्मप्रकृतियोंका बंध नहीं होता, यह तो चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनका फल है और ऊपरकी अवस्थामें जितने अंशमें चारित्रकी शुद्धता प्रगट होती है वह वीतराग चारित्रका फल है, परन्तु महाव्रत या देशव्रतका फल शुद्धता नहीं। महाव्रत या देशव्रतका फल बंधन है।

६—साधारण जीव लौकिक रूढ़दृष्टिसे यह तो मानते हैं कि अशुभ भावमें धर्म नहीं है अर्थात् इस सम्बन्धी विशेष कहनेकी जरूरत नहीं। परन्तु निजको धर्मी और समझदार माननेवाला जीव भी बड़े भागमें शुभभावको धर्म या धर्मका सहायक मानता है—यह मान्यता यथार्थ नहीं है। यह बात छठे और सातवें अध्यायमें की गई है कि शुभभाव धर्मका कारण नहीं किंतु कर्मबंधका कारण है। उसके कुछ नोट निम्नप्रकार हैं—

१-शुभभाव पुण्यका आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ३
२-सम्यक्त्व क्रिया, ईर्यापथ समिति	अध्याय ६ सूत्र ५
३-जो मंदकषाय है सो आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ६
४-सर्वप्राणी और व्रतधारीके प्रति अनुकंपा	अध्याय ६ सूत्र १२
५-मार्दव	अध्याय ६ सूत्र १८
६-सरागसंयम, संयमासंयम	अध्याय ६ सूत्र २०
७-योगोंकी सरलता	अध्याय ६ सूत्र २३
८-तीर्थंकरकर्मबन्धके कारणरूप सोलह भावना	अध्याय ६ सूत्र २४

९–परप्रशंसा, आत्मनिंदा, नम्रवृत्ति, मदका अभाव, अध्याय ६ सूत्र २६
१०–महाव्रत, अणुव्रत अध्याय ७ सूत्र १ से ८ तथा २१
११–मैत्री आदि चार भावनायें अध्याय ७ सूत्र ११
१२–जगत् और कायके स्वभावका विचार अध्याय ७ सूत्र १२
१३–सल्लेखना अध्याय ७ सूत्र २२
१४–दान अध्याय ७ सूत्र ३८-३९

उपरोक्त सभी वाक्योंको आस्रव की रीतिसे वर्णन किया है। इसतरह छट्ठे और सातवें अध्यायमें आस्रवका वर्णन पूर्ण करके अब आठवें अध्यायमें बंध तत्त्वका वर्णन किया जायगा।

७—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग करना सो व्रत है—ऐसा श्री अमृतचंद्राचार्यने तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १०१ वीं गाथामें कहा है अर्थात् यों बतलाया है कि यह व्रत पुण्यास्रव है। गाथा १०३ में कहा है कि संसारमार्गमें पुण्य और पापके बीच भेद है किन्तु उसके बाद गाथा १०४ में स्पष्टरूपसे कहा है कि—मोक्षमार्गमें पुण्य और पापके बीच भेद (विशेष, पृथक्त्व) नहीं है। क्योंकि ये दोनों संसारके कारण हैं—इस तरह बतलाकर आस्रव अधिकार पूर्ण किया है।

८. प्रश्न—व्रत तो त्याग है, यदि त्यागको पुण्यास्रव कहोगे किन्तु धर्म न कहोगे तो फिर त्यागका त्याग धर्म कैसे हो सकता है?

उत्तर—(१) व्रत यह शुभभाव है; शुभभावका त्याग दो प्रकारसे होता है–एक प्रकारका त्याग तो यह कि 'शुभको छोड़कर अशुभमें जाना' सो यह तो जीव अनादिसे करता आया है, लेकिन यह त्याग धर्म नहीं किन्तु पाप है। दूसरा प्रकार यह है कि—सम्यग्ज्ञान पूर्वक शुद्धता प्रगट करने पर शुभका त्याग होता है; यह त्याग धर्म है। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य का आलंबन द्वारा व्रतरूप शुभभावका भी त्याग करके ज्ञानमें स्थिरता करते हैं, यह स्थिरता ही चारित्र धर्म है। इसप्रकार जितने अंशमें वीतराग चारित्र बढ़ता है उतने अंशमें व्रत और अव्रतरूप शुभाशुभभावका त्याग होता है।

(२) यह ध्यान रहे कि व्रतमें शुभ अशुभ दोनोंका त्याग नहीं है, परन्तु व्रतमें अशुभभावका त्याग और शुभभावका ग्रहण है अर्थात् व्रत राग है, और अव्रत तथा व्रत (अशुभ तथा शुभ) दोनोंका जो त्याग है सो वीत रागता है। शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र पूर्वक ही हो सकता है।

(३) 'त्याग' तो नास्ति वाचक है, यदि वह अस्ति सहित हो तब यथार्थ नास्ति कही जाती है। अब यदि व्रतको त्याग कहें तो वह त्यागरूप नास्ति होने पर आत्मामें अस्तिरूपसे क्या हुआ ? इस अधिकारमें यह बतलाया है कि वीतरागता तो सम्यक् चारित्रके द्वारा प्रगट होती है और व्रत तो आस्रव है, इसीलिये व्रत सच्चा त्याग नहीं, किन्तु जितने अंशमें वीतरागता प्रगट हुई उतना सच्चा त्याग है। क्योंकि जहां जितने अंशमें वीतरागता हो वहां उतने अंशमें सम्यक् चारित्र प्रगट हो जाता है और उसमें शुभ अशुभ दोनोंका (अर्थात् व्रत अव्रत दोनों) त्याग होता है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी
गुजराती टीका के हिन्दी अनुवाद में यह
सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



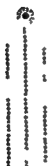
❁ श्री उमास्वामिविरचित ❁

मोक्ष शास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका



आठवाँ अध्याय



टीका समाहक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

अध्याय आठवाँ



भूमिका

पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमें कहा है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है। दूसरे सूत्रमें कहा है कि तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसके बाद चौथे सूत्रमें सात तत्त्वोंके नाम बतलाये, इनमेंसे जीव, अजीव और आस्रव इन तीन तत्त्वोंका वर्णन सातवें अध्याय तक किया। आस्रवके बाद बंध तत्त्वका नंबर है, इसीलिये आचार्य देव इस अध्यायमें बंध तत्त्वका वर्णन करते हैं।

बंधके दो भेद हैं—भावबंध और द्रव्यबंध। इस अध्यायके पहले दो सूत्रोंमें जीवके भावबंधका और उस भावबंधका निमित्त पाकर होनेवाले द्रव्यकर्मके बंधका वर्णन किया है। इसके बाद के सूत्रोंमें द्रव्यबंधके भेद, उनकी स्थिति और कब छूटते हैं इत्यादिका वर्णन किया है।

बंधके कारण बतलाते हैं

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ—[मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच [बंधहेतवः] बंधके कारण हैं।

टीका

१—यह सूत्र बहुत उपयोगी है, यह सूत्र बतलाता है कि संसार किस कारणसे है। धर्ममें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले जीव तथा उपदेशक

जबतक इस सूत्रका मर्म नहीं समझते तबतक एक बड़ी भूल करते हैं। वह इसप्रकार है—बंधके ५ कारणोंमें से सबसे पहले मिथ्यादर्शन दूर होता है और फिर अविरति आदि दूर होते हैं, तथापि वे पहले मिथ्यादर्शनको दूर किये बिना अविरतिको दूर करना चाहते हैं और इस हेतुसे उनके माने हुये बालव्रत आदि ग्रहण करते हैं तथा दूसरोंको भी वैसा उपदेश देते हैं। पुनश्च ऐसा मानते हैं कि ये बालव्रत आदि ग्रहण करने से और उनका पालन करने से मिथ्यादर्शन दूर होगा। उन जीवोंकी यह मान्यता पूर्णरूपेण मिथ्या है इसलिये इस सूत्रमें 'मिथ्यादर्शन' पहले बताकर सूचित किया है।

२—इस सूत्रमें बंधके कारण जिस क्रमसे दिये हैं उसी क्रमसे वे नष्ट-दूर होते हैं, परन्तु यह क्रम भंग नहीं होता कि पहला कारण विद्यमान हो और उसके बादके कारण दूर हो जांय। उनके दूर करनेका क्रम इसप्रकार है—(१) मिथ्यादर्शन चौथे गुणस्थानमें दूर होता है (२) अविरति पांचवें-छट्ठे गुणस्थानमें दूर होती है (३) प्रमाद सातवें गुणस्थानमें दूर होता है (४) कषाय बारहवें गुणस्थानमें नष्ट होती है और (५) योग चौदहवें गुणस्थानमें नष्ट होता है। वस्तुस्थितिके इस नियमको न समझने से अज्ञानी पहले बालव्रत अंगीकार करते हैं और उसे धर्म मानते हैं; इसप्रकार अधर्मको धर्म मानने के कारण उनके मिथ्यादर्शन और अनंतानुबंधी कषायका पोषण होता है। इसलिये जिज्ञासुओंको वस्तुस्थितिके इस नियमको समझना खास-विशेष आवश्यक है। इस नियमको समझकर असत् उपाय छोड़कर पहले मिथ्यादर्शन दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका पुरुषार्थ करना योग्य है।

३—मिथ्यात्वादि या जो बंधके कारण हैं वे जीव और अजीवके भेद से दो प्रकारके हैं। जो मिथ्यात्वादि परिणाम जीवमें होते हैं वे जीव हैं, उसे भावबंध कहते हैं और जो मिथ्यात्वादि परिणाम पुद्गलमें होते हैं वे अजीव हैं, उसे द्रव्यबंध कहते हैं। (देखो समयसार गाथा ८७-८८)

४—बंधके पांच कारण कहे उनमें अंतरंग भावोंकी पहचान करना चाहिये

यदि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके भेदोंको

बाह्यरूपसे जाने किन्तु अंतरंगमें इन भावोंकी किस्म (जाति) की पहचान न करे तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता। अन्य कुदेवादिकके सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्व को तो मिथ्यात्वरूपसे जाने किन्तु जो अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है उसे न पहिचाने, तथा बाह्य त्रस स्थावरकी हिंसाके तथा इन्द्रियमनके विषयोंमें प्रवृत्ति हो उसे अविरति समझे किन्तु हिंसामें मूल जो प्रमाद परिणति है तथा विषय सेवनमें अभिलाषा मूल है उसे न देखे तो खोटी—मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। यदि बाह्य क्रोध करने को कषाय समझे किन्तु अभिप्रायमें जो राग द्वेष रहता है वही मूल क्रोध है उसे न पहिचाने तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। जो बाह्य चेष्टा हो उसे योग समझे किन्तु शक्तिभूत (आत्मप्रदेशोंके परिस्पंदनरूप) योगको न जाने तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। इसलिये उनके अंतरंग भावको पहिचानकर उस सम्बन्धी अन्यथा मान्यता दूर करनी चाहिये।

५. मिथ्यादर्शनका स्वरूप

(१) अनादिसे जीवके मिथ्यादर्शनरूप अवस्था है। समस्त दुःखों का मूल मिथ्यादर्शन है। जीवके जैसा श्रद्धान है वैसा पदार्थ स्वरूप न हो और जैसा पदार्थ स्वरूप न हो वैसा ये माने, उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव स्व को और शरीरको एक मानता है, किसी समय शरीर दुबला हो, किसी समय मोटा हो, किसी समय नष्ट हो जाय और किसी समय नवीन पैदा हो तब ये सब क्रियायें शरीराधीन होती हैं तथापि जीव उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

दृष्टांत—जैसे किसी जगह एक पागल बैठा था। वहां अन्य स्थान से आकर मनुष्य, घोड़ा और धनादिक उतरे, उन सबको वह पागल अपना मानने लगा, किन्तु, वे सभी अपने २ आधीन हैं, अतः इसमें कोई आवे, कोई जाय और कोई अनेक अवस्था रूपसे परिणमन करता है, इसप्रकार सबकी क्रिया अपनी अपनी आधीन है तथापि वह पागल उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

सिद्धान्त—उसीप्रकार यह जीव जहां शरीर धारण करता है वहां किसी अन्य स्थानसे आकर पुत्र, घोड़ा, धनादिकको स्वयं प्राप्त होता है यह जीव उन सबको अपना जानता है, परन्तु ये सभी अपने २ आधीन होने से कोई आते कोई जाते और कोई अनेक अवस्थारूपसे परिणमते हैं, क्या यह उनके आधीन है? ये जीवके आधीन नहीं हैं, तो भी यह जीव उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

(२) यह जीव स्वयं जिसप्रकार है उसीप्रकार अपने को नहीं मानता किन्तु जैसा नहीं है वैसा मानता है सो मिथ्यादर्शन है। जीव स्वयं अमूर्तिक प्रदेशोंका पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंका धारक, अनादिनिधन वस्तुरूप है; तथा मूर्तिक पुद्गल द्रव्योंका पिंड प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंसे रहित, नवीन ही जिसका संयोग हुआ है ऐसा यह शरीरादि पुद्गल जो कि स्व से पर है—इन दोनों के संयोगरूप मनुष्य तिर्यंचादि अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं, इसमें यह मूढ़ जीव निजत्व धारण कर रहा है, स्व-परका भेद नहीं कर सकता; जिस पर्यायको प्राप्त हुआ है उसे ही निजरूपसे मानता है। इस पर्यायमें (१) जो ज्ञानादि गुण हैं वे तो निजके गुण हैं (२) जो रागादिकभाव होते हैं वे विकारीभाव हैं, तथा (३) जो वर्णादिक हैं वे निजके गुण नहीं किंतु शरीरादि पुद्गलके गुण हैं और (४) शरीरादिमें भी वर्णादिका तथा परमाणुओंका परिवर्तन पृथक् २ रूपसे होता है, ये सब पुद्गलकी अवस्थायें हैं; यह जीव इन सभी को निजरूप—अपना स्वरूप मानता है; स्वभाव और परभावका विवेक नहीं करता; पुनश्च स्व से प्रत्यक्ष भिन्न धन कुटुम्बादिक का संयोग होता है वे अपने अपने आधीन परिणमते हैं तथा इस जीवके आधीन होकर नहीं परिणमते तथापि यह जीव उसमें ममत्व करता है कि ये सब मेरे हैं' परन्तु ये किसी भी प्रकारसे इसके नहीं होते, यह जीवमात्र अपनी मान्यतासे उसे अपना मानते हैं।

(३) मनुष्यादि अवस्थामें किसी समय देव-गुरु-शास्त्र अथवा धर्म का जो अन्यथा कल्पित स्वरूप है उसकी तो प्रतीति करता है किन्तु उनका जो यथार्थ स्वरूप है उसका ज्ञान नहीं करता।

(४) जगत्की प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने अपने आधीन परिणमते हैं, किन्तु यह जीव ऐसा नहीं मानता और यों मानता है कि स्वयं उसे परिणमा सकता है अथवा किसी समय आंशिक परिणमन करा सकता है।

ऊपर कही गई सब मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है। स्व का और परद्रव्यों का जैसा स्वरूप नहीं है वैसा मानना तथा जैसा है वैसा न मानना सो विपरीत अभिप्राय होनेके कारण मिथ्यादर्शन है।

(५) जीव अनादिकालसे अनेक शरीर धारण करता है, पूर्वका छोड़कर नवीन धारण करता है, वहां एक तो स्वयं आत्मा (जीव) तथा अनंत पुद्गल परमाणुमय शरीर-इन दोनोंके एक पिंड बंधनरूप यह अवस्था होती है, उन सबमें यह ऐसी अहंबुद्धि करता है कि 'यह मैं हूँ।' जीव तो ज्ञान स्वरूप है और पुद्गल परमाणुओंका स्वभाव वर्ण गंध रस स्पर्शादि है—उन सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि 'ये मेरे हैं।' हलन चलन आदि क्रिया शरीर करता है उसे जीव ऐसा मानता है कि 'मैं करता हूँ।' अनादिसे इन्द्रियज्ञान की ओर लक्ष है इसीलिये स्वयं अमूर्तिक तो अपने को नहीं मालूम होता और मूर्तिक शरीर ही मालूम होता है, इसी कारण जीव अन्यको अपना स्वरूप जानकर उसमें अहंबुद्धि धारण करता है। निजका स्वरूप निजको परसे भिन्न नहीं मालूम हुआ अर्थात् शरीर, ज्ञानादिगुण, क्रोधादिविकार तथा सगे सम्बन्धियोंका समुदाय इन सबमें स्वयं अहंबुद्धि धारण करता है, इससे और स्व के और शरीरके स्वतंत्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है यह नहीं जाननेसे यथार्थरूपसे शरीरसे स्व की भिन्नता नहीं मालूम होती।

(६) स्व का स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है तथापि स्वयं केवल देखनेवाला तो नहीं रहता किन्तु जिन जिन पदार्थोंको देखता जानता है, उसमें इष्ट अनिष्ट रूप मानता है; यह इष्टानिष्टरूप मानना सो मिथ्या है क्योंकि कोई भी पदार्थ इष्टानिष्टरूप नहीं है। यदि पदार्थोंमें इष्टअनिष्टपन हो तो जो पदार्थ इष्ट

रूप हो वह सभीको इष्टरूप ही हो तथा जो पदार्थ अनिष्टरूप हो वह सबको अनिष्टरूप ही हो, किन्तु ऐसा तो नहीं होता। जीवमात्र स्वयं कल्पना करके उसे इष्ट-अनिष्टरूप मानता है। यह मान्यता मिथ्या है—कल्पित है।

(७) जीव किसी पदार्थका सद्भाव तथा किसीके अभावको चाहता है किन्तु उसका सद्भाव या अभाव जीवका किया हुआ नहीं होता क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका या उसकी पर्यायका कर्ता है ही नहीं, किन्तु समस्त द्रव्य स्व से ही अपने अपने स्वरूपमें परिणमते हैं।

(८) मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादि भावोंके द्वारा सर्व द्रव्योंको अन्य प्रकारसे परिणमाने की इच्छा करता है किन्तु ये सर्व द्रव्य जीवकी इच्छाके आधीन नहीं परिणमते। इसीलिये उसे आकुलता होती है। यदि जीव की इच्छानुसार ही सब कार्य हों, अन्यथा न हो तो ही निराकुलता रहे, किन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि किसी द्रव्यका परिणमन किसी द्रव्यके आधीन नहीं है। इसलिये जीवके रागादिभाव दूर हो तो ही निराकुलता होती है—ऐसा न मानकर मिथ्या अभिप्रायवश यों मानता है कि मैं स्वयं परद्रव्यका कर्ता, भोक्ता, दाता. हर्ता आदि हूँ और परद्रव्यसे अपने को लाभ-हानि होती है।

(९) मिथ्यादर्शनकी कुछ मान्यतायें

१—स्वपर एकत्वदर्शन, २—परकी कर्तृत्वबुद्धि, ३—पर्यायबुद्धि, ४—व्यवहार-विमूढ़, ५—अतत्त्व श्रद्धान, ६—स्व स्वरूपकी भ्रांति, ७—रागसे शुभभावसे आत्मलाभ हो ऐसी बुद्धि, ८—बहिरदृष्टि, ९—विपरीत रुचि, १०—जैसा वस्तु स्वरूप हो वैसा न मानना और जैसा न हो वैसा मानना, ११—अविद्या, १२—परसे लाभ-हानि होती है ऐसी मान्यता, १३—अनादि अनन्त चैतन्यमात्र त्रिकाली आत्माको न मानना किन्तु विकार जितना ही आत्मा मानना, १४—विपरीत अभिप्राय, १५—परसमय, १६—पर्यायमूढ़, १७—ऐसी मान्यता कि जीव शरीरकी क्रिया कर सकता है, १८—जीवको परद्रव्योंकी व्यवस्था करनेवाला तथा उसका कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता मानना,

१९—जीवको ही न मानना, २०—निमित्ताधीन दृष्टि, २१—ऐसी मान्यता कि पराश्रयसे लाभ होता है, २२—शरीराश्रित क्रियासे लाभ होता है ऐसी मान्यता, २३—सर्वज्ञकी वाणीमें जैसा आत्माका पूर्ण स्वरूप कहा है वैसे स्वरूपकी अश्रद्धा, २४—वास्तवमें व्यवहारनयके आदरणीय होनेकी मान्यता, २५—शुभाशुभभावका स्वामित्व, २६—शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी मान्यता, २७—ऐसी मान्यता कि व्यवहार रत्नत्रय करते करते निश्चय-रत्नत्रय प्रगट होता है, २८—शुभ अशुभमें सदृशता न मानना अर्थात् ऐसी मान्यता कि शुभ अच्छा है और अशुभ खराब है, २९—ममत्वबुद्धिसे मनुष्य और तिर्यंचके प्रति करुणा होना।

६. मिथ्यादर्शनके दो भेद

(१) मिथ्यात्वके दो भेद हैं—अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व अनादि कालीन है। जो ऐसी मान्यता है कि जीव परद्रव्यका कुछ कर सकता है या शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है सो यह अनादिका अगृहीत मिथ्यात्व है। सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायमें जन्म होने के बाद परोपदेशके निमित्तसे जो अतत्त्व श्रद्धान करता है सो गृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत मिथ्यात्वको निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्वको बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते हैं। जिसके गृहीत मिथ्यात्व हो उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है।

अगृहीत मिथ्यात्व—शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी अनादिसे चली आई जो जीवकी मान्यता है सो मिथ्यात्व है, यह किसी के सिखानेसे नहीं हुआ इसलिये अगृहीत है।

गृहीत मिथ्यात्व—खोटे देव शास्त्र गुरु की जो श्रद्धा है सो गृहीत मिथ्यात्व है।

(२) प्रश्न—जिस कुलमें जीव जन्मा हो उस कुलमें माने हुए देव, गुरु शास्त्र सच्चे हों और यदि जीव लौकिकरूढ़ दृष्टिसे सच्चा मानता हो तो उसके गृहीत मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं ?

उत्तर—नहीं, उसके भी गृहीतमिथ्यात्व है क्योंकि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रका स्वरूप क्या है तथा कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रमें क्या दोष हैं इसका सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करके सभी पहलुओंसे उसके गुण (Marits) और दोष (demerits) यथार्थ निर्णय न किया हो, वहां तक जीवके गृहीत मिथ्यात्व है और यह सर्वज्ञ वीतरागदेवका सच्चा अनुयायी नहीं है।

(३) प्रश्न—इस जीवने पहले कईवार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा होगा या नहीं ?

उत्तर—हाँ, जीवने पहले अनन्तवार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा और द्रव्यलिंगी मुनि हो निरतिचार महाव्रत पाले परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा इसीलिये संसार बना रहा; और फिर गृहीत मिथ्यात्व स्वीकार किया। निर्ग्रंथदशापूर्वक पंच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूल गुणादिकका जो शुभविकल्प है सो द्रव्यलिंग है; गृहीत मिथ्यात्व छोड़े विना जीव द्रव्यलिंगी नहीं हो सकता और द्रव्यलिंगके विना निरतिचार महाव्रत नहीं हो सकते। वीतराग भगवानने द्रव्यलिंगीके निरतिचार महाव्रतको भी बालव्रत और असंयम कहा है क्योंकि उसने अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा।

७—गृहीतमिथ्यात्व के भेद

गृहीतमिथ्यात्वके पांच भेद हैं—(१) एकांतमिथ्यात्व, (२) संशयमिथ्यात्व, (३) विनयमिथ्यात्व, (४) अज्ञानमिथ्यात्व, और (५) विपरीत मिथ्यात्व। इन प्रत्येक की व्याख्या निम्न प्रकार है :—

(१) एकांत मिथ्यात्व—आत्मा परमाणु आदि सर्व पदार्थ का स्वरूप अपने अपने अनेकांतमय (अनेक धर्मवाला) होनेपर भी उसे सर्वथा एक ही धर्मवाला मानना सो एकांत मिथ्यात्व है। जैसे—जीवको सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य ही मानना, गुण-गुणीको सर्वथा भेद या अभेद ही मानना सो एकांत मिथ्यात्व है।

(२) संशय मिथ्यात्व—'धर्मका स्वरूप यों है या यों है' ऐसे परस्पर विरुद्ध दो रूपका श्रद्धान—जैसे—आत्मा अपने कार्यका कर्त्ता होता होगा या परवस्तुके कार्यका कर्त्ता होता होगा? निमित्त और व्यवहारके आलम्बनसे धर्म होगा या अपना शुद्धात्माके आलम्बनसे धर्म होगा? इत्यादिरूप से संशय रहना सो संशय मिथ्यात्व है।

(३) विपरीत मिथ्यात्व—आत्माका स्वरूपको अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं, जैसे-सग्रन्थको निर्ग्रंथ मानना, मिथ्यादृष्टि साधुको सच्चे गुरु मानना, केवलीके स्वरूपको विपरीतरूपसे मानना इत्यादि रूपसे जो विपरीत रुचि है सो विपरीत मिथ्यात्व है।

(४) अज्ञान मिथ्यात्व—जहां हित अहितका कुछ भी विवेक न हो या कुछ भी परीक्षा किये बिना-धर्म की श्रद्धा करना सो अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे—पशुवधमें धर्म मानना सो अज्ञान मिथ्यात्व है।

(५) विनय मिथ्यात्व—समस्त देवको तथा समस्त धर्ममतोंको समान मानना सो विनय मिथ्यात्व है।

८—गृहीतमिथ्यात्वके ५ भेदोंका विशेष स्पष्टीकरण

(१) एकांत मिथ्यात्व—आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थका स्वरूप अपने अपने अनेक धर्मोंसे परिपूर्ण है ऐसा नहीं मानकर वस्तुको सर्वथा अस्तिरूप, सर्वथा नास्तिरूप, सर्वथा एकरूप, सर्वथा अनेकरूप, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, गुण पर्यायोंसे सर्वथा अभिन्न, गुण पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न इत्यादि रूपसे मानना सो एकांत मिथ्यात्व है; पुनश्च काल ही सब करता है, काल ही सबका नाश करता है, काल ही फल फूल आदि उत्पन्न करता है, काल ही संयोग वियोग कराता है, काल ही धर्मको प्राप्त कराता है, इत्यादि मान्यता मिथ्या है, यह एकांत मिथ्यात्व है।

प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने कारणसे अपनी पर्याय धारण करती है, वही उस वस्तुका स्वकाल है और उस समय वर्तनेवाली जो कालद्रव्यकी पर्याय

(समय) है सो निमित्त है; ऐसा समझना सो यथार्थ समझ है और इसके द्वारा एकांत मिथ्यात्वका नाश होता है।

कोई कहता है कि–आत्मा तो अज्ञानी है, आत्मा अनाथ है, आत्मा के सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, ज्ञानित्व, पापीपन, धर्मित्व, स्वर्ग-गमन, नरकगमन इत्यादि सब ईश्वर करता है, ईश्वर संसारका कर्त्ता है, हर्ता भी ईश्वर है, ईश्वरसे ही संसारकी उत्पत्ति और प्रलय होती है, इत्यादि प्रकारसे ईश्वरकर्तृत्वकी कल्पना करता है सो मिथ्या है। ईश्वरत्व तो आत्मा की सम्पूर्ण शुद्ध (सिद्ध) दशा है। आत्मा निज स्वभावसे ज्ञानी है किन्तु अनादिसे अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यताके कारण स्वयं अपनी पर्यायमें अज्ञानीपन, दुःख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, पापीपन आदि प्राप्त करता है, और जब स्वयं अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यता दूर करे तब स्वयं ही ज्ञानी, धर्मी होता है; ईश्वर (सिद्ध) तो उसका ज्ञाता दृष्टा है।

(२) विपरीत मिथ्यात्व— १. आत्माका स्वरूपको तथा देव-गुरु-धर्मके स्वरूपको अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे– १. शरीरको आत्मा मानना; सर्वज्ञ वीतराग भगवानको ग्रासाहार, रोग, उपसर्ग, वस्त्र, पात्र, पाटादि सहित और क्रमिक उपयोग सहित मानना, अर्थात् रोटी आदि खानेवाला, पानी आदि पीनेवाला, बीमार होना, दवाई लेना, निहारका होना इत्यादि दोष सहित जीवको परमात्मा, अर्हंतदेव, केवलज्ञानी मानना। २. वस्त्र पात्रादि सहितको निर्ग्रन्थ गुरु मानना, स्त्री का शरीर होनेपर भी उसे मुनिदशा और उसीभवसे मोक्ष मानना, सती स्त्रीको पांच पतिवाली मानना। ३. गृहस्थदशामें केवलज्ञानकी उत्पत्ति मानना। ४. सर्वज्ञ-वीतराग दशा प्रगट होनेपर भी वह छद्मस्थगुरुकी वैयावृत्य करे ऐसा मानना, ५. छट्ठे गुणस्थानके ऊपर भी वंद्यवंदक भाव होता है और केवली भगवान छद्मस्थ गुरु के प्रति, चतुर्विध संघ अर्थात् तीर्थके प्रति या अन्य केवलीके प्रति वंद्यवंदकभाव मानना, ६. मुनिदशामें वस्त्रोंको परिग्रहके रूपमें न मानना अर्थात् वस्त्र सहित होनेपर भी मुनिपद और अपरिग्रहित्व मानना,

७ वस्त्रके द्वारा संयम और चारित्रका अच्छा साधन हो सकता है ऐसी जो मान्यताएँ हैं सो विपरीत मिथ्यात्व है।

८ सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले और बादमें छट्ठे गुणस्थान तक जो शुभभाव होता है, उस शुभभावमें भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके भिन्न भिन्न पदार्थ निमित्त होते हैं, क्योंकि जो शुभभाव है सो विकार है और वह परावलम्बनसे होता है। कितने ही जीवोंके शुभरागके समय वीतरागदेवकी तदाकार प्रतिमाके दर्शन पूजनादि निमित्तरूपमें होते हैं। वीतरागी प्रतिमाका जो दर्शन पूजन है सो भी राग है, परन्तु किसी भी जीवके शुभरागके समय वीतरागी प्रतिमाके दर्शन पूजनादिका निमित्त ही न हो ऐसा मानना सो शुभभावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेसे विपरीत मिथ्यात्व है।

९—वीतरागदेवकी प्रतिमाके दर्शन पूजनादिके शुभरागको धर्मानुराग कहते हैं; परन्तु वह धर्म नहीं है, धर्म तो निरावलम्बी है, जब देव शास्त्र-गुरु के अवलम्बनसे छूटकर शुद्ध श्रद्धा द्वारा स्वभावका आश्रय करता है तब धर्म प्रगट होता है। यदि उस शुभरागको धर्म माने तो उस शुभ भावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेसे विपरीत मिथ्यात्व है।

छट्ठे अध्यायके १३ वें सूत्रकी टीकामें अवर्णवादके स्वरूपका वर्णन किया है उसका समावेश विपरीत मिथ्यात्वमें होता है।

(देखो अध्याय ६ सूत्र १३ की टीका)

(३) संशय मिथ्यात्व—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है, यही सच्चा मोक्षमार्ग होगा या अन्य समस्त मतोंमें भिन्न भिन्न मार्ग बतलाया है, वह सच्चा मार्ग होगा? उनके वचनमें परस्पर विरुद्धता है और कोई प्रत्यक्ष जाननेवाला सर्वज्ञ नहीं है, परस्पर एक दूसरेके शास्त्र नहीं मिलते, इसीलिये कोई निश्चय निर्णय नहीं हो सकता,—इत्यादि प्रकारका जो अभिप्राय है सो संशय मिथ्यात्व है।

(४) विनय मिथ्यात्व—१—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-संयम-ध्यानादिके बिना मात्र गुरु पूजनादिक विनयसे ही मुक्ति होगी ऐसा मानना सो

विनयमिथ्यात्व है, २—सर्व देव, सर्व शास्त्र, समस्त मत तथा समस्त भेष धारण करनेवालोंको समान मानकर उन सभीका विनय करना सो विनय मिथ्यात्व है और ३—ऐसा मानना कि विनय मात्रसे ही अपना कल्याण हो जायगा सो विनय मिथ्यात्व है। ४—संसारमें जितने देव पूजे जाते हैं और जितने शास्त्र या दर्शन प्रचलित हैं वे सब सुखदायी हैं, उनमें भेद नहीं है, उन सबसे मुक्ति (अर्थात् आत्मकल्याणकी प्राप्ति) हो सकती है ऐसी जो मान्यता है सो विनय मिथ्यात्व है और इस मान्यतावाला जीव वैनयिक मिथ्यादृष्टि है।

गुण ग्रहणकी अपेक्षासे अनेक धर्ममें प्रवृत्ति करना अर्थात् सत्-असत् का विवेक किये विना सच्चे तथा खोटे सभी धर्मोंको समान रूपसे जानकर उनके सेवन करनेमें अज्ञानकी मुख्यता नहीं है किन्तु विनयके अतिरेककी मुख्यता है इसीलिये उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं।

(५) अज्ञान मिथ्यात्व—१-स्वर्ग, नरक और मुक्ति किसने देखी? २-स्वर्गके समाचार किसके आये? सभी धर्म शास्त्र झूठे हैं, कोई यथार्थ ज्ञान बतला ही नहीं सकता, ३-पुण्य-पाप कहाँ लगते हैं अथवा पुण्य-पाप कुछ हैं ही नहीं, ४-परलोकको किसने जाना? क्या किसीके परलोकके समाचार-पत्र या तार आये?, ५-स्वर्ग नरक आदि सब कथनमात्र है, स्वर्ग - नरक तो यहीं है, यहां सुख भोगना तो स्वर्ग है और दुःख भोगता है सो नरक है, ६-हिंसाको पाप कहा है और दयाको पुण्य कहा है सो यह कथनमात्र है, कोई स्थान हिंसा रहित नहीं है, सबमें हिंसा है, कहीं पैर रखनेको स्थान नहीं, जमीन पवित्र है यह पैर रखने देती है, ७-ऐसा विचार भी निरर्थक है कि यह भक्ष्य और यह अभक्ष्य है, एकेन्द्रिय वृक्ष तथा अन्न इत्यादि खानेमें और मांस भक्षण करनेमें अन्तर नहीं है, इन दोनोंमें जीवहिंसा समान है, ८-भगवानने जीवको जीवका ही आहार बताया है अथवा जगत की सभी वस्तुएँ खाने भोगने के लिये ही हैं, सांप-बिच्छू, शेर-बन्दर, तिड्डी आदिक मार डालना चाहिये। इत्यादि यह सभी अभिप्राय अज्ञान मिथ्यात्व है।

९ ऊपर कहे गये अनुसार मिथ्यात्वका स्वरूप जानकर सब जीवोंको गृहीत तथा अगृहीत मिथ्यात्व छोड़ना चाहिये। सब प्रकारके बंधका मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वको नष्ट किये बिना–दूर किये बिना अन्य बंधके कारण (अविरति आदि) कभी दूर नहीं होते, इसलिये सबसे पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिये।

१० अविरति का स्वरूप

पांच इन्द्रिय और मनके विषय एवं पांच स्थावर और एक त्रसकी हिंसा इन बारह प्रकारके त्यागरूप भाव न होना सो बारह प्रकारकी अविरति है।

जिसके मिथ्यात्व होता है उसके अविरति तो होती ही है, परन्तु मिथ्यात्व छूट जानेपर भी वह कितनेक समय तक रहती है। अविरतिको असंयम भी कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद देशचारित्रके बलके द्वारा एकदेशविरति होती है उसे अणुव्रत कहते हैं। मिथ्यात्व छूटनेके बाद तुरन्त ही अविरतिका पूर्ण अभाव हो जाय और यथार्थ महाव्रत तथा मुनिदशा प्रगट करे ऐसे जीव तो अल्प और विरले ही होते हैं।

११. प्रमादका स्वरूप

उत्तम क्षमादि दश धर्मोंमें उत्साह न रखना, इसे सर्वज्ञ देवने प्रमाद कहा है। जिसके मिथ्यात्व और अविरति हो उसके प्रमाद तो होता ही है। परन्तु मिथ्यात्व और अविरति दूर होनेके बाद प्रमाद तत्क्षण ही दूर होजाय ऐसा नियम नहीं है, इसीलिये सूत्रमें अविरति के बाद प्रमाद कहा है, वह अविरतिसे भिन्न है। सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही प्रमाद दूर करके अप्रमत्तदशा प्रगट करनेवाला जीव विरला ही होता है।

१२. कषायका स्वरूप

कषायके २५ भेद हैं। क्रोध मान, माया, लोभ, इन प्रत्येकके अनंतानुबंधी आदि चार भेद, इस तरह १६ तथा हास्यादिक ९ नोकषाय, ये सब

कषाय हैं और इन सबमें आत्महिंसा करनेकी सामर्थ्य है। मिथ्यात्व अविरति और प्रमाद ये तीन अथवा अविरति और प्रमाद ये दो अथवा जहां प्रमाद हो वहां कषाय तो अवश्य ही होती है, किन्तु ये तीनों दूर हो जाने पर भी कषाय हो सकती है।

१३. योगका स्वरूप

योगका स्वरूप छट्ठे अध्यायके पहले सूत्रकी टीकामें आगया हैं। (देखो पृष्ठ ५०२) मिथ्यादृष्टिसे लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यंत योग रहता है। ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि चारका अभाव हो जाता है तथापि योगका सद्भाव रहता है।

केवलज्ञानी गमनादि क्रिया रहित हुये हों तो भी उनके अधिक योग है और दो इन्द्रियादि जीव गमनादि क्रिया करते हैं तो भी उनके अल्प योग होता है, इससे सिद्ध होता है कि योग यह बंधका गौण कारण है, यह तो प्रकृति और प्रदेशबंधका कारण है। बंधका मुख्य कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय है और इन चारमें भी सर्वोत्कृष्ट कारण तो मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्वको दूर किये विना अविरति आदि बंधके कारण दूर ही नहीं होते—यह अबाधित सिद्धान्त है।

१४. किस गुणस्थानमें क्या बंध होता है?

मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान १) के पांचों बंध होते हैं, सासादन सम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि (गुणस्थान २-३-४) के मिथ्यात्वके सिवाय अविरति आदि चार बंध होते हैं, देश संयमी (गुणस्थान ५) के आंशिक अविरति तथा प्रमादादि तीनों बंध होते हैं, प्रमत्त संयमी (गुणस्थान ६) के मिथ्यात्व और अविरतिके अलावा प्रमादादि तीन बंध होते हैं। अप्रमत्तसंयमीके (७ से १० वें गुणस्थान तकके) कषाय और योग ये दो ही बंध होते हैं। ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें सिर्फ एक योगका ही सद्भाव है और चौदहवें गुणस्थानमें किसी प्रकारका बंध नहीं है यह अबंध है और वहां सम्पूर्ण संवर है।

१५. महापाप

प्रश्न—जीवके सबसे बड़ा पाप कौन है ?

उत्तर—एक मिथ्यात्व ही है। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ अन्य सब पापों का सद्भाव है। मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई पाप नहीं।

१६. इस सूत्रका सिद्धान्त

आत्मस्वरूपकी पहचानके द्वारा मिथ्यात्वके दूर होनेसे उसके साथ अनंतानुबंधी कषायका तथा ४१ प्रकृतियोंके बंधका अभाव होता है, तथा बाकी के कर्मोंकी स्थिति अंतः कोड़ाकोड़ी सागरकी रह जाती है, और जीव थोड़े ही कालमें मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है। संसारका मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्वका अभाव किये बिना अन्य अनेक उपाय करनेपर भी मोक्ष या मोक्ष मार्ग नहीं होता। इसलिये सबसे पहले यथार्थ उपायोंके द्वारा सर्व प्रकारसे उद्यम करके इस मिथ्यात्वका सर्वथा नाश करना योग्य है ॥ १ ॥

बंधका स्वरूप

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥ २ ॥

अर्थ—[जीवः सकषायत्वात्] जीव कषाय सहित होने से [कर्मणः योग्यपुद्गलान्] कर्मके योग्य पुद्गल परमाणुओंको [आदत्ते] ग्रहण करता है [स बंधः] वह बंध है।

टीका

१—समस्त लोकमें कार्माण वर्गणारूप पुद्गल भरे हैं। जब जीव कषाय करता है तब उस कषायका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूपसे परिणमती है और जीवके साथ संबंध प्राप्त करती है, इसे बंध कहा जाता है। यहाँ जीव और पुद्गलके एक क्षेत्रावगाहरूप संबंधको बंध कहा है। बंध

होने से जीव और कर्म एक पदार्थ नहीं हो जाते, तथा वे दोनों एकत्रित होकर कोई कार्य नहीं करते अर्थात् जीव और कर्म ये दोनों मिलकर पुद्गल कर्ममें विकार नहीं करते। कर्मोंका उदय जीवमें विकार नहीं करता, जीव कर्मोंमें विकार नहीं करता, किन्तु दोनों स्वतंत्ररूपसे अपनी अपनी पर्यायके कर्ता हैं। जब जीव अपनी विकारी अवस्था करता है तब पुराने कर्मोंके विपाक को 'उदय' कहा जाता है और यदि जीव विकारी अवस्था न करे तो उसके मोहकर्मकी निर्जरा हुई—ऐसा कहा जाता है। परके लक्षके विना जीवमें विकार नहीं होता, जीव जब पर लक्षसे अपनी अवस्थामें विकारभाव करता है तब उस भावके अनुसार नवीन कर्म बंधते हैं—ऐसा जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक संबन्ध है, ऐसा यह सूत्र बतलाता है।

२—जीव और पुद्गलका जो निमित्त नैमित्तिक संबन्ध है वह त्रिकाली द्रव्यमें नहीं है किन्तु सिर्फ एक समय की अवस्था जितना है। जीवमें कभी दो समयका विकार एकत्रित नहीं होता इसीलिये कर्मके साथ इसका सम्बन्ध भी दो समयका नहीं।

प्रश्न—यदि यह सम्बन्ध एक ही समय मात्रको है तो जीवके साथ लंबी स्थितिवाले कर्मका सम्बन्ध क्यों बताया है?

उत्तर—वहां भी यह बतलाया है कि सम्बन्ध तो वर्तमान एक समय मात्र ही है; परन्तु जीव यदि विभावके प्रति ही पुरुषार्थ चालू रखेगा और यदि सम्यग्दर्शनादिरूप सत्य पुरुषार्थ न करे तो उसका कर्मके साथ कहां तक संबंध रहेगा।

३—इस सूत्रमें सकषायत्वात् शब्द है वह जीव और कर्म दोनोंको (अर्थात् कषायरूपभाव और कषायरूपकर्म इन दोनोंको) लागू हो सकता है, और ऐसा होनेपर उनमें से निम्न मुद्दे निकलते हैं।

(१) जीव अनादिसे कभी शुद्ध नहीं हुआ किन्तु कषाय सहित ही है और इसीलिये जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिकालीन है।

(२) कषायभाववाला जीव कर्मके निमित्तसे नवीन बंध करता है।

(३) कषाय कर्मके मोहकर्म कहते हैं, आठ कर्मोंमेंसे वह एक ही कर्म बंधका निमित्त होता है।

(४) पहले सूत्रमें जो बंधके पांच कारण बताये हैं उनमेंसे पहले चार का यहाँ कहे हुये कषाय शब्दमें समावेश हो जाता है।

(५) यहाँ जीवके साथ कर्मका बंध होना कहा है, यह कर्म पुद्गल है ऐसा बताने के लिये सूत्रमें पुद्गल शब्द कहा है। इसीसे कितनेक जीवोंकी जो ऐसी मान्यता है कि 'कर्म आत्माका अदृष्ट गुण है' वह दूर हो जाती है।

४—'सकषायत्वात्'-यहाँ पांचवीं विभक्ति लगानेका ऐसा हेतु है कि जीव जैसी तीव्र, मध्यम या मंद कषाय करे उसके अनुसार कर्मोंमें स्वयं स्थिति और अनुभागबंध होता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५—जीवकी सकषाय अवस्थामें कर्मका निमित्त है। यह ध्यान रहे कि प्रस्तुत कर्मका उदय हो इसलिये जीवको कषाय करना ही पड़े, ऐसा नहीं है। यदि कर्म उपस्थित है तथापि स्वयं यदि जीव स्वरूपमें स्थिर रहकर कषायरूपसे न परिणमे तो उन कर्मोंको बंधका निमित्त नहीं कहलाता, परन्तु उन कर्मोंकी निर्जरा हुई ऐसा कहा जाता है।

६—जीवके कर्मके साथ जो सम्बन्ध है वह प्रवाह अनादि से चला आता है किन्तु वह एक ही समय मात्रका है। प्रत्येक समय अपनी योग्यतासे जीव नये नये विकार करता है इसीलिये वह सम्बंध चालू रहता है। किन्तु जड़कर्म जीवको विकार नहीं कराते। यदि जीव अपनी योग्यतासे विकार करे तो होता है और न करे तो नहीं होता। जैसे अधिक समयसे गरम किया हुआ पानी क्षणमें ठण्डा हो जाता है उसीप्रकार अनादिसे विकार करता आया तो भी विकारकी योग्यता एक ही समय मात्रकी होनेसे स्वभावके लक्ष से वह दूर हो सकता है। रागादि विकार दूर होनेसे कर्मके साथ सम्बन्ध भी दूर हो जाता है।

७—प्रश्न—आत्मा तो अमूर्तिक है हाथ, पैरसे रहित है और कर्म तो मूर्तिक है तो वह कर्मोंको किस तरह ग्रहण करता है?

उत्तरः—वास्तव में एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको ग्रहण नहीं कर सकता; इसीलिये यहां ऐसा समझना कि जो 'ग्रहण' करना बतलाया है वह मात्र उपचारसे कहा है। जीवके अनादिसे कर्म पुद्गलके साथ सम्बन्ध है और जीवके विकारका निमित्त पाकर प्रति समय पुराने कर्मोंके साथ नवीन कर्म स्कन्धरूप होता है—इतना सम्बन्ध बताने के लिये यह उपचार किया है; वास्तवमें जीवके साथ कर्मपुद्गल नहीं बँधते किन्तु पुराने कर्म पुद्गलोंके साथ नवीन कर्म पुद्गलोंका बंध होता है; परन्तु जीवमें विकारकी योग्यता है और उस विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्मपुद्गल स्वयं स्वतः बँधते हैं इसलिए उपचारसे जीवके कर्म पुद्गलोंका ग्रहण कहा है।

८—जगतमें अनेक प्रकारके बंध होते हैं, जैसे गुणगुणीका बंध इत्यादि। इन सब प्रकारके बंधसे यह बंध भिन्न है ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमें बंधसे पहले 'सः' शब्दका प्रयोग किया है।

'सः' शब्दसे यह बतलाया है कि जीव और पुद्गलके गुणगुणी संबंध या कर्त्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, इसीलिये यहां उनका एक क्षेत्रावगाहरूप संबंध अथवा निमित्त नैमित्तिक संबंध समझना। कर्मका बंध जीवके समस्त प्रदेशोंसे होता है और बंधमें अनंतानंत परमाणु होते हैं।

(देखो अध्याय ८ सूत्र २४)

९—यहाँ बंध शब्दका अर्थ व्याकरणकी दृष्टिसे नीचे बतलाये हुये चार प्रकारसे समझना :—

(१) आत्मा बँधा सो बंध; यह कर्मसाधन है।

(२) आत्मा स्वयं ही बंधरूप परिणमती है, इसीलिये बंधको कर्त्ता कहा जाता है, यह कर्तृ साधन है।

(३) पहले बंधकी अपेक्षासे आत्मा बंधके द्वारा नवीन बंध करता है इसीलिये बंध करणसाधन है।

(४) बंधनरूप जो क्रिया है सो ही भाव है, ऐसी क्रियारूप भी बंध है यह भावसाधन है॥ २॥

बंधके भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अर्थः—[तत्] उस बंधके [प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः] प्रकृति बंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध [विधयः] ये चार भेद हैं।

टीका

१. प्रकृतिबंध—कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

स्थितिबंध—ज्ञानावरणादि कर्म अपने स्वभावरूपसे जितने समय रहे सो स्थितिबंध है।

अनुभागबंध—ज्ञानावरणादि कर्मोंके रसविशेषको अनुभागबंध कहते हैं।

प्रदेश बंध—ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे होनेवाले पुद्गलस्कंधोंके परमाणुओंकी जो संख्या है सो प्रदेशबंध है। बंधके उपरोक्त चार प्रकारमेंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंधमें योग निमित्त है और स्थितिबंध तथा अनुभागबंध में कषाय निमित्त है।

२—यहां जो बंधके भेद वर्णन किये हैं वे पुद्गल कर्मबंधके हैं, अब उन प्रत्येक प्रकारके भेद-उपभेद अनुक्रमसे कहते हैं ॥ ३ ॥

प्रकृतिबंधके मूल भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः ॥४॥

अर्थः—[आद्यो] पहला अर्थात् प्रकृतिबंध [ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय इन आठ प्रकारका है।

टीका

१—ज्ञानावरण—जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभावका घात करता है अर्थात् ज्ञान शक्तिको व्यक्त नहीं करता तब आत्माके ज्ञान गुणके घातमें जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण—जब आत्मा स्वयं अपने दर्शनभावका घात करता है तब आत्माके दर्शनगुणके घातमें जिस कर्मके उदयका निमित्त हो उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीय—जब आत्मा स्वयं मोहभावके द्वारा परलक्षसे आकुलता करता है तब अनुकूलता—प्रतिकूलतारूप संयोग प्राप्त होनेमें जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय—जीव अपने स्वरूपको भूलकर अन्यको अपना समझे अथवा स्वरूपाचरणमें असावधानी करता है तब जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे मोहनीय कहते हैं।

आयु—जीव अपनी योग्यतासे जब नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव के शरीरमें रुका रहे तब जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे आयुकर्म कहते हैं।

नाम—जिस शरीरमें जीव हो उस शरीरादिककी रचनामें जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे नामकर्म कहते हैं।

गोत्र—जीवको उच्च या नीच आचरणवाले कुलमें पैदा होने में जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

अंतराय—जीवके दान लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यके विघ्नमें जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे अंतरायकर्म कहते हैं।

२—प्रकृतिबंधके इन आठ भेदोंमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे जीवके अनुजीवी

गुणोंकी पर्यायके घातमें निमित्त है, और बाकीके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार को अघातिया कर्म कहते हैं क्योंकि ये जीवके अनुजीवी गुणों की पर्यायके घातमें निमित्त नहीं किन्तु प्रतिजीवी गुणोंकी पर्यायके घातमें निमित्त हैं।

वस्तुमें भावस्वरूप गुण अनुजीवी गुण और अभावस्वरूप गुण प्रतिजीवी गुण कहे जाते हैं।

२—जैसे एक ही समयमें खाया हुआ आहार उदराग्निके संयोगसे रस लोहू आदि भिन्न २ प्रकार से हो जाता है, उसीप्रकार एक ही समयमें ग्रहण किये हुए कर्म जीवके परिणामानुसार ज्ञानावरण इत्यादि अनेक भेदरूप हो जाता है। यहां उदाहरणसे इतना अंतर है कि आहार तो रस रुधिर आदि रूपसे क्रम क्रमसे होता है परन्तु कर्म तो ज्ञानावरणादिरूपसे एक साथ हो जाते हैं ॥ ४ ॥

प्रकृतिबंधके उत्तर भेद

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

अर्थ—[यथाक्रमम्] उपरोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके अनुक्रमसे [पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशत् द्वि पंचभेदाः] पांच, नव, दो, अट्ठाईस, चार ब्यालीस, दो और पांच भेद हैं।

नोट—इन भेदोंके नाम अब आगे के सूत्रोंमें अनुक्रमसे बतलाते हैं ॥ ५ ॥

ज्ञानावरणकर्मके ५ भेद

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—[मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्] मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये ज्ञानावरणकर्मके पांच भेद हैं।

टीका

प्रश्न—अभव्यजीवके मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान की प्राप्ति करने की सामर्थ्य नहीं है, यदि वह सामर्थ्य हो तो अभव्यत्व नहीं कहा जा सकता; इसलिये इन दो ज्ञानकी सामर्थ्यसे रहित उसके इन दो ज्ञानका आवरण कहना सो क्या निरर्थक नहीं है ?

उत्तर—द्रव्यार्थिकनयसे अभव्यजीवके भी इन दोनों ज्ञानकी शक्ति विद्यमान है और पर्यायार्थिकनयसे अभव्यजीव ये दोनों ज्ञानरूप अपने अपराधसे परिणमता नहीं है. इससे उसके किसी समय भी उसकी व्यक्ति नहीं होती; शक्तिमात्र है किन्तु प्रगटरूपसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अभव्यके नहीं होते। इसलिये शक्तिमें से व्यक्ति न होने के निमित्तरूप आवरण कर्म होना ही चाहिये, इसीलिये अभव्य जीवके भी मनःपर्ययज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण विद्यमान है।

दर्शनावरण कर्म के ९ भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचला-प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ—[चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां] चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण [निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च] निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नव भेद दर्शनावरण कर्मके हैं।

टीका

१—छद्मस्थ जीवोंके दर्शन और ज्ञान क्रमसे होते हैं अर्थात् पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है; परन्तु केवली भगवानके दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं क्योंकि दर्शन और ज्ञान दोनोंके बाधक कर्मोंका क्षय एक साथ होता है।

२—मन पर्ययदर्शन नहीं होता, क्योंकि मन पर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है; इसीलिये मनःपर्ययदर्शनावरण कर्म नहीं है।

३—इस सूत्रमें आये हुए शब्दोंका अर्थ श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में से देख लेना ॥ ७ ॥

वेदनीय कर्मके दो भेद

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थ—[सदसद्वेद्ये] सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो वेदनीयकर्म के भेद हैं।

टीका

वेदनीयकर्मकी दो ही प्रकृतियाँ हैं सातावेदनीय और असातावेदनीय।

साता नाम सुखका है। इस सुखका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे सो साता वेदनीय है। असाता नाम दुःखका है, इसका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे सो असाता वेदनीयकर्म है।

शंका—यदि सुख और दुःख कर्मोंसे होता है तो कर्मोंके नष्ट होजाने के बाद जीव सुख और दुःखसे रहित हो जाना चाहिये? क्योंकि उसके सुख और दुःखके कारणीभूत कर्मोंका अभाव होगया है। यदि यों कहा जावे कि कर्म नष्ट हो जाने से जीव सुख और दुःख रहित ही हो जाता है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव द्रव्यके निःस्वभाव हो जाने से अभावका प्रसंग प्राप्त होता है; अथवा यदि दुःखको ही कर्मजनित माना जाये तो सातावेदनीय कर्मका अभाव हो जायगा, क्योंकि फिर इसका कोई फल नहीं रहता।

समाधान—दुःख नाम की जो कोई भी वस्तु है वह असातावेदनीय कर्मके उदयसे होती है, क्योंकि वह जीवका स्वरूप नहीं है। यदि जीवका स्वरूप माना जावे तो क्षीणकर्मा अर्थात् कर्म रहित जीवोंके भी दुःख होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान और दर्शनकी तरह कर्मका विनाश होनेपर दुःखका

विनाश नहीं होता। किन्तु सुख कर्मसे उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि यह जीवका स्वभाव है और इसीलिये यह कर्मका फल नहीं है। सुखको जीवका स्वभाव माननेसे साता वेदनीय कर्मका अभाव भी नहीं होता, क्योंकि दुःखके उपशमन के कारणीभूत* सुद्रव्योंके सम्पादनमें सातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है।

---

* धन स्त्री, पुत्र इत्यादि बाह्य पदार्थोंके संयोग वियोगमें पूर्वकर्मका उदय (निमित्त) कारण है। इसका आधार :—

समयसार–गाथा ८४ की टीका, प्रवचनसार - गाथा १४ की टीका, पंचास्तिकाय–गाथा २७, ६७ की टीका, परमात्मप्रकाश–अ. २ गाथा ५७, ६०, तथा पृष्ठ २०–१९८, नियमसार–गाथा १५७ की टीका, पंचाध्यायी अध्याय १ गाथा १८१, पंचाध्यायी अ० १ गाथा ५८१, अध्याय २ गाथा ५०, ४४०, ४४१ रयणसार गाथा २६, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०, १६, ५६, ५७, ३१६, ३२०, ४२७, ४३२, पद्मनंदि पंचविंशति पृष्ठ १०२, १०३ १०४, १०६, १०९, ११०, ११६, १२८, १३१, १३८, १४० १५५ मोक्षमार्ग प्रकाशक गु अनुवाद पृष्ठ ८ २८, ३०, ४५, ६१, ६२, ६४ ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, ३ ८ इत्यादि अनेक स्थलमें, गोमट्टसार–कर्मकाण्ड पृष्ठ ६०२, श्लोकवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका, अध्याय ६ सूत्र १६, राजवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका अध्याय ६ सूत्र १६।

श्रीमद्राजचन्द्र (गुजराती द्वितीयावृत्ति) पृष्ठ २३५, ४४३ तथा मोक्षमाला पाठ ३, सत्तास्वरूप पृष्ठ २६, अनगार धर्मामृत–पृष्ठ ६०, ७६।

श्रीषट्खंडागम पुस्तक १ पृ० १०५, गोमट्टसार जी० पीठिका पृ० १४, १५, ३७५ गो० क० गा० २ पृ० ३ पृ० ६०२–६०३; गा० ३८०, समयसार गा० १३२ से १३६ की तथा २२४, २२७, २७५, ३२४ से ३२७, जयसेनाचार्यकृत टीका; स० सार गा० २२५ मूल। पं० राजमल्लजी स० सार कलश टीका पृ० १६३ से १६६, १७१, १७२ १७५, १७८ १९५। प्रवचनसार गा० ७२ की जयसेनाचार्य कृत टीका। नियमसार शास्त्रमें कलश २६। रयणसार गा० २६। भगवती आराधना पृष्ठ ५४७–८, तथा गाथा १७३२, १७३३ १७३४-५, १७४२, १७४३, १७४८-१७५२। पद्मनंदी पंचविंशति प्रथम अ० गा० १८१ १८४ से १९१, १९५–९६,

ऐसी व्यवस्था मानने से सातावेदनीय प्रकृतिको पुद्गलविपाकित्व प्राप्त हो जायगा। ऐसी आशंका नहीं करना, क्योंकि दुःखके उपशमनसे उत्पन्न हुये दुःखके अविनाभावी, उपचारसे ही सुख संज्ञाको प्राप्त और जीवसे अभिन्न ऐसे स्वास्थ्यके कणका हेतु होने से सूत्रमें सातावेदनीय कर्मको जीवविपाकित्व और सुख हेतुत्वका उपदेश दिया गया है। यदि ऐसा कहा जावे कि उपरोक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्मको जीवविपाकित्व और पुद्गलविपाकित्व प्राप्त होता है, तो यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीव का अस्तित्व अन्यथा नहीं बन सकता, इसीसे इसप्रकारके उपदेशके अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। सुख और दुःखके कारणभूत द्रव्योंका संपादन करने वाला दूसरा कोई कर्म नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई कर्म मिलता नहीं। (धवला टीका पुस्तक ६ पृष्ठ ३५-३६)

मोहनीय कर्मके अट्ठाईस भेद बतलाते हैं

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्या-स्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्य-कषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्री-पुंनपुंसकवेदा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

पद्मनंदी दान अ० श्लोक २०, ३८ ४४, अनित्य अ० श्लो० ६, ६, १०, ४२। आत्मानुशासन गा० २१, ३१, ३७, १४८। सुभाषित रत्नसंदोह गा० ३४६ ५५-५६ ६० ६६ ३७०, ३७२॥ महापुराण सर्ग० ५ श्लोक १४ से १८,। सर्ग ६ में श्लो० १६५, २०२ ३,। सर्ग २८ में श्लोक २१३ से २२८, पर्व ३७ श्लो० १६० से २०८,। सत्या स्वरूप पृ० १७। जैन सि० प्रवेशिका पृ० ३३६ ३७ पुण्यकर्म, पापकर्म।

अर्थ—[दर्शन चारित्रमोहनीयाकपायकपायवेदनीयाख्याः] दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकपायवेदनीय और कपायवेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीयकर्म है और इसके भी अनुक्रमसे [त्रिद्विनवषोडशभेदाः] तीन, दो, नव और सोलह भेद हैं। वे इसप्रकार से हैं— [सम्यक्त्व मिथ्यात्वतदुभयानि] सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय ये दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं; [अकपाय कपायौ] अकपायवेदनीय और कपायवेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीय के हैं; [हास्यरत्यरतिशोक भय जुगुप्सा स्त्री पुंनपुंसकवेदाः] हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये अकपायवेदनीय के नव भेद हैं, और [अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान संज्वलनविकल्पाः च] अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन के भेद से तथा [एकशः क्रोध मान माया लोभाः] इन प्रत्येकके क्रोध, मान माया, और लोभ ये चार प्रकार—ये सोलह भेद कपायवेदनीयके हैं। इसतरह मोहनीय के कुल अट्ठाईस भेद हैं।

नोट—अकपायवेदनीय और कपायवेदनीयका चारित्रमोहनीयमें समावेश हो जाता है इसीलिये इनको अलग नहीं गिना गया है।

टीका

१—मोहनीयकर्मके मुख्य दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। जीवका मिथ्यात्वभाव ही संसारका मूल है इसमें मिथ्यात्व मोहनीयकर्म निमित्त है; यह दर्शन मोहनीयका एक भेद है। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति। इन तीनमें से एक मिथ्यात्व प्रकृतिका ही बंध होता है। जीवका ऐसा कोई भाव नहीं है कि जिसका निमित्त पाकर सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति या सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय प्रकृति बँधे; जीवके प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होने के कालमें (उप-

शम कालमें) मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन टुकडे हो जाते हैं, इनमें से एक मिथ्या त्वरूपमें रहता है, एक सम्यक्त्वप्रकृतिरूप से होता है और एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूपसे होता है। चारित्र मोहनीयके पच्चीस भेद हैं उनके नाम सूत्रमें ही बतलाये हैं। इसप्रकार सब मिलकर मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेद हैं।

२—इस सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामें से देख लेना।

३—यहा हास्यादिक नवको अकषायवेदनीय कहा है, इसे नोकषाय वेदनीय भी कहते है।

४—अनंतानुबंधीका अर्थ—अनत = मिथ्यात्व, ससार, अनुबंधी जो इसको अनुसरण कर बंधको प्राप्त हो। मिथ्यात्वको अनुसरण कर जो कषाय बँधती है उसे अनतानुबंधी कषाय कहते हैं। अनतानुबंधी क्रोध मान माया लोभकी व्याख्या निम्नप्रकार है—

(१) जो आत्माके शुद्धस्वरूपकी अरुचि है सो अनतानुबंधी क्रोध है।

(२) 'मैं परका कर सकता हूँ' ऐसी मान्यता पूर्वक जो अहकार है सो अनतानुबंधी मान—अभिमान है।

(३) अपना स्वाधीन स्वरूप समझमें नहीं आता ऐसी आड़में समझ शक्तिको छुपाकर आत्माको ठगना सो अनतानुबंधी माया है।

(४) पुण्यादि विकारसे और पर से लाभ मानकर अपनी विकारी दशा की वृद्धि करना सो अनतानुबंधी लोभ है।

अनतानुबंधी कषाय आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको रोकती है। शुद्धात्माके अनुभवको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। इसका प्रारंभ चौथे गुणस्थानसे होता है और चौदहवें गुणस्थानमें इसकी पूर्णता होकर सिद्ध दशा प्रगट होती है ॥ ६ ॥

अब आयुकर्मके चार भेद बतलाते हैं

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

अर्थ—[नारक तैर्यग्योनमानुषदैवानि] नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार भेद आयुकर्मके हैं ॥ १० ॥

नामकर्मके ४२ भेद बतलाते हैं

४ ५ ५ ३ २ ५ ५ ६

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थान-

६ ८ ५ २ ५ ४

संहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघाता-

२

तपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येक शरीरत्रससु-

भगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेत-

राणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

अर्थ—[गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः] गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इक्कीस तथा [प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि] प्रत्येक, शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय और यशःकीर्ति ये दश तथा इनसे उलटे दस अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर (-स्थूल) अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, और अयशः कीर्ति ये दस [तीर्थकरत्व च] और तीर्थकरत्व, इस तरह नाम कर्मके कुल व्यालीस भेद हैं।

टीका

सूत्रके जिस शब्दपर जितने अंक लिखे हैं वे यह बतलाते हैं कि उस शब्दके उतने उपभेद हैं, उदाहरणार्थ —गति शब्दपर चारका अंक लिखा है वह यह बतलाता है कि गतिके चार उपभेद हैं। गति आदि उपभेद सहित गिना जाय तो नाम कर्मके कुल ९३ भेद होते हैं।

इस सूत्रमें आये हुए शब्दोंका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामें से देख लेना ॥ ११ ॥

गोत्रकर्मके दो भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—[उच्चैर्नीचैश्च] उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो भेद गोत्र कर्मके हैं ॥ १२ ॥

अंतरायकर्मके ५ भेद बतलाते हैं

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—[दानलाभभोगोपभोग वीर्याणाम्] दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय उपभोगांतराय और वीर्यान्तराय ये पांच भेद अंतराय कर्म के हैं।

प्रकृतिबंधके उपभेदोंका वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ ॥ १३ ॥

अब स्थितिबंधके भेदोंमें ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटीकोटयः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ—[आदितस्तिसृणाम्] आदिसे तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा वेदनीय [अन्तरायस्य च] और अन्तराय इन चार कर्मों-

की [परा स्थितिः] उत्कृष्ट स्थिति [त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः] तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है।

नोट—(१) इस उत्कृष्ट स्थितिका बंध मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही होता है। (२) एक करोड़को एक करोड़से गुणनेसे जो गुणनफल हो वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है ॥ १४ ॥

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

अर्थ—[मोहनीयस्य] मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [सप्ततिः] सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है।

नोट—यह स्थिति भी मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही बँधती है ॥ १५ ॥

नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

अर्थ—[नामगोत्रयोः] नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [विंशतिः] बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ १६ ॥

आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

अर्थ—[आयुषः] आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि] तेतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—[वेदनीयस्य अपरा] वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति [द्वादशमुहूर्ता] बारह मुहूर्त की है ॥ १८ ॥

नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थ—[नामगोत्रयोः] नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति [अष्टौ] आठ मुहूर्त की है ॥ १९ ॥

अब शेष ज्ञानावरणादि पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

शेषाणामंतर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अर्थ—[शेषाणां] बाकी के अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय, अन्तराय और आयु इन पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति [अंतर्मुहूर्ता] अन्तर्मुहूर्त की है।

यहाँ स्थितिबंधके उपभेदोंका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २० ॥

अब अनुभागबंधका वर्णन करते हैं। (अनुभागबंधको अनुभवबंध भी कहते हैं)

अनुभवबंधका लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थ—[विपाकः] विविध प्रकारका जो पाक है [अनुभवः] सो ही अनुभव है।

टीका

(१) मोहकर्मका विपाक होनेपर जीव जिसप्रकारका विकार करे उसी प्रकार जीवने फल भोगा कहा जाता है, इसका इतना ही अर्थ है कि जीवको विकार करनेमें मोहकर्मका विपाक निमित्त है। कर्मका विपाक कर्ममें होता, जीवमें नहीं होता। जीवको अपना विभावभावका जो अनुभव होता है सो उसका विपाक-अनुभव है।

(२) यह सूत्र पुद्गल कर्मके विपाक-अनुभवको बतलाने वाला है। बंध होते समय जीवका जैसा विकारीभाव हो उसके अनुसार पुद्गलकर्ममें अनुभाग बंध होता है और जब यह उदयमें आवे तब यह कहा जाता है कि कर्मका विपाक, अनुभाग या अनुभव हुआ ॥ २१ ॥

अनुभागबंध कर्मके नामानुसार होता है

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थ—[सः] यह अनुभाग बंध [यथानाम] कर्मोंके नामके अनुसार ही होता है।

टीका

जिस कर्मका जो नाम है उस कर्ममें वैसा ही अनुभागबंध पड़ता है। जैसे कि ज्ञानावरण कर्ममें ऐसा अनुभाग होता है कि 'जब ज्ञान रुके तब निमित्त हो' दर्शनावरण कर्ममें 'जब दर्शन रुके तब निमित्त हो' ऐसा अनुभाग होता है ॥ २२ ॥

अब यह बतलाते हैं कि फल देनेके बाद कर्मोंका क्या होता है

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ—[ततः च] तीव्र, मध्यम या मन्द फल देनेके बाद [निर्जरा] उन कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है अर्थात् उदयमें आनेके बाद कर्म आत्मासे जुदे हो जाते हैं ॥

१—आठों कर्म उदय होनेके बाद झड़ जाते हैं। इनमें कर्मकी निर्जरा के दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

(१) सविपाक निर्जरा—आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहे हुए कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर अलग होगये यह सविपाक निर्जरा है।

(२) अविपाक निर्जरा—उदयकाल प्राप्त होनेसे पहले जो कर्म आत्माके पुरुषार्थके कारण आत्मासे पृथक् होगये यह अविपाक निर्जरा है। इसे सकामनिर्जरा भी कहते हैं।

२—निर्जराके दूसरी तरहसे भी दो भेद होते हैं उनका वर्णन—

(१) अकाम निर्जरा—इसमें बाह्य निमित्त तो यह है कि इच्छा रहित भूख-प्यास सहन करना और वहां यदि मंदकषायरूप भाव हो तो पाप की निर्जरा हो और देवादि पुण्यका बंध हो—इसे अकाम निर्जरा कहते हैं।

जिस अकाम निर्जरासे जीवकी गति कुछ ऊँची होती है वह प्रतिकूल संयोगके समय जीव मंद कषाय करता है उससे होती है, किन्तु कर्म जीवको ऊंची गतिमें नहीं ले जाते।

(२) सकाम निर्जरा—इसकी व्याख्या ऊपर अविपाक निर्जरा अनुसार समझना, तथा यहां विशेष बात यह है कि जीवके उपादानकी अस्ति प्रथम दिखाकर यह निर्जरामें भी पुरुषार्थका कारणपना दिखाया है।

३—इस सूत्रमें जो च शब्द है वह नवमें अध्यायके तीसरे सूत्र (तपसा निर्जरा च) के साथ सम्बन्ध कराता है।

यहां अनुभागबंधका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २३ ॥

अब प्रदेशबंधका वर्णन करते हैं

प्रदेशबंधका स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥२४॥

अर्थः—[नाम प्रत्ययाः] ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंका कारण, [सर्वतः] सर्व तरफ से अर्थात् समस्त भावोंमें [योग विशेषात्] योग विशेषसे [सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः] सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाह रूप स्थित [सर्वात्मप्रदेशेषु] और सर्व आत्मप्रदेशोंमें [अनंतानंतप्रदेशाः] जो कर्म पुद्गलके अनन्तानन्त प्रदेश हैं सो प्रदेशबंध है।

निम्न कुछ बातें इस सूत्रमें बतलाई हैं :—

(१) सर्व कर्मके ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप, उत्तर प्रकृतिरूप और उत्तरोत्तरप्रकृतिरूप होनेका कारण कार्माणवर्गणा है।

(२) त्रिकालवर्ती समस्त भवोंमें (जन्मोंमें) मन-वचन-कायके योग के निमित्तसे यह कर्म आते हैं।

(३) ये कर्म सूक्ष्म हैं—इन्द्रियगोचर नहीं हैं।

(४) आत्माके सर्व प्रदेशोंके साथ दूध पानीकी तरह एक क्षेत्रमें ये कर्म व्याप्त हैं।

(५) आत्माके सर्व प्रदेशोंमें अनंतानंत पुद्गल स्थित होते हैं।

(६) एक एक आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, इस प्रत्येक प्रदेशमें संसारी जीवोंके अनन्तानन्त पुद्गलस्कंध विद्यमान हैं।

यहां प्रदेशबंधका वर्णन पूर्ण हुआ ॥२४॥

इस तरह चार प्रकारके बंधका वर्णन किया। अब कर्मप्रकृतियोंमेंसे पुण्यप्रकृतियां कितनी हैं और पाप प्रकृति कितनी हैं यह बतलाकर इस अध्यायको पूर्ण करते हैं।

पुण्य प्रकृतियां बतलाते हैं

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—[सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि] सातावेदनीय, शुभआयु, शुभ-नाम और शुभगोत्र [पुण्यम्] ये पुण्य प्रकृतियां हैं।

टीका

१— घातिया कर्मोंकी ४७ प्रकृतियां हैं, ये सब पापरूप हैं; अघातिया कर्मोंकी १०१ प्रकृतियां हैं, उनमें पुण्य और पाप दोनों प्रकार हैं; उनमेंसे निम्न ६८ प्रकृतियां पुण्यरूप हैं—

(१) सातावेदनीय (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु (५) उच्च गोत्र (६) मनुष्यगति (७) मनुष्यगत्यानुपूर्वी (८) देवगति (९) देवगत्यानुपूर्वी (१०) पंचेन्द्रिय जाति (११-१५) पांच प्रकारका शरीर (१६-२०) शरीरके पांच

प्रकारके बंधन, (२१-२५) पाच प्रकार का संघात (२६-२८) तीन प्रकारका अगोपाग (२६-४८) स्पर्श, वर्णादिककी बीस प्रकृति (४६) समचतुरस्रसंस्थान (५०) वज्रर्षभनाराचसहनन, (५१) अगुरुलघु (५२) परघात, (५३) उच्छ्वास (५४) आतप (५५) उद्योत (५६) प्रशस्त विहायोगति (५७) त्रस (५८) बादर, (५६) पर्याप्ति (६०) प्रत्येक शरीर (६१) स्थिर (६२) शुभ (६३) सुभग (६४) सुस्वर (६५) आदेय (६६) यशःकीर्ति (६७) निर्माण और (६८ तीर्थकरत्व। भेद विवक्षासे ये ६८ पुण्यप्रकृति हैं और अभेद विवक्षासे ४२ पुण्यप्रकृति हैं, क्योंकि वर्णादिकके १६ भेद, शरीरमें अन्तर्गत ५ बंधन और ५ संघात इस प्रकार कुल २६ प्रकृतियां घटानेसे ४२ प्रकृतियां रहती हैं।

२—पहले ११वें सूत्रमें नामकर्मकी ४२ प्रकृति बतलाई हैं उनमें गति, जाति, शरीरादिकके उपभेद नहीं बतलाये, परन्तु पुण्य प्रकृति और पापप्रकृति ऐसे भेद करनेसे उनके उपभेद आये विना नहीं रहते ॥ २५॥

अब पाप प्रकृतियां बतलाते हैं :—

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ—[अतः अन्यत्] इन पुण्य प्रकृतियोंसे अन्य अर्थात् असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र [पापम्] ये पाप प्रकृतियां हैं।

टीका

१—पाप प्रकृतियां निम्न प्रकार हैं —

(१-४७) घातिया कर्मोकी सर्व प्रकृतियाँ (४८) नीच गोत्र (४६) असातावेदनीय, (५०) नरकगति (५१) नरकगत्यानुपूर्वी (५२) तिर्यंचगति (५३) तिर्यंचगत्यानुपूर्वी (५४-५७) एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तक चार जाति, (५८-६३) पांच संस्थान (६४-६८) पांच संहनन (६६-८८) वर्णादिक २० प्रकार (८६) उपघात (६०) अप्रशस्त विहायोगति (६१) स्थावर (६२) सूक्ष्म (६३) अपर्याप्ति (६४) साधारण (६५) अस्थिर (६६) अशुभ (६७ दुर्भग (६८) दुःस्वर

(९९) अनादेय और (१००) अयशःकीर्ति। भेद विवक्षासे ये १०० पापप्रकृतियां हैं और अभेद विवक्षा से ८४ हैं; क्योंकि वर्णादिकके १६ उपभेद घटानेसे ८४ रहते हैं। इनमें से भी सम्यक् मिथ्यात्वप्रकृति तथा सम्यक्त्व मोहनीयप्रकृति इन दो प्रकृतियोंका बंध नहीं होता अतः इन दो को कम करनेसे भेदविवक्षासे ९८ और अभेद विवक्षासे ८२ पाप प्रकृतियोंका बंध होता है, परन्तु इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता तथा उदय होता है इसीलिये सत्ता और उदय तो भेद विवक्षासे १०० तथा अभेद विवक्षासे ८४ प्रकृतियोंका होता है।

२—वर्णादिक चार अथवा उनके भेद गिने जावें तो २० प्रकृतियां हैं, ये पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं इसीलिये ये पुण्य और पाप दोनोंमें गिनी जाती हैं।

३—इस सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना।

उपसंहार

इस अध्यायमें बंधतत्त्वका वर्णन है; पहले सूत्रमें मिथ्यात्वादि पांच विकारी परिणामोंको बंधके कारणरूपसे बतलाया है, इनमें पहला मिथ्यादर्शन बतलाया है क्योंकि इन पांच कारणोंमें संसारका मूल मिथ्यादर्शन है। ये पांचों प्रकारके जीवके विकारी परिणामोंका निमित्त पाकर आत्माके एक एक प्रदेशमें अनंतानंत कार्माणवर्गणारूप पुद्गल परमाणु एक क्षेत्रावगाहरूपसे बंधते हैं, यह द्रव्यबंध है।

२—बंधके चार प्रकार वर्णन किये हैं। इनमें ऐसा भी बतलाया है कि कर्मबंध जीवके साथ कितने समय तक रहकर फिर उसका वियोग होता है। प्रकृतिबंधमें मुख्य आठ भेद होते हैं, इनमें से एक मोहनीय प्रकृति ही नवीन कर्मबंधमें निमित्त है।

३—वर्तमान गोचर जो देश हैं, उनमें कोई भी स्थानमें ऐसा स्पष्ट और वैज्ञानिक ढंगसे या न्याय पद्धतिसे जीवके विकारी भावोंका तथा उसके निमित्त

से होनेवाले पुद्गलबंधके प्रकारोंका स्वरूप, और जीवके शुद्ध भावोंका स्वरूप जैनदर्शनके सिवाय दूसरे किसी दर्शनमें नहीं कहा गया और इस प्रकारका नवतत्त्वके स्वरूपका सत्य कथन सर्वज्ञ वीतरागताके विना हो ही नहीं सकता। इसलिये जैनदर्शनकी अन्य किसी भी दर्शनके साथ समानता मानना सो विनयमिथ्यात्व है।

४—मिथ्यात्वके सम्बन्धमें पहले सूत्रमें जो विवेचन किया गया है वह यथार्थ समझना।

५—बंधतत्त्व सम्बन्धी ये खास सिद्धान्त ध्यानमें रखने योग्य है कि शुभ तथा अशुभ दोनों ही भाव बंधके कारण हैं इसलिये उनमें फर्क नहीं है अर्थात् दोनों बुरे हैं। जिस अशुभ भावके द्वारा नरकादिरूप पापबंध हो उसे तो जीव बुरा जानता है, किन्तु जिस शुभभावके द्वारा देवादिरूप पुण्यबंध हो उसे वह भला जानता है, इस तरह दुःखसामग्रीमें (पापबंधके फलमें) द्वेष और सुख सामग्रीमें (पुण्यबंधके फलमें) राग हुआ; इसलिये पुण्य अच्छा और पाप खराब है यदि ऐसा मानें तो ऐसी श्रद्धा हुई कि राग द्वेष करने योग्य है, और जैसे इस पर्याय सम्बन्धी राग द्वेष करनेकी श्रद्धा हुई वैसी भावी पर्याय सम्बन्धी भी सुख दुःख सामग्रीमें राग द्वेष करने योग्य है ऐसी श्रद्धा हुई। अशुद्ध (शुभ अशुभ) भावोंके द्वारा जो कर्मबंध हो उसमें अमुक अच्छा और अमुक बुरा ऐसा भेद मानना ही मिथ्या श्रद्धा है; ऐसी श्रद्धासे बंधतत्त्वका सत्य श्रद्धान नहीं होता। शुभ या अशुभ दोनों बंधभाव है, इन दोनोंसे घातिकर्मोंका बंध तो निरन्तर होता है, सब घातियाकर्म पापरूप ही है और यही आत्मगुणके घातमें निमित्त है। तो फिर शुभभावसे जो बंध हो उसे अच्छा क्यों कहा जाता है?

६—यहां यह बतलाते हैं कि जीवके एक समयके विकारीभावमें सात कर्मके बंधमें और किसी समय आठों प्रकारके कर्मके बंधमें निमित्त होनेकी योग्यता किस तरह होती है—

(१) जीव अपने स्वरूपकी असावधानी रखता है, यह मोह कर्मके बंधका निमित्त होता है।

(२) स्वरूपकी असावधानी होनेसे जीव उस समय अपना ज्ञान अपनी ओर न मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव ज्ञानावरण कर्मके बंधका निमित्त होता है।

(३) उसी समय, स्वरूपकी असावधानीको लेकर अपना (निजका) दर्शन अपनी तरफ न मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव दर्शनावरण कर्मके बंधका निमित्त होता है।

(४) उसी समयमें स्वरूपकी असावधानी होनेसे अपना वीर्य अपनी तरफ नहीं मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव अन्तरायकर्मके बंधका निमित्त होता है।

(५) परकी ओरके झुकावसे परका संयोग होता है, इसीलिये इस समयका (स्वरूपकी असावधानीके समयका) भाव शरीर इत्यादि नामकर्मके बंधका निमित्त होता है।

(६) जहां शरीर हो वहां ऊँच-नीच आचारवाले कुलमें उत्पत्ति होती है, इसीलिये इसी समयका राग-भाव गोत्रकर्मके बंधका निमित्त होता है।

(७) जहां शरीर होता है वहां बाहरकी अनुकूलता प्रतिकूलता, रोग-निरोग आदि होते हैं, इसीलिये इस समयका राग भाव वेदनीयकर्मके बंधका निमित्त होता है।

अज्ञान दशामें ये सातकर्म तो प्रति समय बँधा ही करते हैं; सम्यक् दर्शन होनेके बाद क्रम क्रमसे जिस जिस प्रकार स्वसन्मुखताके बलसे चारित्र की असावधानी दूर होती है उसी उसी प्रकार जीवमें शुद्धदशा-अविकारी-दशा बढ़ती जाती है और यह अविकारी (निर्मल) भाव पुद्गल कर्मके बंधमें निमित्त नहीं होता इसीलिये उतने अंशमें बन्धन दूर होता है।

(८) शरीर यह संयोगी वस्तु है, इसीलिये जहां यह संयोग हो वहां वियोग भी होता ही है, अर्थात् शरीरकी स्थिति अमुक कालकी होती है।

वर्तमान भवमें जिस भवके योग्य भाव जीवने किये हों वैसी आयुका बंध नवीन शरीरके लिये होता है।

७—द्रव्यबंधके जो पांच कारण हैं इनमें मिथ्यात्व मुख्य है और इस कर्मबंधका अभाव करनेके लिये सबसे पहला कारण सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन होनेसे ही मिथ्यादर्शनका अभाव होता है और उसके बाद ही क्रम क्रमसे अविरति आदिका अभाव होता है।

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके आठवें अध्यायकी गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्ष शास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका







नवमाँ अध्याय





टीका समाहक— रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक— परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

अध्याय नवमाँ



भूमिका

१—इस अध्यायमें संवर और निर्जरातत्त्वका वर्णन है। यह मोक्ष शास्त्र है इसलिये सबसे पहले मोक्षका उपाय बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है। फिर सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा और सात तत्त्वोंके नाम बतलाये, इनके बाद अनुक्रमसे इन तत्त्वोंका वर्णन किया है, इनमेंसे जीव, अजीव, आस्रव और बंध इन चार तत्त्वोंका वर्णन इस आठवें अध्याय तक किया। अब इस नवमें अध्यायमें संवर और निर्जरातत्त्व इन दोनों तत्त्वोंका वर्णन है और इसके बाद अन्तिम अध्यायमें मोक्षतत्त्वका वर्णन करके आचार्यदेवने यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके यथार्थ संवर और निर्जरातत्त्व कभी प्रगट नहीं हुए, इसीलिये उसके यह संसाररूप विकारी भाव बना रहा है और प्रति समय अनंत दुःख पाता है। इसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। धर्मका प्रारम्भ संवरसे होता है और सम्यग्दर्शन ही प्रथम संवर है, इसीलिये धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। संवरका अर्थ जीवके विकारीभावको रोकना है। सम्यक्‌दर्शन प्रगट करनेपर मिथ्यात्व आदि भाव रुकता है इसीलिये सबसे पहले मिथ्यात्व भावका संवर होता है।

३—संवरका स्वरूप

(१) 'संवर' शब्दका अर्थ 'रोकना' होना है। छट्ठे-सातवें अध्यायमें बतलाये हुये आस्रवको रोकना सो संवर है। जब जीव आस्रव भावको रोके

२—पररूपसे भिन्न अपने सम्यक् स्वरूपमें निश्चलरूपसे प्रकाशमान, चिन्मय, उज्ज्वल और निजरसके भारवाली ज्योतिका प्रगट होना।

(इस वर्णनमें आत्माकी शुद्ध पर्याय और आस्रवका निरोध इस तरह आत्माके दोनों पहलू आजाते हैं।)

(६) श्री पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की गाथा २०५ में बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम कहे हैं उनमें एक संवर अनुप्रेक्षा है; वहां पंडित उग्रसेन कृत टीका पृष्ठ २१८ में 'संवर' का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके,

अर्थ—जिन जीवोंने अपने भावको पुण्य-पापरूप नहीं किया और आत्म अनुभवमें अपने ज्ञानको लगाया है उन जीवोंने आते हुए कर्मोंको रोका है और वे संवरकी प्राप्तिरूप सुखको देखते हैं।

(इस व्याख्यामें ऊपर कहे हुए तीनों पहलू आ जाते हैं,इसीलिये अनेकांतकी अपेक्षासे यह सर्वांग व्याख्या है।

(७) श्री जयसेनाचार्यने पंचास्तिकाय गाथा १४२की टीकामें संवरकी व्याख्या निम्न प्रकार की है :—

अत्र शुभाशुभसंवर समर्थः शुद्धोपयोगो भाव संवरः,
भावसंवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसंवर इति तात्पर्यार्थः॥

अर्थ—यहां शुभाशुभभावको रोकनेमें समर्थ जो शुद्धोपयोग है सो भावसंवर है; भावसंवरके आधारसे नवीन कर्मका निरोध होना सो द्रव्य-संवर है। यह तात्पर्यअर्थ है।' (पंचास्तिकाय पृष्ठ २०७)

(संवरकी यह व्याख्या अनेकांतकी अपेक्षासे है, इसमें पहले तीनों अर्थ आ जाते हैं।)

(८) श्री अमृतचन्द्राचार्यने पंचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामें संवरकी व्याख्या निम्न प्रकार की है:—

'शुभाशुभपरिणामनिरोध संवर शुद्धोपयोग अर्थात् शुभाशुभ परिणाम के निरोधरूप जो संवर है सो शुद्धोपयोग है।' (पृष्ठ २०८)

(संवरकी यह व्याख्या अनेकांतकी अपेक्षासे है, इसमें पहले दोनों अर्थ आ जाते हैं।)

(९) प्रश्न—इस अध्यायके पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या 'आस्रव निरोध संवर' की है, किंतु सर्वांग व्याख्या नहीं की, इसका क्या कारण है?

उत्तर—इस शास्त्रमें वस्तुस्वरूपका वर्णन नयकी अपेक्षासे बहुत ही थोड़ेमें दिया गया है। पुनश्च इस अध्यायका वर्णन मुख्यरूपसे पर्यायार्थिक नय से होनेसे 'आस्रव निरोध संवर' ऐसी व्याख्या पर्यायकी अपेक्षासे की है और इसमें द्रव्यार्थिक नयका कथन गौण है।

(१०) पांचवें अध्यायके ३२वें सूत्रकी टीकामें जैन शास्त्रोंके अर्थ करने की पद्धति बतलाई है। इसी पद्धतिके अनुसार इस अध्यायके पहले सूत्रका अर्थ करनेसे श्री समयसार, श्री पंचास्तिकाय आदि शास्त्रोंमें संवरका जो अर्थ किया है वही अर्थ यहां भी किया है ऐसा समझना।

४—ध्यानमें रखने योग्य बातें

(१) पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें जो सात तत्त्व कहे हैं उनमें संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व मोक्षमार्गरूप हैं। पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमें मोक्ष मार्गकी व्याख्या 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस तरह की है, यह व्याख्या जीवमें मोक्षमार्ग प्रगट होनेपर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है यह बतलाती है। और इस अध्यायके पहले सूत्रमें 'आस्रव निरोध संवर' ऐसा कहकर मोक्षमार्गरूप शुद्ध पर्याय होनेसे यह बतलाया है कि शुद्ध पर्याय होनेसे अशुद्ध पर्याय तथा नवीन कर्म रुकते हैं।

(२) इस तरह इन दोनों सूत्रोंमें (अध्याय १ सूत्र १ तथा अध्याय ९ सूत्र १ में) बतलाई हुई मोक्षमार्गकी व्याख्या साथ लेनेसे इस शास्त्रमें सर्वांग कथन आ जाता है। श्री समयसार, श्री पंचास्तिकाय आदि शास्त्रोंमें मुख्य

रूपसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे कथन है, इसमें संवरकी जो व्याख्या दी गई है वही व्याख्या पर्यायार्थिकनयसे इस शास्त्रमें पृथक् शब्दोंसे दी है।

(३) शुद्धोपयोगका अर्थ सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र होता है।

(४) आचार्यदेवने इस शास्त्रमें निर्जराकी व्याख्या नहीं दी, किन्तु संवर होनेसे जो अशुद्धि दूर हुई और शुद्धि बढ़ी वही निर्जरा है इसीलिये 'शुद्धोपयोग' या सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र' कहनेसे ही इसमें निर्जरा आ जाती है।

(५) संवर तथा निर्जरा दोनों एक ही समयमें होते हैं, क्योंकि जिस समय शुद्धपर्याय (–शुद्ध परिणति) प्रगट हो उसी समय नवीन अशुद्धपर्याय (शुभाशुभ परिणति) रुकती है सो संवर है और इसी समय आंशिक अशुद्धि दूर हो शुद्धता बढ़े सो निर्जरा है।

(६) इस अध्यायके पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या करनेके बाद दूसरे सूत्रमें इसके छह भेद कहे हैं। इन भेदोंमें समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ये पांच भेद भाववाचक (अस्तिसूचक) हैं और छट्ठा भेद गुप्ति है सो अभाववाचक (नास्तिसूचक) है। पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या नय की अपेक्षासे निरोधवाचक की है, इसीलिये यह व्याख्या गौणरूपसे यह बतलाती है कि 'संवर होनेसे कैसा भाव हुआ' और मुख्यरूपसे यह बतलाती है कि—'कैसा भाव रुका।'

(७) 'आस्रव निरोधः संवरः' इस सूत्रमें निरोध शब्द यद्यपि अभाववाचक है तथापि यह शून्यवाचक नहीं है; अन्य प्रकारके स्वभावपनेका इसमें सामर्थ्य होनेसे, यद्यपि आस्रवका निरोध होता है तथापि आत्मा संवृत स्वभावरूप होता है, यह एक तरहकी आत्माकी शुद्धपर्याय है। संवरसे आस्रवका निरोध होता है इस कारण आस्रव बंधका कारण होनेसे संवर होनेपर बंधका भी निरोध होता है। (देखो श्लोकवार्तिक संस्कृत टीका, इस सूत्रके नीचेकी कारिका २ पृष्ठ ४८६)

(८) श्री समयसारजी की १८६ वीं गाथामें कहा है कि—'शुद्ध आत्माको जानता—अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है

और अशुद्ध आत्माको जानने अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है।'

इसमें शुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो संवर है और अशुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो आस्रव बंध है।

(६) समयसार नाटक की उत्थानिकामें २३ वें पृष्ठमें संवर की व्याख्या निम्नप्रकार की है—

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त,
रोकै आवत करम कों, सो है संवर तत्त ॥ ३१ ॥

अर्थ—आत्माका जो भाव ज्ञानदर्शन रूप उपयोगको प्राप्तकर (शुभाशुभ) योगोंकी क्रियासे विरक्त होता है और नवीन कर्मके आस्रवको रोकता है सो संवर तत्त्व है।'

५—निर्जराका स्वरूप

उपरोक्त ६ बातोंमें निर्जरा सम्बन्धी कुछ विवरण आगया है। संवर पूर्वक जो निर्जरा है सो मोक्षमार्ग है, इसीलिये इस निर्जराकी व्याख्या जानना आवश्यक है।

(१) श्री पंचास्तिकायकी १४४ गाथामें निर्जराकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदेबहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥

अर्थ—शुभाशुभास्रवके निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योगोंसे संयुक्त ऐसा जो भेदविज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अन्तरंग-बहिरंग तपों द्वारा उपाय करता है सो निश्चयसे अनेक प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है।'

इस व्याख्यामें ऐसा कहा है कि 'कर्मोंकी निर्जरा होती है' और इसमें यह गर्भित रखा है कि इस समय आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है, इस गाथाकी टीका करते हुये श्री अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि—

'स खलु बहूनां कर्मणां निर्जरणं करोति। तदत्रकर्मवीर्य शातन समर्थो बहिरंगांतरंग तपोभिर्बृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा।'

अर्थ—यह जीव वास्तवमें अनेक कर्मोंकी निर्जरा करता है इसी-लिये यह सिद्धान्त हुआ कि अनेक कर्मोंकी शक्तियोंको नष्ट करनेमें समर्थ बहिरंग-अन्तरंग तपोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ जो शुद्धोपयोग है सो भाव-निर्जरा है। (देखो पंचास्तिकाय पृष्ठ २०९)

(२) श्री समयसार गाथा २०६ में निर्जराका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है—

'पदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
पदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥ २०६॥

अर्थ—हे भव्य प्राणी! तू इसमें (ज्ञानमें) नित्य रत अर्थात् प्रीति-वाला हो, इसीमें नित्य सन्तुष्ट हो और इससे तृप्त हो, ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख होगा।

इस गाथामें यह बतलाया है कि निर्जरा होनेपर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है।

(३) संवरके साथ अविनाभावरूपसे निर्जरा होती है। निर्जराके आठ आचार (अंग, लक्षण) हैं; इसमें उपबृंहण और प्रभावना ये दो आचार शुद्धि कीवृद्धि वतलाते हैं। इस सम्बन्धमें श्री समयसार गाथा २३३ की टीकामें निम्नप्रकार बतलाया है—

'क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव रूपित्वको लेकर समस्त आत्मशक्तियोंकी वृद्धि करनेवाला होनेके कारण, उपबृंहक अर्थात् आत्म शक्तिका बढ़ानेवाला है, इसीलिये उसके जीवकी शक्तिकी दुर्बलतासे (अर्थात् मंदतासे) होनेवाला बंध नहीं होता परन्तु निर्जरा ही है।"

(४) और फिर गाथा २३६ की टीका तथा भावार्थमें कहा है—

टीका—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमयपने को लेकर ज्ञानकी समस्त शक्तिको प्रगट करनेसे—विकसित करनेसे, फैलाने से प्रभाव उत्पन्न करता है अतः प्रभावना करने वाला है इसीलिये इसके ज्ञान

की प्रभावनाके अप्रकर्षसे (अर्थात् ज्ञानकी प्रभावनाकी वृद्धि न होनेसे) होनेवाला बंध नहीं होता परन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ—प्रभावनाका अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना आदि; इसलिये जो निरन्तर अभ्याससे अपने ज्ञानको प्रगट करता है—बढ़ाता है उसके प्रभावना अंग होता है। और उसके अप्रभावना कृत कर्मोंका बंधन नहीं है, कर्म रस देकर खिर जाता है-झड़ जाता है इसीलिये निर्जरा ही है।

(५) इस प्रकार अनेकांत दृष्टिमें स्पष्टरूपसे सर्वांग व्याख्या कही जाती है। जहां व्यवहारनयसे व्याख्या की जाय वहां निर्जराका ऐसा अर्थ होता है—'आंशिकरूपसे विकारकी हानि और पुराने कर्मोंका खिर जाना, किन्तु इसमें 'जो शुद्धिकी वृद्धि है सो निर्जरा है' ऐसा गर्भित रूपसे अर्थ कहा है।

(६) अष्टपाहुड़में भावप्राभृतकी ११४ वीं गाथाके भावार्थमें संवर, निर्जरा तथा मोक्षकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

'पांचवां संवर तत्त्व है। राग-द्वेष-मोहरूप जीवके विभावका न होना और दर्शन ज्ञानरूप चेतना भावका स्थिर होना सो संवर है, यह जीवका निज भाव है और इससे पुद्गल कर्मजनित भ्रमण दूर होता है। इस तरह इन तत्त्वोंकी भावनामें आत्मतत्त्वकी भावना प्रधान है; इससे कर्मकी निर्जरा होकर मोक्ष होता है। अनुक्रमसे आत्माके भाव शुद्ध होना सो निर्जरा तत्त्व है और सर्वकर्मका अभाव होना सो मोक्ष तत्त्व है।'

६—इस तरह संवर तत्त्वमें आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और निर्जरा तत्त्वमें आत्माकी शुद्ध पर्यायकी वृद्धि होती है। इस शुद्ध पर्यायको एक शब्दसे 'शुद्धोपयोग' कहते हैं, दो शब्दोंसे कहना हो तो संवर और निर्जरा कहते हैं और तीन शब्दोंसे कहना हो तो 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र' कहते हैं। संवर और निर्जरामें आंशिक शुद्ध पर्याय होती है ऐसा समझना।

इस शास्त्रमें जहां जहां संवर और निर्जराका कथन हो वहां वहां ऐसा समझना कि आत्माकी पर्याय जिस अंशमें शुद्ध होती है वह संवर निर्जरा है। जो विकल्प राग या शुभभाव है वह संवर-निर्जरा नहीं। परन्तु इसका

निरोध होना और आंशिक अशुद्धिका खिर जाना—झड़ जाना सो संवर-निर्जरा है।

७—अज्ञानी जीवने अनादिसे मोक्षका बीजरूप संवर-निर्जराभाव कभी प्रगट नहीं किया और इसका यथार्थ स्वरूप भी नहीं समझा। संवर-निर्जरा स्वयं धर्म है; इनका स्वरूप समझे विना धर्म कैसे हो सकता है? इसलिये मुमुक्षु जीवोंको इसका स्वरूप समझना आवश्यक है; आचार्यदेव इस अध्यायमें इसका वर्णन थोड़ेमें करते हैं इसमें पहले संवरका स्वरूप वर्णन करते हैं।

संवरका लक्षण

आस्रव निरोधः संवरः॥ १॥

अर्थ—[आस्रव निरोधः] आस्रवका रोकना सो [संवरः] संवर है अर्थात् आत्मामें जिन कारणोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उन कारणोंको दूर करनेसे कर्मोंका आना रुक जाता है उसे संवर कहते हैं।

टीका

१—संवरके दो भेद हैं—भावसंवर और द्रव्यसंवर। इन दोनोंकी व्याख्या भूमिकाके तीसरे फिकरेके (७) उपभेदमें दी है।

२—संवर धर्म है; जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब संवरका प्रारम्भ होता है; सम्यग्दर्शनके विना कभी भी यथार्थ संवर नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थरूपसे विपरीत अभिप्रायरहित जानना चाहिये।

३—सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जीवके आंशिक वीतरागभाव और आंशिक सरागभाव होता है; वहां ऐसा समझना कि वीतरागभावके द्वारा संवर होता है और सरागभावके द्वारा बंध होता है।

४—बहुतसे जीव अहिंसा आदि शुभास्रवको संवर मानते हैं किन्तु यह भूल है। शुभास्रवसे तो पुण्यबंध होता है। जिस भाव-द्वारा बंध हो उसी भावके द्वारा संवर नहीं होता।

५—आत्माके जितने अंशमें सम्यग्दर्शन है उतने अंशमें संवर है और बंध नहीं, किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बंध है, जितने अंशमें सम्यग्ज्ञान है उतने अंशमें संवर है, बंध नहीं किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बंध है तथा जितने अंशमें सम्यक्चारित्र है उतने अंशमें संवर है बंध नहीं, किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बंध है—(देखो पुरु षार्थ सिद्ध्युपाय गाथा २१२ से २१४)

६—प्रश्न—सम्यग्दर्शन संवर और बंधका कारण नहीं तो फिर अध्याय ६ सूत्र २१ में सम्यक्त्वको भी देवायुकर्मके आस्रवका कारण क्यों कहा ? तथा अध्याय ६ सूत्र २४ में दर्शन विशुद्धिसे तीर्थंकर कर्मका आस्रव होता है ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—तीर्थंकर नाम कर्मका बंध चौथे गुणस्थानसे आठवें गुणस्थान के छट्ठे भाग पर्यंत होता है और तीनप्रकारके सम्यक्त्वकी भूमिकामें यह बंध होता है। वास्तवमें (भूतार्थनयसे—निश्चयनयसे) सम्यग्दर्शन स्वयं कभी भी बंधका कारण नहीं है, किन्तु इस भूमिकामें रहे हुए रागसे ही बंध होता है। तीर्थंकर नामकर्मके बंधका कारण भी सम्यग्दर्शन स्वयं नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें रहा हुआ राग बंधका कारण है। जहां सम्य ग्दर्शनको आस्रव या बंधका कारण कहा हो वहां मात्र उपचारसे (व्यवहार) कथन है ऐसा समझना, इसे अभूतार्थनयका कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञानके द्वारा नयविभागके स्वरूपको यथार्थ जानने वाला ही इस कथनके आशयको अविरुद्धरूपसे समझता है।

प्रश्नमें जिस सूत्रका आधार दिया गया है उन सूत्रोंकी टीकामें भी खुलासा किया है कि सम्यग्दर्शन स्वयं बंधका कारण नहीं है।

७—सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकारके हैं—सरागी और वीतरागी। उनमेंसे सराग-सम्यग्दृष्टि जीव राग सहित हैं अतः रागके कारण उनके कर्म प्रकृतियोंका आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवोंके सराग-सम्यक्त्व है; परन्तु यहां ऐसा समझना कि जो राग है वह सम्यक्त्वका दोष नहीं किन्तु चारित्रका दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवोंके निर्दोष चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वास्तवमें ये दो जीवोंके सम्यग्दर्शनमें भेद नहीं किन्तु चारित्रके भेदकी अपेक्षासे ये दो भेद हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रके दोष सहित हैं उनके सराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है और जिस जीवके निर्दोष चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है। इसतरह चारित्रकी सदोषता या निर्दोषताकी अपेक्षासे ये भेद हैं। सम्यग्दर्शन स्वयं संवर है और यह तो शुद्ध भाव ही है, इसीलिये यह आस्रव या बंधका कारण नहीं है।

संवरके कारण

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥२॥

अर्थ—[गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः] तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पांच चारित्र इन छह कारणोंसे [सः] संवर होता है।

टीका

१—जिस जीवके सम्यग्दर्शन होता है उसके ही संवरके ये छह कारण होते हैं; मिथ्यादृष्टिके इन छह कारणोंमेंसे एक भी यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थके तथा साधुके ये छहों कारण यथासम्भव होते हैं (देखो पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय गाथा २०३ की टीका) संवर के इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझे विना संवरका स्वरूप समझनेमें भी जीवकी भूल हुये विना नहीं रहती। इसलिये इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये।

२—गुप्तिका स्वरूप

(१) कुछ लोग मन-वचन-कायकी चेष्टा दूर करने, पापका चिंतवन न करने, मौन धारण करने तथा गमनादि न करनेको गुप्ति मानते हैं किन्तु यह गुप्ति नहीं है, क्योंकि जीवके मनमें भक्ति आदि प्रशस्त रागादिकके अनेक प्रकारके विकल्प होते हैं और वचन-कायकी चेष्टा रोकनेका जो भाव है सो तो शुभ प्रवृत्ति है, प्रवृत्तिमें गुप्तित्व नहीं बनता। वीतराग भाव होनेपर जहाँ मन-वचन-कायकी चेष्टा नहीं होती वहाँ यथार्थ गुप्ति है। यथार्थरीत्या गुप्ति का एक ही प्रकार है और वह वीतराग भावरूप है। निमित्तकी अपेक्षासे गुप्तिके ३ भेद कहे हैं। मन-वचन-काय ये तो पर द्रव्य हैं, इसकी कोई क्रिया बंध या अबंधत्वका कारण नहीं है। वीतराग भाव होनेपर जीव जितने अंशमें मन-वचन-कायकी तरफ नहीं लगता उतने अंशमें निश्चय गुप्ति है और यही संवरका कारण है।

(२) जो जीव नयोंके रागको छोड़कर निज स्वरूपमें गुप्त होता है उस जीवके गुप्ति होती है। उनका चित्त विकल्प जालसे रहित शांत होता है और वे साक्षात् अमृत रसका पान करते हैं। यह स्वरूप गुप्तिकी शुद्ध क्रिया है। जितने अंशमें वीतराग दशा होकर स्वरूपमें प्रवृत्ति होती है उतने अंशमें गुप्ति है, इस दशामें क्षोभ मिटता है और अतीन्द्रिय सुख अनुभवमें आता है। (देखो श्री समयसार कलश ६९ पृष्ठ १७५)

(३) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक लौकिक वांछा रहित होकर योगोंका यथार्थ निग्रह करना सो गुप्ति है। योगोंके निमित्तसे आने वाले कर्मोंका आना बंध पड़ जाना सो संवर है।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ६ गाथा ५ पृष्ठ ३४०)

(४) इस अध्यायके चौथे सूत्रमें गुप्तिका लक्षण कहा है इसमें बतलाया है कि जो 'सम्यक् योग निग्रह' है सो गुप्ति है। इसमें सम्यक् शब्द अधिक उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि बिना सम्यग्दर्शनके योगोंका

यथार्थ निग्रह नहीं होता अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक ही योगोंका यथार्थ निग्रह हो सकता है।

(५) प्रश्न—योग चौदहवें गुणस्थानमें रुकता है, तेरहवें गुणस्थान तक तो वह होता है, तो फिर नीचेकी भूमिकावालेके 'योगका निग्रह' (गुप्ति) कहांसे हो सकती है ?

उत्तर—आत्माका उपयोग मन, वचन, कायकी तरफ जितना न लगे उतना योगका निग्रह हुआ कहलाता है। यहां योग शब्दका अर्थ 'प्रदेशोंका कंपन' न समझना। प्रदेशोंके कंपनके निग्रहको गुप्ति नहीं कहा जाता किन्तु इसे तो अकंपता या अयोगता कहा जाता है; यह अयोग अवस्था चौदहवें गुणस्थानमें प्रकट होती है और गुप्ति तो चौथे गुणस्थानमें भी होती है।

(६) वास्तवमें आत्माका स्वरूप (निजरूप) ही परम गुप्ति है, इसीलिये आत्मा जितने अंशमें अपने शुद्धस्वरूपमें स्थिर रहे उतने अंशमें गुप्ति है [देखो, श्री समयसार कलश १५८]

३—आत्माका वीतराग भाव एकरूप है और निमित्तकी अपेक्षासे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ऐसे प्रथक् प्रथक् भेद करके समझाया जाता है; इन भेदोंके द्वारा भी अभेदता बतलाई है। स्वरूपकी अभेदता संवर निर्जराका कारण है।

४—गुप्ति, समिति आदिके स्वरूपका वर्णन चौथे सूत्रसे प्रारम्भ करके अनुक्रमसे कहेंगे ॥ २ ॥

निर्जरा और संवरका कारण

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

अर्थ—[तपसा] तप से [निर्जरा च] निर्जरा होती है और संवर भी होता है।

टीका

१—दश प्रकारके धर्ममें तपका समावेश होजाता है तो भी उसे यहां पृथक् कहनेका कारण यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनोंका कारण है और उसमें संवरका यह प्रधान कारण है।

२—यहां जो तप कहा है सो सम्यक् तप है, क्योंकि यह तप ही संवर निर्जराका कारण है। सम्यग्दृष्टि जीवके ही सम्यक् तप होता है। मिथ्यादृष्टिके तपको बालतप कहते हैं और वह आस्रव है, ऐसा छट्ठे अध्यायके १२ वें सूत्रकी टीकामें कहा है। इस सूत्रमें दिये गये 'आदि' शब्दमें बालतप का समावेश होता है। जो सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञानसे रहित हैं ऐसे जीव चाहे जितना तप करें तो भी उनका समस्त तप बालतप (अर्थात् अज्ञानतप, मूर्खतावाला तप) कहलाता है (देखो समयसार गाथा १५२) सम्यग्दर्शन पूर्वक होने वाले तपको उत्तम तपके रूपमें इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें वर्णन किया है।

३—तपका अर्थ

श्री प्रवचनसारकी गाथा १४ में तपका अर्थ इस तरह दिया है—'स्व रूपविश्रांत निस्तरंग चैतन्यप्रतपनाच्च तपः अर्थात् स्वरूप में विश्रांत, तरंगोंसे रहित जो चैतन्यका प्रतपन है सो तप है।'

४—तपका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) बहुतसे अनशनादिको तप मानते हैं और उस तपसे निर्जरा मानते हैं, किन्तु बाह्य तपसे निर्जरा नहीं होती, निर्जराका कारण तो शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोगमें जीवकी रमणता होने पर अनशनके बिना 'जो शुभ अशुभ इच्छा का निरोध होता है' सो संवर है। यदि बाह्य दुःख सहन करनेसे निर्जरा हो तो तिर्यंचादिक भी भूख प्यासादिकके दुःख सहन करते हैं इसीलिये उनके भी निर्जरा होनी चाहिये।

(२) प्रश्न—तिर्यंचादिक तो पराधीनरूपसे भूख प्यासादिक सहन करते हैं किन्तु जो स्वाधीनतासे धर्मकी बुद्धिसे उपवासादिरूप तप करे उसके तो निर्जरा होगी न ?

उत्तर—धर्मकी बुद्धिसे बाह्य उपवासादिक तो करे किन्तु वहां शुभ, अशुभ या शुद्धरूप जैसा उपयोग परिणमता है उसीके अनुसार बंध या निर्जरा होती है। यदि अशुभ या शुभरूप उपयोग हो तो बंध होता है और सम्यग्दर्शन पूर्वक शुद्धोपयोग हो तो धर्म होता है। यदि बाह्य उपवाससे निर्जरा होती हो तो ज्यादा उपवासादि करनेसे ज्यादा निर्जरा हो और थोड़े उपवासादि करनेसे थोड़ी निर्जरा होगी ऐसा नियम हो जायगा तथा निर्जराका मुख्य कारण उपवासादि ही हो जायगा किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि बाह्य उपवासादि करने पर भी यदि दुष्ट परिणाम करे तो उसके निर्जरा कैसे होगी? इससे यह सिद्ध होता है कि अशुभ, शुभ या शुद्धरूपसे जैसा उपयोगका परिणमन होता है उसीके अनुसार बंध या निर्जरा होती है, इसीलिये उपवासादि तप निर्जराके मुख्य कारण नहीं हैं, किन्तु अशुभ तथा शुभ परिणाम तो बंधके कारण हैं और शुद्ध परिणाम निर्जराका कारण है।

(३) प्रश्न—यदि ऐसा है तो सूत्रमें ऐसा क्यों कहा कि 'तपसे भी निर्जरा होती है।'

उत्तर—बाह्य उपवासादि तप नहीं किन्तु तपकी व्याख्या इसप्रकार है कि 'इच्छा निरोधस्तपः' अर्थात् इच्छाको रोकना सो तप है। जो शुभ अशुभ इच्छा है सो तप नहीं है किन्तु शुभ-अशुभ इच्छाके दूर होनेपर जो शुद्ध उपयोग होता है सो सम्यक् तप है और इस तपसे ही निर्जरा होती है।

(४) प्रश्न—आहारादि लेनेरूप अशुभ भावकी इच्छा दूर होनेपर तप होता है किन्तु उपवासादि या प्रायश्चित्तादि शुभ कार्य है इसकी इच्छा तो रहती ही है न ?

उत्तर—ज्ञानी पुरुषके उपवासादिकी इच्छा नहीं किन्तु एक शुद्धोपयोगकी ही भावना है। ज्ञानी पुरुष उपवासादिके कालमें शुद्धोपयोग बढ़ाता

है, किन्तु जहा उपवासादिसे शरीरकी या परिणामोंकी शिथिलताके द्वारा शुद्धोपयोग शिथिल होता जानता है वहा आहारादिक ग्रहण करता है। यदि उपवासादिसे ही सिद्धि होती हो तो श्री अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी, परन्तु जैसा परिणाम हुआ वैसे ही साधनके द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया।

(५) प्रश्न—यदि ऐसा है तो अनशनादिककी तप सज्ञा क्यों कही है?

उत्तर—अनशनादिकको बाह्य तप कहा है। बाह्य अर्थात् बाहरमें दूसरोंको दिखाई देता है कि यह तपस्वी है। तथापि वहा भी स्वय जैसा अतरग परिणाम करेगा वैसा ही फल प्राप्त करेगा। शरीरकी क्रिया जीवको कुछ फल देनेवाली नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवके वीतरागता बढ़ती है वही सच्चा (यथार्थ) तप है। अनशनादिकको मात्र निमित्तकी अपेक्षासे 'तप' सज्ञा दी गई है।

५—तपके फलके बारेमें स्पष्टीकरण

सम्यग्दृष्टिके तप करनेसे निर्जरा होती है और साथमें पुण्यकर्मका बध भी होता है परन्तु ज्ञानी पुरुषोंके तपका प्रधान फल निर्जरा है इसीलिये इस सूत्रमें ऐसा कहा है कि तपसे निर्जरा होती है। जितनी तपमें न्यूनता होती है उतना पुण्यकर्मका बध भी हो जाता है, इस अपेक्षासे पुण्यका बध होना यह तपका गौण फल कहलाता है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न करना है, किन्तु भूसा आदि उत्पन्न होना यह उसका गौणफल है उसी प्रकार यहा ऐसा समझना कि सम्यग्दृष्टिके तपका जो विकल्प आता है वह रागरूप होता है अत उसके फलमें पुण्य बध होजाता है और जितना राग टूटकर (दूर होकर) वीतरागभाव—शुद्धोपयोग बढ़ता है वह निर्जराका कारण है। आहार पेटमें जाय या न जाय यह बध या निर्जराका कारण नहीं है क्योंकि यह परद्रव्य है और परद्रव्यका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है

इसीलिये उसके परिणमनसे आत्माको लाभ या नुकसान नहीं होता। जीवके अपने परिणामसे ही लाभ या नुकसान होता है।

६—अध्याय ८ सूत्र २३में भी निर्जरा सम्बन्धी वर्णन है अतः उस सूत्रकी टीका यहाँ भी वांचना। तपके १२ भेद बतलाये हैं इस सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण इसी अध्यायके १९-२०वें सूत्रमें किया गया है अतः वहाँ से देख लेना ॥ ३ ॥

गुप्तिका लक्षण और भेद

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थ—[सम्यक् योगनिग्रहो] भले प्रकार योगका निग्रह करना सो [गुप्तिः] गुप्ति है।

टीका

१—इस सूत्रमें सम्यक् शब्द बहुत उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक ही गुप्ति होती है; अज्ञानीके गुप्ति नहीं होती। तथा सम्यक् शब्द यह भी बतलाता है कि जिस जीवके गुप्ति होती है उस जीव के विषय सुखकी अभिलाषा नहीं होती। यदि जीवके संक्लेशता (आकुलता) हो तो उसके गुप्ति नहीं होती। दूसरे सूत्रकी टीकामें गुप्तिका स्वरूप बतलाया है वह यहां भी लागू होता है।

२. गुप्तिकी व्याख्या

(१) जीवके उपयोगका मनके साथ युक्त होना सो मनोयोग है, वचन के साथ युक्त होना सो वचनयोग है और कायके साथ युक्त होना सो काय-योग है तथा उसका अभाव सो अनुक्रमसे मन गुप्ति, वचनगुप्ति और काय-गुप्ति है। इस तरह निमित्तके अभावकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद हैं।

पर्यायमें शुद्धोपयोगकी हीनाधिकता होती है तथापि उसमें शुद्धता तो एक ही प्रकारकी है; निमित्तकी अपेक्षासे उसके अनेक भेद कहे जाते हैं।

जब जीव वीतरागभावके द्वारा अपनी स्वरूप गुप्तिमें रहता है तब मन, वचन और कायकी ओरका लक्ष्य छूट जाता है, इसीलिये उसकी नास्ति की अपेक्षासे तीन भेद होते हैं, ये सब भेद निमित्तके हैं ऐसा जानना।

(२) सर्व मोह-रागद्वेषको दूर करके खंडरहित अद्वैत परम चैतन्यमें भलीभांति स्थित होना सो निश्चय मनोगुप्ति है, सम्पूर्ण असत्यभाषाको इस तरह त्यागना कि (अथवा इस तरह मौनव्रत रखना कि) मूर्तिक द्रव्यमें, अमूर्तिक द्रव्यमें या दोनोंमें वचनकी प्रवृत्ति रुके और जीव परम चैतन्यमें स्थिर हो सो निश्चय वचन गुप्ति है। संयमधारी मुनि जब अपने चैतन्य स्वरूप चैतन्य शरीरसे जड शरीरका भेद ज्ञान करता है (अर्थात् शुद्धात्माके अनुभवमें लीन होता है) तब अंतरंगमें स्वात्माकी उत्कृष्ट मूर्तिकी निश्चलता होना सो कायगुप्ति है।

(देखो नियमसार गाथा ६९-७० तथा उसकी टीका पृष्ठ ८४-८५)

(३) अनादि अज्ञानी जीवोंने कभी सम्यग्गुप्ति धारण नहीं की। अनेक बार द्रव्यलिंगी मुनि होकर जीवने शुभोपयोगरूप गुप्ति - समिति आदि निरतिचार पालन की किन्तु वह सम्यक् न थी। किसी भी जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सम्यग्गुप्ति नहीं हो सकती और उसका भव भ्रमण दूर नहीं हो सकता। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करके क्रमक्रमसे आगे बढ़कर सम्यग्गुप्ति प्रगट करनी चाहिये।

(देखो पंचास्तिकाय गाथा, १७२ की टीका)

(४) छठे गुणस्थानवर्ती साधुके शुभभावरूप गुप्ति भी होती है इसे व्यवहार गुप्ति कहते हैं, किन्तु वह आत्माका स्वरूप नहीं है, वह शुभ विकल्प है इसीलिये ज्ञानीके वह हेयबुद्धिरूप होती है, क्योंकि इससे बंध होता है, इसे दूर कर साधु निर्विकल्पदशामें स्थिर होता है, इस स्थिरताको निश्चय गुप्ति कहते हैं, यह निश्चयगुप्ति संवरका कारण है।

(देखो श्री प्रवचनसार अध्याय ३ गाथा २) ॥ ४ ॥

दूसरे सूत्रमें संवरके ६ कारण बतलाये हैं, उनमेंसे गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ अब समितिका वर्णन करते हैं।

समितिके ५ भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ—[ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः] सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् ऐषणा, सम्यक् आदाननिक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग—ये पांच [समितयः] समिति हैं (चौथे सूत्रका 'सम्यक्' शब्द इस सूत्रमें भी लागू होता है)

टीका

१-समितिका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) अनेकों लोग परजीवोंकी रक्षाके लिये यत्नाचार प्रवृत्तिको समिति मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि हिंसाके परिणामोंसे तो पाप होता है, और यदि ऐसा माना जावे कि रक्षाके परिणामोंसे संवर होता है तो फिर पुण्यबंधका कारण कौन होगा ? पुनश्च एषणा समिति में भी यह अर्थ घटित नहीं होता क्योंकि वहां तो दोष दूर होता है किन्तु किसी पर जीवकी रक्षाका प्रयोजन नहीं है।

(२) प्रश्न—तो फिर समितिका यथार्थ स्वरूप क्या है ?

उत्तर—मुनिके किंचित राग होनेपर गमनादि क्रिया होती है, वहां उस क्रियामें अति आसक्तिके अभावसे उनके प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवोंको दुःखी करके अपना गमनादिरूप प्रयोजन नहीं साधते, इसीलिये उनसे स्वयं दया पलती है, इसी रूपमें यथार्थ समिति है।

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ २३५)

अ—अभेद, उपचाररहित जो रत्नत्रयका मार्ग है, उस मार्गरूप परमधर्म द्वारा अपने आत्म स्वरूपमें 'सम' अर्थात् सम्यक् प्रकारसे 'इता' गमन तथा परिणमन है सो समिति है। अथवा—

ब—स्व आत्माके परम तत्वमें लीन स्वाभाविक परम ज्ञानादि परम धर्मोंकी जो एकता है सो समिति है। यह समिति संवर-निर्जरारूप है।

(देखो श्री नियमसार गाथा ६१)

(३) सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि आत्मा पर जीवका घात नहीं कर सकता, परद्रव्योंका कुछ कर नहीं सकता, भाषा बोल नहीं सकता, शरीरकी हलन-चलनादिरूप क्रिया नहीं कर सकता, शरीर चलने योग्य हो तब स्वयं उसकी क्रियावती शक्तिसे चलता है, परमाणु भाषारूपसे परिणमनेके योग्य हो तब स्वयं परिणमता है, पर जीव उसके आयुकी योग्यताके अनुसार जीता या मरता है, लेकिन उस कार्यके समय अपनी योग्यतानुसार किसी जीवके राग होता है, इतना निमित्त नैमित्तिक संबंध है, इसीलिये निमित्तकी अपेक्षासे समितिके पांच भेद होते हैं, उपादानमें तो भेद नहीं पड़ता—होता।

(४) गुप्ति निवृत्ति स्वरूप है और समिति प्रवृत्ति स्वरूप है। सम्यग्दृष्टिको समितिमें जितने अंशमें वीतरागभाव है उतने अंशमें संवर है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बंध है।

(५) मिथ्यादृष्टि जीव तो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवोंको बचा सकता हूँ तथा मैं पर द्रव्योंका कर सकता हूँ इसीलिये उसके समिति होती ही नहीं। द्रव्यलिंगी मुनिके शुभोपयोगरूप समिति होती है किन्तु वह सम्यक् समिति नहीं है और संवरका कारण नहीं है, पुनश्च वह तो शुभोपयोगको धर्म मानता है, इसीलिये वह मिथ्यात्वी है।

(देखो पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका)

२—पहले समितिको आस्रवरूप कहा था और यहां संवररूप कहा है, इसका कारण बतलाते हैं—

छट्ठे अध्यायके ५ वें सूत्रमें पचीस प्रकारकी क्रियाओंको आस्रवका कारण कहा है, वहां गमन आदिमें होने वाली जो क्रिया है सो ईर्यापथ क्रिया है और वह पांच समितिरूप है ऐसा बतलाया है और उसे बंधके कारणोंमें गिना है। परन्तु यहां समितिको संवरके कारणमें गिना है, इसका कारण यह है कि, जैसे सम्यग्दृष्टिके पांच समिति संवरका कारण होती हैं वैसे उसके जितने अंशमें राग है उतने अंशमें वह आस्रवका भी कारण होती है। यहां संवर अधिकारमें संवरकी मुख्यता होनेसे समितिको संवरके कारणरूपसे वर्णन किया है और छट्ठे अध्यायमें आस्रवकी मुख्यता है अतः वहां

समितिमें जो राग है उसे आस्रवके कारणरूपसे वर्णन किया गया है।

३—उपरोक्त प्रमाणानुसार समिति वह चारित्रका मिश्रभावरूप है ऐसा भाव सम्यग्दृष्टिके होता है, उसमें आंशिक वीतरागता है और आंशिक राग है। जिस अंशमें वीतरागता है उस अंशके द्वारा तो संवर ही होता है और जिस अंशमें सरागता है उस अंशके द्वारा बंध होता है। सम्यग्दृष्टिके ऐसे मिश्ररूप भावसे तो संवर और बंध ये दोनों कार्य होते हैं किन्तु अकेले रागके द्वारा ये दो कार्य नहीं हो सकते; इसीलिये 'अकेले प्रशस्त राग' से पुण्याश्रव भी मानना और संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्ररूप भावमें भी यह सरागता है और यह वीतरागता है ऐसी यथार्थ पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है, इसीलिये वे अवशिष्ट सरागभावको हेयरूपसे श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टिके सरागभाव और वीतरागभावकी यथार्थ पहिचान नहीं है, इसीलिये वह सरागभावको संवररूप मानता है और प्रशस्त रागरूप कार्योंको उपादेयरूप श्रद्धान करता है, सो भ्रम है—अज्ञान है।

४—समितिके पांच भेद

जब साधु गुप्तिरूप प्रवर्तनमें स्थिर नहीं रह सकते तब वे ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग इन पांच समितिमें प्रवर्तते हैं, उस समय असंयमके निमित्तसे बंधनेवाला कर्म नहीं बंधता सो उतना संवर होता है।

यह समिति मुनि और श्रावक दोनों यथायोग्य पालते हैं।

(देखो पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय गाथा २०३ का भावार्थ)

पांच समितिकी व्याख्या निम्न प्रकार है:—

ईर्यासमिति—चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्धमार्गमें चलना सो ईर्यासमिति है।

भाषासमिति—हित, मित और प्रिय वचन बोलना सो भाषासमिति है।

एषणासमिति—दिनमें एक ही बार निर्दोष आहार लेना सो एषणासमिति है।

आदान निक्षेपसमिति—सावधानी पूर्वक देखकर वस्तुको रखना, देना तथा उठाना सो आदान निक्षेप समिति है।

उत्सर्ग समिति—जीव रहित स्थानमें मल-मूत्रादिका क्षेपण करना सो उत्सर्ग समिति है।

यह व्यवहार व्याख्या है; यह मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाती है, परन्तु ऐसा नहीं समझना कि जीव पर द्रव्यका कर्ता है और, पर द्रव्यकी अवस्था जीवका कर्म है ॥५॥

दूसरे सूत्रमें संवरके ६ कारण बतलाये हैं, उनमेंसे समिति और गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दश धर्मका वर्णन करते हैं।

दश धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ—[उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि] उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश [धर्माः] धर्म हैं।

टीका

१. प्रश्न—ये दश प्रकारके धर्म किस लिये कहे ?

उत्तर—प्रवृत्तिको रोकनेके लिये प्रथम गुप्ति बतलाई; उस गुप्तिमें प्रवृत्ति करनेमें जब जीव असमर्थ होता है तब प्रवृत्तिका उपाय करनेके लिये समिति कही। इस समितिमें प्रवर्तनेवाले मुनिको प्रमाद दूर करनेके लिये ये दश प्रकारके धर्म बतलाये हैं।

२—इस सूत्रमें बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दशों धर्मोंको लागू होता है; यह गुणवाचक शब्द है। उत्तम क्षमादि कहनेसे यहाँ रागरूप

क्षमा न लेना किन्तु स्वरूपकी प्रतीति सहित क्रोधादि कषायके अभावरूप क्षमा समझना। उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होनेपर क्रोधादि कषायका अभाव होता है, उसीसे आस्रवकी निवृत्ति होती है अर्थात् संवर होता है।

३—धर्मका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

जिसमें न राग द्वेष है, न पुण्य है, न कषाय है, न न्यून-अपूर्ण है और न विकारित्व है ऐसे पूर्ण वीतराग ज्ञायकमात्र एकरूप स्वभावकी जो प्रतीति लक्ष-ज्ञान और उसमे स्थिर होना सो धर्म है, यह वीतरागकी आज्ञा है।

बहुतसे जीव ऐसा मानते हैं कि बंधादिकके भयसे अथवा स्वर्ग मोक्ष की इच्छासे क्रोधादि न करना सो धर्म है। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है—असत् है क्योंकि उनके क्रोधादि करनेका अभिप्राय तो दूर नहीं हुआ। जैसे कोई मनुष्य राजादिकके भयसे या महन्तपनके लोभसे परस्त्री सेवन नहीं करता तो इस कारणसे उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता; इसी प्रमाणसे उपरोक्त मान्यता वाले जीव भी क्रोधादिकके त्यागी नहीं हैं, और न उनके धर्म होता है।

प्रश्न—तो क्रोधादिकका त्याग किस तरह होता है?

उत्तर—पदार्थ इष्ट-अनिष्ट मालूम होनेपर क्रोधादिक होते हैं। तत्त्वज्ञानके अभ्याससे जब कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट मालूम न हो तब क्रोधादिक स्वयं उत्पन्न नहीं होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

४—क्षमादिककी व्याख्या निम्न प्रकार है:—

(१) क्षमा—निंदा, गाली, हास्य, अनादर, मारना, शरीरका घात करने आदि होनेपर अथवा ऐसे प्रसंगोंको निकट आते देखकर भावोंमें मलिनता न होना सो क्षमा है।

(२) मार्दव—जाति आदि आठ प्रकारके मदके आवेशसे होनेवाले अभिमानका अभाव सो मार्दव है अथवा मैं परद्रव्यका कुछ भी कर सकता हूँ ऐसी मान्यतारूप अहंकारभावको जड़मूलसे उखाड़ देना सो मार्दव है।

(३) आर्जव—माया-कपटसे रहितपन, सरलता-सीधापन को आर्जव कहते हैं।

(४) शौच—लोभसे उत्कृष्टरूपसे उपराम पाना—निवृत्त होना सो शौच-पवित्रता है।

(५) सत्य—सत् जीवोंमें—प्रशंसनीय जीवोंमें साधु वचन (सरल वचन) बोलनेका जो भाव है सो सत्य है।

[प्रश्न—उत्तम सत्य और भाषा समितिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—समितिरूपमें प्रवर्तने वाले मुनिके साधु और असाधु पुरुषोंके प्रति वचन व्यवहार होता है और वह हित, परिमित वचन है। उस मुनिको शिष्य तथा उनके भक्त (श्रावकों) में उत्तम सत्य ज्ञान, चारित्रके लक्षणादिक सीखने-सिखानेमें अधिक भाषा व्यवहार करना पड़ता है उसे उत्तम सत्य धर्म कहा जाता है।]

(६) संयम—समितिमें प्रवर्तनेवाले मुनिके प्राणियोंको पीड़ा न पहुंचाने-करनेका जो भाव है सो संयम है।

(७) तप—भावकर्मका नाश करनेके लिये स्व की शुद्धताके प्रतपन को तप कहते हैं।

(८) त्याग—संयमी जीवोंको योग्य-ज्ञानादिक देना सो त्याग है।

(९) आकिंचन्य—विद्यमान शरीरादिकमें भी संस्कारके त्यागके लिये 'यह मेरा है' ऐसे अनुरागकी निवृत्तिको आकिंचन्य कहते हैं। आत्म स्वरूपसे भिन्न ऐसे शरीरादिक में या रागादिकमें ममत्वरूप परिणामोंके अभाव को आकिंचन्य कहते हैं।

(१०) ब्रह्मचर्य—स्त्री मात्रका त्यागकर अपने आत्म स्वरूपमें लीन रहना सो ब्रह्मचर्य है। पूर्वमें भोगे हुये स्त्रियोंके भोगका स्मरण तथा उसकी कथा सुननेके त्यागसे तथा स्त्रियोंके पास बैठनके छोड़नेसे और स्वच्छंद प्रवृत्ति

रोकनेके लिये गुरुकुलमें रहनेसे पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य पलता है। इन दशों शब्दोंमें 'उत्तम' शब्द जोड़नेसे 'उत्तम क्षमा' आदि दश धर्म होते हैं। उत्तम क्षमा आदि कहनेसे उसे शुभ रागरूप न समझना किन्तु कषाय रहित शुद्धभावरूप समझना।

५—दश प्रकारके धर्मोंका वर्णन

क्षमाके निम्न प्रकार ५ भेद हैं :—

(१) जैसे स्वयं निर्बल होनेपर सबलका विरोध नहीं करता, उसी प्रकार 'यदि मैं क्षमा करूं तो मुझे कोई परेशान न करेगा' ऐसे भावसे क्षमा रखना। इस क्षमामें ऐसी प्रतीति न हुई कि मैं क्रोध रहित ज्ञायक ऐसा त्रिकाल स्वभावसे शुद्ध हूं' किन्तु प्रतिकूलताके भयवश राग हुआ इसीलिये यह यथार्थ क्षमा नहीं है, धर्म नहीं है।

(२) यदि मैं क्षमा करूं तो दूसरी तरफसे मुझे नुकसान न हो किन्तु लाभ हो-ऐसे भावसे सेठ आदिके उलाहनेको सहन करे, प्रत्यक्षमें क्रोध न करे, किन्तु यह यथार्थ क्षमा नहीं है, यह धर्म नहीं है।

(३) यदि मैं क्षमा करूं तो कर्मबंधन रुक जायगा, क्रोध करनेसे नीच गतिमें जाना पड़ेगा इसलिये क्रोध न करूं-ऐसे भावसे क्षमा करे किन्तु यह भी सच्ची क्षमा नहीं है, यह धर्म नहीं है; क्योंकि उसमें भय है, निर्भयता-निःसंदेहता नहीं है।

(४) ऐसी वीतरागकी आज्ञा है कि क्रोधादि नहीं करना, इसी प्रकार शास्त्रमें कहा है, इसलिये मुझे क्षमा रखना चाहिये, जिससे मुझे पाप नहीं लगेगा और लाभ होगा-ऐसे भावसे शुभ परिणाम रखे और उसे वीतरागकी आज्ञा माने किन्तु यह यथार्थ क्षमा नहीं है; क्योंकि यह पराधीन क्षमा है, यह धर्म नहीं है।

(५) 'सच्ची क्षमा' अर्थात् 'उत्तम क्षमा' का स्वरूप यह है कि आत्मा अविनाशी, अबंध, निर्मल ज्ञायक ही है, इसके स्वभावमें शुभाशुभ परिणाम का कर्तृत्व भी नहीं है। स्वयं जैसा है वैसा स्व को जानकर, मानकर उसमें

ज्ञाता रहना-स्थिर होना सो वीतरागकी आज्ञा है और यह धर्म है। यह पांचवीं क्षमा क्रोधमें युक्त न होना, क्रोधका भी ज्ञाता ऐसा सहज अकषाय क्षमा स्वरूप निज स्वभाव है। जो भाव नित्य न रहे वह गुण नहीं है, निर्मल विवेककी जागृति द्वारा शुद्धस्वरूपमें रहना सो उत्तम क्षमा है। ऐसा कहा जाता है कि 'ये क्षमा ही मोक्षका मध्य द्वार है' वहां यही क्षमा समझना।

नोट—जैसे क्षमाके पांच भेद बतलाये तथा उसके पांचवें प्रकारको उत्तम क्षमाधर्म बतलाया, उसी प्रकार मार्दव, आर्जव, आदि सभी धर्मोंमें ये पांचों प्रकार समझना और उन प्रत्येकमें पांचवा भेद ही धर्म है ऐसा समझना।

६—क्षमाके शुभ विकल्पका मैं कर्ता नहीं हूँ ऐसा समझकर राग-द्वेषसे छूटकर स्वरूपकी सावधानी करना सो स्व की क्षमा है स्व सन्मुखता के अनुसार रागादिकी उत्पत्ति न हो वही क्षमा है। 'क्षमा करना, सरलता रखना' ऐसा निमित्तकी भाषामें बोला तथा देखा जाता है परन्तु इसका अर्थ ऐसा समझना कि शुभ या शुद्ध परिणाम करनेका विकल्प करना सो भी सहज स्वभावरूप क्षमा नहीं है। 'मैं सरलता रखूं, क्षमा करूं' ऐसा भेदरूप विकल्प राग है, क्षमा धर्म नहीं है, क्योंकि वह पुण्य परिणाम भी बंधभाव है, इससे अबंध अरागी मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं होता और पुण्यसे मोक्षमार्गमें लाभ-या पुष्टि हो ऐसा भी नहीं है ॥ ६ ॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवरके छह कारणोंमेंसे पहले तीन कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब चौथा कारण बारह अनुप्रेक्षा हैं, उनका वर्णन करते हैं।

बारह अनुप्रेक्षा

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अर्थ—[अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतन] अनित्य, अशरण, संसार,

एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारहके स्वरूपका बारम्बार चिंतवन करना सो [अनुप्रेक्षाः] अनुप्रेक्षा है।

टीका

१—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अनित्यादि चिंतवनसे शरीरादिको बुरा जान-हितकारी न जान उससे उदास होना सो अनुप्रेक्षा है, किंतु यह ठीक नहीं है; यह तो जैसे पहले कोई मित्र था तब उसके प्रति राग था और बादमें उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ उसी प्रकार पहले शरीरादिकसे राग था किन्तु बादमें उसके अनित्यत्व आदि अवगुण देखकर उदासीन हुआ, इसकी यह उदासीनता द्वेषरूप है, यह यथार्थ अनुप्रेक्षा नहीं है।

प्रश्न—तो यथार्थ अनुप्रेक्षाका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जैसा स्व का—आत्माका और शरीरादिकका स्वभाव है वैसा पहचान कर भ्रम छोड़ना और इस शरीरादिकको भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना; ऐसी यथार्थ उदासीनताके लिये अनित्यत्व आदिका यथार्थ चिंतवन करना सो ही वास्तविक अनुप्रेक्षा है। उसमें जितनी वीतरागता बढ़ती है उतना संवर है और जो राग रहता है वह बंध का कारण है। यह अनुप्रेक्षा सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि यहीं सम्यक् अनुप्रेक्षा बतलाई है। अनुप्रेक्षाका अर्थ है कि आत्माको अनुसरण कर इसे देखना।

२—जैसे अग्निसे तपाया गया लोहेका पिंड तन्मय (अग्निमय) हो जाता है उसी प्रकार जब आत्मा क्षमादिकमें तन्मय होजाता है तब क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते। उस स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये स्व सन्मुखतापूर्वक अनित्य आदि बारह भावनाओंका बारम्बार चिंतवन करना जरूरी है। वे बारह भावनायें आचार्यदेवने इस सूत्रमें बतलाई हैं।

३—बारह भावनाओंका स्वरूप

(१) अनित्यानुप्रेक्षा—संवरके दृश्यमान, संयोगी ऐसे शरीरादि

समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष, बिजली अथवा पानीके बुन्बुदेके समान शीघ्र नाश होजाते हैं, ऐसा विचार करना सो अनित्य अनुप्रेक्षा है।

शुद्ध निश्चयसे आत्माका स्वरूप देव, असुर और मनुष्यके वैभवादिकसे रहित है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी सदा शाश्वत है और सयोगी भाव अनित्य हैं—ऐसा चिंतवन करना सो अनित्य भावना है।

(२) अशरणानुप्रेक्षा—जैसे निर्जन वनमें भूखे सिंहके द्वारा पकड़े हुये हिरणके बच्चेको कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार ससारमें जीवको कोई शरणभूत नहीं है। यदि जीव स्वय स्व के शरणरूप स्वभावको पहिचानकर शुद्धभावसे धर्मका सेवन करे तो वह दुःखसे बच सकता है, अन्यथा वह प्रतिसमय भावमरणसे दुःखी है—ऐसा चिंतवन करना सो अशरण अनुप्रेक्षा है।

आत्मामें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यक्तप रहते हैं इसलिये आत्मा ही शरणभूत है और इससे पर ऐसे सब अशरण हैं—ऐसा चिंतवन करना यह अशरण भावना है।

(३) संसारानुप्रेक्षा—इस चतुर्गतिरूप ससारमें भ्रमण करता हुआ जीव जिसका पिता था उसीका पुत्र, जिसका पुत्र था उसीका पिता, जिसका स्वामी था उसीका दास, जिसका दास था उसीका स्वामी हो जाता है अथवा वह स्वय स्व का ही पुत्र हो जाता है, स्त्री, धन, देहादिकको अपना ससार मानना भूल है, जड़ कर्म जीवको ससारमें रुलानेवाला नहीं है। इत्यादि प्रकारसे ससारके स्वरूपका और उसके कारणरूप विकारी भावोंके स्वरूपका विचार करना सो ससार अनुप्रेक्षा है।

यद्यपि आत्मा अपनी भूलसे अपनेमें राग-द्वेष-अज्ञानरूप मलिन भावोंको उत्पन्न करके ससाररूप घोर वनमें भटका करती है—तथापि निश्चय नयसे आत्मा—विकारी भावोंसे और कर्मोंसे रहित है—ऐसा चिंतवन करना सो ससार भावना है।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा— जीवन, मरण-संसार और मोक्ष आदि दशाओं में जीव स्वयं अकेला ही है, स्वयं स्व से ही विकार करता है, स्वयं स्व से ही धर्म करता है, स्वयं स्व से ही सुखी-दुःखी होता है। जीवमें पर द्रव्योंका अभाव है इसलिये कर्म या पर द्रव्य पर क्षेत्र, पर कालादि जीवको कुछ भी लाभ या हानि नहीं कर सकते— ऐसा चिंतवन करना सो एकत्व अनुप्रेक्षा है।

मैं एक हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षणवाला हूँ, कोई अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, शुद्ध एकत्व ही उपादेय है ऐसा चिंतवन करना सो एकत्व भावना है।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा—प्रत्येक आत्मा और सर्व पदार्थ सदा भिन्न-भिन्न हैं, वे प्रत्येक अपना-अपना कार्य करते हैं। जीव पर पदार्थोंका कुछ कर नहीं सकते और पर पदार्थ जीवका कुछ कर नहीं सकते। जीवके विकारी भाव भी जीवके त्रिकालिक स्वभावसे भिन्न हैं, क्योंकि वे जीवसे अलग हो जाते हैं। विकारी भाव चाहे तीव्र हो या मन्द तथापि उससे आत्माको लाभ नहीं होता। आत्माको परद्रव्योंसे और विकारसे प्रथकत्व है ऐसे तत्त्वज्ञानकी भावनापूर्वक वैराग्यकी वृद्धि होनेसे अन्तमें मोक्ष होता है—इस प्रकार चिंतवन करना सो अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है और जो शरीरादिक बाह्य द्रव्य हैं वे सब आत्मासे भिन्न हैं। पर द्रव्य छेदा जाय या भेदा जाय, या कोई ले जाय अथवा नष्ट हो जाय अथवा चाहे वैसा ही रहे किंतु परद्रव्यका परिग्रह मेरा नहीं है—ऐसा चिंतवन करना सो अन्यत्व भावना है।

(६) अशुचित्व अनुप्रेक्षा—शरीर स्वभावसे ही अशुचिमय है और जीव (- आत्मा) स्वभावसे ही शुचिमय (शुद्ध स्वरूप) है; शरीर रुधिर, मांस, मल आदिसे भरा हुआ है, वह कभी पवित्र नहीं हो सकता; इत्यादि प्रकारसे आत्माकी शुद्धताका और शरीरकी अशुद्धताका ज्ञान करके शरीरका ममत्व तथा राग छोड़ना और निज आत्माके लक्षसे शुद्धिको बढ़ाना। शरीरके

प्रति द्वेष करना अनुप्रेक्षा नहीं है किन्तु शरीरके प्रति हुए अनिष्टपने की मान्यता और राग द्वेष दूर करना और आत्माके पवित्र स्वभावकी तरफ लक्ष करने से तथा सम्यग्दर्शनादिककी भावनाके द्वारा आत्मा अत्यन्त पवित्र होता है— ऐसा बारम्बार चितवन करना सो अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा देहसे भिन्न, कर्म रहित, अनन्त सुखका पवित्र स्थान है। इसकी नित्य भावना करना और विकारी भाव अनित्य, दुःखरूप, अशुचिमय हैं ऐसा जानकर उससे विमुख हो जानेकी भावना करना सो अशुचि-भावना है।

(७) आस्रव अनुप्रेक्षा—मिथ्यात्व और रागद्वेषरूप अपने अपराधसे प्रति समय नवीन विकारीभाव उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व मुख्य आस्रव है क्योंकि वह संसारकी जड़ है, इसलिये इसका स्वरूप जानकर उसे छोड़नेका चितवन करना सो आस्रव भावना है।

मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव के भेद कहे हैं वे आस्रव निश्चय नयसे जीवके नहीं हैं। द्रव्य और भाव दोनों प्रकारके आस्रवरहित शुद्ध आत्म का चितवन करना सो आस्रव भावना है।

(८) संवर अनुप्रेक्षा—मिथ्यात्व और रागद्वेषरूप भावोंका रुकना सो भावसंवर है, उससे नवीन कर्मका आना रुक जाय सो द्रव्यसंवर है। प्रथम तो आत्माके शुद्ध स्वरूपके लक्षसे मिथ्यात्व और उसके सहचारी अनन्तानुबन्धी कषायका संवर होता है, सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव संवर है और इससे आत्माका कल्याण होता है ऐसा चितवन करना सो संवर अनुप्रेक्षा है।

परमार्थ नयकी अपेक्षासे शुद्धभावसे आत्मामें संवर ही नहीं है; इसी लिये संवर भाव रहित शुद्ध आत्मा का नित्य चितवन करना सो संवर-भावना है।

(९) निर्जरा अनुप्रेक्षा—अज्ञानी के सविपाक निर्जरासे आत्मा का कुछ भी भला नहीं होता; किन्तु आत्माका स्वरूप जानकर उसके त्रिकाली स्वभावके लक्षके द्वारा शुद्धता प्रगट करने से जो निर्जरा होती है उससे आत्मा

का कल्याण होता है—इत्यादि प्रकारसे निर्जराके स्वरूपका विचार करना सो निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

स्वकाल पक्व निर्जरा (सविपाक निर्जरा) चारों गतिवालोंके होती है किंतु तपकृत निर्जरा (अविपाक निर्जरा) सम्यग्दर्शन पूर्वक व्रतधारियों के ही होती है ऐसा चिंतवन करना सो निर्जरा भावना है।

(१०) लोक अनुप्रेक्षा—लोकालोकरूप अनन्त आकाशके मध्यमें चौदह राजू प्रमाण लोक है। इसके आकार तथा उसके साथ जीवका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध विचारना और परमार्थकी अपेक्षा से आत्मा-स्वयं ही स्व का लोक है इसलिये स्वयं स्व को ही देखना लाभदायक है; आत्माकी अपेक्षासे परवस्तु उसका अलोक है, इसलिये आत्माको उसकी तरफ लक्ष्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्व के आत्म स्वरूप लोकमें (देखने जाननेरूप स्वभाव में) स्थिर होनेसे परवस्तुएँ ज्ञान में सहज रूपसे जानी जाती हैं—ऐसा चिंतवन करना सो लोकानुप्रेक्षा है, इससे तत्त्वज्ञान की शुद्धि होती है।

आत्मा निजके अशुभभावसे नरक तथा तिर्यंच गति प्राप्त करता है, शुभभावसे देव तथा मनुष्यगति पाता है और शुद्ध भावसे मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा चिंतवन करना सो लोक भावना है।

(११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—रत्नत्रयरूप बोधि प्राप्त करनेमें महान् पुरुषार्थकी जरूरत है, इसीलिये इसका पुरुषार्थ बढ़ाना और उसका चिंतवन करना सो बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनयसे ज्ञानमें हेय और उपादेयपनका भी विकल्प नहीं है इसलिये मुनिजनोंके द्वारा संसारसे विरक्त होनेका चिंतवन करना सो बोधिदुर्लभ भावना है।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा—सम्यक् धर्मके यथार्थ तत्त्वोंका बारम्बार चिंतवन करना; धर्मवस्तुका स्वभाव है; आत्माका शुद्ध स्वभाव ही स्व का-आत्मा का धर्म है तथा आत्माके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म अथवा दश लक्षण रूप धर्म अथवा स्वरूपकी हिंसा नहीं करनेरूप अहिंसाधर्म, वही धर्म आत्मा-

को इष्ट स्थानमें (सम्पूर्ण पवित्र दशामें) पहुंचाता है, धर्म ही परम रसायन है। धर्म ही चिन्तामणि रत्न है, धर्म ही कल्पवृक्ष-कामधेनु है और धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही बन्धु, हितु, रक्षक और साथ रहने वाला है, धर्म ही शरण है, धर्म ही धन है, धर्म ही अविनाशी है, धर्म ही सहायक है, और यही धर्मका जिनेश्वर भगवानने उपदेश किया है - इस प्रकार चितवन करना सो धर्म अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनयसे आत्मा श्रावकधर्म या मुनिधर्मसे भिन्न है, इसलिये माध्यस्थभाव अर्थात् रागद्वेष रहित शुद्धात्माका चितवन करना सो धर्म भावना है।

ये बारह भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं। धर्म तो वीतरागभावरूप एक ही है, इसमें भेद नहीं होता। जहा राग होता हो वहा भेद होता है।

४—ये बारह भावना ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि है, इसलिये निरन्तर अनुप्रेक्षाका चितवन करना चाहिये। (भावना और अनुप्रेक्षा ये दोनों एकार्थ वाचक हैं)

५—इन अनुप्रेक्षाओंका चितवन करने वाले जीव उत्तम क्षमादि धर्म पालते हैं और परीषहोंको जीतते हैं इसीलिये इनका कथन दोनोंके बीचमें किया गया है ॥७॥

दूसरे सूत्रमें कहे हुये संवरके छह कारणोंमेंसे पहले चार कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब पांचवें कारण परीषह जयका वर्णन करते हैं।

परीषह सहन करनेका उपदेश

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थ—[मार्गाच्यवननिर्जरार्थं] संवरके मार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी निर्जराके लिये [परीषहाः परिसोढव्याः] बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं (यह संवरका प्रकरण चल रहा है, अत इस सूत्रमें कहे गये 'मार्ग' शब्दका अर्थ 'संवरका मार्ग' समझना।)

टीका

१—यहांसे लेकर सत्रहवें सूत्र तक परीषहका वर्णन है। इस विषयमें जीवोंकी बड़ी भूल होती है, इसलिये यह भूल दूर करनेके लिये यहां परीषह जयका यथार्थ स्वरूप बतलाया है। इस सूत्रमें प्रथम 'मार्गाच्यवन' शब्दका प्रयोग किया है इसका अर्थ है मार्गसे च्युत न होना। जो जीव मार्गसे (सम्यग्दर्शनादिसे) च्युत हो जाय उसके संवर नहीं होता किंतु बंध होता है, क्योंकि उसने परीषह जय नहीं किया किन्तु स्वयं विकारसे घाता गया। अब इसके बादके सूत्र ९-१०-११ के साथ सम्बन्ध बतानेकी खास आवश्यकता है।

२—दसवें सूत्रमें कहा गया है कि—दशवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें बाईस परीषहोंमेंसे आठ तो होती ही नहीं अर्थात् उनको जीतना नहीं है, और बाकीकी चौदह परीषह होती हैं उन्हें वह जीतता है अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि परीषहोंसे उस गुणस्थानवर्ती जीव घाता नहीं जाता किंतु उनपर जय प्राप्त करता है अर्थात् उन गुणस्थानोंमें भूख, प्यास आदि उत्पन्न होनेका निमित्त कारणरूप कर्मका उदय होने पर भी वे निर्मोही जीव उनमें युक्त नहीं होते, इसीलिये उनके क्षुधा तृषा आदि सम्बन्धी विकल्प भी नहीं उठता, इस प्रकार वे जीव उन परीषहों पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करते हैं। इसीसे उन गुणस्थानवर्ती जीवोंके रोटी आदिका आहार औषधादिका ग्रहण तथा पानी आदि ग्रहण नहीं होता ऐसा नियम है।

३—परीषहके बारेमें यह बात विशेषरूपसे ध्यान रखनी चाहिये कि संक्लेश रहित भावोंसे परीषहोंको जीत लेनेसे ही संवर होता है। यदि दसमें, ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें खाने पीने आदिका विकल्प आये तो संवर कैसे हो? और परीषह जय हुआ कैसे कहलाये? दसमें सूत्रमें कहा है कि चौदह परीषहोंपर जय प्राप्त करनेसे ही संवर होता है। सातवें गुणस्थानमें ही जीवके खाने पीनेका विकल्प नहीं उठता क्योंकि वहां निर्विकल्प दशा है; वहां बुद्धि गम्य नहीं ऐसे अबुद्धिपूर्वक विकल्प होता है किंतु वहां खाने

पीनेके विकल्प नहीं होते इसलिये उन विकल्पोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रखने वाली आहार पानकी क्रिया भी नहीं होती। तो फिर दशमें गुणस्थानमें तो कषाय बिल्कुल सूक्ष्म होगई है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें तो कषायका अभाव होनेसे निर्विकल्प दशा जम जाती है, वहां खाने पीनेका विकल्प ही कहांसे हो सकता है? खाने पीनेका विकल्प और उसके साथ निमित्तरूपसे संबंध रखने वाली खाने पीनेकी क्रिया तो बुद्धिपूर्वक विकल्प दशामें ही होती है, इसीलिये यह विकल्प और क्रिया तो छट्ठे गुणस्थान तक ही हो सकती है किंतु उससे ऊपर नहीं होती अर्थात् सातवें आदि गुणस्थानमें नहीं होती। अतएव दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें तो उस प्रकारका विकल्प तथा बाह्य क्रिया अशक्य है।

४—दसवें सूत्रमें कहा है कि दस ग्यारह और बारहवें गुणस्थानमें अज्ञान परीषहका जय होता है सो अब इसके तात्पर्यका विचार करते हैं।

अज्ञान परीषहका जय यह बतलाता है कि वहां अभी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु अपूर्ण ज्ञान है और उसके निमित्तरूप ज्ञानावरणी कर्मका उदय है। उपरोक्त गुणस्थानोंमें ज्ञानावरणीका उदय होनेपर भी जीव के उस सम्बन्धी रंचमात्र आकुलता नहीं है। दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्म कषाय है किन्तु वहां भी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि 'मेरा ज्ञान न्यून है' और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में तो अकषाय भाव रहता है इसी लिये वहां भी ज्ञानकी अपूर्णताका विकल्प नहीं हो सकता। इस तरह उनके अज्ञान (ज्ञान अपूर्णता) है तथापि उसका परीषह जय वर्तता है। इसी प्रमाणसे उन गुणस्थानोंमें भोजन पानका परीषह जय सम्बन्धी सिद्धान्त भी समझना।

५ इस अध्यायके सोलहवें सूत्रमें वेदनीयके उदयसे ११ परीषह बतलाई हैं। उनके नाम—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल हैं।

दसवें ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें जीवके निज स्वभावसे ही इन ग्यारह परीषहोंका जय होता है।

६—कर्मका उदय दो तरहसे होता है:—प्रदेशउदय और विपाक-उदय। जीव जब विकार करता है तब उस उदयको विपाक उदय कहते हैं और यदि जीव विकार न करे तो उसे प्रदेशउदय कहते हैं। इस अध्यायमें संवर निर्जराका वर्णन है। यदि जीव विकार करे तो उसके न परीषह जय हो और न संवर निर्जरा हो। परीषह जयसे संवर निर्जरा होती है। दसवें-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें भोजन-पानका परीषह जय कहा है; इसीलिये वहां उस सम्बन्धी विकल्प या बाह्य क्रिया नहीं होती।

७—परीषह जयका यह स्वरूप तेरहवें गुणस्थानमें विराजमान तीर्थंकर भगवान और सामान्य केवलियोंके भी लागू होता है। इसीलिये उनके भी क्षुधा, तृषा आदि भाव उत्पन्न ही नहीं होते और भोजन-पानकी बाह्य क्रिया भी नहीं होती। यदि भोजन पानकी बाह्य क्रिया हो तो वह परीषह जय नहीं कहा जा सकता; परीषहजय तो संवर-निर्जराका कारण है। यदि भूख प्यास आदिके विकल्प होनेपर भी क्षुधा परीषहजय तृषा परीषहजय आदि माना जावे तो परीषहजय संवर-निर्जराका कारण न ठहरेगा।

८—श्री नियमसार की छट्ठी गाथामें भगवान श्री कुन्दकुन्द-आचार्य ने कहा है कि—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४ रोष, ५ राग, ६ मोह, ७ चिंता, ८ जरा, ९ रोग, १० मरण, ११ स्वेद-पसीना, १२ खेद, १३ मद-घमंड, १४ रति, १५ विस्मय, १६ निद्रा, १७ जन्म और १८ उद्वेग ये अठारह महादोष आप्त अर्हंत वीतराग भगवानके नहीं होते।

९—भगवानके उपदिष्ट मार्ग से न डिगने और उस मार्गमें लगातार प्रवर्तन करनेसे कर्मका द्वार रुक जाता है और इसीसे संवर होता है, तथा पुरुषार्थके कारणसे निर्जरा होती है और उससे मोक्ष होता है, इसलिये परीषह सहना योग्य है।

१०—परीषह का स्वरूप और उस सम्बन्धी होने वाली भूल

परीषह जयका स्वरूप ऊपर कहा गया है कि क्षुधादि लगने पर उस सम्बन्धी विकल्प भी न होने-न उठनेका नाम परीषह जय है। कितने ही जीव

भूख आदि लगने पर उसके नाशके उपाय न करनेको परीषह सहना मानते हैं किन्तु यह मिथ्या मान्यता है। भूख प्यास आदिके दूर करनेका उपाय न किया परन्तु अन्तरंगमें क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेसे दुःखी हुआ तथा रति आदिका कारण (इष्ट सामग्री) मिलनेसे सुखी हुआ ऐसा जो सुख दुःखरूप परिणाम है वही आर्त रौद्र ध्यान है, ऐसे भावोंसे संवर कैसे हो और उसे परीषह जय कैसे कहा जाय ? यदि दुःखके कारण मिलने पर दुःखी न हो तथा सुखके कारण मिलनेसे सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूपसे उसका जानने वाला ही रहे तभी वह परीषह जय है।

परीषहके बाईस भेद

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥९॥

अर्थः—[क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि] क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं।

टीका

१—आठवें सूत्रमें आये हुये 'परिसोढव्या' शब्दका अध्याहार इस सूत्रमें समझना; इसीलिये प्रत्येक शब्दके साथ 'परिसोढव्या' शब्द लागू करके अर्थ करना अर्थात् इस सूत्रमें कही गई २२ परीषह सहन करने योग्य हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा हो वहाँ परीषहका सहन होता है अर्थात् परीषह सही जाती है। मुख्यरूपसे मुनि अवस्थामें परीषह जय होती है। अज्ञानीके परीषह जय होती ही नहीं क्योंकि परीषह जय तो सम्यग्दर्शन पूर्वक वीतराग भाव है।

२—अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि परीषह सहन करना दुःख है किन्तु ऐसा नहीं है; 'परीषह सहन करने' का अर्थ दुःख भोगना नहीं होता। क्योंकि जिस भावसे जीवके दुःख होता है वह तो आर्तध्यान है और वह पाप है, उसीसे अशुभबंधन है और यहां तो संवरके कारणोंका वर्णन चल रहा है। लोगोंकी अपेक्षासे बाह्य संयोग चाहे प्रतिकूल हो या अनुकूल हो तथापि राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतराग भाव प्रगट करनेका नाम ही परीषह जय है अर्थात् उसे ही परीषह सहन किया कहा जाता है। यदि अच्छे बुरेका विकल्प उठे तो परीषह सहन करना नहीं कहलाता, किन्तु रागद्वेष करना कहलाता है; राग-द्वेषसे कभी संवर होता ही नहीं किन्तु बंध ही होता है। इसलिये ऐसा समझना कि जितने अंशमें वीतरागता है उतने अंशमें परीषह जय है और यह परीषह जय सुख-शांतिरूप है। लोग परीषहजयको दुःख कहते हैं सो असत् मान्यता है। पुनश्च अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान और महावीर भगवान ने परीषहके बहुत दुःख भोगे; परन्तु भगवान तो स्व के शुद्धोपयोग द्वारा आत्मानुभवमें स्थिर थे और स्वात्मानुभवके शान्त रसमें झूलते थे-लीन थे इसीका नाम परीषह जय है। यदि उस समय भगवानके दुःख हुआ हो तो वह द्वेष है और द्वेषसे बंध होता किंतु संवर-निर्जरा नहीं होती। लोग जिसे प्रतिकूल मानते हैं ऐसे संयोगोंमें भी भगवान निज स्वरूपसे च्युत नहीं हुये थे इसीलिये उन्हें दुःख नहीं हुआ किंतु सुख हुआ और इसी से उनके संवर-निर्जरा हुई थी। यह ध्यान रहे कि वास्तवमें कोई भी संयोग अनुकूल या प्रतिकूल रूप नहीं है, किन्तु जीव स्वयं जिस प्रकारके भाव करता है उसमें वैसा आरोप किया जाता है और इसीलिये लोग उसे अनुकूल संयोग या प्रतिकूल संयोग कहते हैं।

३—बावीस परीषह जयका स्वरूप

(१) क्षुधा—क्षुधा परीषह सहन करना योग्य है; साधुओंका भोजन तो गृहस्थ पर ही निर्भर है, भोजनके लिये कोई वस्तु उनके पास नहीं होती, वे किसी पात्रमें भोजन नहीं करते किंतु अपने हाथमें ही भोजन करते हैं,

उनके शरीरपर घटादिक भी नहीं होते, मात्र एक शरीर उपकरण है। पुनश्च अनशन, अवमौदर्य (भूखसे कम खाना) वृत्तिपरिसंख्यान (आहारको जाते हुए घर वगैरह का नियम करना) आदि तप करते हुये दो दिन, चार दिन, आठ दिन, पक्ष, महीना आदि व्यतीत होजाते हैं, और यदि योग्य कालमें, योग्य क्षेत्रमें अन्तराय रहित शुद्ध निर्दोष आहार न मिले तो वे भोजन (भिक्षा) ग्रहण नहीं करते और चित्तमें कोई भी विषाद-दुःख या खेद नहीं करते किंतु धैर्य धारण करते हैं। इस तरह क्षुधारूपी अग्नि प्रज्वलित होती है तथापि धैर्यरूपी जलसे उसे शांत कर देते हैं और राग-द्वेष नहीं करते ऐसे मुनियोंको क्षुधा-परीषह सहनी योग्य है।

असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा हो तभी क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है और उस वेदनीय कर्मकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान पर्यंत ही होती है उससे ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होती। छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाले मुनिके क्षुधा उत्पन्न होती है तथापि वे आकुलता नहीं करते और आहार नहीं लेते किंतु धैर्यरूपी जलसे उस क्षुधाको शांत करते हैं तब उनके परीषह जय करना कहा जाता है। छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाले मुनिके भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय निर्दोष भोजनका योग न बने तो आहारका विकल्प तोड़कर निर्विकल्प दशामें लीन हो जाते हैं तब उनके परीषह जय कहा जाता है।

(२) तृषा—प्यासको धैर्यरूपी जलसे शांत करना सो तृषा परीषह जय है।

(३) शीत—ठंडको ज्ञानभावसे अर्थात् वीतरागभावसे सहन करना सो शीत परीषह जय है।

(४) उष्ण—गर्मीको ज्ञानभावसे सहन करना अर्थात् ज्ञानमें ज्ञेय-रूप करना सो उष्ण परीषह जय है।

(५) दंशमशक—डांस, मच्छर, चींटी, बिच्छू इत्यादिके काटनेपर शांत भाव रखना सो दंशमशक परीषह जय है।

(६) नाग्न्य—नग्न रहनेपर भी स्व में किसी प्रकारका विकार न होने देना सो नाग्न्य परीषह जय है। प्रतिकूल प्रसंग आनेपर वस्त्रादि पहिन लेना नाग्न्य परीषह नहीं है किंतु यह तो मार्गसे ही च्युत होना है और परीषह तो मार्गसे च्युत न होना है।

(७) अरति—अरतिका कारण उपस्थित होनेपर भी संयममें अरति न करनी सो अरतिपरीषहजय है।

(८) स्त्री—स्त्रियोंके हावभाव प्रदर्शन आदि चेष्टाको शांत भावसे सहन करना अर्थात् उसे देखकर मोहित न होना सो स्त्री परीषह जय है।

(९) चर्या—गमन करते हुए खेद खिन्न न होना सो चर्यापरीषह जय है।

(१०) निषद्या—नियमित काल तक ध्यानके लिये आसनसे च्युत न होना सो निषद्यापरीषह जय है।

(११) शय्या—विषम, कठोर, कंकरीले स्थानोंमें एक करवटसे निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीरको चलायमान न करना सो शय्यापरीषहजय है।

(१२) आक्रोश—दुष्ट जीवों द्वारा कहे गये कठोर शब्दोंको शांतभाव से सह लेना सो आक्रोशपरीषहजय है।

(१३) वध—तलवार आदिसे शरीर पर प्रहार करने वालेके प्रति भी क्रोध न करना सो वधपरीषहजय है।

(१४) याचना—अपने प्राणोंका वियोग होना भी संभव हो तथापि आहारादिकी याचना न करना सो याचना परीषह जय है।

नोट—याचना करनेका नाम याचना परीषह जय नहीं है किन्तु याचना न करनेका नाम याचना परीषह जय है। जैसे अरति-द्वेष करनेका नाम अरति परीषह नहीं, किन्तु अरति न करना सो अरति परीषह जय है,

उसी तरह याचनामें भी समझना। यदि याचना करना परीषह जय हो तो गरीब लोग आदि बहुत याचना करते हैं इसीलिये उन्हें अधिक धर्म हो किंतु ऐसा नहीं है। कोई कहता है कि याचना की, इसमें मान की कमी–न्यूनता से परीषह जय कहना चाहिये' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी तरहका तीव्र कषायी कार्य के लिये यदि किसी प्रकारकी कषाय छोड़े तो भी वह पापी ही है, जैसे कोई लोभके लिये अपने अपमानको न समझे तो उसके लोभकी अतितीव्रता ही है, इसीलिये इस अपमान कराने से भी महापाप होता है, तथा यदि स्वयके किसी तरहकी इच्छा नहीं है और कोई स्वय अपमान करे तो उसे सहन करने वालेके महान धर्म होता है। भोजनके लोभसे याचना करके अपमान कराना सो तो पाप ही है, धर्म नहीं। पुनश्च वस्त्रादिकके लिये याचना करना सो पाप है, धर्म नहीं, (मुनिके तो वस्त्र होते ही नहीं) क्योंकि वस्त्रादि धर्मके अग नहीं हैं, वे तो शरीर सुखके कारण हैं इसीलिये उनकी याचना करना याचना परीषह जय नहीं किंतु याचना दोष है अतएव याचना का निषेध है ऐसा समझना।

याचना तो धर्मरूप उच्चपदको नीचा करती है और याचना करनेसे धर्मकी हीनता होती है।

(१५) अलाभ—आहारादि प्राप्त न होने पर भी अपने ज्ञानानंदके अनुभव द्वारा विशेष संतोष धारण करना सो अलाभपरीषहजय है।

(१६) रोग—शरीरमें अनेक रोग हैं तथापि शातभावसे उसे सहन कर लेना सो रोगपरीषहजय है।

(१७) तृणस्पर्श—चलते समय पैरमें तिनका, काटा, ककर आदि लगने या स्पर्श होने पर आकुलता न करना सो तृण स्पर्शपरीषहजय है।

(१८) मल—मलिन शरीर देखकर ग्लानि न करना सो मलपरीषह जय है।

(१९) सत्कारपुरस्कार—निजमें गुणोंकी अधिकता है तथापि यदि कोई सत्कारपुरस्कार न करे तो चित्तमें कलुषता न करना सो सत्कारपुर-

(७) जहाँ प्रज्ञा परीषह कही है वहां ऐसा समझना कि प्रज्ञा तो ज्ञान की दशा है; वह कोई दोष का कारण नहीं है किन्तु जब जीवके ज्ञानका अपूर्ण विकास हो तब ज्ञानावरणीयका उदय भी होता है और उस समय यदि जीव मोहमें युक्त हो तो जीवमें स्व के कारणसे विकार होता है; इसलिये यहां 'प्रज्ञा' का अर्थ मात्र 'ज्ञान' न करके 'ज्ञानमें होनेवाला मद' ऐसा करना। यहां प्रज्ञा शब्दका उपचारसे प्रयोग किया है किन्तु निश्चयार्थमें वह प्रयोग नहीं है ऐसा समझना। दूसरी परीषहके सम्बन्धमें कही गई समस्त बातें यहां भी लागू होती हैं।

(८) ज्ञानकी अनुपस्थिति (गैरमौजूदगी) का नाम अज्ञान है, यह ज्ञानकी अनुपस्थिति किसी बंधका कारण नहीं है किन्तु यदि जीव उस अनुपस्थितिको निमित्त बनाकर मोह करे तो जीवमें विकार होता है। अज्ञान तो ज्ञानावरणी कर्मके उदयकी उपस्थिति बतलाता है। परद्रव्य बंधके कारण नहीं किंतु स्व के दोष-अपराध बंधका कारण है। जीव जितना राग द्वेष करता है, उतना बंध होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व मोह नहीं होता किन्तु चारित्रकी अस्थिरतासे राग द्वेष होता है। जितने अंशमें राग-द्वेप दूर करे उतने अंशमें परीषह जय कहलाता है।

(९) अलाभ और अदर्शन परीषहमें भी उपरोक्त प्रमाणानुसार अर्थ समझना, फर्क मात्र इतना है कि अदर्शन यह दर्शनमोहनीयकी मौजूदगी बतलाती है और अलाभ अन्तराय कर्मकी उपस्थिति बतलाता है। कर्मका उदय, अदर्शन या अलाभ यह कोई बंधका कारण नहीं है। जो अलाभ है सो परद्रव्यका वियोग (अभाव) बतलाता है, परन्तु यह जीवके कोई विकार नहीं करा सकता, इसलिये यह बंधका कारण नहीं है।

(१०) चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये छहों शरीर और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले परद्रव्योंकी अवस्था हैं। वह मात्र वेदनीयका उदय बतलाता है, किन्तु यह किसी भी जीवके विक्रिया-विकार उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ ६ ॥

बावीस परीषहोंका वर्णन किया, उनमेंसे किस गुणस्थानमें कितनी परीषह होती हैं, यह वर्णन करते हैं :—

दशमेंसे बारहवें गुणस्थान तक की परीषहें

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

अर्थ— [सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोः] सूक्ष्मसांपराय वाले जीवोंके और छद्मस्थ वीतरागोंके [चतुर्दश] १४ परीषह होती हैं।

टीका

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्म परिणामोंकी तारतम्यता को गुणस्थान कहते हैं, वे चौदह हैं। सूक्ष्मसांपराय यह दसमा गुणस्थान है और छद्मस्थ वीतरागता ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में होती है। इन तीन गुण स्थानों अर्थात् दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें चौदह परीषह होती हैं, वे इस प्रकार हैं —

१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ चर्या, ७ शय्या, ८ वध, ९ अलाभ, १० रोग, ११ तृणस्पर्श, १२ मल, १३ प्रज्ञा और १४ अज्ञान। इनके अतिरिक्त १ नग्नता, २ संयममें अप्रीति (अरति) ३-स्त्री अवलोकन-स्पर्श, ४-आसन (निषद्या) ५-दुर्वचन (आक्रोश) ६-याचना ७-सत्कार पुरस्कार और ८-अदर्शन, मोहनीय कर्म जनित ये आठ परीषहें यहां नहीं होतीं।

२ प्रश्न—दसवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानमें तो लोभ कषायका उदय है तो फिर यहां ये आठ परीषहें क्यों नहीं होतीं ?

उत्तर—सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें मोहका उदय अत्यन्त सूक्ष्म है-अल्प है अर्थात् नाममात्र है, इसीलिये यहां उपरोक्त १४ परीषहोंका सद्भाव और बाकीकी ८ परीषहोंका अभाव कहा सो ठीक है; क्योंकि इस गुणस्थान में एक संज्वलन लोभ कषायका उदय है और वह भी बहुत थोड़ा है, कथन मात्रको है; इसीलिये सूक्ष्मसांपराय और वीतराग छद्मस्थको समानता मान कर चौदह परीषह कही हैं, यह नियम युक्ति युक्त है।

३ प्रश्न—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहकर्मके उदयका अभाव है तथा दसमे गुणस्थानमें वह अति सूक्ष्म है, इसीलिये उन जीवोंके क्षुधा, तृषादि चौदह प्रकारकी वेदना नहीं होती, तो फिर ऐसा क्यों कहा कि इन गुणस्थानोंमें परीषह विद्यमान है?

उत्तर—यह तो ठीक है कि वहां वेदना नहीं है किंतु सामर्थ्य (शक्ति) की अपेक्षासे वहां चौदह परीषहोंकी उपस्थिति कहना ठीक है। जैसे सर्वार्थ-सिद्धि विमानके देवोंके सातवें नरकमें जानेकी सामर्थ्य है किन्तु उन देवोंके वहां जानेका प्रयोजन नहीं है तथा वैसा राग भाव नहीं इसीलिये गमन नहीं है, उसी प्रकार दशवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें चौदह परीषहोंका कथन उपचारसे कहा है।

प्रश्न—इस सूत्रमें नय विभाग किस तरह लागू होता है?

उत्तर—निश्चयनयसे दस, ग्यारह या बारहवें गुणस्थानमें कोई भी परीषह नहीं हैं, किंतु व्यवहार नयसे वहां चौदह परीषह हैं, व्यवहार नयसे हैं का अर्थ यह है कि यथार्थ में ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे उनका उपचार किया है-ऐसा समझना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है, किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'इस रूप भी है और इस रूप भी है' अर्थात् वहां परीषह हैं यह भी ठीक है और नहीं भी है यह भी ठीक ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंका ग्रहण नहीं होता। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृ० ३६६)

सारांश यह है कि वास्तवमें उन गुणस्थानोंमें कोई भी परीषह नहीं होती, सिर्फ उस चौदह प्रकारके वेदनीय कर्मका मंद उदय है, इतना बताने के लिये उपचारसे वहां परीषह कही है किंतु यह मानना मिथ्या है कि वहां जीव उस उदयमें युक्त होकर दुःखी होता है अथवा उसके वेदना होती है।

अब तेरहवें गुणस्थानमें परीषह बतलाते हैं—

एकादशाजिने ॥११॥

अर्थ—[जिने] तेरहवें गुणस्थानमें जिनेन्द्रदेवके [एकादश] ऊपर बतलाई गई चौदहमेंसे अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान इन तीनको छोड़कर बाकीकी ग्यारह परीषह होती हैं।

टीका

१—यद्यपि मोहनीय कर्मका उदय न होनेसे भगवानके क्षुधादिककी वेदना नहीं होती, इसीलिये उनके परीषह भी नहीं होती, तथापि उन परीषहों के निमित्तकारणरूप वेदनीय कर्मका उदय विद्यमान है अत यहा भी उपचार से ग्यारह परीषह कही हैं। वास्तवमें उनके एक भी परीषह नहीं है।

२–प्रश्न—यद्यपि मोहकर्मके उदयकी सहायताके अभावमें भगवानके क्षुधा आदिकी वेदना नहीं है तथापि यहा यह परीषह क्यों कही है?

उत्तर—यह तो ठीक है कि भगवानके क्षुधादिकी वेदना नहीं है किंतु मोहकर्म जनित वेदनाके न होने पर भी द्रव्यकर्मकी विद्यमानता बतानेके लिये यहा उपचारसे परीषह कही गई हैं। जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरण कर्मके नष्ट होनेसे युगपत् समस्त वस्तुओंके जाननेवाले केवलज्ञानके प्रभावसे उनके चिंता का निरोधरूप ध्यान सम्भव नहीं है तथापि ध्यानका फल जो अवशिष्ट कर्मोंकी निर्जरा है उसकी सत्ता बतानेके लिये यहा उपचारसे ध्यान बतलाया है उसी प्रकार यहा ये परीषह भी उपचारसे बतलाई हैं।

३–प्रश्न—इस सूत्रमें नय विभाग किस तरहसे लागू होता है?

उत्तर—तेरहवें गुणस्थानमें ग्यारह परीषह कहना सो व्यवहार नय है। व्यवहार नयका अर्थ करनेका तरीका यों है कि 'वास्तवमें ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है,' निश्चयनयसे केवलज्ञानी के तेरहवें गुणस्थानमें परीषह नहीं होतीं।

प्रश्न—व्यवहारनय का क्या दृष्टांत है और वह यहा कैसे लागू होता है?

उत्तर—'घी का घड़ा' यह व्यवहार नयका कथन है, इसका ऐसा अर्थ है कि 'जो घड़ा है सो मिट्टीरूप है, घीरूप नहीं है' (देखो श्री समयसार गाथा ६७ टीका तथा कलश ४०); उसी प्रकार 'जिनेन्द्रदेवके ग्यारह परीषह हैं' यह व्यवहार-नय कथन है, इसका अर्थ इस प्रकार है कि 'जिन अनन्त पुरुषार्थ रूप हैं, परीषहके दुःखरूप नहीं; मात्र निमित्तरूप परद्रव्यकी उपस्थितिका ज्ञान करानेके लिये ऐसा कथन किया है कि 'परीषह हैं' परन्तु इस कथनसे ऐसा नहीं समझना कि वीतरागके दुःख या वेदना है। यदि उस कथनका ऐसा अर्थ माना जावे कि वीतरागके दुःख या वेदना है तो व्यवहार नयके कथनका अर्थ निश्चय नयके कथनके अनुसार ही किया, और ऐसा अर्थ करना बड़ी भूल है-अज्ञान है।

(देखो समयसार गाथा ३२४ से ३२७ टीका)

प्रश्न—इस शास्त्रमें, इस सूत्रमें जो ऐसा कथन किया कि 'जिन भगवानके ग्यारह परीषह हैं, सो व्यवहार नय के कथन निमित्त बताने के लिये है, ऐसा कहा, तो इस सम्बन्धी निश्चय नयका कथन किस शास्त्रमें है?

उत्तर—श्री नियमसारजी गाथा ६ में कहा है कि वीतराग भगवान तेरहवें गुणस्थानमें हों तब उनके अठारह महादोष नहीं होते। वे दोष इस प्रकार हैं—१ क्षुधा, २-तृषा, ३-भय, ४-क्रोध, ५-राग, ६-मोह, ७-चिंता, ८-जरा, ९ रोग, १०-मृत्यु, ११-पसीना, १२-खेद, १३-मद, १४-रति, १५-आश्चर्य, १६-निद्रा, १७-जन्म, और १८-आकुलता।

यह निश्चयनयका कथन है और यह यथार्थ स्वरूप है।

४ केवली भगवानके आहार नहीं होता, इस सम्बन्धी कुछ स्पष्टीकरण

(१) यदि ऐसा माना जाय कि इस सूत्रमें कही गई परीषहोंकी वेदना वास्तवमें भगवानके होती है तो बहुत दोष आते हैं। यदि क्षुधादिक दोष हों तो आकुलता हो और यदि आकुलता हो तो फिर भगवानके अनन्त सुख कैसे हो सकता है? हां यदि कोई ऐसा कहे कि शरीरमें भूख लगती है इसी लिये आहार लेता है किंतु आत्मा तद्रूप नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण इस

प्रकार है—यदि आत्मा तद्रूप नहीं होता तो फिर ऐसा क्यों कहते हो कि क्षुधादिक दूर करनेके उपायरूप आहारादिकका ग्रहण किया ? क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित होनेवाला ही आहार ग्रहण करता है। पुनश्च यदि ऐसा माना जाय कि जैसे कर्मोदयसे विहार होता है वैसे ही आहार ग्रहण भी होता है सो यह भी यथार्थ नहीं है क्योंकि विहार तो विहायोगति नामक नामकर्मके उदयसे होता है, तथा यह पीड़ाका कारण नहीं है और विना इच्छाके भी किसी जीवके विहार होता देखा जाता है परन्तु आहार ग्रहण तो प्रकृतिके उदयसे नहीं किंतु जब क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित हो तभी जीव आहार ग्रहण करता है। पुनश्च आत्मा पवन आदिकको प्रेरित करनेका भाव करे तभी आहारका निगलना होता है, इसीलिये विहारके समान आहार सम्भव नहीं होता। अर्थात् केवली भगवानके विहार तो सम्भव है किंतु आहार सम्भव नहीं है।

(३) यदि यों कहा जाय कि केवलीभगवानके सातावेदनीय कर्मके उदयसे आहारका ग्रहण होता है सो भी नहीं बनता, क्योंकि जो जीव क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित हो और आहारादिकके ग्रहणसे सुख माने उसके आहारादि साताके उदयसे हुये कहे जा सकते हैं, साता वेदनीयके उदयसे आहारादिकका ग्रहण स्वयं तो होता नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो तो देवोंके तो साता वेदनीयका उदय मुख्यरूपसे रहता है तथापि वे निरन्तर आहार क्यों नहीं करते ? पुनश्च महामुनि उपवासादि करते हैं उनके साताका भी उदय होता है तथापि आहारका ग्रहण नहीं और निरन्तर भोजन करने वालेके भी असाताका उदय सम्भव है। इसलिये केवली भगवानके विना इच्छाके भी जैसे विहायोगतिके उदयसे विहार सम्भव है वैसे ही विना इच्छाके केवल सातावेदनीय कर्मके उदयसे ही आहार ग्रहण सम्भव नहीं होता।

(४) पुनश्च कोई यह कहे कि—सिद्धान्तमें केवलीके क्षुधादिक ग्यारह परीषह कही हैं इसीलिये उनके क्षुधाका सद्भाव सम्भव है और वह क्षुधा आहारके विना कैसे शांत हो सकती है इसलिये उनके आहारादिक भी

अभिप्राय की घातको कौन जानेगा? और पहले उपवासादिक की प्रतिज्ञा की थी उसका निर्वाह किसतरह होगा, पुनश्च प्राणियोंका घातादि जीव-अंतराय सर्वत्र मालूम होता है वहाँ आहार किस तरह करें? इसलिये केवलीके आहार मानना सो विरुद्धता है।

(६) पुनश्च कोई यों कहे कि 'वे आहार ग्रहण करते हैं परन्तु किसीको दिखाई नहीं देता ऐसा अतिशय है' सो यह भी असत् है, क्योंकि आहार ग्रहण तो निंद्य हुआ; यदि ऐसा अतिशय भी मानें कि उन्हें कोई नहीं देखता तो भी आहार ग्रहणका निंद्यपन रहता है। पुनश्च भगवानके पुण्यके कारणसे दूसरेके ज्ञानका क्षयोपशम (-विकाश) किस तरह आवृत होजाता है? इसलिये भगवानके आहार मानना और दूसरा न देखे ऐसा अतिशय मानना ये दोनों बातें न्याय विरुद्ध हैं।

५. कर्म सिद्धांतके अनुसार केवलीके अन्नाहार होता ही नहीं

(१) जब असाता वेदनीयकी उदीरणा हो तब क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है-लगती है, इस वेदनीयकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान तक ही है, इससे ऊपर नहीं। अतएव वेदनीयकी उदीरणाके विना केवलीके क्षुधादिकी बाधा कहांसे हो?

(२) जैसे निद्रा और प्रचला इन दो दर्शनावरणी प्रकृतिका उदय बारहवें गुणस्थान पर्यंत है परन्तु उदीरणा विना निद्रा नहीं व्यापती - अर्थात निद्रा नहीं आती। पुनश्च यदि निद्रा कर्मके उदयसे ही ऊपरके गुणस्थानोंमें निद्रा आजाय तो वहाँ प्रमाद हो और ध्यानका अभाव हो जाय। यद्यपि निद्रा; प्रचलाका उदय बारहवें गुणस्थान तक है तथापि अप्रमत्त दशामें मंद उदय होनेसे निद्रा नहीं व्यापती। पुनश्च संज्वलनका मंद उदय होनेसे अप्रमत्त गुणस्थानोंमें प्रमादका अभाव है, क्योंकि प्रमाद तो संज्वलनके तीव्र उदयमें ही होता है। संसारी जीवके वेदके तीव्र उदयमें युक्त होनेसे मैथुन संज्ञा होती है और वेदका उदय नवमें गुणस्थान तक है; परन्तु श्रेणी चढ़े हुए संयमी मुनिके वेद नोकषायका मंद उदय होनेसे मैथुन संज्ञाका अभाव है; उदयमात्रसे मैथुन की वांच्छा उत्पन्न नहीं होती।

(३) केवली भगवानके वेदनीयका अतिमंद उदय है, इसीसे क्षुधादिक उत्पन्न नहीं होते, शक्तिरहित असाता वेदनीय केवलीके क्षुधादिकके लिये निमित्तताके योग्य नहीं है। जैसे स्वयंभूरमण समुद्रके समस्त जलमें अनन्तवें भाग जहरकी कणी उस पानीको विषरूप होनेके लिये योग्य निमित्त नहीं है, उसीप्रकार अनन्तगुण अनुभागवाले साता वेदनीयके उदय सहित केवली भगवानके अनन्तवें भागमें जिसका असंख्यात बार घट होगया है ऐसा असाता वेदनीय कर्म क्षुधादिक की वेदना उत्पन्न नहीं कर सकता।

(४) अशुभ कर्म प्रकृतियोंकी विष, हलाहलरूप जो शक्ति है उसका अध प्रवृत्तकरणमें अभाव हो जाता है और निम्ब (नीम) कांजीरूप रस रह जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति कांडोत्करण और अनुभाग कांडोत्करण ये चार आवश्यक होते हैं, इसीलिये केवली भगवानके असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियोंका रस असंख्यात बार घट कर अनंतानंतमें भाग रह गया है, इसीकारण असातामें सामर्थ्य कहाँ रही है कि जिससे केवली भगवानके क्षुधादिक उत्पन्न करनेमें निमित्त होता?

(अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ४४६ द्वितीयावृत्ति)

६ सू० १०-११ का सिद्धांत और ८ वें सूत्रके साथ उसका संबंध

यदि वेदनीय कर्मका उदय हो किंतु मोहनीय कर्मका उदय न हो तो जीवके विकार नहीं होता (सूत्र ११) क्योंकि जीवके अनन्तवीर्य प्रगट हो चुका है।

वेदनीय कर्मका उदय हो और यदि मोहनीय कर्मका मंद उदय हो तो वह भी विकारका निमित्त नहीं होता (सूत्र १०) क्योंकि वहाँ जीवके अधिक पुरुषार्थ प्रगट होगया है।

दसवें गुणस्थानसे लेकर १३ वें गुणस्थान तकके जीवोंके पूर्ण परीषह जय होता है और इसीलिये उनके विकार नहीं होता। यदि उत्तम गुणस्थान

वाले परीषहजय नहीं कर सकते तो फिर आठवें सूत्रका यह उपदेश व्यर्थ हो जायगा कि 'संवरके मार्गसे च्युत न होने और निर्जराके लिये परीषह सहन करना योग्य है।' दशमें तथा ग्यारहवें सूत्रमें उत्तम गुणस्थानोंमें जो परीषह कहीं हैं वे उपचारसे हैं निश्चयसे नहीं, ऐसा समझना ॥ ११ ॥

छट्ठे से नवमें गुणस्थान तककी परीषह

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ—[बादरसांपराये] बादरसांपराय अर्थात् स्थूलकषायवाले जीवोंके [सर्वे] सर्व परीषह होती हैं।

टीका

१—छट्ठेसे नवमें गुणस्थानको बादरसांपराय कहते हैं। इन गुणस्थानों में परीषहके कारणभूत सभी कर्मोंका उदय है, किन्तु जीव जितने अंशमें उनमें युक्त नहीं होता उतने अंशमें (आठवें सूत्रके अनुसार) परीषह-जय करता है।

२—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि इन तीन संयमोंमें से किसी एकमें समस्त परीषहें संभव हैं ॥ १२ ॥

इस तरह यह वर्णन किया कि किस गुणस्थानमें कितनी परीषह जय होती हैं। अब किस किस कर्मके उदयसे कौन कौन परीषह होती हैं सो बतलाते हैं—

ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ—[ज्ञानावरणे] ज्ञानावरणीयके उदयसे [प्रज्ञाऽज्ञाने] प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषहें होती हैं।

टीका

प्रज्ञा आत्माका गुण है, वह परीषहका कारण नहीं होता; किंतु ज्ञान का विकास हो और उसके मदजनित परीषह हो तो उस समय ज्ञानावरण

कर्मका उदय होता है। यदि ज्ञानी जीव मोहनीय कर्मके उदयमें लगे—जुड़े तो उसके अनित्य मद आ जाता है, किंतु ज्ञानी जीव पुरुषार्थपूर्वक जितने अंशमें उसमें युत न हो उतने अंशमें उनके परीपह जय होता है।

(देखो सूत्र ८)

दर्शनमोहनीय तथा अन्तराय कर्मके उदयसे होनेवाली परीपह

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनाऽलाभौ ॥ १४ ॥

अर्थ—[दर्शनमोहांतराययोः] दर्शनमोह और अंतराय कर्मके उदयसे [अदर्शनाऽलाभौ] क्रमसे अदर्शन और अलाभ परीपह होती हैं।

यहाँ तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १४ ॥

अब चारित्रमोहनीयके उदयसे होनेवाली परीपह बतलाते हैं

चारित्रमोहेनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थ—[चारित्रमोहे] चारित्रमोहनीयके उदयसे [नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः] नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ये सात परीपह होती हैं।

यहाँ तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १५ ॥

वेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाली परीपहें

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थ—[वेदनीये] वेदनीय कर्मके उदयसे [शेषाः] बाकी की ग्यारह परीपह अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये परीपह होती हैं।

यहाँ भी तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १६ ॥

अब एक जीवके एक साथ होनेवाली परीषहों की
संख्या बतलाते हैं

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

अर्थ—[एकस्मिन् युगपत्] एक जीवके एक साथ [एकादयो] एकसे लेकर [आ एकोनविंशतेः] उन्नीस परीषह तक [भाज्याः] जानना चाहिये।

१—एक जीवके एक समयमें अधिकसे अधिक १९ परीषह हो सकती हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दो में से एक समयमें एक ही होती है और शय्या, चर्या तथा निषद्या (सोना, चलना तथा आसनमें रहना) इन तीनमेंसे एक समयमें एक ही होती है; इसतरह इन तीन परीषहोंके कम करनेसे बाकी की उन्नीस परीषह हो सकती हैं।

२—प्रश्न—प्रज्ञा और अज्ञान ये दोनों भी एक साथ नहीं हो सकते, इसलिये एक परीषह इन सबमेंसे कम करना चाहिये।

उत्तर—प्रज्ञा और अज्ञान इन दोनोंके साथ रहनेमें कोई बाधा नहीं है एक ही कालमें एक जीवके श्रुतज्ञानादिकी अपेक्षासे प्रज्ञा और अवधिज्ञानादि की अपेक्षासे अज्ञान ये दोनों साथ रह सकते हैं।

३—प्रश्न—औदारिक शरीरकी स्थिति कवलाहार (अन्न पानी) के विना देशोनकोटी पूर्व (कुछ कम एक करोड़ पूर्व) कैसे रहती है ?

उत्तर— आहारके ६ भेद हैं—१ नोकर्म आहार, २ कर्माहार, ३ कवलाहार ४ लेपाहार, ५ ओजाहार, और ६ मनसाहार। ये छह प्रकार यथायोग्य देहकी स्थितिके कारण हैं। जैसे (१) केवलीके नोकर्म आहार बताया है। उनके लाभांतराय कर्मके क्षयसे अनन्त लाभ प्रगट हुआ है, अतः उनके शरीरके साथ अपूर्व असाधारण पुद्गलोंका प्रति समय संबंध होता है, यह नोकर्म-केवली के देहकी स्थितिका कारण है, दूसरा नहीं, इसीकारण केवलीके नोकर्मका

आहार कहा है। (२) नारकियोंके नरकायु नामकर्मका उदय है यह उनके देहकी स्थितिका कारण है इसीलिये उनके कर्माहार कहा जाता है। (३) मनुष्यों और तिर्यंचोंके कवलाहार प्रसिद्ध है। (४) वृक्ष जातिके लेपाहार है (५) पक्षीके अंडेके ओजाहार है। शुक्र नामकी धातुकी उपधातुको ओज कहते हैं। जो अण्डोंको पक्षी (पत्नी) सेवे उसे ओजाहार नहीं समझना। (६) देव मनसे तृप्त होते है, उनके मनसाहार कहा जाता—होता है।

यह छह प्रकारका आहार देहकी स्थितिका कारण है, इस संबंधी गाथा निम्नप्रकार है—

णोकम्मकम्महारोकवलाहारो य लेप्पाहारो य।
उज्झमणोविय कमसो आहारा छव्विहो भणिओ॥
णोकम्मतित्थयरे कम्म च णयरे मानसो अमरे।
णरपसु कवलाहारो पक्षी उज्झो इगि लेऊ॥

अर्थ—१ नोकर्म आहार, २ कर्माहार, ३ कवलाहार, ४ लेपाहार, ५ ओजाहार, और ६ मनोआहार, इसप्रकार क्रमसे ६ प्रकारका आहार है, उनमें नोकर्म आहार तीर्थंकरके, कर्माहार नारकीके, मनोआहार देवके कवलाहार मनुष्य तथा पशुके, ओजाहार पक्षीके अंडोंके और वृक्षके लेपाहार होता है।

इससे सिद्ध होता है कि केवलीके कवलाहार नहीं होता।

प्रश्न—मुनिकी अपेक्षासे छट्ठे गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक की परीषहोंका कथन इस अध्यायके १३ से १६ तकके सूत्रोंमें किया है यह व्यवहारनयकी अपेक्षासे या निश्चयनयकी अपेक्षासे?

उत्तर—यह कथन व्यवहारनयकी अपेक्षासे है, क्योंकि यह जीवका परवस्तुके साथ का संबंध बतलाता है, यह कथन निश्चयकी अपेक्षासे नहीं है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनयकी मुख्यता सहित कथन हो उसे मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३६९ में यों जाननेके लिए कहा है कि 'ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे यह उपचार किया है' तो ऊपर कहे गये १३ से १६ तकके कथनमें कैसे लागू होता है ?

उत्तर—उन सूत्रोंमें जीवके जिन परीषहोंका वर्णन किया है वह व्यवहारसे है, इसका सत्यार्थ ऐसा है कि—जीव जीवमय है परीषहमय नहीं। जितने दरजेमें जीवमें परीषह वेदन हो उतने अंशमें सूत्र १३ से १६ में कहे गये कर्मका उदय निमित्त कहलाता है किंतु निमित्तने जीवको कुछ नहीं किया।

प्रश्न—१३ से १६ तकके सूत्रोंमें परीषहोंके बारेमें जिस कर्मका उदय कहा है उसके और सूत्र १७ में परीषहोंकी जो एक साथ संख्या कही उसके इस अध्यायके ८ वें सूत्रमें कहे गये निर्जराका व्यवहार कैसे लागू होता है ?

उत्तर—जीव अपने पुरुषार्थके द्वारा जितने अंशमें परीषह वेदन न करे उतने अंशमें उसने परीषह जय किया और इसीलिये उसने अंशमें सूत्र १३ से १६ तकमें कहे गये कर्मोंकी निर्जरा की ऐसा आठवें सूत्रके अनुसार कहा जा सकता है, इसे व्यवहार कथन कहा जाता है क्योंकि परवस्तु (कर्म) की साथके संबंधका कितना अभाव हुआ, यह इसमें बताया गया है।

इसप्रकार परीषहजयका कथन पूर्ण हुआ ॥ १७ ॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवरके ६ कारणोंमेंसे यहाँ पाँच कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ; अब अंतिम कारण चारित्रका वर्णन करते हैं—

चारित्रके पाँच भेद

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

अर्थ—[सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय यथा-

ख्यातं] सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात [इति चारित्रम्] इस प्रकार चारित्रके ५ भेद हैं।

टीका

१. सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) सामायिक—निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान की एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्य योगका त्याग करके शुद्धात्मस्वरूपमें अभेद होनेपर शुभाशुभ भावोंका त्याग होना सो सामायिक चारित्र है। यह चारित्र छट्ठेसे नवमें गुणस्थान तक होता है।

(२) छेदोपस्थापना—कोई जीव सामायिक चारित्ररूप हुआ हो और उससे हटकर सावद्य व्यापाररूप होजाय, पश्चात् प्रायश्चित्त द्वारा उस सावद्य व्यापारसे उत्पन्न हुये दोषोंको छेदकर आत्माको संयममें स्थिर करे सो छेदोपस्थापना चारित्र है। यह चारित्र छट्ठे से नवमें गुणस्थान तक होता है।

(३) परिहार विशुद्धि—जो जीव जन्मसे ३० वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करे और श्री तीर्थंकर भगवानके पादमूलमें आठ वर्षतक प्रत्याख्यान नामक नवमें पूर्वका अध्ययन करे, उसके यह संयम होता है। जो जीवोंकी उत्पत्ति मरणके स्थान, कालकी मर्यादा, जन्म योनिके भेद, द्रव्य क्षेत्र का स्वभाव, विधान तथा विधि इन सभीका जाननेवाला हो और प्रमाद रहित महावीर्यवान हो, उनके शुद्धताके बलसे कर्मकी बहुत (-प्रचुर) निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करनेवाले मुनियोंके यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है उनके शरीरसे जीवोंकी विराधना नहीं होती। यह चारित्र ऊपर बतलाये गये साधुके छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें होता है।

(४) सूक्ष्मसांपराय—जब अति सूक्ष्म लोभ कषायका उदय हो तब जो चारित्र होता है वह सूक्ष्म सांपराय है। यह चारित्र दसमें गुणस्थान में होता है।

(५) यथाख्यात—संपूर्ण मोहनीय कर्मके क्षय अथवा उपशमसे

आत्माके शुद्धस्वरूपमें स्थिर होना सो यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवेंसे चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

२. शुद्धभावसे संवर होता है किन्तु शुभभावसे नहीं होता, इसलिये इन पांचों प्रकारमें जितना शुद्धभाव है उतना चारित्र है ऐसा समझना।

३. छट्ठे गुणस्थान की दशा

सातवें गुणस्थानसे तो निर्विकल्प दशा होती है। छट्ठे गुणस्थानमें मुनिके जब आहार विहारादिका विकल्प होता है तभी भी उनके [तीन जातिके कषाय न होनेसे] संवरपूर्वक निर्जरा होती है और शुभभावका अल्प बंध होता है; जो विकल्प उठता है उस विकल्पके स्वामित्वका उनके नकार वर्तते हैं, अकषायदृष्टि और चारित्रसे जितने दरजेमें राग दूर होता है उतने दरजेमें संवर-निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है उतना बंधन है। विशेष यह है कि पंचम गुणस्थानवाला उपवासादि वा प्रायश्चित्तादि तप करें उसी कालमें भी उसे निर्जरा अल्प और छट्ठे गुणस्थानवाला आहार विहार आदि क्रिया करे उस कालमें भी उसके निर्जरा अधिक है इससे ऐसा समझना कि—बाह्य प्रवृत्तिके अनुसार निर्जरा नहीं है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३४१)

४. चारित्र का स्वरूप

कितनेक जीव मात्र हिंसादिक पापके त्यागको चारित्र मानते हैं और महाव्रतादिरूप शुभोपयोगको उपादेयरूपसे ग्रहण करते हैं, किंतु यह यथार्थ नहीं है। इस शास्त्रके सातवें अध्यायमें आस्रव पदार्थका निरूपण किया गया है, वहां महाव्रत और अणुव्रतको आस्रवरूप माना है, तो वह उपादेय कैसे हो सकता है? आस्रव तो बंधका कारण है और चारित्र मोक्षका कारण है, इसलिये उन महाव्रतादिरूप आस्रवभावोंके चारित्रता संभव नहीं होती, किंतु जो सर्व कषाय रहित उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीवके कुछ भाव वीतराग हुए होते हैं और कुछ भाव सराग होते हैं; उनमें जो अंश वीतरागरूप है वही चारित्र है और वह संवरका कारण है।

(देखो मोक्षप्रकाशक पृष्ठ ३३७)

५. चारित्रमें भेद किसलिये बताये ?

प्रश्न—जो वीतराग भाव है सो चारित्र है और वीतरागभाव तो एक ही तरहका है, तो फिर चारित्रके भेद क्यों बतलाये ?

उत्तर—वीतरागभाव एक तरहका है परन्तु वह एक साथ पूर्ण प्रगट नहीं होता, किन्तु क्रम क्रमसे प्रगट होता है इसीलिये उसमें भेद होते हैं। जितने अंशमें वीतरागभाव प्रगट होता है उतने अंशमें चारित्र प्रगट होता है, इसलिये चारित्रके भेद कहे हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो छट्ठे गुणस्थानमें जो शुभभाव है उसे भी चारित्र क्यों कहते हो ?

उत्तर— वहाँ शुभभावको यथार्थमें चारित्र नहीं कहा जाता, किन्तु उस शुभभावके समय जिस अंशमें वीतरागभाव है, वास्तवमें उसे चारित्र कहा जाता है।

प्रश्न—कितनेक जगह शुभभावरूप समिति, गुप्ति, महाव्रतादिको भी चारित्र कहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—वहाँ शुभभावरूप समिति आदिको व्यवहार चारित्र कहा है। व्यवहारका अर्थ है उपचार; छट्ठे गुणस्थानमें जो वीतराग चारित्र होता है, उसके साथ महाव्रतादि होते हैं, ऐसा सबंध जानकर यह उपचार किया है। अर्थात् यह निमित्तकी अपेक्षासे यानि विकल्पके भेद बतानेके लिए कहा है, किन्तु यथार्थ रीत्या तो निश्चय भाव ही चारित्र है, शुभराग चारित्र नहीं।

प्रश्न—निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प (—सराग व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं होता, तो फिर सविकल्प मोक्षमार्गको साधक कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—भूतनैगमनय की अपेक्षासे उस सविकल्परूपको मोक्षमार्ग कहा है, अर्थात् भूतकालमें व विकल्प (रागमिश्रित विचार) हुये थे, यद्यपि वे वर्तमानमें नहीं हैं तथापि 'यह वर्तमान है' ऐसा भूत नैगमनयकी अपेक्षासे

गिना जा सकता है—कहा जा सकता है; इसीलिये उस नयकी अपेक्षासे सविकल्प मोक्षमार्गको साधक कहा है ऐसा समझना। (देखो परमात्म प्रकाश पृष्ठ १४२ अध्याय २ गाथा १४ की संस्कृत टीका तथा इस ग्रन्थमें अंतमें परिशिष्ट १)

६. सामायिक का स्वरूप

प्रश्न—मोक्षके कारणभूत सामायिक का स्वरूप क्या है?

उत्तर—जो सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाला परमार्थ ज्ञानका भवनमात्र (परिणमन मात्र) है एकाग्रता लक्षणवाली है वह सामायिक मोक्षके कारणभूत है।

(देखो समयसार गाथा १५४ टीका)

श्री नियमसार गाथा १२५ से १३३ में यथार्थ सामायिकका स्वरूप दिया है वह इसप्रकार है—

जो कोई मुनि एकेन्द्रियादि प्राणियोंके समूहको दुःख देनेके कारणरूप जो संपूर्ण पापभाव सहित व्यापार है, उससे अलग हो मन, वचन और शरीर के शुभ अशुभ सर्व व्यापारोंको त्यागकर तीन गुप्तिरूप रहते हैं तथा जितेन्द्रिय रहते हैं ऐसे संयमीके वास्तवमें सामायिक व्रत होता है। (गाथा १२५)

जो समस्त त्रस स्थावर प्राणियोंमें समताभाव रखता है, माध्यस्थ भावमें आरूढ़ है, उसीके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२६)

संयम पालते हुये, नियम करते तथा तप धारण करते हुये जिसके एक आत्मा ही निकटवर्ती रहा है उसीके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२७)

जिसे राग-द्वेष विकार प्रगट नहीं होते उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२८)

जो आर्त और रौद्र ध्यानको दूर करता है, उसके वास्तवमें सामायिक व्रत होता है। (गाथा १२९)

जो हमेशा पुण्य और पाप इन दोनों भावोंको छोड़ता है, उसके यथार्थ

सामायिक होती है। (गाथा १३०)

जो जीव सदा धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको ध्याता है उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १३३)

सामायिक चारित्रको परम समाधि भी कहते हैं।

७. प्रश्न—इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें संवरके कारणरूपसे जो १० प्रकारका धर्म कहा है उसमें संयम आ ही जाता है और संयम ही चारित्र है तथापि यहाँ फिरसे चारित्रको संवरके कारणरूपमें क्यों कहा?

उत्तर—यद्यपि संयमधर्ममें चारित्र आ जाता है तथापि इस सूत्रमें चारित्रका कथन निरर्थक नहीं है। चारित्र मोक्ष प्राप्तिका साक्षात् कारण है यह बतलानेके लिए यहाँ अंतमें चारित्रका कथन किया है। चौदहवें गुणस्थानके अंतमें चारित्रकी पूर्णता होनेपर ही मोक्ष होता है अतएव मोक्ष प्राप्तिके लिये चारित्र साक्षात् हेतु है—ऐसा ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें यह अलग बताया है।

८. व्रत और चारित्रमें अन्तर

शुभअशुभकी निवृत्तिका नाम संवर है, और आस्रव अधिकारमें (सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रमें) हिंसा, झूँठ, चोरी आदिके त्यागसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि क्रियामें शुभप्रवृत्ति है इसीलिये यहाँ अव्रतोंकी तरह व्रतोंमें भी कर्मका प्रवाह चलता है, किन्तु उन व्रतोंसे कर्मोंकी निवृत्ति नहीं होती। इसी अपेक्षाको लक्ष्यमें रखकर, गुप्ति आदिको संवरका परिवार कहा है। आत्माके स्वरूपमें जितनी अभेदता होती है उतना संवर है। शुभाशुभ भावका त्याग निश्चय व्रत अथवा वीतराग चारित्र है। जो शुभभावरूप व्रत है वह व्यवहार चारित्ररूप राग है और वह संवरका कारण नहीं है। (देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ पृष्ठ ५ से ७) ॥ १८ ॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवरके ६ कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ। इस तरह संवर तत्त्वका वर्णन पूर्ण हुआ। अब निर्जरा तत्त्वका वर्णन करते हैं—

निर्जरा तत्त्वका वर्णन

भूमिका

१—पहले अठारह सूत्रोंमें संवरतत्त्वका वर्णन किया। अब उन्नीसमें सूत्रसे निर्जरा तत्त्वका वर्णन प्रारम्भ होता है। जिसके संवर हो उसके निर्जरा हो। प्रथम संवर तो सम्यग्दर्शन है, इसीलिये जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसीके ही संवर-निर्जरा हो सकती है। मिथ्यादृष्टिके संवर निर्जरा नहीं होती।

२—यहां निर्जरा तत्त्वका वर्णन करना है और निर्जराका कारण तप है (देखो अध्याय ६ सूत्र ३) इसीलिये तपका और उसके भेदोंका वर्णन किया है। तपकी व्याख्या १६वें सूत्रकी टीका में दी है और ध्यानकी व्याख्या २७ वें सूत्रमें दी गई है।

३. निर्जरा के कारणों सम्बन्धी होनेवाली भूलें और उनका निराकरण

(१) कितने ही जीव अनशनादि तपसे निर्जरा मानते हैं किन्तु वह तो बाह्य तप है। अब बाद के १६-२० में सूत्रमें बारह प्रकारके तप कहे हैं वे सब बाह्य तप हैं, किंतु वे एक दूसरेकी अपेक्षासे बाह्य अभ्यंतर हैं, इसीलिये उनके बाह्य और अभ्यंतर ऐसे दो भेद कहे हैं। अकेले बाह्य तप करनेसे निर्जरा नहीं होती। यदि ऐसा हो कि अधिक उपवासादि करने से अधिक निर्जरा हो और थोड़े करने थोड़ी हो तो निर्जराका कारण उपवासादिक ही ठहरें किन्तु ऐसा नियम नहीं है। जो इच्छाका निरोध है सो तप है; इसीलिये स्वानुभव की एकाग्रता बढ़नेसे शुभाशुभ इच्छा दूर होती है, उसे तप कहते हैं।

(२) यहां अनशनादिकको तथा प्रायश्चित्तादिकको तप कहा है इसका कारण यह है कि—यदि जीव अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्ते और रागको दूर करे तो वीतरागभावरूप सत्य तप पुष्ट किया जा सकता है, इसीलिये उन अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिको उपचारसे तप कहा है। यदि कोई जीव वीतराग भावरूप सत्य तपको तो न जाने और उन अनशनादिकको ही तप जानकर संग्रह करे तो वह संसारमें ही भ्रमण करता है।

(३) इतना खास समझ लेना कि—निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, अन्य अनेक प्रकारके जो भेद कहे जाते हैं वे भेद बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे उपचारसे कहे हैं, इसके व्यवहार मात्र धर्म संज्ञा जाननी। जो जीव इस रहस्यको नहीं जानता उसके निर्जरातत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

तप निर्जरा के कारण हैं, इसीलिये उनका वर्णन करते हैं। उनमें पहले तपके भेद कहते हैं—

बाह्य तपके ६ भेद

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः ॥१९॥

अर्थ—[अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः] सम्यक् प्रकारसे अनशन, सम्यक् अवमौदर्य सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान, सम्यक् रसपरित्याग, सम्यक् विविक्त शय्यासन और सम्यक् कायक्लेश ये [बाह्य तपः] छह प्रकारका बाह्य तप हैं।

नोट—इस सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान इस अध्यायके चौथे सूत्रसे आता है-किया जाता है। अनशनादि छहों प्रकारमें 'सम्यक्' शब्द लागू होता है।

टीका

१–सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) सम्यक् अनशन—सम्यग्दृष्टि जीवके आहारके त्यागका भाव होनेपर विषय कषायका भाव दूर होकर अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता होती वह सम्यक् अनशन है।

(२) सम्यक् अवमौदर्य—सम्यग्दृष्टि जीवके रागभाव दूर करनेके लिये जितनी भूख हो उससे कम भोजन करनेका भाव होने पर जो अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् अवमौदर्य कहते हैं।

(३) सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान—सम्यग्दृष्टि जीवके संयमके हेतुसे निर्दोष आहारकी भिक्षाके लिये जाते समय, भोजनकी वृत्ति तोड़ने वाले नियम करने पर अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् वृत्ति परिसंख्यान कहते हैं।

(४) सम्यक् रसपरित्याग—सम्यग्दृष्टि जीवके इन्द्रियों सम्बन्धी राग का दमन करनेके लिये घी, दूध, दही, तेल, मिठाई नमक आदि रसोंका यथा शक्ति त्याग करनेका भाव होनेसे अतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् रसपरित्याग कहते हैं।

(५) सम्यक् विविक्तशय्यासन—सम्यग्दृष्टि जीवके स्वाध्याय, ध्यान आदिकी प्राप्तिके लिये किसी एकांत निर्दोष स्थानमें प्रमाद रहित सोने, बैठने की वृत्ति होने पर अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् विविक्त शय्यासन कहते हैं।

(६) सम्यक् कायक्लेश—सम्यग्दृष्टि जीवके शारीरिक आसक्ति घटानेके लिये आतापन आदि योग धारण करते समय जो अंतरंग परिणामों की शुद्धता होती है उसे सम्यक् कायक्लेश कहते हैं।

२—'सम्यक्' शब्द यह बतलाता है कि सम्यग्दृष्टिके ही ये तप होते हैं मिथ्यादृष्टि के तप नहीं होता।

३—जब सम्यग्दृष्टि जीव अनशनकी प्रतिज्ञा करता है उस समय निम्न लिखित बातें जानता है :—

(१) आहार न लेने का जो राग मिश्रित विचार होता है वह शुभभाव है और इसका फल पुण्यबंधन है; मैं इसका स्वामी नहीं हूँ।

(२) अन्न, जल आदि पर वस्तुएँ हैं, आत्मा उसे किसी प्रकार न तो ग्रहण कर सकता और न छोड़ सकता है किन्तु जब सम्यग्दृष्टि जीव पर वस्तु सम्बन्धी उस प्रकारका राग छोड़ता है तब पुद्गल परावर्तनके नियम अनुसार ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध होता है, कि उतने समय उसके अन्न पानी आदिका संयोग नहीं होता।

(३) अन्न जल आदिका संयोग न हुआ यह परद्रव्यकी क्रिया है, उससे आत्माके धर्म या अधर्म नहीं होता।

(४) सम्यग्दृष्टि जीवके राग का स्वामित्व न होने की जो सम्यक् मान्यता है वह दृढ़ होती है, और इसीलिये यथार्थ अभिप्रायपूर्वक जो अन्न, जल आदि लेनेका राग दूर हुआ वह सम्यक् अनशन तप है, यह वीतरागता का अंश है इसीलिये वह धर्मका अंश है। उसमें जितने अंशमें अंतरंग परिणामों की शुद्धता हुई और शुभाशुभ इच्छाका निरोध हुआ उतने अंशमें सम्यक् तप है और वही निर्जराका कारण है।

छह प्रकारके बाह्य और छह प्रकारके अंतरंग इन बारह प्रकारके तप के सम्बन्धमें ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना।

सम्यक् तप की व्याख्या

(१) स्वरूपविश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रतपनात् तप: अर्थात् स्वरूपकी स्थिरतारूप तरंगोंके विना—लहरों के विना (निर्विकल्प) चैतन्यका प्रतपन होना (देदीप्यमान होना) सो तप है।

(देखो श्री प्रवचनसार अध्याय १ गाथा १४ की टीका)

(२) सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मपरमात्मनि प्रतपन तप अर्थात् सहज निश्चयनय रूप परमस्वभावमय परमात्माका प्रतपन होना अर्थात् दृढ़तासे तन्मय होना सो तप है। (नियमसार गाथा ५५ की टीका)

(३) प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपन यत्तत्तप अर्थात् प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्त्वमें सदा अंतर्मुखरूप से जो प्रतपन अर्थात् लीनता है सो तप है। (नियमसार टीका गाथा ११८ का शीर्षक)

(४) आत्मानमात्मना संधत्त इत्यध्यात्म तपन अर्थात् आत्माको आत्माके द्वारा धरना सो अध्यात्म तप है। (नियमसार गाथा १२३ की टीका)

(५) इच्छानिरोध तप अर्थात् शुभाशुभ इच्छाका निरोध करना सो तप है।

५. तप के भेद किस लिये हैं ?

प्रश्न—यदि तपकी व्याख्या उपरोक्त प्रमाण है तो उस तपके भेद नहीं हो सकते, तथापि यहां तपके बारह भेद क्यों कहे हैं ?

उत्तर—शास्त्रोंका कथन किसी समय उपादान (निश्चय) की अपेक्षा से और किसी समय निमित्त (व्यवहार) की अपेक्षासे होता है। भिन्न-भिन्न निमित्त होनेसे उसमें भेद होते हैं किन्तु उपादान तो आत्माका शुद्ध स्वभाव है अतः उसमें भेद नहीं होता। यहां तपके जो बारह भेद बतलाये हैं वे भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं।

६—जिस जीवके सम्यग्दर्शन न हो वह जीव वनमें रहे, चातुर्मासमें वृक्षके नीचे रहे ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त प्रखर किरणोंसे संतप्त पर्वतके शिखर पर आसन लगावे, शीतकालमें खुले मैदानमें ध्यान करे, अन्य अनेक प्रकारके काय क्लेश करे, अधिक उपवास करे, शास्त्रोंके पढ़नेमें बहुत चतुर हो; मौनव्रत धारण करे इत्यादि सब कुछ करे, किंतु उसका यह सब वृथा है—संसारका कारण है, इनसे धर्मका अंश भी नहीं होता। जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित हो यदि वह जीव अनशनादि बारह तप करे तथापि उसके कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये हे जीव ! आकुलता रहित समतादेवीका कुल मंदिर जो कि स्व का आत्मतत्त्व है, उसका ही भजन कर।

(देखो नियमसार गाथा १२४) ॥१९॥

अब आभ्यंतर तपके ६ भेद बताते हैं

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

अर्थ—[प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि] सम्यक् रूपसे प्रायश्चित्त, सम्यक् विनय, सम्यक् वैयावृत्य, सम्यक् स्वाध्याय, सम्यक् व्युत्सर्ग और सम्यक् ध्यान [उत्तरम्] ये छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है।

(६) सम्यक् ध्यान—चित्तकी चंचलताको रोककर तत्त्वके चितवन में लगना, इसमें वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है सो सम्यक्ध्यान है।

२—सम्यग्दृष्टिके ही ये छहों प्रकारके तप होते हैं। इन छहों प्रकारमें सम्यग्दृष्टिके निज स्वरूपकी एकाग्रतासे जितनी अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता हो उतना ही तप है। [जो शुभ विकल्प है उसे उपचारसे तप कहा जाता है, किंतु यथार्थमेंतो वह राग है; तप नहीं।]

अब अभ्यन्तर तपके उपभेद बताते हैं

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

अर्थ—[प्राक ध्यानात्] ध्यानसे पहलेके पाँच तपके [यथाक्रमं] अनुक्रमसे [नवचतुर्दश पंचद्विभेदाः] नव, चार, दश, पाँच और दो भेद हैं अर्थात् सम्यक् प्रायश्चितके नव, सम्यक् विनयके चार, सम्यक् वैयावृत्यके दस, सम्यक् स्वाध्यायके पाँच और सम्यक् व्युत्सर्गके दो भेद हैं।

नोट—आभ्यंतर तपका छट्ठा भेद ध्यान है उसके भेदोंका वर्णन २८ में सूत्रमें किया जायगा।

अब सम्यक् प्रायश्चितके नव भेद बतलाते हैं

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

अर्थ—[आलोचना प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः] आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना ये प्रायश्चित तपके नव भेद हैं।

टीका

१—सूत्रमें आये हुये शब्दोंकी व्याख्या करते हैं—

प्रायश्चित्त-प्राय = अपराध, चित्त = शुद्धि, अर्थात् अपराध की शुद्धि करना सो प्रायश्चित्त है।

(१) आलोचना—प्रमादसे लगे हुये दोषोंको गुरुके पास जाकर निष्कपट रीतिसे कहना सो आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण—अपने किये हुए अपराध मिथ्या होवे-ऐसी भावना करना सो प्रतिक्रमण है।

(३) तदुभय—ये दोनों अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना सो तदुभय है।

(४) विवेक—आहार-पानीका नियमित समय तक त्याग करना सो विवेक है।

(५) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं।

(६) तप—उपवासादि करना सो तप है।

(७) छेद—एक दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि समय पर्यंत दीक्षा का छेद करना सो छेद कहलाता है।

(८) परिहार—एक दिन, एक पक्ष, एक मास आदि नियमित समय तक संघसे अलग करना सो परिहार है।

(९) उपस्थापन—पुरानी दीक्षाका संपूर्ण छेद करके फिरसे नई दीक्षा देना सो उपस्थापन है।

२— ये सब भेद व्यवहार प्रायश्चित्त के हैं। जिस जीवके निश्चयप्रायश्चित्त प्रगट हुआ हो उस जीवके इस नवप्रकारके प्रायश्चित्तको व्यवहार-प्रायश्चित्त कहा जाता है किंतु यदि निश्चय प्रायश्चित्त प्रगट न हुआ हो तो वह व्यवहाराभास है।

३–निश्चय प्रायश्चित्तका स्वरूप

निजात्मा का ही जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है जो जीव उसे नित्य धारण करते हैं उसके ही प्रायश्चित्त होता है (बोध, ज्ञान और चित्तका

एक ही अर्थ है) प्राय: = प्रकृष्टरूपसे और चित्त = ज्ञान, अर्थात् प्रकृष्टरूपसे जो ज्ञान है वही प्रायश्चित्त है। क्रोधादि विभावभावोंका क्षय करनेकी भावनामें प्रवर्तना तथा स्वीय आत्मिक गुणोंकी चिंता करना सो यथार्थ प्रायश्चित्त है। निज आत्मिक तत्त्वमें रमणरूप जो तपश्चरण है वही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है।

(देखो नियमसार गाथा ११३ से १२१)

४–निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप

जो कोई वचनकी रचनाको छोड़कर तथा राग द्वेषादि भावोंका निवारण करके स्वात्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है। जो मोक्षार्थी जीव संपूर्ण विराधना अर्थात् अपराधको छोड़कर स्वरूपकी आराधनामें वर्तन करता है उसके यथार्थ प्रतिक्रमण है।

(श्री नियमसार गाथा ८३—८४)

५–निश्चय आलोचना का स्वरूप

जो जीव स्वात्माको नोकर्म, द्रव्यकर्म तथा विभाव गुण पर्यायसे रहित ध्यान करते हैं उसके यथार्थ आलोचना होती है। समताभावमें स्वकीय परिणामको धरकर स्वात्माको देखना सो यथार्थ आलोचना है। (देखो श्री नियमसार गाथा १०७ से ११२) ॥ २२ ॥

अब सम्यक् विनयतपके चार भेद बतलाते हैं

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—[ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः] ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, और उपचारविनय ये विनयतपके चार भेद हैं।

टीका

(१) ज्ञानविनय—आदरपूर्वक योग्यकालमें सत्शास्त्रका अभ्यास करना, मोक्षके लिए, ज्ञानका ग्रहण—अभ्यास—संस्मरण आदि करना सो ज्ञानविनय है।

(२) दर्शनविनय—शंका, कांक्षा आदि दोष रहित सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविनय है।

(३) चारित्रविनय—निर्दोष रीतिसे चारित्रको पालना सो चारित्र-विनय है।

(४) उपचारविनय—आचार्य आदि पूज्य पुरुषोंको देखकर खड़े होना, नमस्कार करना इत्यादि उपचार विनय है। ये सब व्यवहारविनयके भेद हैं।

निश्चयविनयका स्वरूप

जो शुद्ध भाव है सो निश्चयविनय है। स्व के अकषायभावमें अभेद परिणमनसे, शुद्धतारूपसे स्थिर होना सो निश्चयविनय है, इसीलिये कहा जाता है कि 'विनयवंत भगवान कहावें, नहीं किसीको शीष नमावें" अर्थात् भगवान विनयवन्त कहे जाते हैं किंतु किसीको मस्तक नहीं नवाते ॥ २३ ॥

अब सम्यक् वैयावृत्य तपके १० भेद बतलाते हैं

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधु-मनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—[आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्] आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना सो वैयावृत्य तपके दश भेद हैं।

टीका

१—सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ—

(१) आचार्य—जो मुनि स्वयं पाँच प्रकारके आचारको आचरण करें और दूसरोंको आचरण करावें उन्हें आचार्य कहते हैं।

(२) उपाध्याय—जिनके पाससे शास्त्रोंका अध्ययन किया जाय उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

(३) तपस्वी—महान उपवास करनेवाले साधुको तपस्वी कहते हैं।

(४) शैक्ष्य—शास्त्रके अध्ययनमें तत्पर मुनिको शैक्ष्य कहते हैं।

(५) ग्लान—रोगसे पीड़ित मुनिको ग्लान कहते हैं।

(६) गण—वृद्ध मुनियोंके अनुसार चलनेवाले मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं।

(७) कुल—दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्य कुल कहलाते हैं।

(८) संघ—ऋषि, यति मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंका समूह संघ कहलाता है। (संघके दूसरी तरहसे मुनि; आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये भी चार भेद हैं)

(९) साधु—जिनने बहुत समयसे दीक्षा ली हो वे साधु कहलाते हैं अथवा जो रत्नत्रय भावनासे अपनी आत्माको साधते हैं उन्हें साधु कहते हैं।

(१०) मनोज्ञ—मोक्षमार्ग प्रभावक, वक्तादि गुणोंसे शोभायुक्त जिसकी लोकमें अधिक ख्याति हो रही हो ऐसे विद्वान मुनिको मनोज्ञ कहते हैं, अथवा उसके समान असंयत सम्यग्दृष्टिको भी मनोज्ञ कहते हैं।

(सर्वार्थ सि० टी०)

२—इन प्रत्येक की सेवा सुश्रूषा करना सो वैयावृत्य है। यह वैयावृत्य शुभभावरूप है, इसीलिये व्यवहार है। वैयावृत्यका अर्थ सेवा है। स्व के अकषाय भावकी जो सेवा है सो निश्चय वैयावृत्य है।

३—संघके चार भेद बतलाये, सब उनका अर्थ लिखते हैं—

ऋषि=ऋद्धिधारी साधुको ऋषि कहते हैं।

यति—इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले साधु अथवा उपशम या क्षपकश्रेणी मांडनेवाले साधु यति कहलाते हैं।

मुनि=अवधिज्ञानी या मनःपर्ययज्ञानी साधु मुनि कहे जाते हैं।

अनगार—सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं।

पुनश्च ऋषिके भी चार भेद हैं—(१) राजर्षि=विक्रिया, अक्षीण ऋद्धि प्राप्त मुनि राजर्षि कहलाते हैं। (२) ब्रह्मर्षि=बुद्धि, औषधयुक्त ऋद्धि प्राप्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। (३) देवर्षि=आकाशगमन ऋद्धि प्राप्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं। (४) परमर्षि=केवलज्ञानीको परमर्षि कहते हैं।

सम्यक् स्वाध्याय तपके ५ भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थ—[वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके ५ भेद हैं।

टीका

वाचना—निर्दोष ग्रंथ, उसका अर्थ तथा दोनोंका भव्य जीवोंको श्रवण कराना सो वाचना है।

पृच्छना—संशयको दूर करनेके लिये अथवा निश्चयको दृढ़ करनेके लिए प्रश्न पूछना सो पृच्छना है।

अपना उच्चपन प्रगट करनेके लिये, किसीको ठगनेके लिये, किसीको हरानेके लिये, दूसरेका हास्य करनेके लिये आदि खोटे परिणामोंसे प्रश्न करना सो पृच्छना स्वाध्यायतप नहीं है।

अनुप्रेक्षा—जाने हुए पदार्थोंका बारबार चिंतन करना सो अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय—निर्दोष उच्चारण करके पाठको घोखना सो आम्नाय है।

धर्मोपदेश—धर्मका उपदेश करना सो धर्मोपदेश है।

प्रश्न—ये पाँच प्रकारके स्वाध्याय किस लिये कहे हैं?

उत्तर—प्रज्ञाकी अधिकता, प्रशंसनीय अभिप्राय, उत्कृष्ट उदासीनता,

तपकी वृद्धि, अतिचारकी विशुद्धि इत्यादिके कारण पाँच प्रकारके स्वाध्याय कहे गये हैं ॥ २५ ॥

सम्यक् व्युत्सर्गतपके दो भेद बतलाते हैं—

बाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ—[बाह्याभ्यंतरोपध्योः] बाह्य उपधि व्युत्सर्ग और अभ्यंतर उपधिव्युत्सर्ग ये दो व्युत्सर्ग तपके भेद हैं।

टीका

१—बाह्य उपधिका अर्थ है बाह्य परिग्रह और आभ्यंतर उपधिका अर्थ आभ्यंतर परिग्रह है। दस प्रकारके बाह्य और चौदह प्रकारके अंतरंग परिग्रहका त्याग करना सो व्युत्सर्ग तप है। जो आत्माका विकारी परिणाम है सो अंतरंग परिग्रह है, इसका बाह्य परिग्रहके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

२—प्रश्न—यह व्युत्सर्गतप क्यों कहा?

उत्तर—निःसंगत्व, निर्भयता, जीनेकी आशाका अभाव करने आदिके लिये यह तप है।

३—जो चौदह अंतरंग परिग्रह हैं, उनमें सबसे प्रथम मिथ्यात्व दूर होता है इसके दूर किये बिना अन्य कोई भी परिग्रह दूर ही नहीं होता। यह सिद्धांत बतानेके लिये इस शास्त्रके पहले ही सूत्रमें मोक्षमार्गके रूपमें जो आत्मा के तीन शुद्धभावोंकी एकताकी आवश्यकता बतलाई है उसमें भी प्रथम सम्यग्दर्शन ही बतलाया है। सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान या चारित्र भी सम्यक् नहीं होते। चारित्रके लिए जो 'सम्यक्' विशेषण दिया जाता है वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्ति बतलाता है। पहले सम्यक् श्रद्धा ज्ञान होनेके बाद जो यथार्थ चारित्र होता है वही सम्यक् चारित्र है। इसलिये मिथ्यात्व को दूर किये बिना किसी प्रकार का तप या धर्म नहीं होता ॥ २६ ॥

यह निर्जरातत्त्वका वर्णन चल रहा है। निर्जराका कारण तप है। तपके भेदोंका वर्णन चालू है, उसमें आभ्यंतर तपके प्रारंभके पाँच भेदोंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब छठा भेद जो ध्यान है, उसका वर्णन करते हैं।

सम्यक् ध्यानतपका लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधोध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

अर्थ—[उत्तमसंहननस्य] उत्तम संहननवालेके [आ अंतर्मुहूर्तात्] अंतर्मुहूर्त तक [एकाग्र चिंतानिरोधो ध्यानम्] एकाग्रतापूर्वक चिंताका निरोध सो ध्यान है।

टीका

१—उत्तमसंहनन—वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तमसंहनन हैं। इनमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके पहला वज्रर्षभनाराच संहनन होता है।

एकाग्र—एकाग्रका अर्थ मुख्य, सहारा, अवलंबन, आश्रय, प्रधान अथवा सन्मुख होता है। वृत्तिको अन्य क्रियासे हटाकर एक ही विषयमें रोकना सो एकाग्र चिंतानिरोध है और वही ध्यान है। जहाँ एकाग्रता नहीं वहाँ भावना है।

२—इस सूत्रमें ध्याता ध्यान, ध्येय और ध्यानका समय ये चार बातें निम्नरूपसे आ जाती हैं—

(१) जो उत्तमसंहननधारी पुरुष है वह ध्याता है।
(२) एकाग्रचिंताका निरोध सो ध्यान है।
(३) जिस एक विषयको प्रधान किया सो ध्येय है।
(४) अंतर्मुहूर्त यह ध्यानका उत्कृष्ट काल है।

मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनिट और अंत मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनिटके भीतरका समय। ४८ मिनिटमें एक समय कम सो उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त है।

३—यहाँ ऐसा कहा है कि उत्तमसंहननवालेके अंतर्मुहूर्त तक ध्यान रह सकता है, इसका यह अर्थ हुवा कि अनुत्तम संहननवालेके सामान्य ध्यान होता है अर्थात् जितना समय उत्तमसंहननवालेके रहता है उतना समय उसके (अनुत्तम संहननवालेके) नहीं रहता। इस सूत्रमें कालका कथन किया है जिसमें यह सम्बन्ध गर्भितरूपसे आ जाता है।

४—अष्टप्राभृतके मोक्षप्राभृतमें कहा है कि जीव आज भी तीन रत्न (रत्नत्रय) के द्वारा शुद्धात्माको ध्याकर स्वर्गलोकमें अथवा लौकांतिकमें देवत्व प्राप्त करता है और वहाँ से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है (गाथा ७७), इसलिये पंचमकालके अनुत्तम संहननवाले जीवोंके भी धर्मध्यान हो सकता है।

प्रश्न—ध्यानमें चिंताका निरोध है, और जो चिंताका निरोध है सो अभाव है, अतएव उस अभावके कारण ध्यान भी गधेके सींगकी तरह असत् हुआ?

उत्तर—ध्यान असत्‌रूप नहीं। दूसरे विचारोंसे निवृत्ति की अपेक्षासे अभाव है, परंतु स्व विषयके आकारकी अपेक्षासे सद्‌भाव है अर्थात् उसमें स्वरूपकी प्रवृत्ति का सद्‌भाव है, ऐसा 'एकाग्र' शब्दसे निश्चय किया जा सकता है। स्वरूपकी अपेक्षासे ध्यान विद्यमान-सतरूप है।

६—इस सूत्रका ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि जो ज्ञान चला-चलता रहित अचल प्रकाशवाला अथा देदीप्यमान होता है वह ध्यान है।

ध्यानके भेद—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ—[आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि] आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं।

टीका

प्रश्न—यह संवर—निर्जराका अधिकार है और यहाँ निर्जराके कारणोंका वर्णन चल रहा है। आर्त और रौद्रध्यान तो बंधके कारण हैं तो उन्हें यहाँ क्यों लिया?

उत्तर—निर्जरा का कारणरूप जो ध्यान है उससे इस ध्यानको अलग पृथक् बताकर ध्यानके सब भेद समझाये हैं।

आर्तध्यान—दुःख पीड़ारूप चिंतवन का नाम आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान—निर्दय-क्रूर आशयका विचार करना।

धर्मध्यान—धर्म सहित चिंतवनको धर्मध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान—शुद्ध पवित्र उज्ज्वल परिणामवाला चिंतवन शुक्लध्यान कहलाता है।

इन चार ध्यानोंमें पहले दो अशुभ हैं और दूसरे दो धर्मरूप हैं॥२८॥

अब मोक्षके कारणरूप ध्यान बताते हैं

परे मोक्षहेतू॥ २९॥

अर्थ—[परे] जो चार प्रकारके ध्यान कहे उनमेंसे अंतके दो अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान [मोक्षहेतू] मोक्षके कारण हैं।

टीका

पहले दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं और धर्म तथा शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं।

प्रश्न—यह तो सूत्रमें कहा है कि अंतिम दो ध्यान मोक्षके कारण हैं, किंतु ऐसा अर्थ सूत्रमेंसे किसतरह निकाला कि पहले दो ध्यान संसारके कारण हैं?

उत्तर—मोक्ष और संसार इन दो के अतिरिक्त और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसारमार्ग। इन दो

के अतिरिक्त तीसरा कोई साधनीय पदार्थ नहीं है, अतएव यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यानके अलावा आर्त्त और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं ॥ २९ ॥

आर्त्तध्यानके चार भेद हैं, अब उनका वर्णन अनुक्रमसे चार सूत्रों द्वारा करते हैं

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ-[अमनोज्ञस्य संप्रयोगे] अनिष्ट पदार्थका संयोग होने पर [तद्विप्रयोगाय] उसके दूर करनेके लिये [स्मृति समन्वाहारः] वारंवार विचार करना सो [आर्त्तम्] अनिष्ट संयोगज नामका आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ-[मनोज्ञस्य] मनोज्ञ पदार्थ संबंधी [विपरीत] उपरोक्त सूत्रमें कहे हुयेसे विपरीत अर्थात् इष्ट पदार्थका वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये वारंवार विचार करना सो 'इष्ट वियोगज' नामका आर्त्तध्यान है ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ-[वेदनायाः च] रोगजनित पीड़ा होनेपर उसे दूर करनेके लिये वारम्वार चिंतवन करना सो वेदना जन्य आर्त्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ-[निदानं च] भविष्यकाल संबंधी विषयोंकी प्राप्तिमें चित्तको तल्लीन कर देना सो निदानज आर्त्तध्यान है ॥ ३३ ॥

अब गुणस्थान की अपेक्षासे आर्त्तध्यानके स्वामी बतलाते हैं

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ-[तत्] वह आर्त्तध्यान [अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्] अविरत—पहले चार गुणस्थान, देशविरत-पाँचवाँ गुणस्थान और प्रमत्त सयत-छट्ठे गुणस्थानमें होता है।

नोट—निदान नामका आर्त्तध्यान छट्ठे गुणस्थानमे नहीं होता।

टीका

मिथ्यादृष्टि जीव तो अविरत है और सम्यग्दृष्टि जीव भी अविरत होता है इसीलिये (१) मिथ्यादृष्टि (२) सम्यग्दृष्टि अविरति (३) देश-विरत और (४) प्रमत्तसयत इन चार प्रकारके जीवोंके आर्त्तध्यान होता है। मिथ्यादृष्टिके सबसे खराब आर्त्तध्यान होता है और उसके बाद प्रमत्तसयत तक वह क्रमक्रमसे मद होता जाता है। छट्ठे गुणस्थानके बाद आर्त्तध्यान नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि जीव पर वस्तुके सयोग वियोगको आर्त्तध्यानका कारण मानता है, इसीलिये उसके यथार्थमें आर्त्तध्यान मद भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीवोंके आर्त्तध्यान क्वचित् होता है और इसका कारण उनके पुरुषार्थकी कमजोरी है ऐसा जानते हैं, इसीलिये वे स्व का—पुरुषार्थ बढ़ाकर धीरे धीरे आर्त्तध्यानका अभाव करके अतमें उसका सर्वथा नाश करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके स्वीय ज्ञानस्वभावकी अरुचि है इसीलिये उसके सर्वत्र, निरतर दु:ख मय आर्त्तध्यान वर्तता है; सम्यग्दृष्टि जीवके स्व के ज्ञान स्वभावकी अखड रुचि श्रद्धा वर्तती है। इसीलिये उसके हमेशा धर्मध्यान रहता है, मात्र पुरुषार्थकी कमजोरीसे किसी समय अशुभभावरूप आर्त्तध्यान होता है, किंतु वह मद होता है ॥ ३४ ॥

अब रौद्रध्यानके भेद और स्वामी बतलाते हैं

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयोः ॥ ३५ ॥

अर्थ-[हिंसानृतस्तेय विषय संरक्षणेभ्य:] हिंसा, असत्य, चोरी,

संवर-निर्जरा होती है। जो शुभभाव होता है वह तो बंधका कारण होता है, वह यथार्थ धर्मध्यान नहीं।

४-धर्मध्यान-(धर्मका अर्थ है स्वभाव और ध्यानका अर्थ है एकाग्रता) अपने शुद्धस्वभावमें जो एकाग्रता है सो निश्चय धर्मध्यान है; जिसमें क्रियाकाण्डके सर्व आडंबरोंका त्याग है, ऐसी अंतरंग क्रियाके आधाररूप जो आत्मा है उसे, मर्यादा रहित तीनों कालके कर्मोंकी उपाधि रहित निज-स्वरूपसे जानता है, वह ज्ञानकी विशेष परिणति या जिसमें आत्मा स्वाश्रयमें स्थिर होता है सो निश्चय धर्मध्यान है और यही संवर निर्जराका कारण है।

जो व्यवहार धर्मध्यान है वह शुभभाव है; कर्मके चिंतवनमें मन लगा रहे, यह तो शुभपरिणामरूप धर्मध्यान है। जो केवल शुभपरिणामसे मोक्ष मानते हैं उन्हें समझाया है कि शुभपरिणामसे अर्थात् व्यवहार धर्मध्यानसे मोक्ष नहीं होता। [देखो समयसार गाथा २६१ की टीका तथा भावार्थ] आगम (-शास्त्र) की आज्ञा क्या है—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव—अचल-ज्ञानरूपसे परिणमित प्रतिभासते हैं, वही मोक्षका हेतु है कारण कि वह स्वयं भी मोक्षस्वरूप है; उसके अलावा जो कुछ है वह बंधके हेतु है, कारण कि वह स्वयं भी बन्धस्वरूप है इसलिये ज्ञानस्वरूप होनेका अर्थात् अनुभूति करनेकी ही आगममें आज्ञा (-फरमान) है। (समयसार गाथा १५३ कलश १०५) ॥ ३६ ॥

अब शुक्लध्यानके स्वामी बताते हैं

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

अर्थ-[शुक्ले चाद्ये] पहले दो प्रकारके शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्व-वितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान भी [पूर्वविदः] पूर्व-ज्ञानधारी श्रुतकेवलीके होता है।

नोट—इस सूत्रमें च शब्द है वह यह बतलाता है कि श्रुत केवली के धर्मध्यान भी होता है।

टीका

शुक्लध्यानके चार भेद ३९ वें सूत्रमें कहेंगे। शुक्लध्यानका प्रथम भेद आठवें गुणस्थानमें प्रारंभ होता है और दसवें गुणस्थान तक रहता है, उसके निमित्तसे मोहनीय कर्मका क्षय या उपशम होता है। दूसराभेद बारहवें गुणस्थानमें होता है, इसके निमित्तसे बाकीके घातीकर्म-यानी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मका क्षय होता है। ग्यारवें गुणस्थानमें पहला भेद होता है।

२-इस सूत्रमें पूर्वधारी श्रुत केवलीके शुक्लध्यान होना बताया है सो उत्सर्ग कथन है, इसमें अपवाद कथनका गौणरूपसे समावेश हो जाता है। अपवाद कथन यह है कि किसी जीवके निश्चय स्वरूपाश्रितमात्र आठ प्रवचन-माताका सम्यग्ज्ञान हो तो वह पुरुषार्थ बढ़ाकर निजस्वरूपमें स्थिर होकर शुक्लध्यान प्रगट करता है, शिवभूति मुनि इसके दृष्टांत हैं, उनके विशेष शास्त्र ज्ञान न था तथापि (हेय और उपादेयका निर्मल ज्ञान था,) निश्चयस्वरूपाश्रित सम्यग्ज्ञान था, और इसीसे पुरुषार्थ बढ़ाकर शुक्लध्यान प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया था।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ६ गाथा ४६ की टीका) ॥ ३७ ॥

शुक्लध्यानके चार भेदोंमेंसे पहले दो भेद किनके होते हैं यह बतलाया, अब यह बतलाते हैं कि बाकीके दो भेद किसके होते हैं।

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—[परे] शुक्लध्यानके अंतिम दो भेद अर्थात् सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवर्ति ये दो ध्यान [केवलिनः] केवली भगवान्के होते हैं।

टीका

तेरहवें गुणस्थानके अंतिम भागमें शुक्लध्यानका तीसरा भेद होता है, उसके बाद चौथा भेद चौदहवें गुणस्थान में प्रगट होता है ॥ ३८ ॥

शुक्लध्यानके चार भेद

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया-निवर्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—[पृथक्त्वैकत्व वितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरत-क्रियानिवर्तीनि] पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

अब योगकी अपेक्षासे शुक्लध्यानके स्वामी बतलाते हैं

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थ—[त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्] ऊपर कहे गये चार प्रकारके शुक्लध्यान अनुक्रमसे तीनयोगवाले, एकयोगवाले, मात्र काययोगवाले और अयोगी जीवोंके होता है।

टीका

१—पहला पृथक्त्ववितर्कध्यान मन, वचन और काय इन तीन योगों के धारण करनेवाले जीवोंके होता है (गुणस्थान ८ से ११)

दूसरा: एकत्ववितर्कध्यान तीनमेंसे किसी एक योगके धारकके होता है (१२ वें गुणस्थानमें होता है)

तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काययोगके धारण करनेवाले के होता है (१३ वें गुणस्थानके अंतिम भाग)

चौथा व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योग रहित-अयोगी जीवोंके होता है (चौदहवें गुणस्थानमें होता है)

२— केवलीके मनोयोग संबंधी स्पष्टीकरण

(१) केवली भगवानके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसका यह मत-लब नहीं है कि उनके द्रव्यमन नहीं है। उनके द्रव्यमनका सद्भाव है किन्तु उनके मन निमित्तक ज्ञान नहीं है क्योंकि मानसिकज्ञान तो क्षायोपशमरूप है और केवली भगवानके क्षायिकज्ञान है अतः इसका अभाव है।

२ मनोयोग चार प्रकारका है (१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) उभय मनोयोग और (४) अनुभय मनोयोग इस चौथे अनुभय मनोयोगमें सत्य और असत्य दोनों नहीं होते। केवली भगवानके इन चारमेंसे पहला और चौथा मनोयोग वचनके निमित्तसे उपचारसे कहा जाता है।

३. प्रश्न—यह तो ठीक है कि केवलीके सत्यमनोयोगका सद्भाव है, किन्तु उनके पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है और संशय तथा अध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है इसीलिये उनके अनुभय अर्थात् असत्यमृषामनोयोग कैसे संभव होता है?

उत्तर—संशय और अनध्यवसायका कारण रूप जो वचन है उसका निमित्त कारण मन होता है, इसीलिये उसमें श्रोताके उपचारसे अनुभय धर्म रह सकता है अतः सयोगी जिनके अनुभय मनोयोगका उपचारसे सद्भाव कहा जाता है। इसप्रकार सयोगी जिनके अनुभयमनोयोग स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है। केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनंत होनेसे, और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है, इसीलिए उपचारसे अनुभय मनोयोगका सद्भाव कहा जाता है।

(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८२ से २८४ तथा ३०८)

३—केवलीके दो प्रकारका वचन योग

केवली भगवानके क्षायोपशमिकज्ञान (भावमन) नहीं है तथापि उनके सत्य और अनुभय ये दो प्रकारके मनोयोगकी उत्पत्ति कही जाती है यह उपचारसे कही जाती है। उपचारसे मन द्वारा इन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है। जिस तरह दो प्रकारका मनोयोग कहा गया है उसीप्रकार दो प्रकारका वचन योग भी कहा गया है, यह भी उपचारसे है क्योंकि केवली भगवानके बोलनेकी इच्छा नहीं है, सहजरूपसे दिव्यध्वनि है।

(श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ २८३ तथा ३०८)

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—[श्रुतम्] श्रुतज्ञानको [वितर्कः] वितर्क कहते हैं।

नोट—'श्रुतज्ञान' शब्द श्रवणपूर्वक ज्ञानका ग्रहण बतलाता है। मतिज्ञानके भेदरूप चिंताको भी तर्क कहते हैं वह यहाँ ग्रहण नहीं करना ॥ ४३ ॥

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—[अर्थ व्यंजन योगसंक्रान्तिः] अर्थ, व्यंजन और योगका बदलना सो [वीचारः] वीचार है।

टीका

अर्थसंक्रान्ति—अर्थका तात्पर्य है ध्यान करने योग्य पदार्थ और संक्रांतिका अर्थ बदलना है। ध्यान करने योग्य पदार्थमें द्रव्यको छोड़कर उसकी पर्यायका ध्यान करे अथवा पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करे सो अर्थसंक्रांति है।

व्यंजनसंक्रांति—व्यंजनका अर्थ वचन और संक्रांतिका अर्थ बदलना है। श्रुतके किसी एक वचनको छोड़कर अन्यका अवलंबन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्यका अवलंबन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्यका अवलंबन करना सो व्यंजनसंक्रांति है।

योगसंक्रांति—काययोगको छोड़कर मनोयोग या वचनयोगको ग्रहण करना और उसे छोड़कर अन्ययोगको ग्रहण करना सो योग संक्रांति है।

यह ध्यान रहे कि जिस जीवके शुक्लध्यान होता है वह जीव निर्विकल्प दशामें ही है, इसीलिये उसे इस संक्रांति की खबर नहीं है; किन्तु उस दशामें

ऐसी पलटना होती है अर्थात् संक्राति होती है यह केवलज्ञानी जानता है।

ऊपर कही गई संक्राति—परिवर्तन को वीचार कहते हैं। जहाँ तक यह वीचार रहता है वहाँ तक इस ध्यानको सवीचार (अर्थात् पहला पृथक्त्व वितर्क) कहते हैं। पश्चात् ध्यानमें दृढ़ता होती है तब यह परिवर्तन रुक जाता है इस ध्यानको अवीचार (अर्थात् दूसरा एकत्ववितर्क) कहते हैं।

प्रश्न—क्या केवली भगवानके ध्यान होता है ?

उत्तर—'एकाग्रचिंता निरोध' यह ध्यान का लक्षण है। एक एक पदार्थका चिंतवन तो क्षायोपशमिक ज्ञानीके होता है और केवली भगवानके तो एक साथ संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है। ऐसा कोई पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहा कि जिसका वे ध्यान करें। केवली भगवान कृतकृत्य हैं, उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, अतएव उनके वास्तवमें ध्यान नहीं है। तथापि आयु पूर्ण होने पर तथा अन्य तीन कर्मोंकी स्थिति पूर्ण होनेपर योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा स्वयमेव होती है और ध्यानका कार्य भी योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा होना है, इसीलिये केवली भगवानके ध्यानकी सदृश कार्य देखकर—उपचारसे उनके शुक्लध्यान कहा जाता है, यथार्थमें उनके ध्यान नहीं है ॥ ४४ ॥

यहाँ ध्यान तपका वर्णन पूर्ण हुआ।

अनुप्रेक्षा तथा ध्यान

यद्यपि अनुप्रेक्षा और ध्यानमें कुछ अंतर नहीं है किन्तु इनके फलकी अपेक्षासे भिन्नता है। अनुप्रेक्षाका फल यह है कि इसमें अनित्यता आदिका चिंतवन करनेसे उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न कर सकते हैं और उसे बढ़ा सकते हैं। ध्यानका फल यह है कि उसमें चित्तको अनेक विषयोंसे हटाकर एक विषयमें स्थिर कर सकता है। इसी वजहसे अनुप्रेक्षाके बाद ध्यानका स्वरूप, लक्षण, तथा भेद इन दोनोंको पृथक् बतलाया गया है।

(तत्त्वार्थसार अध्याय ७ गाथा ४२ की टीका)

इस नवमें अध्यायके पहले अठारह सूत्रोंमें संवर और उसके कारणों का वर्णन किया। उसके बाद निर्जरा और उसके कारणोंका वर्णन प्रारम्भ

किया। वीतरागभाव-रूप तपसे निर्जरा होती है (तपसा निर्जरा च सूत्र-३) इसीलिये तपके बारहभेद बतलाये, इसके बाद छह प्रकारके अंतरंग तपके उपभेदोंका यहाँ तक वर्णन किया।

व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, बारह प्रकारके तप आदि संबंधी खास ध्यानमें रखने योग्य स्पष्टीकरण

१—कितने ही जीव सिर्फ व्यवहारनयका अवलंबन करते हैं उनके परद्रव्यरूप भिन्न साधनसाध्यभावकी दृष्टि है, इसीलिये वे व्यवहारमें ही खेद खिन्न रहते हैं। वे निम्नलिखित अनुसार होते हैं—

श्रद्धाके संबंधमें—धर्मद्रव्यादि परद्रव्योंकी श्रद्धा करते हैं।

ज्ञानके संबंधमें—द्रव्यश्रुतके पठन पाठनादि संस्कारोंसे अनेक प्रकारके विकल्पजालसे कलंकित चैतन्य वृत्तिको धारण करते हैं।

चारित्रके संबंधमें—यतिके समस्त व्रत समुदायरूप तपादि-प्रवृत्तिरूप कर्म कांडोंको अचलितरूपसे आचरते हैं, इसमें किसी समय पुण्यकी रुचि करते हैं, कभी दयावन्त होते हैं।

दर्शनाचारके सम्बन्धमें—किसी समय प्रशमता, किसी समय वैराग्य, किसी समय अनुकम्पा-दया और किसीसमय आस्तिक्यमें वर्तता है; तथा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि आदि भाव उत्पन्न न हों ऐसी शुभोपयोग-रूप सावधानी रखते हैं; मात्र व्यवहारनयरूप उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन अंगोंकी भावना विचारते हैं और इस संबंधी उत्साह वारवार बढ़ाते हैं।

ज्ञानाचारके संबंधमें—स्वाध्यायका काल विचारते हैं, अनेकप्रकारकी विनयमें प्रवृत्ति करते हैं, शास्त्रकी भक्तिके लिये दुर्धर उपधान करते हैं-आरंभ करते हैं, शास्त्रका भले प्रकारसे बहुमान करते हैं, गुरु आदिमें उपकार प्रवृत्तिको नहीं भूलते; अर्थ-व्यंजन और इन दोनोंकी शुद्धतामें सावधान रहते हैं।

चारित्राचारके सम्बन्धमें–हिंसा, झूँठ, चोरी स्त्रीसेवन और परिग्रह इन सबसे विरतिरूप पंचमहाव्रतमें स्थिर वृत्ति धारण करते हैं, योग (मन-वचन-काय) के निग्रहरूप गुप्तियोंके अवलंबन का उद्योग करते हैं, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियोंमें सर्वथा प्रयत्नवंत रहते हैं।

तपाचारके संबंधमें–अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेशमें निरंतर उत्साह रखता है, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय, और ध्यानके लिये चित्तको वशमें करता है।

वीर्याचारके सम्बन्धमें–कर्मकांडमें सर्वशक्तिपूर्वक वर्तता है।

। ये जीव उपरोक्त प्रमाणसे कर्मचेतना की प्रधानतापूर्वक अशुभभाव की प्रवृत्ति छोड़ते हैं, किंतु शुभभावकी प्रवृत्तिको आदरने योग्य मानकर अंगीकार करते हैं, इसीलिये संपूर्ण क्रियाकांडके आडम्बरसे अतिक्रांत दर्शन ज्ञान चारित्रकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञान चेतनाको वे किसी भी समय प्राप्त नहीं होते।

वे बहुत पुण्यके भारसे गर्भित चित्तवृत्ति धारण करते हैं इसीलिये स्वर्गलोकादि क्लेश प्राप्ति करके परम्परासे दीर्घकाल तक संसार सागरमें परिभ्रमण करते हैं (देखो पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका)

२. प्रश्न—इस अधिकारमें जो जो कार्य संवर निर्जरा रूप कहे हैं यद्यपि उन कार्योंको मात्र व्यवहारावलंबी जीव भी ग्रहण करता है तथापि उसके संवर-निर्जरा क्यों नहीं होती?

उत्तर—इस अधिकारमें जो कार्य, संवर—निर्जरारूप कहे हैं वे व्यवहारावलंबी (-मिथ्यादृष्टि) जीवके शुभभावरूप नहीं हैं परन्तु सम्यग्दृष्टिके शुभभावरूप समझना क्यों कि—मिथ्यादृष्टि जीव शुभभावको धर्म मानता है तथा उसे धर्ममें सहायक मानता है, इसीलिये उसके शुद्धता प्रगट नहीं होती और

संवर-निर्जराकी प्राप्ति नहीं होती। जिन जीवोंके शुद्ध निश्चयनयका आलंबन हो वे सम्यग्दृष्टि हैं, वे शुभभावको धर्म नहीं मानते। उनके रागद्वेष दूर करने पुरुषार्थ करने पर अशुभराग दूर होकर जो शुभ रह जाता है उसे वे सहायक भी नहीं मानते; इसीलिये वे अनुक्रमसे वीतराग भाव बढ़ाकर उस शुभभावको भी दूर करते हैं। ऐसे जीवोंके व्यवहारको इस अधिकारमें उपचारसे संवर-निर्जराका कारण कहा है।

यह उपचार भी ज्ञानीके शुभभावरूप व्यवहारके लागू होता है क्योंकि उनके उस व्यवहारकी हेय बुद्धि है अतः वे उसे दूर करते हैं। अज्ञानी तो शुभ व्यवहारको ही धर्म मानकर—भला मानकर ग्रहण करता है इसीलिये उसका शुभ राग उपचारसे भी संवर-निर्जराका कारण नहीं कहलाता।

वास्तवमें तो शुद्धभाव ही संवर-निर्जरारूप है। यदि शुभभाव यथार्थ में संवर-निर्जराका कारण हो तो केवल व्यवहारावलम्बीके समस्त प्रकारका निरतिचार व्यवहार है इसीलिये उसके शुद्धता प्रगट होनी चाहिये। परन्तु राग संवर-निर्जराका कारण ही नहीं है। अज्ञानी शुभभावको धर्म मानता है इस वजहसे तथा शुभ करते करते धर्म होगा ऐसा माननेसे और शुभ-अशुभ दोनों दूर करने पर धर्म होगा ऐसा नहीं माननेसे उसका तमाम व्यवहार निरर्थक है, इसीलिये उसे व्यवहाराभासी कहा जाता है।

भव्य तथा अभव्य जीवोंने ऐसा व्यवहार (जो वास्तवमें व्यवहाराभास है) अनंतवार किया है और इसके फलसे अनन्तवार नवमें ग्रैवेयक स्वर्ग तक गया है, किन्तु इससे धर्म नहीं हुआ। धर्म तो शुद्ध निश्चयस्वभाव के आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही होता है।

श्री समयसारमें कहा है कि—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करनेपर भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

टीका—यद्यपि अभव्यजीव भी शील और तपसे परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समितियोंके प्रति सावधानीसे वर्तता हुआ अहिंसादि पाच महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र करता है तथापि वह—निश्चारित्र (चारित्र रहित) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि निश्चयचारित्रके कारणरूप ज्ञान श्रद्धानसे शून्य है—रहित है।

भावार्थ—अभव्य जीव यद्यपि महाव्रत समिति, गुप्तिरूप चारित्रका पालन करता है तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञान—श्रद्धाके बिना वह चारित्र सम्यक् चारित्र नाम नहीं पाता, इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है।

नोट—यहाँ अभव्य जीवका उदाहरण दिया है किन्तु यह सिद्धांत व्यवहारका आश्रय लेनेवाले समस्त जीवोंके पर सरीखा लागू होता है।

३—जो शुद्धात्माका अनुभव है सो यथार्थ मोक्षमार्ग है। इसीलिये उसके निश्चय कहा है। व्रत, तपादि कोई सच्चे मोक्षमार्ग नहीं किंतु निमित्तादिककी अपेक्षासे उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहा है, इसीलिये इसे व्यवहार कहते हैं। इसप्रकार यह जानना कि भूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा निश्चयनय और अभूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा व्यवहारनय कहा है। किन्तु इन दोनोंको ही यथार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसे उपादेय मानना सो तो मिथ्याबुद्धि ही है।

(देखो देहली: मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३६७)

४—किसी भी जीवके निश्चय व्यवहार का स्वरूप समझे बिना धर्म या संवर—निर्जरा नहीं होती। शुद्ध आत्माका यथार्थ स्वरूप समझे बिना निश्चय-व्यवहारका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता, इसलिये पहले आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझनेकी आवश्यकता है।

अब पात्रकी अपेक्षासे निर्जरामें होनेवाली न्यूनाधिकता बतलाते हैं।

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थ—[सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानंत वियोजक दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोह क्षपक क्षीणमोह जिनाः] सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरतमुनि, अनन्तानुबंधीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशम श्रेणी मांड़नेवाला, उपशांतमोह, क्षपक श्रेणी मांडनेवाला, क्षीणमोह और जिन इन सबके (अन्तमुहूर्त पर्यंत परिणामोंकी विशुद्धताकी अधिकतासे आयुकर्मको छोड़कर) प्रति समय [क्रमशः असंख्येयगुण निर्जराः] क्रमसे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

टीका

(१) यहाँ पहले सम्यग्दृष्टि की—चौथे गुणस्थान की दशा बतलाई है। जो असंख्यात गुणी निर्जरा कही है वह निर्जरा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले की एकदम समीप की (अत्यंत निकट की) आत्माकी दशामें होनेवाली निर्जरासे असंख्यात गुणी जानना। प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके पहले तीन करण होते हैं, उनमें अनिवृत्ति करणके अंत समयमें वर्तनेवाली विशुद्धतासे विशुद्ध, जो सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि है उसके आयुको छोड़कर सात कर्मोंकी जो निर्जरा होती है उनसे असंख्यात गुणी निर्जरा असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करने पर अंतर्मुहूर्त पर्यंत प्रतिसमय (निर्जरा) होती है अर्थात् सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टिकी निर्जरासे सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणी निर्जरामें असंख्यगुणा द्रव्य है। यह चौथे गुणस्थानवाले अविरत—सम्यग्दृष्टि की निर्जरा है।

(२) जब यह जीव पाँचवाँ गुणस्थान – श्रावकदशा प्रगट करता है तब अन्तर्मुहूर्त पर्यंत निर्जरा होने योग्य कर्मपुद्गलरूप गुणश्रेणी निर्जराद्रव्य चौथे गुणस्थानसे असंख्यात गुणा है।

(३) पाँचवेंमें जब सकलसंयमरूप अप्रमत्तसंयत (-सातवाँ) गुणस्थान प्रगट करे तब पंचमगुणस्थानसे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। पाँचवेंके बाद पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठनेपर छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान होता है। सूत्रमें 'विरत' शब्द कहा है इसमें सातवें और छट्ठे दोनों गुणस्थान वाले जीवोंका समावेश होता है।

(४) तीन करणके प्रभावसे चार अनन्तानुबन्धी कषायको, बारह कषाय तथा नव नोकषायरूप परिणमा दे उन जीवोंके अन्तर्मुहूर्तपर्यंत प्रति समय असंख्यात गुणी द्रव्य निर्जरा होती है। अनन्तानुबंधीका यह विसंयोजन चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें, इन चार गुणस्थानोंमें होता है।

(५) अनन्त वियोजकसे असंख्यात गुणी निर्जरा दर्शनमोहके क्षपकके (उस जीवके) होती है। पहले अनन्तानुबंधीका विसंयोजन करनेके बाद दर्शनमोहके त्रिकका क्षय करे ऐसा क्रम है।

(६) दर्शनमोहका क्षपण करनेवालेसे 'उपशमक' के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

प्रश्न—उपशमककी बात दर्शनमोहके क्षपण करनेवालेके बाद क्यों कही?

उत्तर—क्षपक का अर्थ क्षायिक होता है, यहाँ क्षायिक सम्यक्त्वकी बात है, और 'उपशमक' कहनेसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व युक्त उपशम श्रेणी वाले जीव समझना। क्षायिक सम्यग्दृष्टिसे उपशमश्रेणी वालेके असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, इसीलिये पहले क्षपककी बात की है और उसके बाद उपशमककी बात की है क्षायक सम्यग्दर्शन चौथे, पांचवें, छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें प्रगट होता है और जो जीव चारित्रमोहका उपशम करनेको उद्यमी हुये हैं उनके आठवाँ, नवमा और दसमा गुणस्थान होता है।

(७) उपशमक जीवकी निर्जरासे ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थानमें असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

(८) उपशांतमोहवाले जीवकी अपेक्षा क्षपकश्रेणीवालेके असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस जीवके आठवां नवमां और दसमां गुणस्थान होता है।

(९) क्षपकश्रेणीवाले जीवकी अपेक्षा बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानमें असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

(१०) बारहवें गुणस्थानकी अपेक्षा 'जिन'के (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें) असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। जिनके तीन भेद हैं (१) स्व-स्थान केवली (२) समुद्घात केवली और (३) अयोग केवली। इन तीनोंमें भी विशुद्धताके कारण उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा है। अत्यन्त विशुद्धताके कारण समुद्घात केवलीके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान हो जाती है।

इस सूत्रका सिद्धान्त

इस सूत्रमें निर्जराके लिये प्रथम पात्र सम्यग्दृष्टि बतलाया गया है इसीसे यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारंभ होता है ॥४५॥

अब निर्ग्रंथ साधुके भेद बतलाते हैं

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः निर्ग्रंथाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—[पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथ स्नातकाः] पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक—ये पांच प्रकारके [निर्ग्रंथाः] निर्ग्रंथ हैं।

टीका

१—सूत्रमें आये हुये शब्दोंकी व्याख्या—

(१) पुलाक—जो उत्तर गुणोंकी भावनासे रहित हो और किसी क्षेत्र तथा कालमें किसी मूलगुणमें भी अतीचार लगावे तथा जिसके अल्प विशुद्धता हो उसे पुलाक कहते हैं।

(देखो सूत्र ४७ में आये हुए प्रतिसेवनाका विवरण)

(२) बकुश—जो मूल गुणोंका निर्दोष पालन करता है किंतु धर्मानुरागके कारण शरीर तथा उपकरणोंकी शोभा बढ़ानेके लिए कुछ इच्छा रखता है उसे बकुश कहते हैं।

(३) कुशील—इसके दो भेद हैं १-प्रतिसेवना कुशील और (२) कषाय कुशील। जिसके शरीरादि तथा उपकरणादिसे पूर्ण विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तर गुणोंकी परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुणमें क्वचित् कदाचित् विराधना होती हो उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं। और जिसने सज्वलनके सिवाय अन्य कषायोंको जीत लिया हो उसे कषायकुशील कहते हैं।

(४) निर्ग्रन्थ—जिनके मोहकर्म क्षीण होगया है तथा जिनके मोह कर्मके उदयका अभाव है ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिको निर्ग्रंथ कहते हैं।

(५) स्नातक—समस्त घातिया कर्मोंके नाश करने वाले केवली भगवानको स्नातक कहते हैं। (इसमें तेरहवा तथा चौदहवा दोनों गुणस्थान समझना)

२ परमार्थनिर्ग्रन्थ और व्यवहारनिर्ग्रन्थ

बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें विराजने वाले जीव परमार्थ निर्ग्रन्थ हैं, क्योंकि उनके समस्त मोहका नाश हो गया है, इन्हें निश्चय निर्ग्रंथ कहते हैं। अन्य साधु यद्यपि सम्यग्दर्शन और निष्परिग्रहत्वको लेकर निर्ग्रन्थ हैं अर्थात् वे मिथ्यादर्शन और अविरति रहित हैं तथा वस्त्र, आभरण, हथियार, कटक, धन, धान्य आदि परिग्रहसे रहित होनेसे निर्ग्रंथ हैं तथापि उनके मोहनीय कर्मका आंशिक सद्भाव है, इसीलिये वे व्यवहार निर्ग्रन्थ हैं।

कुछ स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न—यद्यपि पुलाक मुनिके क्षेत्र कालके वश किसी समय किसी एक व्रतका भंग होता है तथापि उसे निर्ग्रंथ कहा, तो क्या श्रावक के भी निर्ग्रन्थत्व कहने का प्रसंग आवेगा?

उत्तर–पुलाक मुनि सम्यग्दृष्टि है और परवशसे या जबरदस्तीसे व्रत में क्षणिक दोष हो जाता है, किन्तु यथाजातरूप है, इसीलिये नैगमनयसे वह निर्ग्रन्थ है; श्रावकके यथाजातरूप (नग्नता) नहीं है, इसीलिये उसके निर्ग्रन्थ-त्व नहीं कहलाता।

(२) प्रश्न—पुलाक मुनिको यदि यथाजात रूपको लेकर ही निर्ग्रन्थ कहोगे तो अनेक मिथ्यादृष्टि भी नग्न रहते हैं उनको भी निर्ग्रंथ कहनेका प्रसंग आवेगा।

उत्तर—उनके सम्यग्दर्शन नहीं है। मात्र नग्नत्व तो पागलके, बालक के तथा तिर्यंचोंके भी होता है, परन्तु इसीलिये उन्हें निर्ग्रंथ नहीं कहते। जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक संसार और देह, भोगसे विरक्त होकर नग्नत्व धारण करता है उसे निर्ग्रंथ कहा जाता है, दूसरेको नहीं ॥ ४६ ॥

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थान-विकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थ—उपरोक्त मुनि [संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपाद-स्थानविकल्पतः] संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा [साध्याः] भेदरूपसे साध्य हैं, अर्थात् इन आठ प्रकारसे इन पुलाकादि मुनियोंमें विशेष भेद होते हैं।

टीका

(१) संयम—पुलाक, बकुश, और प्रतिसेवना कुशील साधुके सामा-यिक और छेदोपस्थापन ये दो संयम होते हैं। कषाय कुशील साधुके सामा-यिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय, ये चार संयम होते हैं; निर्ग्रंथ और स्नातकके यथाख्यात चारित्र होता है।

(२) श्रुत—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु ज्यादासे ज्यादा सम्पूर्ण दश पूर्वधारी होते हैं, पुलाकके जघन्य आचारागमें आचार वस्तु का ज्ञान होता है और बकुश तथा प्रतिसेवना कुशीलके जघन्य अष्टप्रवचन माताका ज्ञान होता है अर्थात् आचारागके १८००० पदोंमेंसे पाच समिति और तीन गुप्तिका परमार्थ व्याख्यान तक इन साधुओंका ज्ञान होता है, कषाय-कुशील और निर्ग्रन्थके उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्वका होता है और जघन्यज्ञान आठ प्रवचन माता का होता है। स्नातक तो केवल ज्ञानी हैं, इसीलिये वे श्रुतज्ञान से दूर हैं।

(३) प्रतिसेवना—(-विराधना) पुलाक मुनिके परवशसे या जबर्दस्ती से पाच महाव्रत और रात्रिभोजनका त्याग इन छहमें से किसी एक की विराधना हो जाती है। महाव्रतोंमें तथा रात्रिभोजन त्यागमें कृत, कारित, अनुमोदनासे पाचों पापोंका त्याग है उनमेंसे किसी प्रकारमें सामर्थ्यकी हीनतासे दूषण लगता है, उपकरण-बकुश मुनिके कमडल पीछी, पुस्तकादि उपकरणकी शोभाकी अभिलाषाके सस्कारका सेवन होता है, सो विराधना जानना। तथा बकुशमुनिके शरीरके सस्काररूप विराधना होती है, प्रतिसेवनाकुशील मुनि पाच महाव्रतकी विराधना नहीं करता किन्तु उत्तरगुणमें किसी एककी विराधना करता है। कषाय कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातकके विराधना नहीं होती।

(४) तीर्थ—ये पुलाकादि पाचों प्रकारके निर्ग्रन्थ समस्त तीर्थंकरोंके धर्मशासनमें होते हैं।

(५) लिंग—इसके दो भेद हैं १-द्रव्यलिंग और २-भावलिंग। पाचों प्रकारके निर्ग्रंथ भावलिंगी होते हैं। वे सम्यग्दर्शन सहित सयम पालने में सावधान हैं। भावलिंग का द्रव्यलिंगके साथ निमित्त नैमित्तिक सबध है। यथाजातरूप लिंगमें किसीके भेद नहीं है किन्तु प्रवृत्तिरूप लिंगमें अतर होता है, जैसे कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थमें विहार करता है, कोई अनेक आसनरूप ध्यान करता है, कोई दूषण लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेता

है, कोई दूषण नहीं लगाते, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यानमें श्रेणीका प्रारम्भ करता है; इत्यादि राग (-विकल्प) रूप द्रव्यलिंगमें मुनिगणोंके भेद होता है। मुनिके शुभभावको द्रव्यलिंग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं; इन प्रकारोंको द्रव्यलिंग कहा जाता है।

(६) लेश्या—पुलाक मुनिके तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके छहों लेश्या भी होती हैं। कषाय से अनुरंजित योग परिणतिको लेश्या कहते हैं।

प्रश्न—बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें किस तरह होती हैं?

उत्तर—उन दोनों प्रकारके मुनिके उपकरणकी कुछ आसक्तिके कारण किसी समय आर्तध्यान भी हो जाता है और इसीलिये उनके कृष्णादि अशुभ लेश्या भी हो सकती हैं।

कषायकुशील मुनिके कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें होती हैं। सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानवर्ती के तथा निर्ग्रन्थके शुक्ल लेश्या होती है। स्नातकके उपचारसे शुक्ल लेश्या है, अयोग केवलीके लेश्या नहीं होती।

(७) उपपाद—पुलाक मुनिका—उत्कृष्ट अठारह सागरकी आयुके-साथ-बारहमें सहस्रार स्वर्गमें जन्म होता है। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील का-उत्कृष्ट जन्म बाईस सागरकी आयुके साथ पन्द्रहमें आरण और सोलहवें अच्युत स्वर्गमें जन्म होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थका-उत्कृष्ट जन्म तेंतीस सागरकी आयुके साथ सर्वार्थ सिद्धिमें होता है। इन सबका जघन्य-सौधर्म स्वर्गमें दो सागरकी आयुके साथ जन्म होता है। स्नातक केवली भगवान हैं उनका उपपाद निर्वाण—मोक्षरूपसे होता है।

(८) स्थान—तीव्र या मंद कषाय होनेके कारण असंख्यात संयम-लब्धिस्थान होते हैं; उनमेंसे सबसे छोटा संयमलब्धिस्थान पुलाक मुनिके

और कषायकुशीलके होता है। ये दोनों एक साथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं, पुलाक मुनि इन असंख्यात लब्धिस्थानोंके बाद आगेके लब्धि स्थान प्राप्त नहीं कर सकते। कषायकुशील मुनि उनसे आगेके असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

यहाँ दूसरी बार कहे गये इन असंख्यात लब्धिस्थानसे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश मुनि ये तीनों एकसाथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

बकुशमुनि इस तीसरी बार कहे गये असंख्यात् लब्धि स्थानमें रुक जाता है आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकता, प्रतिसेवनाकुशील वहाँ से आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं।

कषायकुशील मुनि ये चौथी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानमेंसे आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं, इससे आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकते।

निर्ग्रंथ मुनि इन पांचवीं बार कहे गये लब्धिस्थानोंसे आगे कषायरहित संयमलब्धिस्थानोंको प्राप्त कर सकता है। ये निर्ग्रंथ मुनि भी आगेके असंख्यात लब्धिस्थानोंकी प्राप्ति कर सकते हैं, पश्चात् रुक जाता है। उसके बाद एक संयमलब्धिस्थानको प्राप्त करके स्नातक निर्वाणको प्राप्त करता है।

इसप्रकार संयमलब्धिके स्थान हैं, उनमें *अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा* से संयमकी प्राप्ति अनन्त अनन्तगुणी होती है ॥ ४७ ॥

उपसंहार

१—इस अध्यायमें आत्माकी धर्मपरिणति का स्वरूप कहा है, इस परिणतिको 'जिन' कहते हैं।

२—अपूर्वकरण परिणामको प्राप्त हुये प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सन्मुख जीवोंको 'जिन' कहा जाता है। (गोमट्टसार जीवकाण्ड गाथा १ टीका, पृष्ठ १६) वहासे लेकर पूर्णशुद्धि प्राप्त करनेवाले सब जीव सामान्यतया 'जिन'

कहलाते हैं। श्रीप्रवचनसारके तीसरे अध्यायकी पहली गाथामें श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—"दूसरे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीव 'एकदेशजिन' हैं, केवली भगवान 'जिनवर' हैं और तीर्थंकर भगवान 'जिनवर वृषभ' हैं।" मिथ्यात्व रागादिको जीतनेसे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनिको 'जिन' कहते हैं; उनमें गणधरादि श्रेष्ठ हैं इसीलिये उन्हें 'श्रेष्ठ जिन' अथवा 'जिनवर' कहा जाता है और तीर्थंकरदेव उनसे भी प्रधान-श्रेष्ठ हैं इसीलिए उन्हें 'जिनवर वृषभ' कहते हैं। (देखो द्रव्यसंग्रह गाथा १ टीका) श्री समयसारजीकी ३१ वीं गाथामें भी सम्यग्दृष्टिको 'जितेन्द्रिय जिन' कहा है।

सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि और अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण का स्वरूप श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ में दिया है। गुणस्थानोंका स्वरूप श्री जैन सिद्धांत प्रवेशिकाके अंतिम अध्यायमें दिया है, सो वहाँ से समझ लेना।

३—सम्यग्दर्शनसे धर्मका प्रारंभ होता है यह बतानेके लिये इस शास्त्र में पहले अध्यायका पहला ही सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' दिया है। धर्ममें पहले सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके कालमें अपूर्वकरणसे संवर-निर्जरा का प्रारंभ होता है। इस अधिकारके दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनको संवर-निर्जराके कारणरूपमें प्रथक् नहीं कहा। इसका कारण यह है कि इस अध्यायके ४५ वें सूत्रमें इसका समावेश हो जाता है।

४—जिनधर्मका अर्थ है वस्तुस्वभाव। जितने अंशमें आत्माकी स्वभावदशा (-शुद्ध दशा) प्रगट होती है उतने अंशमें जीवके 'जिनधर्म' प्रगट हुआ कहलाता है। जिनधर्म कोई संप्रदाय, वाड़ा, या संघ नहीं किंतु आत्माकी शुद्धदशा है; और आत्माकी शुद्धतामें तारतम्यता होनेपर शुद्धरूप तो एक ही तरहका है अतः जिनधर्ममें प्रभेद नहीं हो सकते। जैनधर्मके नामसे जो वाड़ाबंदी देखी जाती है उसे यथार्थमें जिनधर्म नहीं कह सकते। भरतक्षेत्रमें जिनधर्म पाँचवें कालके अंततक रहनेवाला है अर्थात् वहां तक अपनी शुद्धता प्रगट करनेवाले मनुष्य इस क्षेत्रमें ही होते हैं और उनके शुद्धताके उपादान कारणकी

तैयारी होनेसे आत्मज्ञानी गुरु और सत् शास्त्रोंका निमित्त भी होता ही है। जैनधर्मके नामसे कहे जानेवाले शास्त्रोंमेंसे कौनसे शास्त्र परम सत्यके उपदेशक हैं इसका निर्णय धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको अवश्य करना चाहिये। जबतक जीव स्वयं यथार्थ परीक्षा करके कौन सत् शास्त्र हैं इसका निर्णय नहीं करता, तब तक गृहीतमिथ्यात्व दूर नहीं होता, गृहीत मिथ्यात्व दूर हुये विना अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है? इसीलिये जीवोंको स्व में जिनधर्म प्रगट करनेके लिये अर्थात् यथार्थ संवर निर्जरा प्रगट करनेके लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

५—सम्यग्दृष्टि जीव आत्मस्वभावकी प्रतीति करके अज्ञानमोहको जीतकर रागद्वेषका स्वामी नहीं होता, वह हजारों रानियोंके संयोगके बीचमें है तथापि 'जिन' है। चौथे, पांचवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीवोंका ऐसा स्वरूप है। सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कैसा है यह बतानेके लिये अनन्त ज्ञानियोंने यह स्वरूप कहा है। इन सम्यग्दृष्टि जीवोंके अपनी शुद्ध पर्यायके अनुसार शुद्धताके प्रमाणमें संवर—निर्जरा होती है।

६—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको नहीं समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंकी बाह्य संयोगों और बाह्य त्याग पर दृष्टि होती है, इसीलिये वे उपरोक्त कथनका आशय नहीं समझ सकते और सम्यग्दृष्टिके अंतरंग परिणमनको वे नहीं समझ सकते। इसलिये धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको संयोगदृष्टि छोड़कर वस्तुस्वरूप समझनेकी ओर यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रगट करनेकी आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उसपूर्वक सम्यक्चारित्रके विना संवर निर्जरा प्रगट करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। इस नवमें अध्यायके १९ वें सूत्रकी टीकासे मालूम पड़ेगा कि मोक्ष और संसार इन दोके अलावा और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं है। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसारमार्ग।

७—सम्यक्त्व मोक्षमार्गकी जड़ है और मिथ्यात्व संसारकी जड़ है। जो जीव संसार मार्गसे विमुख हों वे ही जीव मोक्षमार्ग (अर्थात् धर्म) प्राप्त

कर सकते हैं। विना सम्यग्दर्शनके जीवके संवर-निर्जरा नहीं होती; इसीलिये दूसरे सूत्रमें संवरके कारण वतलाते हुए उनमें प्रथम गुप्ति वतलाई, उसके वाद दूसरे कारण कहे हैं।

८—यह ध्यान रहे कि इस शास्त्रमें आचार्य महाराजने महाव्रतों या देशव्रतोंको संवरके कारणरूपसे नहीं वतलाया, क्योंकि सातवें अध्यायके पहले सूत्रमें वताये गये प्रमाणसे वह शुभास्रव है।

९—यह समझानेके लिये चौथे सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका प्रयोग किया है कि गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, दशप्रकारका धर्म, परीषहजय और चारित्र ये सभी सम्यग्दर्शनके विना नहीं होते।

१०—छट्ठे सूत्रमें धर्मके दश भेद वतलाये हैं। उसमें दिया गया उत्तम विशेषण यह वतलाता है कि धर्मके भेद सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकते हैं। इसके वाद सातवें सूत्रमें अनुप्रेक्षाका स्वरूप और ८ वें सूत्रसे १७ वें सूत्र तक परीषहजयका स्वरूप कहा है। शरीर और दूसरी वाह्य वस्तुओंकी जिस अवस्था को लोग प्रतिकूल मानते हैं उसे यहाँ परीषह कहागया है। आठवें सूत्रमें 'परि-षोढव्या' शब्दका प्रयोग करके उन परीषहोंको सहन करनेका उपदेश दिया है। निश्चयसे परीषह क्या है और उपचारसे परीषह किसे कहते हैं—यह नहीं समझनेवाले जीव १०-११ सूत्रका आश्रय लेकर (कुतर्क द्वारा) ऐसा मानते हैं कि-'केवली भगवानके क्षुधा और तृषा (भूख और प्यास) की व्याधिरूप परीषह निश्चयसे होती है, और छद्मस्थ रागी जीवोंकी तरह केवली भगवान भी भूख और प्यासकी व्याधिको दूर करनेके लिए खान-पान ग्रहण करते हैं और रागी जीवोंकी तरह भगवान भी अतृप्त रहते हैं' परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है। सातवें गुणस्थानसे ही आहारसंज्ञा नहीं होती (गोमट्ट-सार जीव कांड गाथा १३९ की वड़ी टीका पृष्ठ ३५१-३५२) तथापि जो भग-वानके खान-पान मानते हैं वे भगवानको आहार संज्ञासे भीदूर हुये नहीं मानते (देखो सूत्र १०-११ की टीका)

११—जब भगवान मुनि अवस्थामें थे तब तो करपात्री होनेसे स्वयं ही आहारके लिये निकलते और जो दातार श्रावक योग्य भक्तिपूर्वक पड़गाहन करते हैं तो वे खड़े रहकर करपात्रमें आहार लेते। परन्तु जो ऐसा मानते हैं कि वीतरागी होनेके बाद भी असह्य वेदनाके कारण भगवान आहार लेते हैं, उन्हें ऐसा मानना पड़ता है या पड़ेगा कि 'भगवानके कोई गणधर या मुनि आहार लाकर देते हैं, वे स्वयं नहीं जाते।' अब देखो कि छद्मस्थ अवस्थामें तो भगवान आहारके लिये किसीसे याचना नहीं करते और अब वीतराग होनेके बाद आहार लानेके लिये शिष्योंसे याचना करें, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। पुनश्च-भगवानको आहार-पानी का दाता तो वह आहार लाने वाला मुनि ही हुआ। भगवान कितना आहार लेंगे, क्या क्या लेंगे, अपन जो कुछ ले जायगे वह सब भगवान लेंगे, उनमेंसे कुछ बचेगा या नहीं? इत्यादि बातें भगवान स्वयं पहलेसे निश्चय करके मुनिको कहते हैं या आहार लाने वाले मुनि स्वयं निश्चय करते हैं? ये भी विचारणीय प्रश्न हैं। पुनश्च नग्न मुनिके पास पात्र तो होता नहीं इसी कारण वह आहार लानेके लिये निरुपयोगी है, और इसीलिये भगवान स्वयं मुनि दशामें नग्न थे तथापि उनके वीतराग होनेके बाद उनके गणधरादिकको पात्र रखने वाले अर्थात् परिग्रहधारी मानना पड़ेगा और यह भी मानना पड़ेगा कि भगवानने उस पात्रधारी मुनिको आहार लानेकी आज्ञा की। किन्तु यह सब असंगत है—ठीक नहीं है।

१२—पुनश्च यदि भगवान स्वयं अशन पान करते हों तो भगवानकी ध्यान मुद्रा दूर हो जायगी क्योंकि अध्यान मुद्राके अलावा पात्रमें रहे हुये आहारको देखनेका, उसके टुकड़े करने, कौर लेने, दांतसे चबाने, गलेमें उतारने आदिकी क्रियायें नहीं हो सकती। अब यदि भगवानके अध्यानमुद्रा या उपरोक्त क्रियायें स्वीकार करें तो वह प्रमाददशा होती है। पुनश्च आठवें सूत्रमें ऐसा उपदेश देते हैं कि परीषहें सहन करनी चाहिये और भगवान स्वयं ही वैसा नहीं कर सकते अर्थात् भगवान अशक्य कार्योंका उपदेश देते हैं, ऐसा अर्थ करने पर भगवानको मिथ्या उपदेशी कहना पड़ेगा।

१३—४६वें सूत्रमें निर्ग्रंथोंके भेद बताये हैं उनमें 'वकुश' नामक एक भेद बतलाया है; उनके धर्म प्रभावनाके रागसे शरीर तथा शास्त्र, कमंडल, पीछी पर लगे हुये मैलको दूर करनेका राग हो जाता है। इस परसे कोई यह कहना चाहते हैं कि-उस 'वकुश' मुनिके वस्त्र होनेमें बाधा नहीं, परन्तु उनका यह कथन न्याय विरुद्ध है, ऐसा छट्ठे अध्यायके तेरहवें सूत्र की टीकामें बतलाया है। पुनश्च मुनिका स्वरूप नहीं समझने वाले ऐसा भी कहना चाहते हैं कि यदि मुनिको शरीरकी रक्षाके लिये वस्त्रकी भावना हो तो भी वे क्षपक श्रेणी मांड़कर केवलज्ञान प्रगट कर सकते हैं। यह बात भी मिथ्या है। इस अध्याय के ४७ वें सूत्रकी टीकामें संयमके लब्धिस्थानोंका स्वरूप दिया है इस परसे मालूम होगा कि वकुश मुनि तीसरी बारके संयमलब्धिस्थानमें रुक जाता है और कषाय-रहित दशा प्राप्त नहीं कर सकता; तो फिर ऋतु इत्यादि की विषमतासे शरीरकी रक्षा के लिये रखनेमें आने वाले वस्त्र आदि वस्तुओं के प्रति रागवाला सम्यग्दृष्टि तो मुनिपद प्राप्त नहीं कर सकता और सर्वथा अकषाय दशाकी प्राप्ति तो वे कर ही नहीं सकते, यही देखा भी जाता है।

१४—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के स्वरूपके सम्बन्धमें होनेवाली भूल और उसका निराकरण उन उन विषयोंसे सम्बन्धित सूत्रोंकी टीकामें दिया है, वहांसे समझ लेना। कुछ लोग आहार न लेनेको तप मानते हैं किंतु यह मान्यता यथार्थ नहीं। तपकी इस व्याख्या में होने वाली भूल दूर करनेके लिये सम्यक् तपका स्वरूप १९ वें सूत्रकी भूमिकामें तथा टीका फिकरा ५ में दिया है, उसे समझना चाहिये।

१५—मुमुक्षु जीवोंको मोक्षमार्ग प्रगट करनेके लिये उपरोक्त बारेमें यथार्थ विचार करके संवर-निर्जरा तत्त्वका स्वरूप बराबर समझना चाहिये। जो जीव अन्य पांच तत्त्वों सहित इस संवर तथा निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है, जानता है उस अपने चैतन्यस्वरूप स्वभावभावकी ओर झुककर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तथा संसार चक्र को तोड़कर अल्पकालमें वीतराग चारित्रको प्रगट कर निर्वाण-मोक्षको प्राप्त करता है।

१६—इस अध्यायमें सम्यक्‌चारित्रका स्वरूप कहते हुए उसके अनुसंधानमें धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानका स्वरूप भी बतलाया है। (देखो सूत्र ३६ से ३९) चारित्रके विभागमें यथाख्यात चारित्र भी समाविष्ट हो जाता है, चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें परम यथाख्यात चारित्र प्रगट होने पर सर्वगुणोंके चारित्रकी पूर्णता होती है और उसी समय जीव निर्वाणदशा प्राप्त करता है—मोक्ष प्राप्त करता है। ४७ वें सूत्रमें संयमलब्धिस्थानका कथन करते हुये उसमें निर्वाण पद प्राप्त होने तककी दशाका वर्णन किया गया है। इसतरह इस अध्याय में सब तरह की 'जिन' दशाका स्वरूप आचार्य भगवान ने बहुत थोड़े सूत्रों द्वारा बताया है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाका

नवमें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

❀ श्री उमास्वामिविरचित ❀

मोक्ष शास्त्र (सटीक)

गुजराती से हिन्दी टीका



दशवाँ अध्याय



टीका सम्पादक—
रामजी माणेकचन्द दोशी

अनुवादक—
परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ



मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

अध्याय दशवाँ



भूमिका

१—आचार्यदेवने इस शास्त्रके शुरूआतमें पहले अध्यायके पहले ही सूत्रमें कहा था कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है— कल्याणमार्ग है। उसके बाद सात तत्त्वोंकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है, इसप्रकार बतलाकर सात तत्त्वोंके नाम बतलाये और दस अध्यायमें उन सात तत्त्वोंका वर्णन किया। उनमें इस अंतिम अध्यायमें मोक्षतत्त्वका वर्णन करके यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—मोक्ष संवर निर्जरापूर्वक होती है, इसीलिये नवमें अध्यायमें संवर निर्जराका स्वरूप कहा, और अपूर्वकरण प्रगट करनेवाले सम्यक्त्वके सन्मुख जीवोंसे लेकर चौदहवें गुणस्थानमें विराजनेवाले केवलीभगवान तकके समस्त जीवोंके संवर निर्जरा होती है ऐसा उसमें बतलाया। इस निर्जराकी पूर्णता होने पर जीव परमसमाधानरूप निर्वाणपदमें विराजता है; इस दशाको मोक्ष कहा जाता है। मोक्षदशा प्रगट करनेवाले जीवोंने सर्व कार्य सिद्ध किया अत 'सिद्ध भगवान' कहे जाते हैं।

३—केवली भगवानके (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें) संवर-निर्जरा होती है अत उनका उल्लेख नवमें अध्यायमें किया गया है किन्तु वहाँ केवलज्ञानका स्वरूप नहीं बतलाया। केवलज्ञान भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके बलसे द्रव्यमोक्ष (सिद्धदशा) होता है। (देखो प्रवचनसार अध्याय १ गाथा ८४ जयसेनाचार्य की टीका) इसीलिये इस अध्यायमें प्रथम भाव मोक्षरूप केवलज्ञानका स्वरूप बताकर फिर द्रव्यमोक्षका स्वरूप बतलाया है।

अब केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

अर्थ —[मोहक्षयात्] मोहका क्षय होनेसे (अंतर्मुहूर्तपर्यंत क्षीण-कषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करनेके बाद [ज्ञानदर्शनावरणांतराय क्षयात् च] और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अंतराय इन तीन कर्मोंका एक साथ क्षय होनेसे [केवलम्] केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

टीका

१ – प्रत्येक जीव द्रव्य एक पूर्ण अखंड है अतः उसका ज्ञान सामर्थ्य संपूर्ण है। संपूर्ण वीतराग होनेपर संपूर्ण सर्वज्ञता प्रगट होती है। जब जीव संपूर्ण वीतराग होता है तब कर्मके साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है कि—मोहकर्म जीवके प्रदेशमें संयोगरूपसे रहता ही नहीं, उसे मोहकर्मका क्षय हुआ कहा जाता है। जीवकी संपूर्ण वीतरागता प्रगट होनेके बाद अल्प-कालमें तत्काल ही संपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान शुद्ध, अखंड, राग रहित है। इस दशामें जीवको केवली भगवान्' कहते हैं। भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसीलिये वे केवली नहीं कह-लाते, परन्तु 'केवल' अर्थात् शुद्ध आत्माको जानते अनुभवते हैं अतः वे 'केवली' कहलाते हैं। भगवान एकसाथ परिणमनेवाले समस्त चैतन्य-विशेषवाले केवलज्ञानके द्वारा अनादि निधन, निष्कारण असाधारण स्वसंवेद्यमान् चैतन्य-सामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतक स्वभावके द्वारा एकरूप होनेसे जो केवल (अकेला, शुद्ध, अखंड) है ऐसे आत्माको आत्मा से आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली है।

(देखो श्री प्रवचनसार गाथा ३३)

२—आत्मसिद्धि शास्त्रमें कहा है कि—

केवल निज स्वभावका अखंड वर्ते ज्ञान।
कहिये केवलज्ञान सो देह तदपि निर्वाण ॥ ११३ ॥

यह व्यवहार कथन है कि भगवान परको जानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि व्यवहारसे केवलज्ञान लोकालोकको युगपत् जानता है, क्योंकि स्व पर प्रकाशक निज शक्तिके कारण भगवान सपूर्ण ज्ञातारूपसे परिणमते हैं अत कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय उनके ज्ञानके बाहर नहीं है। निश्चयसे तो केवलज्ञान अपने शुद्ध स्वभावको ही अखडरूपसे जानता है।

३—केवलज्ञान स्वरूपसे उत्पन्न हुआ है, स्वतन्त्र है तथा क्रम रहित है। यह ज्ञान जब प्रगट हो तब ज्ञानावरण कर्मका सदाके लिये क्षय होता है, इसीलिये इस ज्ञानको क्षायिकज्ञान कहते हैं। जब केवलज्ञान प्रगट होता है उसीसमय केवलदर्शन और सपूर्ण वीर्य भी प्रगट होता है और दर्शनावरण तथा अतरायकर्मका सर्वथा अभाव (नाश) हो जाता है।

४—केवलज्ञान होनेपर भावमोक्ष हुवा कहलाता है (यह अरिहतदशा है) और आयुष्यकी स्थिति पूरी होनेपर चार अघातिया कर्मोका अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा है, मोक्ष केवलज्ञान पूर्वक ही होता है इसलिये मोक्षका वर्णन करने पर उसमें पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका सूत्र बतलाया है।

५—प्रश्न—क्या यह मान्यता ठीक है कि जीवके तेरहवें गुणस्थानमें अनन्तवीर्य प्रगट हुवा है तथापि योग आदि गुणका विकार रहता है और ससारित्व रहता है इसका कारण अघातिकर्मका उदय है?

उत्तर—यह मान्यता यथार्थ नहीं है। तेरहवें गुणस्थानमें ससारित्व रहनेका यथार्थ कारण यह है कि वहाँ जीवके योग गुणका विकार है तथा जीवके प्रदेशोंकी वर्तमान योग्यता उस क्षेत्रमें (शरीरके साथ) रहनेकी है, तथा जीवके अव्याबाध, निर्नामी, निगोत्री और अनायुषी आदि गुण अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुआ इसप्रकार जीव अपने ही कारणसे ससारमें रहता है। वास्तवमें जड अघातिकर्मके उदयके कारणसे या किसी परके कारणसे जीव ससारमें रहता है, यह मान्यता बिलकुल असत् है। यह तो व्यवहार कथन मात्र है कि 'तेरहवें गुणस्थानमें चार अघातिकर्मोका उदय है इसीलिये जीव

सिद्धत्वको प्राप्त नहीं होता' जीवके अपने विकारी भावके कारण संसार होनेसे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें भी जड़कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध कैसा होता है यह बतानेके लिये कर्म शास्त्रोंमें ऊपर बताये अनुसार व्यवहार कथन किया जाता है। वास्तवमें कर्मके उदय, सत्ता इत्यादिके कारण कोई जीव संसारमें रहता है यह मानना सो, जीव और जड़कर्मको एकमेक मानने-रूप मिथ्या-मान्यता है। शास्त्रोंका अर्थ करनेमें अज्ञानियोंको मूलभूत भूल यह है कि व्यवहारनयके कथनको वह निश्चयनयके कथन मानकर व्यवहार को ही परमार्थ मान लेता है। यह भूल दूर करनेके लिये आचार्य भगवानने इस शास्त्रके प्रथम अध्यायके छट्ठे सूत्रमें प्रमाण तथा नयका यथार्थ ज्ञान करने की आज्ञा की है (प्रमाण नयैरधिगमः) जो व्यवहारके कथनोंको ही निश्चयके कथन मानकर शास्त्रोंका वैसा अर्थ करते हैं उनके उस अज्ञानको दूर करनेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसारजीमें ❀ ३२४ से ३२६ वीं गाथा कहीं हैं। इसलिए जिज्ञासुओंको शास्त्रोंका कथन किस नयसे है और इसका परमार्थ (भूतार्थ-सत्यार्थ) अर्थ क्या होता है यह यथार्थ समझकर शास्त्रकारके कथनके मर्मको जान लेना चाहिये, परन्तु भाषाके शब्दोंको नहीं पकड़ना चाहिये।

६. केवलज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता ?

(१) प्रश्न—केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मोक्षके कारणभूत रत्न-त्रयकी पूर्णता हो जाती है तो फिर उसीसमय मोक्ष होना चाहिये; इसप्रकार

❀ वे गाथायें इसप्रकार हैं:—

व्यवहार भाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥ ३२४ ॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥ ३२५ ॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ ३२६ ॥

जो सयोगी तथा अयोगी ये केवलियोंके दो गुणस्थान कहे हैं उनके रहनेका कोई समय ही नहीं रहता ?

उत्तर—यद्यपि केवलज्ञान की उत्पत्तिके समय यथाख्यातचारित्र हो गया है तथापि अभी परमयथाख्यातचारित्र नहीं हुआ। कषाय और योग अनादिसे अनुसगी-(साथी) हैं तथापि प्रथम कषायका नाश होता है, इसीलिये केवली भगवानके यद्यपि वीतरागतारूप यथाख्यातचारित्र प्रगट हुआ है तथापि योगके व्यापारका नाश नहीं हुआ। योगका परिस्पदनरूप व्यापार परमयथाख्यातचारित्रके दूषण उत्पन्न करनेवाला है। इस योगके विकारकी क्रम क्रमसे भावनिर्जरा होती है। इस योगके व्यापारकी सपूर्ण भावनिर्जरा होजाने तक तेरहवाँ गुणस्थान रहता है। योगका अशुद्धतारूप-चचलतारूप व्यापार बध पड़नेके बाद भी कितनेक समय तक अव्याबाध, निर्नाम (नाम रहितत्व), अनायुष्य (आयुष्यरहितत्व) और निर्गोत्र आदि गुण प्रगट नहीं होते; इसीलिये चारित्रमें दूषण रहता है। चौदहवें गुणस्थानके अंतिम समय का व्यय होनेपर उस दोषका अभाव हो जाता है और उसीसमय परमयथाख्यात चारित्र प्रगट होनेसे अयोगी जिन मोक्षरूप अवस्था धारण करता है, इस रीतिसे मोक्ष अवस्था प्रगट होने पहले सयोगकेवली और अयोगकेवली ऐसे दो गुणस्थान प्रत्येक केवली भगवानके होते हैं।

(२) प्रश्न—यदि ऐसा मानें कि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय मोक्ष अवस्था प्रगट होजाय तो क्या दूषण लगेगा ?

उत्तर—ऐसा मानने पर निम्न दोष आते हैं—

१—जीवमें योग गुणका विकार होनेपर, तथा अन्य (अव्याबाध आदि) गुणोंमें विकार होनेपर और परमयथाख्यातचारित्र प्रगट हुये बिना, जीवको सिद्धदशा प्रगट हो जायगी जो कि अशक्य है।

२—यदि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय सिद्ध दशा प्रगट हो जाय तो धर्म तीर्थ ही न रहे; यदि अरिहत दशा ही न रहे तो कोई सर्वज्ञ उपदेशक—आप्त पुरुष ही न हो। इसका परिणाम यह होगा कि भव्य जीव

अपने पुरुषार्थसे धर्म प्राप्त करने योग्य—दशा प्रगट करनेके लिये तैयार हो तथापि उसे निमित्तरूप सत्य धर्मके उपदेशका (दिव्यध्वनिका) संयोग न होगा अर्थात् उपादान निमित्तका मेल टूट जायगा। इसप्रकार बन ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस समय जो जीव अपने उपादानकी जागृतिसे धर्म प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करता है उससमय उस जीवके इतना पुण्य का संयोग होता ही है कि जिससे उसे उपदेशादिक योग्य निमित्त (सामग्री) स्वयं मिलते ही हैं। उपादानकी पर्यायका और निमित्तकी पर्यायका ऐसा ही सहज स्वाभाविक निमित्त नैमित्तिक संबंध है। यदि ऐसा न हो तो जगतमें कोई जीव धर्म प्राप्त कर ही न सकेंगे। अर्थात् समस्त जीव द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण हैं तथापि अपनी शुद्ध पर्याय प्रगट कर नहीं सकते। ऐसा होनेपर जीवोंका दुःख कभी दूर नहीं होगा और वे सुखस्वरूप कभी नहीं हो सकेंगे।

२—जगतमें यदि कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता तो तीर्थंकर, सिद्ध, अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि की भूमिकामें रहनेवाले उपदेशक इत्यादि पद भी जगत्‌में न रहेंगे, जीवकी साधक और सिद्धदशा भी न रहेगी, सम्यग्दृष्टिकी भूमिका ही प्रगट न होगी, तथा उस भूमिकामें होनेवाला धर्मप्रभावनादिका राग—पुण्यानुबंधी पुण्य, सम्यग्दृष्टिके योग्य देवगति–देवक्षेत्र इत्यादि व्यवस्थाका भी नाश हो जायगा।

(३) इस परसे यह समझना कि जीवके उपादानके प्रत्येक समय की पर्यायकी जिसप्रकारकी योग्यता हो तदनुसार उस जीवके उस समयके योग्य निमित्त का संयोग स्वयं मिलता ही है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध तेरहवें गुणस्थानका अस्तित्व सिद्ध करता है; एक दूसरेके कर्तारूपसे कोई है ही नहीं। तथा ऐसा भी नहीं कि उपादानकी पर्यायमें जिस समय योग्यता हो उस समय उसे निमित्तकी ही राह देखनी पड़े; दोनोंका सहजरूपसे ऐसा ही मेल होता ही है और यही निमित्त नैमित्तिक भाव है; तथापि दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। निमित्त परद्रव्य है उसे जीव मिला नहीं सकता। उसीप्रकार वह निमित्त जीवमें कुछ कर नहीं सकता; क्योंकि कोई द्रव्य परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता, हर्ता नहीं है ॥ १ ॥

अब मोक्षके कारण और उसका लक्षण कहते हैं—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—[बंधहेत्वभाव निर्जराभ्यां] बंधके कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग) का अभाव तथा निर्जराके द्वारा [कृत्स्न-कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः] समस्त कर्मोंका अत्यन्त नाश होजाना सो मोक्ष है।

टीका

१—कर्म तीन प्रकारके हैं—(१) भावकर्म (२) द्रव्यकर्म और (३) नोकर्म। भावकर्म जीवका विकार है और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म जड़ है। भाव कर्मका अभाव होनेपर द्रव्यकर्मका अभाव होता है और द्रव्यकर्मका अभाव होनेपर नोकर्म (शरीर) का अभाव होता है। यदि अस्तिकी अपेक्षासे कहें तो जो जीवकी संपूर्ण शुद्धता है सो मोक्ष है और यदि नास्तिकी अपेक्षा से कहें तो जीवकी संपूर्ण विकारसे जो मुक्त दशा है सो मोक्ष है। इस दशामें जीव कर्म तथा शरीर रहित होता है और इस का आकार अंतिम शरीरसे कुछ न्यून होता है।

२. मोक्ष यत्नसे साध्य है

(१) प्रश्न—मोक्ष यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य है?

उत्तर—मोक्ष यत्नसाध्य है। जीव अपने यत्नसे (पुरुषार्थसे) प्रथम मिथ्यात्वको दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थसे क्रम क्रमसे विकारको दूर करके मुक्त होता है। पुरुषार्थके विकल्पसे मोक्ष साध्य नहीं है।

(२) मोक्षका प्रथम कारण सम्यग्दर्शन है और वह पुरुषार्थसे ही प्रगट होता है। श्री समयसार कलश ३४ में अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि—

हे भव्य! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे क्या लाभ है? इस कोलाहलसे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वयं निश्चल होकर देख, इसप्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे अपने हृदय सरोवरमें आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं? अर्थात् ऐसा प्रयत्न करनेसे अवश्य आत्माकी प्राप्ति होती है।

पुनश्च कलश २३ में भी कहते हैं कि—

हे भाई! तू किसी भी तरह महाकष्टसे अथवा मर करके भी (अर्थात् कई प्रयत्नोंके द्वारा) तत्त्वोंका कौतुहली होकर इस शरीरादि मूर्त्त द्रव्योंका एक मुहूर्त्त (दो घड़ी) पड़ोसी होकर आत्माका अनुभव कर कि जिससे निज आत्माको विलासरूप, सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ एकत्वके मोहको तू तत्क्षण ही छोड़ देगा।

भावार्थ—यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह आने पर भी न डिगे, तो घातिकर्मका नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है।

इसमें आत्मानुभव करनेके लिये पुरुषार्थ करना बताया है।

(३) सम्यक् पुरुषार्थके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यक् पुरुषार्थ कारण है और मोक्ष कार्य है। बिना कारणके कार्य सिद्ध नहीं होता। पुरुषार्थसे मोक्ष होता है ऐसा सूत्रकारने स्वयं इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें 'पूर्व-प्रयोगात्' शब्दका प्रयोग कर बतलाया है।

(४) समाधिशतकमें श्री पूज्यपाद आचार्य बतलाते हैं कि—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

अर्थ—यदि पृथ्वी आदि पंचभूतसे जीवतत्त्वकी उत्पत्ति हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है, किंतु यदि ऐसा न हो तो योगसे अर्थात् स्वरूप संवेदनका अभ्यास करनेसे निर्वाणकी प्राप्ति हो; इस कारण निर्वाण—मोक्षके लिये पुरुषार्थ करनेवाले योगियोंको चाहे जैसा उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी दुःख नहीं होता।

(५) श्री अष्टप्राभृतमें दर्शनप्राभृत गाथा ६, सूत्रप्राभृत १६ और भाव प्राभृत गाथा ८७ से ९० में स्पष्ट रीत्या बतलाया है कि धर्म—संवर, निर्जरा, मोक्ष ये आत्माके वीर्य-बल-प्रयत्नके द्वारा ही होता है; उस शास्त्रकी वचनिका पृष्ठ १५-१६ तथा २४२ में भी ऐसा ही कहा है।

(६) प्रश्न—इसमें अनेकांत स्वरूप कहा आया ?

उत्तर—आत्माके सत्य पुरुषार्थसे ही धर्म—मोक्ष होता है और अन्य किसी प्रकारसे नहीं होता, यही सम्यक् अनेकांत हुआ।

(७) प्रश्न—आप्तमीमांसा की ८८ वीं गाथामें अनेकांतका ज्ञान करानेके लिये कहा है कि पुरुषार्थ और दैव दोनों होते हैं, इसका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तर—जब जीव मोक्षका पुरुषार्थ करता है तब परम पुण्यका उदय होता है इतना बतानेके लिये यह कथन है। पुण्योदयसे धर्म या मोक्ष नहीं, परन्तु ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध है कि मोक्षका पुरुषार्थ करनेवाले जीवके उससमय उत्तमसंहनन आदि बाह्य संयोग होता है। यथार्थ पुरुषार्थ और पुण्य इन दोनोंसे मोक्ष होता है—इसप्रकार कथन करनेके लिये यह कथन नहीं है। किंतु उससमय पुण्यका उदय नहीं होता ऐसा कहनेवालेकी भूल है—यह बतानेके लिये इस गाथाका कथन है।

इस परसे सिद्ध होता है कि मोक्षकी सिद्धि पुरुषार्थके द्वारा ही होती है इसके विना मोक्ष नहीं हो सकती ॥ २ ॥

मोक्षमें समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव होता है यह उपरोक्त सूत्रमें बतलाया, अब यह बतलाते हैं कि कर्मोंके अलावा और किसका अभाव होता है—

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ—[च] और [औपशमिकादि भव्यत्वाना] औपशमिकादि भावोंका तथा पारिणामिक भावोंमेंसे भव्यत्व भावका मुक्त जीवके अभाव होता—हो जाता है।

टीका

'औपशमिकादि' कहनेसे औपशमिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव समझना, क्षायिकभाव इसमें नहीं गिनना-जानना।

टीका

१—पूर्व प्रयोग का उदाहरण—जैसे कुम्हार चाकको घुमाकर हाथ रोक लेता है तथापि वह चाक पूर्वके वेगसे घूमता रहता है, उसी-प्रकार जीव भी संसार अवस्थामें मोक्ष प्राप्तिके लिये बारंबार अभ्यास (उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ) करता था, वह अभ्यास छूट जाता है तथापि पूर्वके अभ्यासके संस्कारसे मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

२—असंगका उदाहरण— जिसप्रकार तूंबड़ीके जबतक लेपका संयोग रहता है तबतक वह स्वयं के क्षणिक उपादानकीयोग्यताके कारण पानी में डूबी हुई रहती है, किंतु जब लेप (मिट्टी) गलकर दूर हो जाती है तब वह पानीके ऊपर-स्वयं अपनी योग्यतासे-आ जाती है; उसीप्रकार जबतक जीव संगवाला होता है तबतक अपनी योग्यतासे संसार समुद्रमें डूबा रहता है और संग रहित होनेपर ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभागमें चला जाता है।

३-बंध छेदका उदाहरण—जैसे एरंडके झाड़का सूखा फल—जब ऊपरका पड़ (बन्धन) छूट जानेसे उसका बीज ऊपर जाता है, उसीप्रकार जब जीवकी पक्वदशा (मुक्तअवस्था) होनेपर कर्म बन्धका छेद-नाश होता है तब वह मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

४-ऊर्ध्वगमन स्वभाव का उदाहरण—जिसप्रकार अग्निकी शिखा (लौ) का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है अर्थात् हवाके अभावमें जैसे अग्नि (दीपकादि) की लौ ऊपरको जाती है उसीप्रकार जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है; इसीलिये मुक्तदशा होनेपर जीव भी ऊर्ध्वगमन करता है॥ ७॥

लोकाग्रसे आगे नहीं जानेका कारण बतलाते हैं

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८॥

अर्थ—[धर्मास्तिकायाभावात्] आगे (अलोकमें) धर्मास्तिकाय का अभाव है अतः मुक्त जीव लोकके अंततक ही जाता है।

टीका

१– इस सूत्रका कथन निमित्तकी मुख्यतामें है। गमन करते हुये द्रव्योंको धर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्तरूप है, यह द्रव्य लोकाकाशके बराबर है। वह यह बतलाता है कि जीव और पुद्गलकी गति ही स्वभावसे इतनी है कि वह लोकके अंततक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाशमें 'लोकाकाश' और अलोकाकाश' ऐसे दो भेद ही न रहें। लोक छह द्रव्योंका समुदाय है और अलोकाकाशमें एकाकी आकाशद्रव्य ही है। जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंमें गमन शक्ति है, उनकी गति शक्ति ही स्वभावसे ऐसी है कि वह लोकमें ही रहते हैं। गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है उसका अलोकाकाशमें अभाव है, वह यह बतलाता है कि गमन करनेवाले द्रव्योंकी उपादान शक्ति ही लोकके अग्रभाग तक गमन करनेकी है। अर्थात् वास्तवमें जीवकी अपनी योग्यता ही अलोकमें जानेकी नहीं है, अतएव वह अलोकमें नहीं जाता, धर्मास्तिकायका अभाव तो इसमें निमित्तमात्र है।

२– बृहद्द्रव्यसंग्रहमें सिद्धके अगुरुलघु गुणका वर्णन करते हुये बतलाते हैं कि—यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु हो (भारी हो) तो लोहेके गोलेकी तरह उसका सदा अध पतन होता रहेगा अर्थात् वह नीचे ही पड़ा रहेगा। और यदि वह सर्वथा लघु (हलका) हो तो जैसे वायुके झकोरेसे आकके बुलकी बुलकी रुई उड़ जाया करती है उसीप्रकार सिद्धस्वरूपका भी निरंतर भ्रमण होता ही रहेगा, परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है इसीलिये उसमें अगुरुलघुगुण कहा गया है। (बृहद्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ३८)

इस अगुरुलघुगुणके कारण सिद्ध जीव सदा लोकाग्रमें स्थित रहते हैं, वहाँसे न तो आगे जाते और न नीचे आते॥ ८॥

मुक्त जीवोंमें व्यवहारनय की अपेक्षासे भेद बतलाते हैं

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित-
ज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

अर्थ—[क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थ चारित्र प्रत्येकबुद्धबोधित ज्ञाना-वगाहनांतर संख्याल्प बहुत्वतः साध्याः] क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगोंसे [साध्याः] मुक्त जीवों (सिद्धों) में भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं।

टीका

१-क्षेत्र—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे (वर्तमान की अपेक्षासे) आत्म-प्रदेशोंमें सिद्ध होता है, आकाशप्रदेशोंमें सिद्ध होता है, सिद्धक्षेत्रमें सिद्ध होता है। भूत नैगमनयकी अपेक्षासे पंद्रह कर्म भूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुष ही सिद्ध होते हैं। पंद्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये पुरुषका यदि कोई देवादि अन्य क्षेत्रमें उठाकर ले जाय तो अढ़ाई द्वीप प्रमाण समस्त मनुष्य क्षेत्रसे सिद्ध होता है।

२-काल—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे एक समयमें सिद्ध होता है। भूतनैगमनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों कालमें सिद्ध होता है; उसमें अवसर्पिणी कालके तीसरे आराके अंत भागमें, चौथे आरामें और पांचवें आराके प्रारंभमें (जिसने चौथे कालमें जन्म लिया है ऐसा जीव) सिद्ध होता है। उत्सर्पिणी कालके 'दुषमसुषम' कालमें चौवीस तीर्थंकर होते हैं और उस कालमें जीव सिद्ध होते हैं (त्रिलोक प्रज्ञप्ति पृष्ठ ३५०); विदेह-क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे कालके भेद नहीं हैं। पंचमकालमें जन्मे हुये जीव सम्यग्दर्शनादि धर्म प्राप्त करते हैं किंतु वे उसी भवसे मोक्ष प्राप्त नहीं करते। विदेहक्षेत्रमें उत्पन्न हुये जीव अढ़ाई द्वीपके किसी भी भागमें सर्वकाल में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

३—गति—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे सिद्धगतिसे मोक्ष प्राप्त होती है; भूत नैगमनयकी अपेक्षासे मनुष्यगतिमें ही मोक्ष प्राप्त होती है।

४—लिंग—ऋजुसूत्रनयसे लिंग (वेद) रहित ही मोक्ष पाता है; भूतनैगमनयसे तीनों प्रकारके भाववेदमें क्षपक श्रेणी मांडकर मोक्ष प्राप्त करते

हैं, और द्रव्यवेदमें तो पुरुषलिंग और यथाजातरूप लिंगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है।

५—तीर्थ—कोई जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष पाते हैं। सामान्य केवलीमें भी कोई तो तीर्थंकरकी मौजूदगीमें मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई तीर्थंकरोंके बाद उनके तीर्थमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

६—चरित्र—ऋजुसूत्रनयसे चारित्रके भेदका अभाव करके मोक्ष पाते हैं, भूतनैगमनयसे—निकटकी अपेक्षासे यथाख्यात चारित्रसे ही मोक्ष प्राप्त होती है, दूरकी अपेक्षासे सामायिक, छेदोपस्थापन, सूक्ष्मसांपराय, तथा यथाख्यातसे और किसीके परिहार विशुद्धि हो तो उससे—इन पांच प्रकारके चारित्रसे मोक्ष प्राप्त होती है।

७—प्रत्येक बुद्ध बोधित—प्रत्येक बुद्ध जीव वर्तमानमें निमित्त की उपस्थितिके बिना अपनी शक्तिसे बोध प्राप्त करते हैं, किन्तु भूतकालमें या तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ हो तब या उससे पहले सम्यग्ज्ञानीके उपदेशका निमित्त हो, और बोधित बुद्ध जीव वर्तमानमें सम्यग्ज्ञानीके उपदेशके निमित्तसे धर्म पाते हैं। ये दोनों प्रकारके जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं।

८—ज्ञान—ऋजुसूत्रनयसे केवलज्ञानसे ही सिद्ध होता है, भूतनैगमनयसे कोई मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे, कोई मति, श्रुत, अवधि इन तीनसे, अथवा मति, श्रुत, मनःपर्ययसे और कोई मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानसे (केवलज्ञानपूर्वक) सिद्ध होता है।

९—अवगाहना — किसीके उत्कृष्ट पांचसौ पच्चीस धनुषकी, किसीके जघन्य साढ़े तीन हाथमें कुछ कम और किसीके मध्यम अवगाहना होती है। मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद हैं।

१०—अन्तर— एक सिद्ध होनेके बाद दूसरा सिद्ध होनेका जघन्य अंतर एक समयका और उत्कृष्ट अंतर छह मासका है।

११–संख्या—जघन्यरूपसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है, उत्कृष्टरूपसे एक समयमें १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

१२–अल्पबहुत्व – अर्थात् संख्यामें हीनाधिकता। उपरोक्त ग्यारह भेदोंमें अल्पबहुत्व होता है वह निम्न प्रकार है—

(१) क्षेत्र—संहरण सिद्ध जन्म सिद्धसे संख्यात गुणे हैं। समुद्र आदि जल क्षेत्रोंसे अल्प सिद्ध होते हैं और महाविदेहादि क्षेत्रोंसे अधिक सिद्ध होते हैं।

(२) काल—उत्सर्पिणी कालमें हुये सिद्धोंकी अपेक्षा अवसर्पिणी कालमें हुये सिद्धोंकी संख्या ज्यादा है और इन दोनों कालके विना सिद्ध हुये जीवोंकी संख्या उनसे संख्यात गुनी है, क्योंकि विदेह क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीका भेद नहीं है।

(३) गति—सभी जीव मनुष्यगतिसे ही सिद्ध होते हैं इसलिये इस अपेक्षासे गतिमें अल्पबहुत्व नहीं है; परन्तु एक गतिके अंतरकी अपेक्षासे (अर्थात् मनुष्यभवसे पहिले की गतिकी अपेक्षासे) तिर्यंचगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध हुए ऐसे जीव थोड़े हैं—कम हैं, इनकी अपेक्षासे संख्यात गुने जीव मनुष्यगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं, उससे संख्यातगुने जीव नरकगतिसे आकर मनुष्य हो सिद्ध होते हैं, और उससे संख्यातगुणे जीव देवगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं।

(४) लिंग—भावनपुंसक वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध हों ऐसे जीव कम हैं—थोड़े हैं। उनसे संख्यातगुने भावस्त्री वेदवाले पुरुष क्षपक श्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं और उससे संख्यातगुणे भावपुरुषवेदवाले पुरुष क्षपक श्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं।

(५) तीर्थ – तीर्थंकर होकर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, और उनसे संख्यातगुने सामान्यकेवली होकर सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्र – पाँचों चारित्रसे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यात गुने जीव परिहार विशुद्धिके अलावा चार चारित्रसे सिद्ध होने

वाले हैं।

(७) प्रत्येक बुद्ध बोधित—प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं उनसे संख्यातगुने जीव बोधितबुद्ध सिद्ध होते हैं।

(८) ज्ञान—मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यात गुने चार ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होते हैं और उनसे संख्यातगुने तीन ज्ञानसे केवलज्ञान उत्पन्नकर सिद्ध होते हैं।

(९) अवगाहना—जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले जीव थोडे हैं, उनसे संख्यातगुने उत्कृष्ट अवगाहनासे और उनसे संख्यातगुने मध्यम अवगाहनासे सिद्ध होते हैं।

(१०) अन्तर—छहमासके अन्तरवाले सिद्ध सबसे थोड़े हैं और उनसे संख्यातगुने एक समयके अन्तरवाले सिद्ध होते हैं।

(११) संख्या—उत्कृष्टरूपमें एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं, उनसे अनन्तगुने एक समयमें १०७ से लेकर ५० तक सिद्ध होते हैं, उनसे असंख्यातगुने जीव एक समयमें ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले हैं और उनसे संख्यातगुने एक समयमें २४ से लेकर १ तक सिद्ध होनेवाले जीव हैं।

इसतरह बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेदकी कल्पना की जाती है; वास्तवमें अवगाहना गुणके अतिरिक्त अन्य आत्मीय गुणोंकी अपेक्षासे उनमें कोई भेद नहीं है। यहां यह न समझना कि 'एक सिद्धमें दूसरा सिद्ध मिल जाता है—इसलिये भेद नहीं है।' सिद्धदशामें भी प्रत्येक जीव अलग अलग ही रहते हैं, कोई जीव एक दूसरेमें मिल नहीं जाते ॥ ९ ॥

उपसंहार

१—मोक्षतत्त्वकी मान्यता सम्बंधी होनेवाली भूल और उसका निराकरण

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि स्वर्गके सुखकी अपेक्षासे अनंतगुना सुख मोक्षमें है। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि इस गुणाकारमें वह स्वर्ग और मोक्षके सुखकी जाति एक गिनता है; स्वर्गमें तो विषयादि सामग्री जनित इन्द्रिय-सुख होता है; उसकी जाति उसे मालूम होती है, किन्तु मोक्षमें विषयादि सामग्री नहीं है अर्थात् वहांके अतीन्द्रिय सुखकी जाति उसे नहीं प्रतिभासती—मालूम होती। परन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्गसे उत्तम कहते हैं इसीलिये वे अज्ञानी भी बिना समझे बोलते हैं। जैसे कोई गायनके स्वरूपको तो नहीं समझता किन्तु समस्त सभा गायनकी प्रशंसा करती है इसीलिये वह भी प्रशंसा करता है, उसीप्रकार ज्ञानी जीव तो मोक्षका स्वरूप जानकर उसे उत्तम कहते हैं, इसीलिये अज्ञानी जीव भी बिना समझे ऊपर बताये अनुसार कहता है।

प्रश्न—यह किसपरसे कहा जा सकता है कि अज्ञानी जीव सिद्धके सुखकी और स्वर्गके सुखकी जाति एक जानता है—समझता है।

उत्तर—जिस साधनका फल वह स्वर्ग मानता है उसी जातिके साधनका फल वह मोक्ष मानता है। वह यह मानता है कि इस किस्मके अल्प साधन हों तो उससे इन्द्रादि पद मिलते हैं और जिसके वह साधन संपूर्ण हो तो मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रमाणसे दोनोंके साधनकी एक जाति मानता है, इसीसे यह निश्चय होता है कि उनके कार्य की (स्वर्ग तथा मोक्ष की) भी एक जाति होनेका उसे श्रद्धान है। इन्द्र आदि को जो सुख है वह तो कषायभावोंसे आकुलतारूप है, अतएव परमार्थतः वह दुःखी है और सिद्धके तो कषायरहित अनाकुल सुख है। इसलिये दोनोंकी जाति एक नहीं है ऐसा समझना चाहिये। स्वर्गका कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्षका कारण वीतराग भाव है। इसप्रकार उन दोनोंके कारणमें अन्तर है। जिन जीवोंके ऐसा भाव नहीं भासता उनके मोक्षतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

२. अनादि कर्मबंधन नष्ट होनेकी सिद्धि

श्री तत्वार्थसार अ० ८ में कहा है कि—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबंधन संततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत् ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस वस्तुकी उत्पत्तिका आद्य समय न हो वह अनादि कहा जाता है, जो अनादि हो उसका कभी अंत नहीं होता। यदि अनादि पदार्थका अंत हो जाय तो सत्का विनाश मानना पड़ेगा, परन्तु सत्का विनाश होना यह सिद्धान्त और युक्तिसे विरुद्ध है।

इस सिद्धान्तसे, इस प्रकरणमें ऐसी शंका उपस्थित हो सकती है कि—तो फिर अनादि कर्मबंधनकी संततिका नाश कैसे हो सकता है? क्यों कि कर्मबंधनका कोई आद्य समय नहीं है इससे यह अनादि है, और जो अनादि हो उसका अंत भी नहीं होना चाहिए, कर्मबन्धन जीवके साथ अनादि से चला आया है अतः अनन्तकाल तक सदा उसके साथ रहना चाहिये-फलतः कर्मबन्धनसे जीव कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

यह शंकाके दो रूप हो जाते हैं—(१) जीवके कर्मबन्धन कभी नहीं छूटना चाहिये, और (२) कर्मत्वरूप जो पुद्गल हैं उनमें कर्मत्व सदा चलता ही रहना चाहिये, क्योंकि कर्मत्व भी एक जाति है और यह सामान्य होनेसे ध्रुव है। इसलिए उसकी चाहे जितनी पर्यायें बदलती रहें तो भी वे सभी कर्मरूप ही रहनी चाहिये। सिद्धांत है कि "जो द्रव्य जिस स्वभावका हो वह उसी स्वभावका हमेशा रहता है"। जीव अपने चैतन्य स्वभावको कभी छोड़ता नहीं है और पुद्गल भी अपने रसरूपादिक स्वभावको कभी छोड़ते नहीं हैं, इसीप्रकार अन्य द्रव्य भी अपने अपने स्वभावको छोड़ते नहीं हैं फिर कर्म ही अपने कर्मत्व स्वभावको कैसे छोड़ दे?

उपरोक्त शंकाका समाधान इसप्रकार है—जीवके साथ कर्मका संबंध संतति प्रवाहकी अपेक्षा अनादिसे है किन्तु कोई एकके एक ही परमाणुका संबंध अनादिसे नहीं है, जीवके साथ प्रत्येक परमाणुका संबंध नियत कालतक ही रहता है। कर्मपिंडरूप परिणत परमाणुओंका जीवके साथ सम्बन्ध होने का भी काल भिन्न भिन्न है और उनके छूटनेका भी काल नियत और भिन्न

भिन्न है। इतना सत्य है कि, जीवको विकारी अवस्थामें कर्मका संयोग चलता ही रहता है। संसारी जीव अपनी स्वयंकी भूलसे विकारी अवस्था अनादिसे करता चला आ रहा है अतः कर्मका सम्बन्ध भी संतति प्रवाहरूप अनादिसे इसको है क्योंकि विकार कोई नियतकालसे प्रारंभ नहीं हुआ है अतः कर्मका सम्बन्ध भी कोई नियत कालसे प्रारंभ नहीं हुआ है इसप्रकार जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध सन्ततिप्रवाहसे अनादिका कहा जाता है; लेकिन कोई एक ही कर्म अनादिकालसे जीवकी साथ लगा हुआ चला आया हो—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। जिसप्रकार कर्मकी उत्पत्ति है उसीप्रकार उनका नाश भी होता है, क्योंकि—"जिसका संयोग हो उसका वियोग अवश्य होता ही है" ऐसा सिद्धांत है। पूर्व कर्मके वियोगके समय यदि जीव स्वरूपमें सम्यक् प्रकार जागृतिके द्वारा विकारको उत्पन्न नहीं होने देवे तो नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होवे इसप्रकार अनादि कर्म बन्धनका सन्ततिरूप प्रवाह निर्मूल नष्ट हो सकता है। उसका उदाहरण—जैसे बीज और वृक्षका सम्बन्ध संतति प्रवाहरूपसे अनादिका है, कोईभी बीज पूर्वके वृक्ष बिना नहीं होता। बीजका उपादानकारण पूर्ववृक्ष और पूर्ववृक्षका उपादान पूर्वबीज, इसप्रकार बीज-वृक्षकी संतति अनादिसे होनेपर भी उस संततिका अन्त करनेके लिए अंतिम बीजको पीस डालें या जलादें तो उनका संततिप्रवाह नष्ट हो जाता है। उसीप्रकार कर्मोंकी संतति अनादि होनेपर भी कर्मनाशके प्रयोग द्वारा समस्त कर्मोंका नाश कर दिया जाय तो उनकी संतति निःशेष नष्ट हो जाती है। पूर्वोपार्जित कर्मोंके नाशका और नये कर्मोंकी उत्पत्ति न होने देनेका उपाय संवर-निर्जराके नवमें अध्यायमें बताया है। इसप्रकार कर्मोंका संबंध जीवसे कभी नहीं छूट सकता, ऐसी शंका दूर होती है।

शंकाका दूसरा प्रकार यह है कि—कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको छोड़ता नहीं है तो कर्मरूप पदार्थ भी कर्मत्वको कैसे छोड़ें? उसका समाधान यह है कि—कर्म कोई द्रव्य नहीं है परन्तु वह तो संयोगरूप पर्याय है। जिस द्रव्यमें कर्मत्वरूप पर्याय होती है वह द्रव्य तो पुद्गल द्रव्य है और पुद्गल द्रव्य

का तो कभी नाश होता नहीं है और वह अपने वर्णादि स्वभावको भी कभी छोड़ता नहीं है। पुद्गल द्रव्योंमें उनकी योग्यतानुसार शरीरादि तथा जल, अग्नि, मिट्टी, पत्थर वगैरह कार्यरूप अनेक अवस्थाएँ होती रहती हैं, और उनकी मर्यादा पूर्ण होनेपर वे विनाशको भी प्राप्त होती रहती हैं, उसीप्रकार कोई पुद्गल जीवके साथ एक क्षेत्रअवगाहसम्बन्धरूप बन्धन अवस्था होनेरूप सामर्थ्य - तथा रागी जीवको रागादि होनेमें निमित्तपनेरूप होनेकी सामर्थ्य सहित जीवके साथ रहते हे वहाँ तक उनको 'कर्म' कहते हैं, कर्म कोई द्रव्य नहीं है वह तो पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है पर्यायका स्वभाव ही पलटना है इस लिये कर्मरूप पर्यायका अभाव होकर अन्य पर्यायरूप होता रहता है।

पुद्गल द्रव्यकी कर्म पर्याय नष्ट होकर दूसरी जो पर्याय हो, वह कर्म रूप भी हो सकती है और अन्यरूप भी हो सकती है। कोई द्रव्यके उत्तरोत्तर कालमें भी उस द्रव्यकी एक समान ही योग्यता होती रहे तो उसकी पर्याय एक समान ही होती रहेंगी, और यदि उसकी योग्यता बदलती रहे तो उसकी पर्याय अनेक प्रकार-भिन्न भिन्न जातिकी होती रहेंगी, जैसे मिट्टीमें जिससमय घटरूप होनेकी योग्यता हो तब वह मिट्टी घटरूप परिणमती है और फिर वही मिट्टी पूर्व अवस्था बदलकर दूसरी बार भी घट हो सकती है। अथवा अपनी योग्यतानुसार कोई अन्य पर्यायरूप (-अवस्था) भी हो सकती है। इसीप्रकार कर्मरूप पर्यायमें भी समझना चाहिये। जो 'कर्म' कोई अलग द्रव्य ही हो तो उनका अन्यरूप (-अकर्मरूप) होना नहीं बन सकता, परन्तु 'कर्म' पर्याय होने से वह जीवसे छूट सकते हैं और कर्मपना छोड़कर अन्यरूप (अकर्मरूप) हो सकते हैं।

३ इसप्रकार, पुद्गल जीवसे कर्मरूप अवस्थाको छोड़कर अकर्मरूप घट पटादिरूप हो सकते हैं ये सिद्ध हुआ। परन्तु जीवसे कुछ कर्मोंका अकर्मरूप हो जाने मात्रसे ही जीव कर्मरहित नहीं हो जाता, क्योंकि जैसे कुछ कर्मरूप पुद्गल कर्मत्वको छोड़कर अकर्मरूप हो जाते हैं वैसे ही अकर्मरूप अवस्थावाले पुद्गल जिनमें कर्मरूप होनेकी योग्यता हो, जीवके विकार भावकी उपस्थितिमें कर्मरूप हुआ करते हैं। जहाँतक जीव विकारी भाव करे वहाँ तक उसकी

विकारदशा हुआ करती है और अन्य पुद्गल कर्मरूप होकर उसकी साथ बंधन रूप हुआ करते हैं; इसप्रकार संसारमें कर्मशृङ्खला चलती रहती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि—कर्म सदा कर्म ही रहें, अथवा तो कोई जीव सदा अमुक ही कर्मोंसे बन्धे हुए ही रहें, अथवा विकारी दशामें भी सर्व कर्म सर्व जीवोंके छूट जाते हैं और सर्व जीव मुक्त हो जाते हैं।

४—इस तरह अनादिकालीन कर्म शृंखला अनेक काल तक चलती ही रहती है, ऐसा देखा जाता है; परन्तु शृंखलाओंका ऐसा नियम नहीं है कि जो अनादिकालीन हो वह अनन्त काल तक रहना ही चाहिये, क्योंकि शृङ्खला संयोगसे होती है और संयोगका किसी न किसी समय वियोग हो सकता है। यदि वह वियोग आंशिक हो तो हो वह शृङ्खला चालू रहती है, किन्तु जब उसका आत्यंतिक वियोग हो जाता है तब शृङ्खलाका प्रवाह टूट जाता है। जैसे शृङ्खला बलवान कारणोंके द्वारा टूटती है उसीप्रकार कर्मशृङ्खला अर्थात् संसार शृङ्खला भी (संसाररूपी सांकल = कड़ी) जीवके सम्यग्दर्शनादि सत्य पुरुषार्थके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जाती है। विकारी शृङ्खलामें अर्थात् विकारी पर्यायमें भी अनन्तताका नियम नहीं है, इसीलिये जीव विकारी पर्यायका अभाव कर सकता है और विकारका अभाव करनेपर कर्मका संबंध भी छूट जाता है और उसका कर्मत्व नष्ट होकर अन्यरूपसे परिणमन हो जाता है।

५. अब आत्माके बंधनकी सिद्धि करते हैं—

कोई जीव कहते हैं कि आत्माके बन्धन होता ही नहीं। उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि बिना बन्धनके परतन्त्रता नहीं होती। जैसे गाय भैंस आदि पशु जब बन्धनमें नहीं होते तब परतंत्र नहीं होते; परतंत्रता बन्धन की दशा बतलाता है, इसलिये आत्माके बन्धन मानना योग्य है। आत्माके यथार्थ बन्धन अपने-निज विकारी भावका ही है, उसका निमित्त पाकर स्वतः जड़कर्मका बंधन होता है और उसके फलस्वरूप शरीरका संयोग होता है। शरीरके संयोगमें आत्मा रहती है, यह परतंत्रता बतलाती है। यह ध्यान

रहे कि कर्म, शरीर इत्यादि कोई भी परद्रव्य आत्माको परतंत्र नहीं करते किन्तु जीव स्वयं अज्ञानतासे स्व को परतंत्र मानता है और पर वस्तुसे निज को लाभ या नुकसान होता है ऐसी विपरीत पकड़ करके परमें इष्ट अनिष्टत्व की कल्पना करता है। पराधीनता दुःखका कारण है। जीवको शरीरके ममत्वसे—शरीरके साथ एकत्वबुद्धिसे दुःख होता है। इसीलिये जो जीव शरीरसे अपनेको लाभ-नुकसान मानते हैं वे परतंत्र ही रहते हैं। कर्म या परवस्तु जीवको परतंत्र नहीं करती, किन्तु जीव स्वयं परतंत्र होता है। इस तरह संसारी आत्माके तीन तरहका बंधन सिद्ध होता है—एक तो स्वयंका विकारी भाव, दूसरा उसके निमित्तको पाकर सूक्ष्म कर्मके साथ होनेवाला सम्बन्ध और तीसरा उसके निमित्तसे स्थूल शरीरके साथ होनेवाला सम्बन्ध। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३६४)

६. मुक्त होने के बाद फिर बंध या जन्म नहीं होता

जीवके मिथ्यादर्शनादि विकारी भावोंका अभाव होने से कर्मका कारण-कार्य सम्बन्ध भी टूट जाता है। जानना-देखना यह किसी कर्म बंधका कारण नहीं किन्तु परवस्तुओंमें राग द्वेषमें आत्मीयता की भावना बंधका कारण होती है। मिथ्याभावनाके कारण जीवके ज्ञान तथा दर्शन (श्रद्धान) को मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन कहते हैं। इस मिथ्यात्व आदि विकारभावके छूट जाने से विश्व की चराचर वस्तुओंका जानना-देखना होता है, क्योंकि ज्ञान दर्शन तो जीवका स्वाभाविक असाधारण धर्म है। वस्तु के स्वाभाविक असाधारण धर्मका कभी नाश नहीं होता, यदि उसका नाश हो तो वस्तुका भी नाश हो जाय। इसीलिये मिथ्यावासनाके अभावमें भी जानना देखना तो होता है, किन्तु अमर्यादित बंधके कारणकार्यका अभाव मिथ्यावासनाके अभावके साथ ही हो जाता है। कर्म के आने के सर्व कारणोंका अभाव होने के बाद भी जानना-देखना होता है तथापि जीवके कर्मोंका बंध नहीं होता और कर्म बंध न होने से उसके फलरूप स्थूल शरीरका संयोग भी नहीं मिलता, इसीलिये उसके फिर जन्म नहीं होता। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३६४)

७. बंध जीवका स्वाभाविक धर्म नहीं

यदि बंध जीवका स्वाभाविक धर्म हो तो वह बंध जीवके सदा रहना चाहिये; किन्तु यह तो संयोग वियोगरूप है; इसीलिये पुराना कर्म दूर होता है और यदि जीव विकार करे तो नवीन कर्म बंधता है। यदि बंध स्वाभाविक हो तो बंधसे प्रथक् कोई मुक्तात्मा हो नहीं सकता। पुनश्च यदि बंध स्वाभाविक हो तो जीवोंमें परस्पर अंतर न दिखे। भिन्न कारण के बिना एक जातिके पदार्थोंमें अंतर नहीं होता, किन्तु जीवोंमें अंतर देखा जाता है। इसका कारण यह है कि जीवोंका लक्ष्य भिन्न भिन्न पर वस्तु पर है। पर वस्तुएँ अनेक प्रकार की होती हैं अतः उनके लक्ष्यसे जीवकी अवस्था एक सदृश नहीं रहती। जीव स्वयं पराधीन होता रहता है, यह पराधीनता ही बंधनका कारण है। जैसे बंधन स्वाभाविक नहीं उसीप्रकार वह आकस्मिक भी नहीं अर्थात् बिना कारण के उसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रत्येक कार्य स्व-स्व के कारण अनुसार होता है। स्थूल बुद्धिवाले लोग उसका कारण नहीं जानते अतः अकस्मात् कहते हैं। बंधका कारण जीवका विकारीभाव है। जीवके विकारी भावोंमें तारतम्यता देखी जाती है इसीलिये वह क्षणिक है और विकारभाव क्षणिक है अतः उसके कारण से होनेवाला कर्मबंध भी क्षणिक है। तारतम्यता सहित होने से कर्मबंध शाश्वत नहीं। शाश्वता और तारतम्यता इन दोनों के शीत और उष्णता की तरह परस्पर विरोध है। तारतम्यताका कारण क्षणभंगुर है; जिनका कारण क्षणिक हो वह कार्य शाश्वत कैसे हो सकता है? कर्मका बंध और उदय तारतम्यता सहित ही होता है इसलिये बंध शाश्वतिक या स्वाभाविक वस्तु नहीं; इसीलिये यह स्वीकार करना ही चाहिये कि बंधके कारणोंका अभाव होने पर मोक्ष होता है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३६६)

८. सिद्धों का लोकाग्रसे स्थानांतर नहीं होता

प्रश्न—आत्मा मुक्त होने पर भी स्थानवाला होता है। जिसको स्थान हो वह एक स्थानमें स्थिर नहीं रहता किन्तु नीचे जाता अथवा विचलित

होता रहता है, इसीलिये मुक्तात्मा भी ऊर्ध्व लोकमें ही स्थिर न रहकर नीचे जाय अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थानमें जाय—ऐसा क्यों नहीं होता ?

उत्तर—पदार्थ में स्थानांतर होने का कारण स्थान नहीं है परन्तु स्थानांतरका कारण तो उसकी क्रियावती शक्ति है। जैसे नावमें जब पानी आकर भरता है तब वह डगमग होती है और नीचे डूब जाती है, उसी प्रकार आत्मामें भी जब कर्मास्रव होता रहता है तब वह संसारमें डूबता है और स्थान बदलता रहता है किन्तु मुक्त अवस्थामें तो जीव कर्मास्रव से रहित हो जाता है। इसीलिये ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोकाग्रमें स्थित होने के बाद फिर स्थानांतर होने का कोई कारण नहीं रहता।

यदि स्थानान्तरका कारण स्थानको मानें तो कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थानवाला न हो, क्योंकि जितने पदार्थ हैं वे सब किसी न किसी स्थानमें रहे हुये हैं और इसीलिये उन सभी पदार्थोंका स्थानांतर होना चाहिये। परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल आदि द्रव्य स्थानांतर रहित देखे जाते हैं अतः यह हेतु मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि संसारी जीवके अपनी क्रियावती शक्ति के परिणमन की उस समय की योग्यता उस क्षेत्रांतरका मूल-कारण है और कर्मका उदयमात्र निमित्त कारण है। मुक्तात्मा कर्मास्रवसे सर्वथा रहित हैं अतः वे स्वस्थानसे विचलित नहीं होते। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३८०) पुनश्च तत्त्वार्थसार अध्याय ८ की १० वीं गाथा में बतलाया है कि गुरुत्व के अभावको लेकर मुक्तात्माका नीचे पतन नहीं होता।

६—जीव की मुक्त दशा मनुष्य पर्यायसे ही होती है और मनुष्य ढाई द्वीपमें ही होता है, इसीलिये मुक्त होनेवाले जीव (मोड़े बिना) सीधे ऊर्ध्वगतिसे लोकांतमें जाते हैं। ... उसे एक ही समय लगता है।

१० ... क्षेत्रमें रहते हैं

प्रश्न—सि... न हैं और मुक्त ... तो असंख्यात प्रदेशमें ... सकते हैं ?

उत्तर—सिद्ध जीवोंके शरीर नहीं है औरजीव सूक्ष्म (अरूपी) है, इसीलिये एक स्थान पर अनंत जीव एक साथ रह सकते हैं। जैसे एक ही स्थान में अनेक दीपकोंका प्रकाश रह सकता है उसी तरह अनंत सिद्ध जीव एक साथ रह सकते हैं। प्रकाश तो पुद्गल है; पुद्गल द्रव्य भी इस तरह रह सकता है तो फिर अनंत शुद्ध जीवोंके एक क्षेत्रमें साथ रहने में कोई बाधा नहीं।

११. सिद्ध जीवों के आकार है?

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीव अरूपी है इसलिये उसके आकार नहीं होता, यह मान्यता मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थमें प्रदेशत्व नामका गुण है, इसीलिये वस्तुका कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जिसका आकार न हो। जो पदार्थ है उसका अपना आकार होता है। जीव अरूपी-अमूर्तिक है, अमूर्तिक वस्तुके भी अमूर्तिक आकार होता है। जीव जिस शरीरको छोड़कर मुक्त होता है उस शरीर के आकार से कुछ न्यून आकार मुक्त दशामें भी जीवके होता है।

प्रश्न—यदि आत्माके आकार हो तो उसे निराकार क्यों कहते हैं?

उत्तर—आकार दो तरह का होता है—एक तो लम्बाई चौड़ाई मोटाई रूप आकार और दूसरा मूर्तिकरूप आकार। मूर्तिकतारूप आकार एक पुद्गल द्रव्यमें ही होता है अन्य किसी द्रव्यमें नहीं होता। इसीलिये जब आकार का अर्थ मूर्तिकता किया जावे तब पुद्गल के अतिरिक्त सर्व द्रव्योंको निराकार कहते हैं। इस तरह जीवमें पुद्गलका मूर्तिक आकार न होने की अपेक्षा से जीवको निराकार कहा जाता है। परन्तु स्व क्षेत्र की लंबाई चौड़ाई मोटाई की अपेक्षासे समस्त द्रव्य आकारवान हैं। जब इस सद्भावसे आकारका सम्बन्ध माना जाय तो आकार का अर्थ लंबाई-चौड़ाई मोटाई ही होता है। आत्माके स्व का आकार है, इसीलिये वह साकार है।

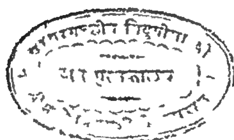
संसारदशामें जीव की योग्यता के कारण उसके आकार की पर्याय संकोच विस्तार रूप होती थी। अब पूर्ण शुद्ध होनेपर संकोच विस्तार नहीं

होता। सिद्धदशा होने पर जीवके स्वभाव व्यंजन पर्याय प्रगट होती है और उसी तरह अनंतकाल तक रहा करती है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३६८ से ४०६)

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की गुजराती टीकाका दशमें अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।





परिशिष्ट—१



इस मोक्षशास्त्रके आधारसे श्री अमृतचन्द्र सूरिने 'श्री तत्त्वार्थसार' शास्त्र बनाया है। उसके उपसंहार में इस ग्रन्थ का सारांश २३ गाथाओं द्वारा दिया है वह इस शास्त्रमें भी लागू होता है अतः यहां दिया जाता है:—

ग्रन्थ का सारांश

प्रमाणनयनिक्षेप निर्देशादि सदादिभिः।
सप्ततत्त्वमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥१॥

अर्थ—जिन सात तत्त्वोंका स्वरूप क्रमसे कहा गया है उसे प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत् आदि अनुयोगों द्वारा जानकर मोक्षमार्गका यथार्थरूपसे आश्रय करना चाहिये।

प्रश्न—इस शास्त्रके पहले सूत्रका अर्थ निश्चयनय, व्यवहारनय और प्रमाण द्वारा क्या होगा?

उत्तर—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है—इस कथनमें अभेद स्वरूप निश्चयनयकी विवक्षा है अतः यह निश्चयनयका कथन जानना; मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेदसे कहना, इसमें भेदस्वरूप व्यवहारनयकी विवक्षा है अतः यह व्यवहारनयका कथन जानना; और इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान करना सो प्रमाण है। मोक्षमार्ग यह पर्याय है इसीलिये आत्माके त्रिकाली चैतन्य स्वभावकी अपेक्षासे यह सद्भूत व्यवहार है।

प्रश्न—निश्चयनयका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'सत्यार्थ इसी प्रकार है' ऐसा जानना सो निश्चयनय है।

प्रश्न—व्यवहारनयका क्या अर्थ है ?

उत्तर—ऐसा जानना कि 'सत्यार्थ इस प्रकार नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है' सो व्यवहारनय है। अथवा पर्यायभेदका कथन भी व्यवहारनयसे कथन है।

मोक्षमार्गका दो तरहसे कथन

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥

अर्थ—निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसे दो तरहसे मोक्षमार्गका कथन है। उसमें पहला साध्यरूप है और दूसरा उसका साधन रूप है।

१. प्रश्न—व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—पहले रागरहित दर्शन ज्ञान चारित्रका स्वरूप जानना और उसी समय 'राग धर्म नहीं या धर्म का साधन नहीं है' ऐसा मानना, ऐसा माननेके बाद जब जीव रागको तोडकर निर्विकल्प हो तब उसके निश्चयमोक्ष मार्ग होता है और उसी समय रागसहित दर्शन ज्ञान चारित्रका व्यय हुआ इसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं, इस रीतिसे 'व्यय' यह साधन है।

२—इस सम्बन्धमें श्री परमात्म प्रकाशमें निम्न प्रकार बताया है—

प्रश्न—निश्चयमोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है और उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग है नहीं तो यह (सविकल्प मोक्षमार्ग) साधक कैसे होता है ?

उत्तर—भूतनैगमनयकी अपेक्षासे परम्परासे साधक होता है अर्थात् पहले वह था किन्तु वर्तमानमें नहीं है तथापि भूतनैगमनयसे वह वर्तमान में है ऐसा संकल्प करके उसे साधक कहा है (पृष्ठ १४२ संस्कृत टीका) इस

सम्बन्ध में छठे अध्यायके १८ वें सूत्रकी टीकाके पांचवें पैरेमें दिये गये अन्तिम प्रश्न और उत्तरको वांचना।

३—शुद्धनिश्चयनयसे शुद्धानुभूतिरूप वीतराग (-निश्चय) सम्यक्त्व का कारण नित्य आनन्द स्वभावरूप निज शुद्धात्मा ही है।

(परमात्मप्रकाश पृष्ठ १४५)

४—मोक्षमार्ग दो नहीं

मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो तरहसे है। जहां सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपण किया है वह निश्चय (यथार्थ) मोक्षमार्ग है; तथा जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्गमें निमित्त है अथवा साथ में होता है उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा जाता है, लेकिन वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा शुद्धस्य स्वात्मनो हि या।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥ ३ ॥

अर्थ—निज शुद्धात्माकी अभेदरूपसे श्रद्धा करना, अभेदरूपसे ही ज्ञान करना तथा अभेदरूपसे ही उसमें लीन होना—इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा है सो निश्चयमोक्षमार्ग है।

व्यवहार मोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥ ४ ॥

अर्थ—आत्मामें जो सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान - तथा सम्यक् चारित्र भेदकी मुख्यतासे प्रकट हो रहे हैं उस सम्यक्दर्शन - सम्यग्ज्ञान - सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रयको व्यवहार मार्ग समझना चाहिये।

व्यवहारी मुनिका स्वरूप

श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो परद्रव्यकी (सात तत्त्वोंकी भेदरूपसे) श्रद्धा करता है उसी तरह भेदरूपसे जानता है और उसी तरह भेदरूपसे उपेक्षा करता है उस मुनिको व्यवहारी मुनि कहते हैं।

निश्चयी मुनिका स्वरूप

स्व द्रव्य श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो स्वद्रव्यको ही श्रद्धामय तथा ज्ञानमय बना लेते हैं और जिनके आत्माकी प्रवृत्ति उपेक्षारूप ही हो जाती है ऐसे श्रेष्ठ मुनि निश्चय रत्नत्रय युक्त हैं।

निश्चयीके अभेदका समर्थन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञान सम्यक्त्व चरित हि सः।
स्वस्थो दर्शन चारित्र मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो जानता है सो आत्मा है, ज्ञान जानता है इसीलिये ज्ञान ही आत्मा है, इसी तरह जो सम्यक् श्रद्धा करता है, सो आत्मा है। श्रद्धा करने वाला सम्यग्दर्शन है अतएव वही आत्मा है। जो उपेक्षित होता है सो आत्मा है। उपेक्षा गुण उपेक्षित होना है अतएव वही आत्मा है अथवा आत्मा ही वह है। यह अभेद रत्नत्रयस्वरूप है ऐसी अभेदरूप स्वस्थदशा उनके ही हो सकती है कि जो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयाधीन नहीं रहता।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्षका कारण रत्नत्रय बताया है, उस रत्नत्रयको मोक्षका कारण मानकर जहा तक उसके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रहती है वहा तक साधु उस रत्नत्रय को विषयरूप (ध्येयरूप) मान कर उसका चिंतवन करता है, उस रत्नत्रयके स्वरूपका विचार करता है। जहा तक ऐसी दशा रहती है जहा तक स्वकीय विचार द्वारा रत्नत्रय भेदरूप

ही जाना जाता है, इसीलिये साधुके उस प्रयत्नको भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं; यह व्यवहारकी दशा है। ऐसी दशामें अभेदरूप रत्नत्रय कभी हो नहीं सकता। परन्तु जहां तक ऐसी दशा भी न हो अथवा इसीप्रकार मुमुक्षु समझ न ले वहां तक उसके निश्चयदशा कैसे प्राप्त हो सकती है? यह ध्यान रहे कि व्यवहार करते करते निश्चय दशा प्रगट ही नहीं होती।

यह भी ध्यान रहे कि व्यवहार दशाके समय राग है इसीलिये मुमुक्षुको वह टालने–दूर करने योग्य है, वह लाभदायक नहीं है। स्वाश्रित एकतारूप निश्चयदशा ही लाभदायक है ऐसा यदि पहलेसे ही लक्ष हो तो ही उसके व्यवहारदशा होती है। यदि पहले से ही ऐसी मान्यता न हो और उस रागदशा को ही धर्म या धर्मका कारण माने तो उसके कभी धर्म नहीं होता और उसके वह व्यवहारदशा भी नहीं कहलाती; वास्तवमें वह व्यवहाराभास है–ऐसा समझना। इसलिये रागरूप व्यवहारदशाको टालकर निश्चयदशा प्रगट करने का लक्ष्य पहले से ही होना चाहिये।

ऐसी दशा हो जाने पर जब साधु स्वसन्मुखताके बलसे स्वरूपकी तरफ झुकता है तब स्वयमेव सम्यग्दर्शनमय–सम्यक्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय हो जाता है। इसीलिये वह स्व से अभेदरूपरत्नत्रयकी दशा है और वह यथार्थ वीतरागदशा होने के कारण निश्चयरत्नत्रयरूप कही जाती है।

इस अभेद और भेदका तात्पर्य समझ जाने पर यह बात माननी पड़ेगी कि जो व्यवहाररत्नत्रय है वह यथार्थ रत्नत्रय नहीं है। इसीलिये उसे हेय कहा जाता है। यदि साधु उसीमें ही लगा रहे तो उसका तो व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है, निरुपयोगी है। यों कहना चाहिये कि उन साधुओं ने उसे हेयरूप न जानकर यथार्थरूप समझ रखा है। जो जिसे यथार्थरूप जानता और मानता है वह उसे कदापि नहीं छोड़ता; इसीलिये उस साधुका व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है अथवा वह अज्ञानरूप संसारका कारण है।

पुनश्च उसीप्रकार जो व्यवहार को हेय समझकर अशुभभावमें रहता है और निश्चयका अवलंबन नहीं करता वह उभयभ्रष्ट (शुद्ध और शुभ दोनों से भ्रष्ट) है। निश्चयनयका अवलंबन प्रगट नहीं हुआ और जो व्यवहारको तो हेय मानकर अशुभमें रहा करते हैं वे निश्चयके लक्ष्यसे शुभ में भी नहीं जाते तो फिर वे निश्चय तक नहीं पहुँच सकते— यह निर्विवाद है।

इस श्लोकमें अभेद रत्नत्रयका स्वरूप कृदंत शब्दों द्वारा शब्दोंका अभेदत्व बताकर कर्तृभावसाधन सिद्ध किया। अब आगे के श्लोकोंमें क्रिया पदों द्वारा कर्ताकर्मभाव आदि में सर्व विभक्तियों के रूप दिखाकर अभेद सिद्ध करते हैं।

निश्चयरत्नत्रय की कर्ता के साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८॥

अर्थ—जो निज स्वरूपको देखता है, निजस्वरूपको जानता है और निजस्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है, अतएव दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंरूप आत्मा ही है।

कर्मरूपके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूप य जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मेव तन्मयः ॥ ९॥

अर्थ—जिस निजस्वरूपको देखा जाता है, जाना जाता है और धारण किया जाता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु तन्मय आत्मा ही है इसीलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

कारणरूपके साथ अभेदता

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मेव तन्मयः ॥१०॥

अर्थ—जो निज स्वरूप द्वारा देखा जाता है, निजस्वरूप द्वारा जाना जाता है और निज स्वरूप द्वारा स्थिरता होती है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप रत्नत्रय है, वह कोई प्रथक् पदार्थ नहीं है किन्तु तन्मय आत्मा ही है इसीलिये आत्मा ही अमेदरूपसे रत्नत्रयस्वरूप है।

संप्रदानरूप के साथ अभेदता

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ११ ॥

अर्थः— जो स्वरूपकी प्राप्ति के लिये देखता है, जानता है तथा प्रवृत्ति करता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र नामवाला रत्नत्रय है; यह कोई प्रथक् पदार्थ नहीं है परन्तु तन्मय आत्मा ही है अर्थात् आत्मा रत्नत्रयसे भिन्न नहीं किन्तु तन्मय ही है।

अपादान स्वरूप के साथ अभेदता

यस्मात् पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १२ ॥

अर्थ – जो निजस्वरूपसे देखता है, जानता है तथा जो निजस्वरूप से वर्तता-रहता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है, वह दूसरा कोई नहीं किन्तु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

संबंध स्वरूपके साथ अभेदता

यस्य पश्यति जानाति स्वस्वरूपस्य चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो निजस्वरूपके संबंधको देखता है, निजस्वरूपके संबंधको जानता है तथा निजस्वरूपके संबंधकी प्रवृत्ति करता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

आधार स्वरूपके साथ अभेदता

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १४ ॥

अर्थ--जो निजस्वरूपमें देखता है, जानता है तथा निजस्वरूपमें स्थिर होता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

क्रिया स्वरूपकी अभेदता

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १५ ॥

अर्थ--जो देखनेरूप, जाननेरूप तथा चारित्ररूप क्रियाएँ हैं वह दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु ये क्रियाएँ आत्मासे कोई भिन्न पदार्थ नहीं तन्मय आत्मा ही है।

गुणस्वरूपका अभेदत्व--

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१६॥

अर्थ--जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंका आश्रय है वह दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। आत्मासे भिन्न दर्शनादि गुण कोई पदार्थ नहीं परन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिये अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायोंके स्वरूपका अभेदत्व

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १७ ॥

अर्थ--जो स्वयं दर्शन ज्ञान चारित्रमय पर्यायोंका आश्रय है वह दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, आत्मा ही तन्मय होकर रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा उनसे भिन्न कोई पृथक् पदार्थ नहीं।

अर्थ—दर्शन ज्ञान - चारित्र में जो उत्पाद - व्यय - ध्रौव्य है वह सब आत्मा का ही है, क्योंकि जो दर्शन - ज्ञान - चारित्ररूप रत्नत्रय है वह आत्मासे अलग नहीं है। दर्शन ज्ञान - चारित्रमय ही आत्मा है अथवा दर्शन - ज्ञान - चारित्र आत्मामय ही है, इसीलिये रत्नत्रयके जो उत्पाद - व्यय-ध्रौव्य हैं वह उत्पाद - व्यय - ध्रौव्य आत्मा का ही है। उत्पाद - व्यय - ध्रौव्य भी परस्परमें अभिन्न ही हैं।

इस तरह यदि रत्नत्रयके जितने विशेषण हैं वे सब आत्माके ही हैं और आत्मासे अभिन्न है तो रत्नत्रयको भी आत्मास्वरूप ही मानना चाहिये।

इस प्रकार अभेदरूपसे जो निजात्माका दर्शन ज्ञान - चारित्र है वह निश्चय रत्नत्रय है, इसके समुदायको (एकताको) निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं, वही मोक्षमार्ग है।

निश्चय व्यवहार माननेका प्रयोजन

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥२१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्ररूप पृथक् पृथक् पर्यायों द्वारा जीवको जानना सो पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है और इन सब पर्यायोंमें ज्ञाता जीव एक ही सदा रहता है, पर्याय तथा जीवके कोई भेद नहीं है—इस प्रकार रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न जानना सो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

अर्थात्—रत्नत्रयसे जीव अभिन्न है अथवा भिन्न है ऐसा जानना सो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयका स्वरूप है, परन्तु रत्नत्रयमें भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहार मोक्षमार्ग है और अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चय मोक्षमार्ग है। अतएव उपरोक्त श्लोकका तात्पर्य यह है कि—

आत्माको प्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय द्वारा जानकर पर्याय पर से लक्ष्य हटाकर अपने त्रिकाली सामान्य चैतन्य स्वभाव-जो द्रव्यार्थिक

नयका विषय है— उसकी ओर झुकनेसे शुद्धता और निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थका प्रयोजन

(वसंततिलका)

तत्त्वार्थसारमिति यः समधिर्विदित्वा,
निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह—
श्चैतन्यरूपममलं शिवतत्त्वमेति ॥ २२ ॥

अर्थ—बुद्धिमान और संसारसे उपेक्षित हुये जो जीव इस ग्रन्थको अथवा तत्त्वार्थके सारको ऊपर कहे गये भाव अनुसार समझ कर निश्चलतापूर्वक मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगा वह जीव मोहका नाश कर संसार बन्धनको दूर करके निश्चल चैतन्यस्वरूपी मोक्षतत्त्वको (शिवतत्त्वको) प्राप्त कर सकता है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता पुद्गल हैं आचार्य नहीं

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥ २३ ॥

अर्थ— वर्ण (अर्थात् अनादि सिद्ध अक्षरोंका समूह) इन पदोंके कर्त्ता हैं, पदावलि वाक्योंकी कर्त्ता है और वाक्योंने यह शास्त्र किया है। कोई यह न समझे कि यह शास्त्र मैंने (आचार्यने) बनाया है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ४२१ से ४२८)

नोट—(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता नहीं हो सकता—यह सिद्धांत सिद्ध करके यहां आचार्य भगवानने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि जीव जड़-शास्त्रको नहीं बना सकता।

(२) श्री समयसारकी टीका, श्री प्रवचनसारकी टीका, श्री पंचास्तिकायकी टीका और श्री पुरुषार्थ सिद्धि उपाय शास्त्रके कर्तृत्वके सम्बन्धमें

इसीलिए होती है। और उस जीवके अनन्य परिणाम हैं—ऐसा-व्यवहार द्वारा कहा और समझाया जाता है किन्तु उस प्रत्येक समय में निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है ऐसा ज्ञानियोंका कथन है।

ऐसा मानना कि किसी समय निश्चयनय आदरणीय है और किसी समय व्यवहारनय आदरणीय है सो भूल है। तीनों काल अकेले निश्चयनय के आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है—ऐसा समझना।

प्रश्न—क्या साधक जीवके नय होता ही नहीं?

उत्तर—साधक दशामें ही नय होता है। क्योंकि केवलीके तो प्रमाण है अत उनके नय नहीं होता, अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि व्यवहारनयके आश्रय से धर्म होता है इसीलिये उनको तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया, अर्थात् अज्ञानीके सच्चा नय नहीं होता। इस तरह साधक जीव के ही उनके श्रुत ज्ञानमें नय होता है। निर्विकल्पदशा से अतिरिक्त कालमें जब उनके नय-रूपसे श्रुतज्ञानका भेदरूप उपयोग होता है तब, और संसार के शुभाशुभ भावमें हो या स्वाध्याय, व्रत नियमादि कार्योंमें हो तब जो विकल्प उठते हैं वह सब व्यवहारनयके विषय है, परतु उस समय भी उनके ज्ञानमें एक निश्चय नय ही आदरणीय है (अत उस समय व्यवहारनय है तथापि वह आदरणीय नहीं होने से) उनकी शुद्धता बढ़ती है। इस तरह सविकल्प दशामें भी निश्चयनय आदरणीय है और जब व्यवहारनय उपयोग रूप हो तो भी ज्ञानमें उसी समय हेयरूप से है, इस तरह निश्चय और व्यवहारनय—ये दोनों साधक जीवों के एक ही समय होते है।

इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं कि साधक जीवोंके नय होता ही नहीं, किन्तु साधक जीवों के ही निश्चय और व्यवहार दोनों नय एक ही साथ होते हैं। निश्चयनयके आश्रयके बिना सच्चा व्यवहारनय होता ही नहीं। जिसके अभिप्रायमें व्यवहार नयका आश्रय हो उसके तो निश्चयनय रहा ही नहीं, क्योंकि उसके तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया।

चारों अनुयोगों में किसी समय व्यवहारनय की मुख्यता से कथन किया जाता है और किसी समय निश्चयनयको मुख्य करके कथन किया जाता है किन्तु उस प्रत्येक अनुयोगमें कथनका सार एक ही है और वह यह है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों जानने योग्य हैं, किन्तु शुद्धताके लिये आश्रय करने योग्य एक निश्चयनय ही है और व्यवहारनय कभी भी आश्रय करने योग्य नहीं है—वह हमेशा हेय ही है–ऐसा समझना।

व्यवहारनयके ज्ञानका फल उसका आश्रय छोड़कर निश्चयनयका आश्रय करना है। यदि व्यवहारनयको उपादेय माना जाय तो वह व्यवहार-नयके सच्चे ज्ञानका फल नहीं है किन्तु व्यवहारनयके अज्ञानका अर्थात् मिथ्यात्वका फल है।

निश्चयनयके आश्रय करने का अर्थ यह है कि निश्चयनयके विषय-भूत आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वरूपका आश्रय करना और व्यवहारनयका आश्रय छोड़ना–उसे हेय समझना—इसका यह अर्थ है कि व्यवहारनयके विषयरूप विकल्प, पर द्रव्य या स्वद्रव्य की अपूर्ण अवस्था की ओर का आश्रय छोड़ना।

अध्यात्मका रहस्य

अध्यात्ममें जो मुख्य है सो निश्चय और जो गौण है सो व्यवहार; यह कहा है, अतः उसमें मुख्यता सदा निश्चयनयकी ही है और व्यवहार सदा गौणरूपसे ही है। अध्यात्मका अर्थात् साधक जीवकी यह कक्षा या स्तर है। साधक जीवकी दृष्टि की सतत कक्षा की यही रीति है।

साधक जीव प्रारंभसे अंततक निश्चयकी की मुख्यता रखकर व्यव-हारको गौण ही करता जाता है; इसीलिये साधक दशामें निश्चयकी मुख्यता के बलसे साधकके शुद्धता की वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता हटती ही जाती है इस तरह निश्चयकी मुख्यताके बलसे ही पूर्ण केवलज्ञान होते हैं फिर वहां मुख्यता–गौणता नहीं होती और नय भी नहीं होता।

वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके!

वस्तुमें द्रव्य और पर्याय, नित्यत्व और अनित्यत्व इत्यादि जो विरुद्ध धर्म स्वभाव हैं वह कभी दूर नहीं होता। किन्तु जो दो विरुद्ध धर्म हैं उनमें एक के लक्ष्यसे विकल्प टूटता – हटता है और दूसरे के लक्षसे राग होता है। अर्थात् द्रव्यके लक्षसे विकल्प टूटता है और पर्यायके लक्षसे राग होता है, इसी से दो नयोंका विरुद्ध है। अब द्रव्य स्वभावकी मुख्यता और अवस्था की—पर्यायकी गौणता करके जब साधक जीव द्रव्य स्वभावकी तरफ झुक गया तब विकल्प दूर होकर स्वभावमें अभेद होने पर ज्ञान प्रमाण हो गया। अब यदि वह ज्ञान पर्यायको जाने तो भी वहा मुख्यता तो सदा द्रव्य स्वभाव की ही रहती है। इस तरह जो निज द्रव्य स्वभावकी मुख्यता करके इस सन्मुख झुकने पर ज्ञान प्रमाण हुवा वही द्रव्यस्वभावकी मुख्यता साधक दशाकी पूर्णता तक निरंतर रहा करती है। और जहा द्रव्यस्वभावकी ही मुख्यता है वहा सम्यग्दर्शनसे पीछे हटना कभी होता ही नहीं, इसीलिये साधक जीवके सतत द्रव्यस्वभावकी मुख्यताके बलसे शुद्धता बढ़ते २ जब केवलज्ञान हो जाता है तब वस्तुके परस्पर विरुद्ध दोनों धर्मोंको (द्रव्य और पर्यायको) एक साथ जानता है, किन्तु वहा अब एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता करके झुकाव—झुकना नहीं रहा। वहा संपूर्ण प्रमाण ज्ञान हो जाने पर दोनों नयोंका विरोध दूर होगया (अर्थात् नय ही दूर होगया) तथापि वस्तुमें जो विरुद्ध धर्म स्वभाव है वह तो दूर नहीं होता।

परिशिष्ट--४

शास्त्रका संक्षिप्त सार

१—इस जगतमें जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये छह द्रव्य अनादि अनंत हैं, इसे संक्षेप में 'विश्व' कहते हैं। (अध्याय ५)

२—वे सत् हैं अतः उनका कोई कर्ता नहीं, या उनका कोई नियामक नहीं, किन्तु विश्व का प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वतन्त्ररूपसे नित्य स्थिर रह कर प्रतिसमय अपनी नवीन अवस्था प्रगट करता है और पुरानी अवस्था दूर करता है। (अध्याय ५ सूत्र ३०)

३—उन छह द्रव्यों में से जीवके अतिरिक्त पांच द्रव्य जड़ हैं, उनमें ज्ञान, आनंद गुण नहीं है अतः वे सुखी-दुखी नहीं; जीवोंमें ज्ञान, आनंद गुण है किन्तु वे अपनी भूलसे अनादिसे दुःखी हो रहे हैं; उनमें जो जीव मन-सहित हैं वे हित अहित की परीक्षा करने की शक्ति रखते हैं अतः ज्ञानियोंने, उन्हें दुःख दूर कर अविनाशी सुख प्रगट करनेका उपदेश दिया है।

४—अज्ञानी जीव मानता है कि शरीर की क्रिया, पर जीवकी दया, दान, व्रत आदि सुखके उपाय हैं; परन्तु ये उपाय खोटा है, यह बतलाने के लिये इस शास्त्रमें सबसे पहले ही यह बतलाया है कि सुखका मूल कारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद उस जीवके सम्यक्चारित्र प्रगट हुये विना रहता ही नहीं।

५—जीव ज्ञाता दृष्टा है और उसका व्यापार या जिसे उपयोग कहा जाता है वह जीवका लक्षण है; राग, विकार, पुण्य, विकल्प, करुणा आदि जीवके लक्षण नहीं—ये उसमें गर्भितरूपसे कहे हैं। (अध्याय २ सूत्र ८)

६—दया, दान, अणुव्रत, महाव्रत, मैत्री आदि शुभभाव तथा मिथ्या-

त्व, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इत्यादि अशुभभाव आस्रवके कारण हैं–ऐसा कहकर पुण्य-पाप दोनों को आस्रवके कारणरूपसे वर्णन किया है।

(अध्याय ६ तथा ७)

७—मिथ्यादर्शन संसारका मूल है ऐसा अध्याय ८ सूत्र १ में बतलाया है तथा बंधके दूसरे कारण और बंधके भेदोंका स्वरूप भी बतलाया है।

८—संसारका मूल कारण मिथ्यादर्शन है, वह सम्यग्दर्शन के द्वारा ही दूर हो सकता है, बिना सम्यग्दर्शनके उत्कृष्ट शुभभावके द्वारा भी वह दूर नहीं हो सकता। संवर-निर्जरारूप धर्मका प्रारंभ सम्यग्दर्शनसे ही होता है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद सम्यग्चारित्रमें क्रमशः शुद्धि प्रगट होने पर श्रावकदशा तथा मुनिदशा कैसी होती है यह भी बतलाया है। यह भी बतलाया है कि मुनि बाईस परीषहों पर जय करते हैं। यदि किसी समय भी मुनि परीषह जय न करे तो उसके बंध होता है, इस विषयका समावेश आठवें बंध अधिकार में आगया है और परीषह जय ही संवर-निर्जरारूप हैं अतः यह विषय नवमें अध्यायमें बतलाया है।

९—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकताकी पूर्णता होने पर (अर्थात् संवर निर्जराकी पूर्णता होने पर) अशुद्धताका सर्वथा नाश होकर जीव पूर्णतया जड़कर्म और शरीरसे प्रथक् होता है और पुनरागमन रहित अविचल सुखदशा प्राप्त करता है, यही मोक्षतत्त्व है, इसका वर्णन दसवें अध्यायमें किया है।

इसप्रकार इस शास्त्रके विषयका संक्षिप्त सार है।

"मोक्षशास्त्र गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद

समाप्त हुआ"।

—परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ।



सम्यक्त्वकी महिमा

श्रावक क्या करे ?

हे श्रावक ! संसारके दुःखोंका क्षय करने के लिए परम शुद्ध सम्यक्त्वको धारण करके और उसे मेरु पर्वत समान निष्कंप रखकर उसीको ध्यानमें ध्याते रहो ! [मोक्षपाहुड़–८६]

सम्यक्त्वसे ही सिद्धि

अधिक क्या कहा जाय ? भूतकालमें जो महात्मा सिद्ध हुए हैं और भविष्य कालमें होंगे वह सब इस सम्यक्त्वका ही माहात्म्य है–ऐसा जानो। [मोक्षपाहुड़–८८]

शुद्ध सम्यग्दृष्टिको धन्य है !

सिद्धि कर्ता—ऐसे सम्यक्त्वको जिसने स्वप्नमें भी मलिन नहीं किया है उस पुरुषको धन्य है, वह सुकृतार्थ है, वही वीर है, और वही पंडित है। [मोक्षपाहुड़–८९]

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी श्रेष्ठ है

जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है वह मोक्षमार्गमें स्थित है, परन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्गी नहीं है; इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी श्रेष्ठ है। [रत्नकरंड श्रावकाचार ३३]

सम्यक्त्वी सर्वत्र सुखी

सम्यग्दर्शन सहित जीवका नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शन रहित जीवका स्वर्गमें रहना भी शोभा नहीं देता; क्योंकि आत्मभान विना स्वर्गमें भी वह दुःखी है। जहां आत्मज्ञान है वहीं सच्चा सुख है।

[सारसमुच्चय ३९]

लक्षण-संग्रह



शब्द	अध्याय	सूत्र	शब्द	अध्याय	सूत्र
[अ]			अनिःसृत	१	१६
अकामनिर्जरा	६	१२	अनुक्त	१	१६
अक्षिप्र	१	१६	अनुगामी अवधिज्ञान	१	२२
अगारी	७	२०	अननुगामी ,,	१	२२
अगृहीत मिथ्यादर्शन	८	१	अनवस्थित ,,	१	२२
अघातिया	,,	४	अनीक	४	४
अङ्गोपाङ्ग	,,	११	अनर्पित	५	३२
अचक्षुदर्शन	,,	७	अनाभोग	६	५
अचौर्याणुव्रत	७	२०	अनाकांक्षा	,,	५
अजीव	१	४	अनुमत	६	८
अज्ञातभाव	६	६	अनाभोगनिक्षेपाधिकरण	६	९
अज्ञान	८	१	अंतराय	६	१०
अज्ञान परीषह जय	९	९	अनुवीचिभाषण	७	५
अण्डज	२	३३	अनृत असत्य	७	१४
अणु	५	२५	अनगारी	,,	२०
अणुव्रत	७	२	अनर्थ दण्ड व्रत	,,	२१
अतिथि संविभाग व्रत	,,	२१	अन्यदृष्टिप्रशंसा	,,	२३
अतिचार	,,	२३	अन्नपाननिरोध	,,	२५
अतिभार आरोपण	,,	२५	अनङ्ग क्रीडा	,,	२८
अदर्शन परीषह जय	९	९	अनादर	,,	३३
अधिगमज सम्यग्दर्शन	१	३	,,	,,	३४
अधिकरण क्रिया	६	५	अनुभागबंध	८	३
अधिकरण	,,	६	अन्तराय	८	४
अध्रुव	१	१६	अनुजीविगुण	८	४
अधो व्यतिक्रम	७	३०	अनन्तानुबंधि क्रोधादि	,,	९
अन्तर	१	८	अन्तर्मुहूर्त	,,	२०

शुद्धि-पत्र



पत्र-संख्या	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
८	२०	तथा पुद्गल	तथा वर्णादिक पुद्गलके स्वभाव है और पुद्गल
९	४	अर्थते	अर्यते
६	१४	अ० ६	अ० ९
१९	११	सो	
५६	२	कमका	कर्मका
६८	३	अध्रव	अध्रुव
१०१	६	मोक्षमाग	मोक्षमार्ग
१२४	७	अ० ६	अ० ९
१२७	५	प्रकार (गुण	प्रकार गुण
१२७	१६	नहीं	ही
१२७	१६	जैसे	जैसी
१२८	१३	अ० ६	अ० ६
१२९	८	अ० ६	अ० ६
१४२	१६	अथ	अर्थ
१४३	१३	गुणोंकी अप्रगटता होता है	गुणोंकी पर्यायोंकी अप्रगटता होती है
१४७	४	लक्ष्य	लक्ष
१५१	३	विभावाभाव	विभावभाव
१५७	४	सम्यग्शन	सम्यग्दर्शन
१५९	१०	ज्ञातदृष्टा	ज्ञातादृष्टा
१६२	२४–२५	लक्ष	लक्ष्य
१६८	१६	स्वरूप	स्वरूप
१७४	२२	लोहरस	तीव्र आतुर रस
१८५	३	सोन्मुख	स्वोन्मुख
१९३	१२	विचादि	विचारादि
१९७	१५	परका	पटका

पत्र सं०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
१६८	१७	भाषित	भासित
२०२	२०–२२	लक्षणभास	लक्षणाभास
२११	१२	,,	,,
२१६	२१	कामिधाः	काभिधाः
२२२	५	भोपवीर्या	भोगवीर्या
२२३	३	अन्यन्त	अत्यन्त
२२८	१४	लाभ	+
२३५	२५	वाद्य	वाह्य
२३८	२	विकाश	विकास
,,	६	पर वस्तु रूपकर्म	परवस्तुरूप कर्म
२४७	५	तीथकर	तीर्थंकर
२७०	१५	गुणस्थानमें	गुणस्थान के
,,	२४	इसकार	इस प्रकार
२७५	१७	वह	(वह
२७८	२२	ऽदेहा	देहा
२९०	५	श्रेणा	श्रेणी
३०४	१६	मित्र	देव मित्र
३०७	११	करोड=अद्धा	करोड अद्धा
३१९	१०	द्विर्धा	द्विर्धा
३२०	११	अति	अतिरिक्त
३२२	२४	बद्धि	बुद्धि
३६३	८	ग्रैवेयकोंमें	ग्रैवेयकों से
३६६	१७	अपत्ता	अपेक्षा
३७८	६	विधि=निषेध	विधि—निषेध
३८४	१६	सामान	समान
३८५	११	उपादन	उपादान
,,	१५	उमा	श्री उमा
३८६	१२	पल्य	२ पल्य
३८८	७	११ सागर	१४ सागर
३९८	५	मिथ्यादृष्टि	विमूढ़

पत्र सं०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
३९९	१४	एक	अनेक
४०४	१७	समुद्घात का है	दूसरे समुद्घातका स्वरूप अ०२ सूत्र ४८-४६ की टीका में है, विशेष पृ० द्रव्य समह गाथा १० की टीकामें है।
४०६	१६	भिन्न	पर
४०६	४		टीका
४१४	२१	नहीं कार्य को	नहीं लेना कतु कार्यको
,,	२७	लेना वस्तु	
४१८	८	का	को
४२१	१७	कार्यकाल को	कार्य कालको
४४३	६	परमाणुओं को	परमाणुओं
४६०	४	चालते हुये	
४६३	१९	किंत	किन्तु
४६८	१७	क्योंकि	,,
४७६	२३	और रहित	और ज्ञान रहित
४७८	५	यह	यह
४६८	१६	सत्यमार्ग	सत्यमार्ग
४८७	८	उत्तर —	उत्तर —(१)
४८६	२०	इसमे निमित्त द्वारा	उपादानकी विधि निर्बपल होनेसे निमित्त द्वारा
५०५	२४	उपयोगको	योग को
,,	,,	शुभोपयोग	शुभ योग
५०६	?	अशुभोपयोग	अशुभयोग
५१२	७	में जो अभिरुचि है सो	में लगन (प्रवृति) सो
,,	,,	क्रिया	क्रिया
५१६	२१	भोग	योग
५२३	१	तप	ताप
५२८	१०-११	उस अवस्थाको उपचारसे शुक्लध्यान भी कहा जाता है	×

पत्र सं०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
५२८	१२	वत्तु	वस्तु
५२३	१७	योग	योग्य
५३२	२१	नाप	नाम
५३४	३	स्पर्शेन्द्रिय	स्पर्शेन्द्रिय का तथा
५५७	२४	वाह्य	वाह्य
५६४	१४	शुद्ध	शुभ
५६४	२१	तव	तव भी
५६७	७	भ भाव	शुभ भाव
५७२	२-३	समिति	समिति—
५८३	२६	सक्ष्म	सूक्ष्म
५८४	७	वह शरीर स्थूल होता है और विशुद्ध	और वह विशु
५८६	५	मुरदे	मुरदेकी
,,	२०	जागृति	जाग्रिका
५९३	२३	यह औ भी	और यह भी
६०५	२०	३	१३
६०६	१०	सम्बन्ध	असम्बन्ध
६१३	१३, १८	वाह्य	वाह्य
६१६	२३, २३	,,	,,
६२०	७	वाक्यों	भावों
६२७	१, ७, ९	वाह्य	वाह्य
६२८	२	धनादिकको	धनादिक
६२८	९	गुणो	गुणों
६२८	२३	जीवमात्र	जीव मात्र
६३१	१६	वाह्य	वाह्य
६३२	४	(MAR	(MER
६३४	१७	पोने वाला	पीने वाला
६३४	२४	भगवान	भगवान को
६४०	४	स्वतत्र	स्वतन्त्र
,,	९	कम	कर्म
,,	११	मैमि	नैमि

पत्र सं०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
६४०	१२	जोव	जीव
,,	१५	मात्र को	मात्रका
६४६	१०	कम	कर्म
६६२	२४	मिमित्त	निमित्त
६७२	६	शुद्धोपयोन	शुद्धोपयोग
६७७	१०	सवर	सवर है
६८१	८	आदि	च
६९३	१२	देखा	लिखा
६९४	२५	सवर के	
७१७	१	किस	किया
७२०	२९	पह	वह
७२१	३	युत	युक्त
७२४	१४	वसने	चलने
७२८	२२	जिस	जिसे
७३५	६	दोनों	दोषों
,,	११	लक्षपे	लक्षसे
,,	१७	शुद्धता	शुद्धता
७३६	७	तप	तप
७४४	१६	अथा	अथवा
७५२	१६	१३वें	१२वें
७५५	२३	हलन चलन	
७६१	१२	मोक्षशास्त्र	मोक्षमार्ग
७८६	८	वरूपका	स्वरूपका
७९४	५	सहरण सिद्ध	सहरण सिद्धसे
८००	१०	हो	
८०१	१५	ओमें	ओमें, तथा
८११	२३	कारण	करण